DUE DATE SLIP

GOVT. COLLEGE, LIBRARY

KOTA (Raj)

Students can retain library books only for two weeks at the most

BORROWER S No	DUE DTATE	SIGNATURE

प्रारम्भिक अर्थशास्त्र

(INTRODUCTORY ECONOMICS)

[भारतीय विश्वविद्यालयों के इंटरमीडिएट के विद्यार्थियों के लिए]

भाग १

प्रारम्भिक सिद्धान्त

(ELEMENTARY THEORY)

लेखक

डा० केवल कृष्ण ड्यूवेट
एम० ए०, पी-एच० डी०, पी० ई० एस० (I) (रिटायर्ड)
पंजाब विश्वविद्यालय के अर्थशास्त्र विभाग
के अध्यक्ष
Convener, बोर्ड ऑफ स्टडीज़ इन इकनॉमिक्स
लेखक *Modern Economic Theory*
सहलेखक *Indian Economics*
प्रिंसिपल, पंजाब यूनिवर्सिटी कालेज, होशियारपुर

(स्व०) गुरुचरण सिंह
एम० ए०, पी० ई० एस० (I) (रिटायर्ड)
भूतपूर्व प्रोफेसर और अर्थशास्त्र विभाग के अध्यक्ष
गवर्नमेंट कालेज, होशियारपुर
लेखक *Recent Trends in Agrarian Reforms*
सहलेखक *Indian Economics*

तथा

डा० जयदेव वर्मा
एम० ए०, पी-एच० डी० (लन्दन), पी० ई० एस०,
Arnold Gold Medallist I. A. Watson Medallist
सीनियर लेक्चरर, अर्थशास्त्र विभाग,
पंजाब यूनिवर्सिटी कालेज, होशियारपुर

संशोधित तथा परिवर्धित तृतीय संस्करण

१९५८

प्रीमियर पब्लिशिंग कम्पनी

दिल्ली — जालन्धर — लखनऊ

By the same authors

Available in English

INTRODUCTORY ECONOMICS Part I

(*Elementary Theory 1958 Edition*)

INTRODUCTORY ECONOMICS Part II

(*Elementary Indian Economics*)

1958 Edition

Hindi and Punjabi versions (*1958 editions*) of both these Parts also available

By Drs K K Dewett and J D Varma

Intermediate Economics—Refresher Courses in Elementary Theory and Indian Economics

English, Hindi and Punjabi edition

पहला हिन्दी संस्करण १९५५
दूसरा हिन्दी संस्करण १९५६
तीसरा हिन्दी संस्करण १९५८

गौरीशंकर शर्मा, प्रीमियर पब्लिशिंग कम्पनी, फव्वारा दिल्ली द्वारा प्रकाशित एवं इण्डिया प्रिंटर्स, एस्प्लेनेड रोड दिल्ली द्वारा मुद्रित

तृतीय हिन्दी संस्करण की भूमिका

इस पुस्तक का पहला सस्करण १९५५ मे प्रकाशित हुआ था। इतनी जल्दी इसके तीसरे सस्करण का निकलना इस बात का द्योतक है कि पुस्तक विद्यार्थियो के लिए सुबोध, सरल एव उपयोगी सिद्ध हुई है। इस सस्करण मे पुस्तक का फिर मे सशोधन किया गया है, विशेषतया आरम्भिक परिच्छेदो को और भी सरल बनाने के लिए फिर से लिखा गया है, और एक नया अध्याय सामाजिक हिसाब किताब (Social Accounting) पर जोड दिया गया है। छात्रगण के पथ-प्रदर्शन के लिए पजाब विश्व-विद्यालय की इटर परीक्षा के १९५७ तथा १९५८ के प्रश्न पत्र भी दे दिये गये है।

इस पुस्तक का अग्रेजी मे पहला सस्करण १९४८ मे प्रकाशित हुआ था। तब से अग्रेजी मे इसके आठ सस्करण सशोधित एव परिवर्द्धित होकर छप चुके है। यह अर्थशास्त्र का अध्ययन आरम्भ करने वाले विद्यार्थियो की आवश्यकताएँ पूरी करने का एक प्रयत्न है इसलिए इसमे अर्थशास्त्र के मूल सिद्धान्तो को समझा कर बताया गया है। भाषा सरल है। विद्यार्थियो की रुचि बढाने के लिए दैनिक जीवन से अनेक उदाहरण पुस्तक मे दिये गए है। प्रारम्भिक होते हुए भी अर्थशास्त्र के सिद्धान्तो और भारतीय अर्थशास्त्र मे प्रचलित अन्तिम विचारधारा का भी हवाला दिया गया है। प्रमुख भारतीय विश्वविद्यालयो की परीक्षाओं के महत्त्वपूर्ण प्रश्न हर अध्याय के अत मे दिये गये है जिनसे उस विषय पर परीक्षा प्रश्नो के रूप और प्रवृत्तियो का विद्यार्थी और शिक्षक दोनो को ही ज्ञान हो जाय। कठिन प्रश्नो के साथ-साथ छोटी-छोटी टिप्पणियाँ भी मार्ग-प्रदर्शन के लिए है। हर अध्याय के अन्त मे उसका सारांश दिया गया है जिससे विद्यार्थी को नोट्स का अन्दाजा हो जाय और वह परीक्षा के समय उससे लाभ उठा सके।

अनुवाद करने मे हिन्दी-उर्दू के झमेले मे न पडकर सरल से सरल भाषा देने की कोशिश की गई है और पारिभाषिक शब्दो मे अग्रेजी पर्यायवाची शब्द लगभग हर जगह ब्रैकिट में दे दिये गए है, जिससे प्रस्तुत विषय की सुबोधता बढ गई है। प्रसिद्ध अर्थशास्त्रियो के सभी उद्धरण (quotations) फुटनोटो मे मूल रूप मे दिये गये है।

परीक्षा और अध्ययन का माध्यम हिन्दी हो जाने से इसका हिन्दी सस्करण विद्यार्थियो की आवश्यकता को पूरा करेगा, इसमे हमें सदेह नही है। आशा है कि यह पुस्तक हिन्दी मे उचित पाठ्य-पुस्तको की कमी को पूरा करेगी।

होशियारपुर

२८ अप्रैल, १९५८

—लेखकगण

विषय-सूची

विषय-प्रवेश

(INTRODUCTORY)

अर्थशास्त्र, दुर्लभता का विज्ञान

(Economics, a Science of Scarcity)

१ **अर्थशास्त्र क्या है ?** (What is Economics ?)—इण्टर में प्रवेश करने वाले विद्यार्थियों के लिए अर्थशास्त्र एक नया विषय है। अतः स्वाभाविक है कि वे यह जानना चाहेंगे कि यह विषय है क्या। अर्थशास्त्रज्ञों ने इस शास्त्र की व्याख्या कई प्रकार से की है। सबसे पहले जो व्याख्या प्रचलित हुई वह यह थी कि **अर्थशास्त्र धन का विज्ञान है** (Economics is a science of wealth)। परन्तु यह व्याख्या सही नहीं। इस परिभाषा (definition) से यह प्रतीत होता है कि अर्थशास्त्र एक ऐसा विज्ञान है जो केवल धनोपार्जन का साधन है। वस्तुतः अर्थशास्त्र की यह धारणा गलत है। अर्थशास्त्र कोई रुपया पैसा बनाने की मशीन नहीं। इस परिभाषा से उल्टे अर्थ निकाले जाने लगे। लोग ये समझने लग पड़े कि अर्थशास्त्र वह विज्ञान है जिससे धन प्राप्त होता है और जो धन इकट्ठा करने की प्रेरणा देता है। इस परिभाषा में धन को मानव-हित के लिए प्रयोग करने का कोई जिक्र नहीं। अर्थशास्त्र के विषय में लोगों में ऐसे विचार होने से यह विज्ञान काफी बदनाम हो गया और कार्लाइल (Carlyle), रस्किन (Ruskin) सरीखे लेखक इसे घृणा की दृष्टि से देखने लगे। उनकी यह शिकायत थी कि यह लोगों को स्वार्थी तथा लालची बनाता है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि अर्थशास्त्र में हम धन दौलत के सम्बन्ध में पढ़ते हैं और बार-बार धन का जिक्र आता है परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि यह शास्त्र केवल धनोपार्जन का विज्ञान है और मनुष्य को स्वार्थ की पट्टी पढ़ाता है। इसमें धन के मुकाबिले में मनुष्य को प्रधान माना गया है। धन के विषय में जानकारी केवल इस दृष्टिकोण से कराई जाती है कि धन मानव कल्याण के लिए कैसे प्रयोग किया जाए। धन तो केवल एक साधन (means) है, और मानव कल्याण (human welfare) ही असली लक्ष्य ध्येय (end) है। सो, वास्तव में अर्थशास्त्र "मनुष्य का अध्ययन" (Study of man) है, न कि धन का। यह अर्थशास्त्र की सुविदित परिभाषाओं में जिनमें से कुछेक नीचे दी गई हैं, स्पष्ट कही गई है। श्री ईली (Ely) के अनुसार "अर्थशास्त्र वह विज्ञान है जो मनुष्य के <u>धनोपार्जन</u> वाले और धन का उपभोग करने वाले सामाजिक कार्यों और घटनाओं का अध्ययन करता है।"

डा० मार्शल (Dr Marshall) के अनुसार 'अर्थशास्त्र जीवन की साधारण दिनचर्या में मनुष्य के कार्यों का अध्ययन है। यह पता लगाता है कि मनुष्य कैसे अपनी रोज़ी कमाता है और किस प्रकार उसका उपभोग करता है   इस प्रकार, एक ओर

तो यह धन का अध्ययन है और दूसरी ओर, जो अधिक महत्वपूर्ण है, यह मनुष्य के अध्ययन का एक अंग है।"

डा० मार्शल ने ऊपर दी गई परिभाषा प्रस्तुत करके अर्थशास्त्र की हुई बदनामी को धो डाला। उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया कि अर्थशास्त्र यदि धन-दौलत की जानकारी कराता है तो मानव कल्याण के लिए। इस परिभाषा में उन्होंने मनुष्य का दर्जा ऊँचा रखा है और धन का उसके पश्चात्।

डा० मार्शल से की गई अर्थशास्त्र की इस व्याख्या से इस विज्ञान का मान दूसरे शास्त्रों में बढ़ गया क्योंकि कोई भी अन्य विज्ञान मानव-कल्याण को इसकी भाँति प्रधानता प्रदान नहीं करता। मार्शल एक उच्च कोटि के विद्वान् थे और उनकी परिभाषा सब ने मान ली। परन्तु कुछ वर्ष हुए प्रो० रॉबिन्ज (Lionel Robbins) ने एक नई परिभाषा की जिसे वे अधिक वैज्ञानिक परिभाषा बताते हैं। उन्होंने यह बात सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि मार्शल की तथा दूसरी प्रचलित परिभाषाएँ वैज्ञानिक (scientific) नहीं हैं परन्तु Classificatory हैं और उनमें अन्य कई त्रुटियाँ हैं। प्रो० रॉबिन्ज के कथनानुसार अर्थशास्त्र उस सब मानव व्यवहार का अध्ययन है जो मानुषी उद्देश्यों और सीमित साधनों जिनके कि वैकल्पिक (alternative) उपभोग भी हो सकते हैं के परस्पर सम्बन्ध के कारण होता है।'

आजकल रॉबिन्ज द्वारा की गई परिभाषा अधिक प्रचलित है और यह अर्थशास्त्र का निचोड़ और इसके सारे सिद्धान्तों की बुनियाद मानी जाती है। इसलिए यह आवश्यक है कि हम इसे भली भाँति समझ लें। इसे ध्यानपूर्वक पढ़ने से पता लगेगा कि यह निम्नलिखित तथ्यों (facts) पर आधारित (based) है:—

(क) हमारी इच्छाएँ अनगिनत हैं। आगे चलकर हम मानवीय आवश्यकताओं का विस्तारपूर्वक अध्ययन करेंगे परन्तु यहाँ इतना कह देना काफी होगा कि हम किसी भी तरह इन सबको पूरा नहीं कर सकते। यदि कोई एक इच्छा सन्तुष्ट होती है तो तुरन्त कोई दूसरी इच्छा उठ खड़ी होती है। इस परिभाषा में जो शब्द 'उद्देश्य' (ends) आता है उसका अर्थ मानवीय इच्छाएँ तथा आवश्यकताएँ है। यदि कहीं हमारी इच्छाएँ सीमित होतीं तो फिर कोई आर्थिक समस्या क्योंकर होती? पशुओं की भाँति हम भी अपनी प्राथमिक (elementary) आवश्यकताओं को पूरा करके बिल्कुल सन्तुष्ट हो जाते और हमें जीविका सम्बन्धी कोई दौड़ धूप या कशमकश न करनी पड़ती।

(ख) दूसरा तथ्य यह है कि हमारे पास अपनी इच्छाओं को पूरा करने के लिए जो साधन हैं वे सीमित हैं। यदि कहीं साधन भी हमारी इच्छाओं की भाँति असंख्य होते, तब तो कोई आर्थिक समस्या पैदा न होती। जब और जहाँ कहीं हम जो चाहते जितनी भी मात्रा में पा लेते, क्योंकि ऐसी दशा में तमाम चीजें मुफ्त या निर्मूल्य पदार्थ (free goods) होतीं। लेकिन वास्तव में ज्यादातर चीजें जिनकी हमें इच्छा है बिना दाम की नहीं हैं और उन्हें पाने के लिए हमें कीमत चुकानी पड़ती है अथवा काम करना पड़ता है।

जब हम कहते हैं कि साधन थोड़े हैं तो हमारा अभिप्राय केवल उनकी गिनती या मात्रा से नहीं। गेहूँ, कोयला आदि पदार्थ बहुत बड़ी मात्रा में उपलब्ध हैं, परन्तु

उनके लिए हमारी मांग उनकी मात्रा से कहीं अधिक है। यही कारण है कि ऐसे पदार्थों को दुर्लभ या अल्प (scarce) माना जाता है।

(ग) तीसरा तथ्य यह है कि हमारे सभी साधन केवल अल्प या दुर्लभ ही नहीं, वरन् प्रत्येक साधन के कई एक वैकल्पिक (alternative) उपयोग (uses) हैं, अर्थात् उनमे से प्रत्येक को हम कई भिन्न-भिन्न कामो मे प्रयोग कर सकते है, जैसे कि, कोयला खाना पकाने, कारखाने तथा रेलगाडियाँ चलाने और बहुतेरे अन्य कामो में इस्तेमाल होता है। यदि किसी वस्तु या सेवा के केवल एक-दो उपयोग ही हो सकते, तो भी कोई आर्थिक समस्या न होती। क्योकि जैसे ही उसके वे एक-दो उपयोग हो चुकते, वह बिना कीमत की चीज बन जाती।

उपरोक्त तीन तथ्यों को जोडकर हम कह सकते है कि रॉबिन्ज की परिभाषा के अनुसार अर्थशास्त्र वह विज्ञान है जिसमे हम यह देखते है कि मनुष्य अल्प साधनो (scarce means) का किस प्रकार प्रयोग करके अपनी आवश्यकताओ को पूर्ण करता है। अर्थशास्त्र हमे बताता है कि हम अल्प साधनो से किस प्रकार अधिकतम लाभ उठा सकते है।

हमारे विचार मे रॉबिन्ज की परिभाषा डा० मार्शल और अन्य पहले अर्थशास्त्रज्ञो की परिभाषाओ से अधिक मान्य है। जैसे कि रॉबिन्ज ने कहा है कि उसकी परिभाषा वैज्ञानिक (scientific) है और उसने अर्थशास्त्र के क्षेत्र को बहुत विस्तृत कर दिया है।

२. **क्या अर्थशास्त्र कला है अथवा विज्ञान ?** (Is Economics a Science or an Art)—जब कोई विद्यार्थी कालेज मे प्रवेश करता है उसे दो प्रकार के विषयो मे से चुनना पडता है। एक कला के विषय और दूसरे विज्ञान के। विज्ञान के विषयो मे पदार्थ विज्ञान (Physics), रसायनशास्त्र (Chemistry), जीवन विज्ञान (Biology) आदि है। और कला के विषयो मे इतिहास (History) अर्थशास्त्र (Economics), दर्शन (Philosophy), संस्कृत आदि है। इस वर्गीकरण (classification) के अनुसार अर्थशास्त्र 'कला' के वर्ग मे आता है। किन्तु यह सही वर्गीकरण नही है और इसके अनुसार हम यह निश्चय नही कर सकते कि अर्थशास्त्र कला है या विज्ञान।

पहले हम यह समझ लें कि वास्तव मे विज्ञान और कला शब्दो के अर्थ क्या है। विज्ञान व्यवस्थित ज्ञान राशि (systematised body of knowledge) का नाम है। ज्ञान की अनेक शाखाएँ है, जैसे इतिहास, भूगोल और गणित। प्रत्येक का अपना-अपना विषय है। ज्ञान की ऐसी शाखा जिसमे तथ्यो (facts) का संग्रह और विश्लेषण (analysis) इस प्रकार किया जाय कि हम प्रत्येक कार्य (effect) का कारण (cause) पता लगा सके और किस बात का आगे क्या परिणाम (result) होगा यह बता सकें, विज्ञान कहलाती है। दूसरे शब्दो मे, जब तथ्यो की व्याख्या (explanation) करने के लिए नियम (laws) पता लग जाते हैं तब विज्ञान का रूप आ जाता है। तथ्य मानो माला के दाने है, किन्तु सिर्फ दानो ही से माला नही बनती। जब उन दानो मे धागा पिरोया जाता है तब वे माला बन जाते है। नियम या सार्वलौकिक सिद्धान्त (universal principle) वह धागा है—सूत्र है—जो विज्ञान के तथ्यो को नियमबद्ध

करता है, उन्हें चलाता है। विज्ञान ऐसे सामान्य सिद्धान्त (general principles) निर्धारित करता है जो इस प्रकार व्याख्या करके हमारा पथ-प्रदर्शन करते है।

अर्थशास्त्र के ज्ञान मे इधर काफी वृद्धि हुई है। अब यह ऐसे दर्जे पर पहुँच गया है कि इससे सम्बन्धित तथ्यो का सग्रह करके सावधानी से उनका विश्लेषण कर लिया गया है। अधिकतर तथ्यो की व्याख्या करने के लिए सार्वलौकिक नियम तय हो गए है। और अर्थशास्त्र का अध्ययन इतना व्यवस्थित (systematised) हो गया है कि अब इसको विज्ञान कहलाने का अधिकार है।

किन्तु अर्थशास्त्र कला भी है। कला कुछ फारमूले (fomulae) या विचार नियत करती है जिनसे उन लोगो का पथ-प्रदर्शन होता है जो किसी विशेष उद्देश्य को प्राप्त करना चाहते है। उदाहरण के लिए देश से गरीबी दूर करना अथवा एक एकड भूमि से अधिकाधिक गेहूँ उपजाना। बहुत से अग्रेज अर्थशास्त्रज्ञ यह समझते हैं कि अर्थशास्त्र एक विशुद्ध विज्ञान (pure science) है, कला बिल्कुल नही। उनका कहना है कि इसका काम सिर्फ खोज करना और व्याख्या करना है, न कि व्यावहारिक समस्याओ को सुलझाने मे सहायता करना। किन्तु अन्य बहुतो की राय मे अर्थशास्त्र कला भी है। निस्सन्देह यह हमारी आज की बहुत सी व्यावहारिक समस्याओ को सुलझाने मे सहायता करता है। केवल सिद्धान्त या कोरी कल्पना की चीज यह नही है। इसका व्यावहारिक उपयोग बहुत है। यह प्रकाश भी देता है और फल भी। तो हम इस परिणाम पर पहुँचते है कि अर्थशास्त्र विज्ञान भी है और कला भी।

३ अर्थशास्त्र की विषय-सामग्री (Subject-matter of Economics)—हमने अभी देखा है कि अर्थशास्त्र एक विज्ञान है। अन्य विज्ञानो की भाँति इसका भी अपना विषय है। यह किस चीज का अध्ययन करता है? विद्यार्थी गणित, इतिहास, भूगोल आदि से तो परिचित है किन्तु अर्थशास्त्र उसके लिए नया है और वह यह नही बता सकता कि अर्थशास्त्र की विषय-सामग्री क्या है।

अर्थशास्त्र मनुष्य के जीवन और कार्य का अध्ययन करता है, किन्तु सारे जीवन का नही बल्कि उसके केवल एक विशेष पहलू का। अर्थशास्त्र यह अध्ययन नही करता कि मनुष्य कैसे पैदा होता, बढता और मरता है। यह काम जीवन-विज्ञान (Biology) का है। अर्थशास्त्र को इससे मतलब नही कि मानव-शरीर की रचना कैसे हुई और शरीर किस प्रकार कार्य करता है। यह काम शरीर-विज्ञान (Physiology) का है। अर्थशास्त्र यह नही बताता कि मनुष्य किस प्रकार सोचता है। मनुष्य के मन और विचार की प्रक्रिया का अध्ययन मनोविज्ञान (Psychology) करता है, अर्थशास्त्र तो हमे सिर्फ इतना बताता है कि मनुष्य अपने सीमित तथा अल्प साधनो का उपयोग अपनी असीमित इच्छाओ की सतुष्टि के लिए किस प्रकार करता है।

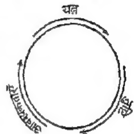
हम अपने चारो ओर नजर दौडाएँ तो हमे खेत मे किसान, कारखाने मे मजदूर, मेज पर क्लर्क, मरीजो के साथ डाक्टर, विद्यार्थियो के साथ शिक्षक आदि अपना-अपना काम करते मिलेंगे। यह सब ऐसे काम मे लगे हुए है जिसे हम **आर्थिक कार्य** (economic activity) कह सकते है।

मानव-जीवन के इस अग के साथ अर्थशास्त्र का प्रयोजन है। यहाँ हम उसे

पैसा कमाने मे लगा हुआ देखते है। लेकिन वह पैसा पैसे के लिए नही चाहता। उसे पैसे की जरूरत पडती है अपनी जरूरत पूरी करने के लिए।

सारी आर्थिक क्रियाओ का अभिप्राय है मानवीय आवश्यकताओ को सन्तुष्ट करने के लिए सामान खरीदना। न पैसा स्वय कोई ध्येय है, न माल ही, उनकी जरूरत मानव-कल्याण की वृद्धि के लिए पडती है।

आदमी खाना, कपडा और आसरा ढूंढता है। इन तीनो के लिए ही उसके पास पैसा होना चाहिए। पैसा पाने के लिए उसे श्रम करना जरूरी है। उसे कही तो काम करना पडेगा, इस प्रयास से ही फल मिलता है सन्तुष्टि मिलती है। आवश्यकताएँ—प्रयास—सन्तुष्टि, यह क्रम अर्थशास्त्र के विषय का निचोड है।



आदिम समाज म आवश्यकताओ प्रयास और सन्तुष्टि मे सीधा और निकट सम्बन्ध था। आदमी को भूख लगी उसने कोई फल फूल तोडा खा लिया और तुष्टि हो गई। लेकिन आधुनिक समाज मे यह इतना सीधा-सादा सवाल नही है। यहाँ एक आदमी जिस चीज का उत्पादन करता है उसका उपभोग स्वय नही करता और जिन चीजो का उपभोग करता है, उन्हें स्वय पैदा नही करता। मोची जूते बनाता है अपने बनाए सारे जूतो को वह आप नही पहनता पहन सकता भी नही। वह उन्हें रुपयो के बदले मे बेच देता है और उन रुपयो से अपनी जरूरत की चीजे खरीदता है। यह क्रिया—जिन चीजो की हमे जरूरत नही है उन्हें बेचना और जिनकी जरूरत है उन्हें खरीदना—विनिमय (exchange) कहलाती है। आज आवश्यकताओ, प्रयत्नो और सन्तुष्टि के बीच विनिमय की प्रक्रिया आ जाती है।

आजकल हमारी आवश्यकता की अधिकतर वस्तुएँ कारखानो मे बनती है। उन्हें बनाने के लिए मजदूर अपनी मेहनत देता है जमीदार अपनी जमीन पूंजीपति अपनी पूंजी और व्यवसायी इन सबको सगठित करता है ये सब द्रव्य के रूप मे अपना-अपना पुरस्कार पाते है। मजदूर अपनी मजदूरी, जमीदार किराया और पूंजीपति सूद। उद्यमी (entrepreneur) का पुरस्कार उसका लाभ (profit) है। अर्थशास्त्र यह अध्ययन करता है कि यह अलग-अलग आमदनी—मजदूरी, लगान सूद और लाभ—कैसे निश्चित होती है। यह प्रक्रिया वितरण (distribution) कहलाती है। विनिमय के ही समान, वितरण भी आधुनिक समाज मे प्रयास और सन्तुष्टि के बीच मे आता है।

इस प्रकार हम कह सकते है कि अर्थशास्त्र की विषय-सामग्री है—उपभोग (consumption), अर्थात् इच्छाओ की सन्तुष्टि, उत्पादन (production), अर्थात् पदार्थो का उत्पादन, या अपनी इच्छाओ की पूर्ति करने के लिए चेष्टा, विनिमय (exchange) और उसकी पद्धति या व्यवस्था, अर्थात् नकद या उधार, चीजो का क्रय-विक्रय, और अन्त मे, वितरण (distribution), यानी समस्त उत्पादन का मजदूरो, जमीदारो, पूंजीपतियो और सगठन करने वाले व्यवसायियो मे बंटवारा।

यह वास्तव में अत्यन्त व्यापक विषय है।

४. इच्छाओं [illegible] बाहुल्य और साधनों की दुर्लभता (Multiplicity of Wants and Scarcity of Means)—अर्थशास्त्र का समूचा ढांचा इन दो आधारों पर खड़ा है—

(क) **इच्छाओं का बाहुल्य**—यह तथ्य मनुष्य के स्वभाव की विशेषता है, और

(ख) **साधनों की दुर्लभता**—यह मनुष्य की परिस्थितियों से सम्बन्धित है।

अब हम इन दो बुनियादी तथ्यों का अध्ययन करें।

मानवीय इच्छाओं का बाहुल्य—अन्य पशुओं के समान मनुष्य की भी कुछ शारीरिक एवं प्राथमिक आवश्यकताएँ हैं। जिन्दा रहने के लिए उसे कम से कम कुछ खाना तो चाहिए ही। सर्दी गर्मी से अपने को बचाने के लिए उसके पास कुछ कपड़े भी होने जरूरी हैं। सर छिपाने के लिए कहीं न कहीं अच्छी बुरी जगह भी आवश्यक है। इन चीज़ों के बिना तो इन्सान ज्यादा दिन जिन्दा नहीं रह सकता। इसलिए इन्हें जीवन की आवश्यकताएँ (*necessaries of life*) कहते हैं।

किन्तु मनुष्य पशुओं से श्रेष्ठ है। उसके पास मस्तिष्क है और वह सोच सकता है। वह केवल अपनी शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति करके ही सन्तुष्ट नहीं होता। गाय को देखो तो वह जब पेट भरकर घास खा लेगी तो पास के तालाब में अपनी प्यास बुझाकर पेड़ की छाया में आराम से बैठकर जुगाली करने लगेगी। उस समय वह पूर्ण रूप से सन्तुष्ट होती है। उसे और कुछ नहीं चाहिए। पर मनुष्य की बात और है। सिर्फ पेट भरकर वह सन्तुष्ट नहीं होगा। जो चीज उसके पास नहीं होती उसी के पीछे वह दौड़ता है वह केवल जीना ही नहीं चाहता वरन् ढंग से जीवित रहना चाहता है। वह सौन्दर्य और संस्कृति की वस्तुएँ पाना चाहता है। जब उसकी भूख प्यास मिट जाती है तब वह जीवन में बाहुल्य एवं नवीनता लाने की चेष्टा करता है। आदमी का खाना देखो—उसमें सब्जी, दाल मसाला, चाय, कॉफी, दूध, चटनी और न जाने क्या क्या मिलेगा। वह खाने को हर सम्भव उपाय से स्वादिष्ट बनाने की कोशिश करता है। गरीब से गरीब आदमी भी नमकीन और मीठी लस्सी में चुनाव करता है कि उसे कौनसी रुचेगी।

सच तो यह है कि कोई भी व्यक्ति, चाहे वह कितना भी निर्धन क्यों न हो, भोजन करते समय केवल पेट भरने की नहीं सोचता। अपने साधनों और अपनी रुचि के अनुकूल वह उसमें मज़ा लेना चाहता है। और एक बार इस मार्ग पर चल पड़ने पर इसका कहीं अन्त नहीं है।

यही बात मनुष्य के कपड़ों के बारे में भी है। वह उनके फैशन के बारे में बड़ा ध्यान रखता है। सभ्य आदमी की पोशाक सिर्फ इतनी ही नहीं होती कि उसका शरीर ढक जाय। निश्चय ही टाई न होने के कारण कोई मरेगा नहीं। लेकिन कपड़े पहनते वक्त अपने को सजाने की इच्छा बलवती होती है। और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसे क्या कुछ नहीं चाहिए!

आवास अथवा आश्रय में भी मनुष्य का अहंकार काम करता है। कोई भी आदमी, गरीब या अमीर, कोरी रहने की जगह से सन्तुष्ट न होगा। हर कोशिश में

वह मकान को आरामदेह और खूबसूरत बनायेगा। और जब कोई व्यक्ति आराम और दिखावे की तरफ दौड़ता है तो उसे पूर्ण सन्तोष कभी नहीं मिल सकता।

फिर आदमी को सिर्फ खाना, कपड़ा और मकान ही नहीं चाहिए। उसे और भी कितनी ही चीजों की जरूरत है—अखबार व किताबें, फर्नीचर, रेडियो, दवा-दारू, मोटर, और भी बहुत कुछ। तब इन चीजों को बनाने के लिए उसे मशीनों की आवश्यकता पड़ती है। वास्तव में मनुष्य की आवश्यकताओं का कोई अन्त नहीं है। यहाँ तक कि वह अपनी प्राथमिक जरूरतों को तो भूल सा जाता है और एक के बाद दूसरी वस्तुओं की इच्छा करता रहता है। आदमी का मन ऐसा बना है कि जब उसकी एक इच्छा पूरी होती है दूसरी उसके स्थान पर आ जाती है।

किसी भी क्षण, यह नहीं कहा जा सकता कि मनुष्य पूर्णतया सन्तुष्ट है और उसे और कुछ नहीं चाहिए। उसे ऐसा दुःख सताता है जिसे हम कभी-कभी 'दैवी असन्तोष' कहते हैं। वह सदैव स्वप्नों और आदर्शों की खोज में रहता है। संक्षेप में वह सन्तुष्ट होने वाला जीव नहीं है। हमारे सामने मनुष्य की आवश्यकताओं के बाहुल्य का प्रश्न रहता है।

५. साधनों की दुर्लभता (Scarcity of Means)—यद्यपि मनुष्य की आवश्यकताएँ अगणित हैं और अपनी विभिन्नता में आश्चर्यजनक हैं, पर उनकी सन्तुष्टि के साधन सीमित हैं। निस्सन्देह, प्रकृति हमें कुछ पदार्थ, जैसे हवा और धूप, बिना मूल्य और असीमित रूप में प्रदान करती है। किन्तु प्रकृति के इन मुफ्त उपहारों से ही आदमी का काम नहीं चलता। उसे और भी बहुत सी चीजें चाहिएँ जिनमें से अधिकतर दुर्लभ हैं। इन्हें पाने के लिए उसे प्रयत्न करना पड़ता है, यदि एक को वे चीजें मिल जाती हैं तो किसी दूसरे को उनसे वंचित रहना पड़ता है। यदि हवा और धूप की तरह सभी चीजें मुफ्त होतीं तो कोई आर्थिक समस्या पैदा न होती। उदाहरण के लिए अगर दूध और घी की नदियाँ बहती होतीं तो पैसा देने का सवाल न उठता। लेकिन स्थिति यह है कि हमारे चारों ओर दुर्लभता फैली हुई है।

दुर्लभता[१] का अर्थ निरपेक्ष दुर्लभता नहीं है। यह दुर्लभता केवल हमारी आवश्यकताओं के मुकाबले में है, सापेक्ष है। कोई वस्तु, जैसे विष, चाहे बहुत कम मात्रा में मिलती हो, किन्तु यदि उसे कोई नहीं चाहता तो वह वस्तु दुर्लभ नहीं कही जाएगी। इसी प्रकार, किसी विशेष वस्तु का बाहुल्य हो सकता है, जैसे काश्मीर में फलों का। किन्तु चूँकि वे सब लोगों की आवश्यकता पूरी करने के लिए काफी नहीं हैं, उन्हें दुर्लभ कहना पड़ेगा। हमारी आवश्यकताओं को पूरा करने वाले साधन इसी माने में दुर्लभ हैं कि वे हमारी अपेक्षाओं से कम हैं।

आवश्यकताओं का बाहुल्य और साधनों की दुर्लभता दो नींव के पत्थर हैं जिन पर अर्थशास्त्र का भवन खड़ा है। किन्तु अर्थशास्त्र का क्षेत्र समझने के लिए कुछ और बातों की भी चर्चा करनी आवश्यक है।

---

१ दुर्लभ का अर्थ साधारण बोल चाल में दुष्प्राप्य (rare) से लिया जाता है। यहाँ यह केवल आवश्यकताओं की अपेक्षा अल्प के अर्थ में प्रयोग होता है। Scarcity शब्द का अर्थ आवश्यकतानुसार 'अल्प' अथवा 'दुर्लभ' लिया गया है।

'क्षेत्र' का अर्थ है अध्ययन का दायरा। इससे यह निश्चय करना है कि अर्थशास्त्र में किन किन बातों का अध्ययन शामिल है और कौनसी बातें इसके क्षेत्र से बाहर हैं। अर्थशास्त्र के क्षेत्र को हम निम्न शीर्षकों में बाँटकर समझ सकते हैं—

(क) इसकी विषय सामग्री—हमने अभी देखा है कि अर्थशास्त्र मनुष्य के उन कार्यों का अध्ययन करता है जो धन से सम्बद्ध हैं। यह मनुष्य के जीवन की साधारण क्रियाओं का अध्ययन है कि मनुष्य अपने सीमित साधनों का अपनी असीम इच्छाओं की पूर्ति के लिए कैसे उपयोग करता है। अर्थशास्त्र अध्ययन करता है कि धन का उपभोग, उत्पादन, विनिमय एवं वितरण कैसे किया जाता है। विनिमय में वस्तुओं के मूल्य का तय होना द्रव्य बैंकिंग अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, वैदेशिक विनिमय (*foreign exchange*) आदि शामिल हैं। वितरण में हम किराया, मजदूरी, सूद और लाभ के निर्धारण का अध्ययन करते हैं।

(ख) सामाजिक विज्ञान—हमने यह भी देखा कि अर्थशास्त्र मनुष्यों का अध्ययन करता है। किन्तु यह उन अकेले व्यक्तियों का अध्ययन नहीं करता जो जंगलों या गुफाओं में दुनिया से अलग रहते हैं। यह तो संगठित समाज में रहने वाले मनुष्य का अध्ययन करता है जो दूसरों के साथ अपने पदार्थों का विनिमय करता है, उनको अपने कार्यों से प्रभावित करता है और उनके कार्यों से स्वयं प्रभावित होता है। वह उन पर निर्भर है और वे उस पर। अर्थशास्त्र इस प्रकार से एक सामाजिक विज्ञान है।

(ग) कला या विज्ञान—हमने पहले ही तय किया था कि अर्थशास्त्र विज्ञान भी है और कला भी। यह न केवल इस बात को समझाता है कि कुछ बातें कैसे होती हैं बल्कि यह भी बताता है कि व्यावहारिक समस्याएँ कैसे सुलझाई जाएँ।

(घ) वास्तविक अथवा आदर्श विज्ञान—वास्तविक विज्ञान (positive science) वस्तुओं और घटनाओं के क्या और किस कारण से की व्याख्या करता है, अर्थात उनका कार्य कारण सम्बन्ध बताता है। दूसरी ओर आदर्शात्मक विज्ञान (*normative science*) उनके 'क्या चाहिए', अच्छाई और बुराई भले-बुरे की चर्चा करता है।

अर्थशास्त्रियों के इस विषय में भिन्न भिन्न मत हैं। हमारा मत यह है कि अर्थशास्त्र निश्चयात्मक एवं आदर्शात्मक विज्ञान दोनों है। यह न केवल हमें यह बताता है कि कोई बात क्या होती है, यह इतना भी बताता है कि वह बात उचित है अथवा नहीं। उदाहरण के लिए हम जानते हैं कि संसार में मुट्ठी भर आदमी बड़े धनवान हैं क्योंकि तमाम जनता बड़ी गरीब है। अर्थशास्त्र को न केवल धन के इस असमान वितरण के कारणों की व्याख्या करनी चाहिए बल्कि यह भी बताना चाहिए कि यह वितरण अच्छा है या बुरा। यह कह सकता है कि धन का समान वितरण होना चाहिए। इससे आगे भी, इसे यह भी सुझाव देना चाहिए कि समान वितरण करने के उपाय क्या हैं।

तब हम अर्थशास्त्र का क्षेत्र संक्षेप में यह बता सकते हैं कि यह सामाजिक दृष्टिकोण से, धन से सम्बन्ध रखने वाली मानव क्रियाओं का अध्ययन करता है। यह

केवल खोज और व्याख्या ही नही करता बल्कि समर्थन एवं निन्दा भी करता है। यह न केवल तथ्यों की जाँच और सचाई की खोज करता है, बल्कि जीवन के नियम भी निर्धारित करता है और उचित और अनुचित के बारे में अपना फैसला देता है।

६. **आर्थिक नियम—(Economic Laws)** अन्य विज्ञानों की भाँति, अर्थशास्त्र के भी अपने सुनिश्चित सिद्धान्त या नियम है। "नियम" का अर्थ यहाँ कोई वैधानिक नियम या सरकारी कानून नही है जिसका पालन करना आवश्यक है वरना सजा मिलेगी। न यह नैतिक नियम है जैसे कि, 'अपने माता-पिता का आदर करो'। नैतिक नियम जनमत पर आश्रित होता है, और उसे तोड़ने वाले को दण्ड नही मिलता।

अर्थशास्त्र के नियम का अर्थ है केवल वह सिद्धान्त या सामान्यीकरण (generalisation) जिसके अनुकूल कार्य करने की प्रवृत्ति ही आर्थिक क्रियाओं में लगे लोगों में साधारणतया पाई जाती है।

अर्थशास्त्र एक विज्ञान है जो मनुष्य से सम्बन्धित है और मनुष्य के कार्य हमेशा अनिश्चित होते है। मनुष्य की अपनी एक इच्छा है और उसके कार्य किसी बँधे हुए नियम के अनुसार नही होते। हम इतना ही कह सकते है कि अमुक परिस्थितियों में साधारणतया मनुष्य इस प्रकार कार्य करेगा—ऐसी आशा है। किन्तु यह नही कि उसे ऐसे ही करना पड़ेगा। इसीलिए हम कहते हैं कि आर्थिक नियम केवल एक प्रवृत्ति का वर्णन (statement of a tendency) है।

किसी आर्थिक नियम की सार्थकता अनेक बाहरी कारणों पर निर्भर है। यदि दिल्ली की अपेक्षा बम्बई में वेतन अधिक है तो आर्थिक नियम कहता है कि मजदूर दिल्ली से बम्बई चले जाएँगे। किन्तु वास्तव में उनका जाना अन्य बहुत सी बातों पर निर्भर है। वे यह भी सोचेंगे कि बम्बई में कीमतें कितनी है, वहाँ रहने की जगह भी मिलेगी या नही, वहाँ उनकी मदद करने या सलाह देने के लिए मित्र है या नही, आदि। यदि ये बातें सन्तोषप्रद है तो वे जाएँगे। इसलिए आर्थिक नियम कुछ अवस्थाओं में ही सच और उन्हे मानकर बनाए गए होते है (conditional and hypothetical)। उसके साथ यह शर्त लगानी पड़ती है कि यदि अन्य बातें स्थिर रहें (other things being equal)।

इस तरह अर्थशास्त्र भौतिकी या गणित के समान, सुनिश्चित विज्ञान *(exact science) नही है। सामाजिक और मानवीय कारणों से आर्थिक नियम* भौतिक नियमों की अपेक्षा कम सुनिश्चित रह जाते हैं। इसी कारण मार्शल ने आर्थिक नियमों की तुलना ज्वार के उलझे हुए नियमों से की थी न कि गुरुत्वाकर्षण के अटल नियम से।

तमाम सामाजिक विज्ञानों में से, फिर भी, अर्थशास्त्र सबसे अधिक सुनिश्चित या सूक्ष्म (exact) है क्योंकि किसी आर्थिक प्रयोजन (economic motive) की शक्ति द्रव्य में मापी जा सकती है। अन्य सामाजिक विज्ञानों के पास कोई ऐसा मापदण्ड नही है।

७. अर्थशास्त्र का अन्य विज्ञानों से सम्बन्ध (Relation of Economics

with other Sciences)—अर्थशास्त्र का लगभग सभी अन्य विज्ञानों से सम्बन्ध है। मनुष्य ने सभी विज्ञानों का विकास मानवता के कल्याण के लिए किया है। मानवीय कल्याण ही इसका मुख्य उद्देश्य होने के कारण अर्थशास्त्र अपने अध्ययन में अन्य विज्ञानों का स्वतन्त्रता से उपयोग करता है। अपने क्षेत्र में यह अन्य विज्ञानों द्वारा निकाले गए निष्कर्षों का उपयोग करता है।

किन्तु सामाजिक विज्ञानों से तो इसका सम्बन्ध अत्यन्त निकट का है। इन दिनों अर्थशास्त्र और राजनीति का एक दूसरे से बहुत सम्पर्क है। सभी राजनीतिक घटनाओं की जड़ में आर्थिक कारण होते हैं। सभी राजनीतिक समस्याएँ वास्तव में आर्थिक ही हैं। राजनीतिक संस्थाएँ आर्थिक दशाओं पर प्रभाव डालती हैं और उनके प्रभाव में आती भी हैं।

अर्थशास्त्र का इतिहास से भी सम्बन्ध है। अपने समय की आर्थिक समस्याओं की पृष्ठभूमि समझने के लिए यह इतिहास से भी लाभ उठाता है। आर्थिक नियमों के तय करने और जाँचने में भी इतिहास सहायता देता है। किन्तु मनुष्य का आर्थिक विकास बताए बिना इतिहास अधूरा है। इस प्रकार

बिना इतिहास के अर्थशास्त्र का आधार नहीं है
बिना अर्थशास्त्र के इतिहास का कोई फल नहीं है।

अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र (Ethics) भी एक दूसरे से सम्बन्धित है। नीतिशास्त्र बताता है कि क्या होना चाहिये। वह देखता है कि कोई वस्तु उचित है या अनुचित। और नैतिक एवं आचार सम्बन्धी विचार सभी आर्थिक क्रिया पर शासन करते हैं। परन्तु अनेक आधुनिक अर्थशास्त्री (जैसे राबिन्स) कहते हैं कि अर्थशास्त्र एक विशुद्ध विज्ञान है और विशुद्ध विज्ञान होने के नाते इसे उचित-अनुचित से कोई सरोकार नहीं। वे कहते हैं कि उद्देश्यों की विवेचना इसके क्षेत्र से बाहर है। यह कोई निर्णय नहीं देता कि उद्देश्य भले है या बुरे। इसका वास्ता केवल साधनों से है। किन्तु हमारे विचार से *अर्थशास्त्र को नीतिशास्त्र से अलग नहीं किया जा सकता। नीतिशास्त्र* अर्थशास्त्र का सहचर है। अर्थशास्त्रियों से दिनो-दिन आर्थिक मामलों पर अधिकाधिक राय पूछी जाने लगी है और उन्हें इस कर्तव्य से पीछे न हटना चाहिए। अर्थशास्त्र वास्तविक और आदर्शात्मक दोनों प्रकार का विज्ञान है।

८ **अर्थशास्त्र के अध्ययन का महत्व**—आजकल अर्थशास्त्र ज्ञान की सबसे महत्वपूर्ण शाखाओं में गिना जाता है। इसका अध्ययन करने वालों की संख्या हर वर्ष बढ़ रही है। और यह होना भी चाहिए क्योंकि इसके अध्ययन से अनेक लाभ हैं। संक्षेप में वे लाभ निम्नलिखित हैं—

(क) *अर्थशास्त्र हमें आर्थिक क्रियाओं से सम्बन्ध रखने वाले मानव-व्यवहार* के बारे में बहुत से रोचक और शिक्षाप्रद तथ्य बताता है। आर्थिक मामलों में मनुष्य का मन किस प्रकार काम करता है यह स्पष्ट होता है। हम मनुष्य को प्रेरणा देने वाले विभिन्न प्रयोजनों को समझने लगते हैं। यह अत्यन्त आकर्षक एवं लाभदायक अध्ययन है।

(ख) अर्थशास्त्र में हमारी बुद्धि का शिक्षण उसी प्रकार होता है जैसे किसी

भी विज्ञान के विचार से। इससे हम में स्पष्ट सोचने और सही निर्णय करने की योग्यता उत्पन्न होती है। यह एक लाभप्रद मानसिक व्यायाम है। अर्थशास्त्र का चतुर विद्यार्थी जनता को धोखा देने वाले राजनीतिज्ञों की चालों को सरलता से समझ सकता है। वह सस्ते पक्षकारी प्रचार से बहकेगा नहीं। यह सच है कि "अर्थशास्त्र कोई पारस पत्थर नहीं है जो जिसे छुए उसे सोना कर दे।" किन्तु कम से कम सोना और अन्य निम्न धातुओं में पहचान अवश्य सिखाता है।

(ग) अर्थशास्त्र का अध्ययन हमें यह समझने में मदद देता है कि आज की पेचीदा अर्थ व्यवस्था बिना किसी केन्द्रीय नियन्त्रण के लगभग अपने आप ही किस प्रकार चलती है। प्रत्येक आर्थिक गडबडी किसी न किसी तरह स्वयं ही सुधर जाती है। उदाहरण के लिए, यदि किसी एक वस्तु की कमी हो जाय तो उसकी कीमत बढ़ जाएगी। इससे अनावश्यक मांग घटकर पूर्ति के बराबर हो आ जाएगी।

(घ) अर्थशास्त्र हमें मनुष्य के परस्पर एक दूसरे पर निर्भर होने का महत्त्व-पूर्ण पाठ पढाता है। हम यह जान जाते है कि कैसे अपनी आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के लिए हम दूसरों पर आश्रित है और कैसे दूसरे हम पर। यह स्पष्टतया एक काम करने वाले का दूसरे से, एक उद्योग का दूसरे उद्योग से, और एक देश का दूसरे से, नाता हमारे मस्तिष्क में बैठा देता है। यह ज्ञान हमारी अपनी दायित्व की भावना को सुदृढ करता है और इस प्रकार बेहतर कार्य और अधिक सुखी समाज की ओर ले जाता है।

(ङ) अर्थशास्त्र का अध्ययन हमें उपयोगी और बुद्धिमान नागरिक बनाता है। हमारे समय की अधिकांश समस्याएँ मूलत आर्थिक है। केवल अर्थशास्त्र ही हमें कृषि, व्यापार, उद्योग आदि की समस्याओं को सुलझाने के लिए सही राजकीय नीतियाँ तय करने और ढालने में हमारी सहायता करता है। अर्थशास्त्र का विद्यार्थी सरलता से करारोपण (taxation), चलन-मुद्रा (currency), विनिमय (exchange) आदि के प्रश्नों को समझता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अर्थशास्त्र का अध्ययन हमें बुद्धिमान्, चतुर और उपयोगी नागरिक बनाता है।

(च) इसके अतिरिक्त, अर्थशास्त्र का दिया हुआ ज्ञान हमारे जीवन में अत्यन्त व्यावहारिक मूल्य रखता है। अर्थशास्त्र का विज्ञान जीवन से सम्बन्धित है और घनिष्ठतम रूप में। अधिकतर सरकारी महकमों में अर्थशास्त्र का ज्ञान उपयोगी आवश्यक सिद्ध होता है और कभी-कभी आवश्यक समझा जाता है।

व्यवसायियों, उद्योगपतियों, बैंकाधिपतियों और सार्वजनिक नेताओं के लिए अर्थशास्त्र विशेषकर उपयोगी है क्योंकि यह उन्हें उपयोगी तथ्यों का भरपूर भण्डार प्रदान करता है। यह उन्हें कोई शैल्पिक परामर्श तो नहीं दे पाता, किन्तु उन्हें त्रुटियों से बचने में सहायता देता है।

(छ) अन्त में, यह अर्थशास्त्र ही है जिसकी ओर हम अपनी गरीबी की समस्या सुलझाने के लिए देखते हैं। "अर्थशास्त्र स्वयं कोई दूध-दही की नदियाँ नहीं बहा देगा, किन्तु वह उस सुखी समाज को लाने में, उसका निर्माण करने में और उससे पहले जो कुछ गिराना हो उसे नष्ट करने में, यह एक आवश्यक औज़ार है।

जो कुछ ऊपर कहा गया है उसमे यह स्पष्ट है कि अर्थशास्त्र का अध्ययन न केवल साधारण जीवन मे उपयोगी है, बल्कि यह मानसिक नियन्त्रण का भी श्रेष्ठ उपकरण है।

६. **आर्थिक अध्ययन के विभाग** (Divisions of Economic Study)—अर्थशास्त्र का अध्ययन चार मुख्य विभागो या खण्डो मे बाँटा गया है—उपभोग, उत्पादन, विनिमय और वितरण।

उपभोग मे हम मानवीय आवश्यकताओ की विशेषताओ और उनकी सन्तुष्टि के सिद्धान्तो का अध्ययन करते हैं। उपयोगिता के घटने का नियम (Law of Diminishing Utility), प्रतिस्थापन (तब्दीली) का नियम (Law of Substitution), पारिवारिक व्यय के नियम और उपभोक्ता की बचत (Consumer s Surplus) के नियम विशेष महत्त्वपूर्ण है। हम माँग के स्वभाव का भी अध्ययन करते है कि यह लोचदार (elastic) है या बेलोचदार (inelastic), और माग के नियम का भी।

उत्पादन मे, हम यह अध्ययन करते है कि मनुष्य अपनी आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए क्या प्रयत्न करता है और कैसे धन उत्पन्न करता है। खास तौर पर, हम यह देखते है कि उत्पादन के चार साधन, भूमि, श्रम, पूँजी और सगठन कैसे एक दूसरे से सहयोग करते है और मिलकर उत्पादन का कार्य पूरा करते है। हम इनमे से प्रत्येक साधन का अध्ययन करते है उसके महत्त्व का और उसकी कार्यक्षमता की परिस्थितियो का।

अर्थशास्त्र के तीसरे विभाग विनिमय मे, हम यह अध्ययन करते है कि खरीदना-बेचना कैसे होता है और माँग और पूर्ति की शक्तियो की प्रतिक्रिया के द्वारा कीमते किस तरह निश्चित होती है।

चौथे विभाग वितरण मे चारो साधनो, भूमि श्रम, पूँजी और सगठन को अपनी-अपनी आमदनी, जो किराया, मजदूरी, ब्याज और लाभ के रूप मे मिलती है, अध्ययन किया जाता है।

अर्थशास्त्र को आम तौर पर इन ही चार विभागो मे बाँटा जाता है किन्तु इसके साथ-साथ हमे सार्वजनिक वित्त (Public Finance) की समस्याओ का भी अध्ययन करना पड़ता है। इसमे हम यह चर्चा करते है कि सरकारो को पैसा कैसे मिलता है और वे कैसे उसे खर्च करती है। इस प्रकार से इसमे कर लगाने (taxation) और उससे सम्बन्धित प्रश्न आ जाते है।

१० **अर्थशास्त्र के विभागो का अन्तर्सम्बन्ध** (Inter-relation of the Departments of Economics)—अर्थशास्त्र के चारो विभाग उपभोग, उत्पादन, विनिमय और वितरण, अलग-अलग हवा-बन्द डब्बो मे बन्द न ी हैं। समूचे विषय का चार भागो मे यह विभाजन अध्ययन की सुविधा के लिए ही है। वास्तव मे समूचा विषय एक है और यह विभाग एक दूसरे से घनिष्ठ रूप मे सम्बन्धित हैं। हम नीचे यही देखेंगे—

उपभोग और उत्पादन—इन दोनो का निकट सम्बन्ध स्पष्ट है। उपभोक्ता की उपभोग की इच्छा ही उत्पादन का कारण है। किन्तु उपभोग स्वय इस पर निर्भर

है कि कितना व किस प्रकार का उत्पादन हुआ है। जब तक उत्पादन न हो, उपभोग नहीं हो सकता। इस तरह उपभोग और उत्पादन परस्पर आश्रित है।

उपभोग और विनिमय—आजकल विशिष्टीकरण (Specialisation) का युग है। लोग जो पैदा करते हैं उसका उपभोग नहीं करते—कम से कम सारे का तो नहीं—और वे जिन वस्तुओं का उपभोग करते हैं उसका स्वयं उत्पादन नहीं करते। इसलिये यदि उपभोक्ता अपनी इच्छाओं की सन्तुष्टि करना चाहें तो विनिमय आवश्यक है। इस प्रकार उपभोग विनिमय पर निर्भर है। किन्तु यदि उपभोक्ता न हो तो विनिमय की जरूरत ही नहीं पड़ती। इसलिए विनिमय और उपभोग दोनों एक दूसरे पर निर्भर हैं।

उपभोग और वितरण—उपभोग वितरण से भी सम्बन्धित है। वितरण से हम तय करते हैं कि उत्पादन के विभिन्न साधनों को राष्ट्रीय आय में से कितना-कितना हिस्सा मिलता है। अब यह स्पष्ट है कि यदि उपभोक्ताओं को जीवन-निर्वाह की वस्तुएँ ठीक से मिलें तो वे अपने काम में अधिक निपुण बनेंगे और उत्पादित धन में से अधिक हिस्सा पाने के अधिकारी होंगे। इस प्रकार उपभोग वितरण पर प्रभाव डालता है।

पर दूसरी ओर, समाज में धन का बँटवारा किस हिसाब से होता है इस पर उपभोग का स्वरूप निर्भर है। आदमी क्या उपभोग करता है यह उसकी आय पर आश्रित है। यदि उसका वेतन कम है तो उसका उपभोग भी कम होगा, उसका जीवन-स्तर भी नीचा होगा।

आजकल वितरण की समस्या उतनी ही महत्त्वपूर्ण समझी जाती है जितनी उत्पादन की। शायद उससे भी अधिक। जनता का वास्तविक हित और कल्याण देश में धन के कुल उत्पादन पर इतना निर्भर नहीं है जितना इस पर कि उस धन का वितरण कैसे होता है, अर्थात् इस पर कि समाज के विभिन्न अंगों को, अलग-अलग वर्गों को कितना कितना भाग प्राप्त होता है।

उत्पादन और विनिमय—उत्पादन विनिमय के बिना अधूरा है। उत्पादित वस्तुएं उपभोक्ताओं के हाथों में पहुँचनी चाहिएँ और यह विनिमय के बिना असम्भव है। बाजार और उनमें चलने वाली क्रय-विक्रय की व्यवस्था उत्पादन को प्रोत्साहन देती है किन्तु विनिमय भी उत्पादन पर निर्भर है। जब तक माल का उत्पादन न हो, विनिमय का प्रश्न ही नहीं उठता।

उत्पादन और वितरण—जितना अधिक किसी देश में उत्पादन होगा, उतना ही अधिक उसमें उत्पादन के प्रत्येक साधन का भाग होगा। वितरण का रूप भी इसलिए उत्पादन के कुल विस्तार पर निर्भर है। माल का पहले उत्पादन होना चाहिए, तभी उसका वितरण होना सम्भव है। दूसरी ओर, उत्पादन भी वितरण पर निर्भर है। वितरण का रूप और उसकी रीति किसी समूह या वर्ग की आय नियत करती है। एक व्यक्ति की आय से उसकी कार्यक्षमता और निपुणता तय होती है। यदि श्रमिकों को अधिक वेतन दिया जाय, तो देश की उत्पादक कार्यक्षमता अवश्य बढ़ेगी।

विनिमय और वितरण—विनिमय वितरण में सहायक है। एक व्यक्ति को

राष्ट्रीय आय का अपना भाग द्रव्य के रूप मे मिलता है। किन्तु वह द्रव्य द्रव्य के लिए नही चाहता। वह उससे अपनी आवश्यकता की वस्तुएँ खरीदना चाहता है। वह इन वस्तुओ को विनिमय द्वारा ही पाता है।

तो यह स्पष्ट है कि अर्थशास्त्र के विभिन्न विभाग एक दूसरे से सम्बन्धित हैं। प्रत्येक दूसरे पर निर्भर है और एक की दूसरे पर क्रिया और प्रतिक्रिया होती है। हमने अर्थशास्त्र को इन विभागो में केवल अपने अध्ययन की सुविधा के लिए बाँट लिया है।

इस अध्याय से तुम क्या सीखते हो ?

अर्थशास्त्र की परिभाषा—अर्थशास्त्र को धन का विज्ञान कहना गलत है। इसकी परिभाषा कीमत का विज्ञान कहकर करना भी गलत है। अर्थशास्त्र जीवन की साधारण दिनचर्या में मनुष्य के कार्यों का अध्ययन है। यह जाँच करता है कि मनुष्य अपनी आय कैसे पाता है और कैसे उसका उपयोग करता है—इस प्रकार एक ओर तो धन का अध्ययन है और दूसरी ओर और अधिक महत्वपूर्ण और यह मनुष्य के अध्ययन का एक अंग है। —(मार्शल)

रोबिन्स अर्थशास्त्र की परिभाषा करता है—एसा विज्ञान जो उद्देश्यों और वैकल्पिक उपयोग वाले दुर्लभ साधनों के परस्पर सम्बन्ध से उत्पन्न मानव-व्यवहार का अध्ययन करता है।

अर्थशास्त्र कला है या विज्ञान—अर्थशास्त्र एक विज्ञान है क्योंकि यह एक व्यवस्थित अध्ययन है, समस्त तथ्यों की व्याख्या करने के लिए नियमों का प्रतिपादन किया है। किन्तु यह कला भी है क्योंकि यह व्यावहारिक समस्याओं को हल करने में सहायता देता है। इसका बड़ा व्यावहारिक महत्त्व है।

अर्थशास्त्र की विषय वस्तु क्या है ?—आवश्यकताएं-चेष्टाएं-सन्तुष्टि अर्थशास्त्र का विषय वस्तु है। इसमें धन का उपभोग, उत्पादन, विनिमय और वितरण शामिल है। यह मनुष्य का धन से सम्बन्धित क्रियाओं का अध्ययन करता है।

अर्थशास्त्र का आधार शिला—अर्थशास्त्र आवश्यकताओं के बाहुल्य और साधनों की दुर्लभता पर आश्रित है। मनुष्य के कभी पूर्ण रूप से सन्तुष्ट न होने की प्रवृत्ति और प्रकृति की सब कुछ उपहार स्वरूप न देने की विशेषता अर्थशास्त्र की दो आधारशिलाएं हैं।

अर्थशास्त्र का क्षेत्र—यह धन से सम्बन्धित—धन के उपभोग, उत्पादन, विनिमय और वितरण से सम्बन्धित—मनुष्यों के कार्यों का अध्ययन करता है।

यह एक सामाजिक विज्ञान है।

यह विज्ञान और कला दोनों है

यह वास्तविक और आदर्श दोनों प्रकार का विज्ञान है।

आर्थिक नियम—आर्थिक नियम नैतिक व सरकारी नियमों से भिन्न हैं।

आर्थिक नियम परिकल्पित हैं और उनमें 'अन्य बातें स्थिर रहें' शब्द हमेशा साथ पाये जाते है। वे केवल प्रवृत्ति सूचक हैं और भौतिक विज्ञानों के नियमों के समान निश्चित एवं अवश्यम्भावी नहीं हैं। वे गुरुत्वाकर्षण के नियमों की अपेक्षा ज्वार के नियमों के अधिक सदृश है।

अर्थशास्त्र का अन्य विज्ञानों से सम्बन्ध—अर्थशास्त्र का लगभग सभी विज्ञानों से सम्बन्ध है और यह उनका उपयोग करता है किन्तु यह राजनीति, इतिहास, नीतिशास्त्र तथा न्याय विज्ञान जैसे सामाजिक विज्ञानों से अधिक घनिष्ठ रूप में सम्बन्धित है। आजकल अर्थशास्त्र और राजनीति एक दूसरे से इतने घुल मिल गये हैं कि उनको अलग करना असम्भव सा है। इतिहास अर्थशास्त्र के बिना पूर्ण नहीं होता और अर्थशास्त्र भी अपने सिद्धान्तों की परीक्षा करने के लिए इतिहास की

सहायता लेता है। अर्थशास्त्र नीतिशास्त्र से भी सम्बन्धित है क्योंकि यह केवल निश्चयात्मक विज्ञान ही नहीं वरन् आदर्शात्मक विज्ञान भी है।

अर्थशास्त्र के अध्ययन के लाभ

(क) यह हमें आर्थिक क्षेत्र में मानव-व्यवहार के सम्बन्ध में बहुत से रोचक और शिक्षाप्रद तथ्य बताता है।

(ख) यह एक लाभप्रद मानसिक व्यायाम है। इससे हमारी बुद्धि का शिक्षण होता है।

(ग) यह हमें सिखाता है कि आर्थिक व्यवस्था स्वयंचालित कैसे कार्य करती है।

(घ) यह हमें मनुष्य की पारस्परिक निर्भरता का पाठ देता है।

(ङ) अर्थशास्त्र का अध्ययन हमें लाभदायक नागरिक बनाता है।

(च) अर्थशास्त्र व्यवसायिक महाजन, उद्योगपति और राजनीतिज्ञ के लिए व्यावहारिक उपयोग का विषय है।

(छ) यह गरीबी की समस्या का हल ढूँढने में हमारी सहायता करता है।

आर्थिक अध्ययन के विभाजन—अर्थशास्त्र के चार विभाग हैं—उपभोग (Consumption), उत्पादन (Production), विनिमय (Exchange) और वितरण (Distribution)।

उपभोग का सम्बन्ध मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति से है और उत्पादन का मानवीय आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के लिए माल बनाने से। विनिमय बाजारों से सम्बन्धित है और पदार्थों की कीमतों के तय करने से। वितरण में हम उत्पादन के चार साधनों में राष्ट्रीय आय का विभाजन कैसे होता है, इस पर विचार करते हैं।

अर्थशास्त्र के विभागों के परस्पर सम्बन्ध—इन विभागों को अलग-अलग डिब्बों में बन्द नहीं किया जा सकता। वे परस्पर सम्बन्धित हैं।

उपभोग और उत्पादन—उपभोग की प्रेरणा मिले बिना उत्पादन हो ही नहीं सकता और किसी भी वस्तु का उपभोग होने से पूर्व उत्पादन होना आवश्यक है।

उपभोग और विनिमय—विनिमय के द्वारा ही उपभोक्ताओं को अपनी आवश्यकता की वस्तुएं मिलती हैं।

उपभोग और वितरण—बेहतर उपभोग का अर्थ है अधिक कार्यक्षमता। उच्च कार्यक्षमता राष्ट्रीय आय में से ज्यादा बड़ा हिस्सा ले लेती है। इस प्रकार वितरण उपभोग पर आश्रित है। किन्तु उपभोग तो स्पष्ट ही वितरण पर निर्भर है। अर्थात् उस आय पर जो कि उत्पादन के साधन को मिलती है।

उत्पादन और विनिमय—विनिमय के बिना उत्पादन अधूरा है। और यह भी ठीक है कि उत्पादन के बिना विनिमय का प्रश्न ही नहीं उठता।

उत्पादन और वितरण—जितना अधिक उत्पादन होगा उतनी ही अधिक राष्ट्रीय आय वितरण के लिए हाथ आयेगी और धन के अधिक समान वितरण से काम करने वालों की कार्यक्षमता में वृद्धि होगी जिससे उत्पादन पर प्रभाव पड़ेगा।

विनिमय और वितरण—वितरण विनिमय के द्वारा होता है क्योंकि इसी उपाय से कोई अपने द्रव्य को अपनी आवश्यकता के पदार्थों के रूप में बदल सकता है।

क्या आप निम्न प्रश्नों का उत्तर दे सकते हैं ?

1. What is Economics ? Discuss the utility of the study of Economics

(अजमेर १९५५; दिल्ली १९४६)

देखिए विभाग १ और ८

2 What is the subject-matter of Economics ?

(कलकत्ता विश्वविद्यालय, १९३९)

देखिए विभाग ३

3 Define and explain the nature and scope of Economics

(बम्बई १९५३, १९४०)
देखिए विभाग १ और ५

4 Scarcity of means and multiplicity of wants are the two foundation stones on which the structure of Economics rests Elucidate
देखिए विभाग ६

5 Examine the following definitions of Economics

(a) Economics is a Science of Wealth
(यू० पी० इण्टर बोर्ड १९५३, राजपूताना १९४३)

(b) Economics is a science of price

(c) 'Economics is the study of the man in the ordinary business of life
(आगरा १९५३, कलकत्ता १९४३)

(d) Economics is the Study of Principles according to which limited means are used for the satisfaction of unlimited wants
(पंजाब विश्वविद्यालय, १९४३)
देखिए विभाग १

6 Economics cannot be a science because economists disagree Comment
(आगरा, १९४९)

(किसी विज्ञान के लिये भी पूर्ण सहमति आवश्यक नहीं है। ज्ञान की हर शाखा में मतभेद हो सकते हैं। इन कठिनाइयों के बावजूद भी अर्थशास्त्र एक विज्ञान है। अर्थशास्त्र विज्ञान क्यों है ?)
देखिए विभाग २

7 Why is Economics spoken of both as a science and an art ?
(दिल्ली, १९४५)
देखिए विभाग २

8 What is an Economic Law ? Will you consider the following as economic laws ? If not why not ?

(a) Thou shalt not steal

(b) Those who violate Sec 144 shall be prosecuted

(c) The more a man has of a thing the less he wants to have more of it

Give reasons for your answer

आर्थिक नियम की परिभाषा के लिए देखिये विभाग ६।

(a) यह नागरिकशास्त्र का नियम है अर्थशास्त्र का नहीं।

(b) यह कानून का नियम है, अर्थशास्त्र का नहीं।

(c) यह आर्थिक नियम है और घटती हुई उपयोगिता का नियम (Law of Diminishing Utility) कहलाता है।

9 Laws of Economics have been compared to the complex laws of tides rather than to the simple laws of gravitation Why ?
(पटना, १९४५)

Or
देखिए विभाग ६

Economic laws are mere tendencies Do you agree ? Give the characteristics of economic laws with illustrations from your own experience
(पंजाब १९५३ Supplementary)
देखिए विभाग ६

Or

What are economic laws ? How do they differ from those of the sciences ? Illustrate your answer (जम्मू और काश्मीर, १६५३)

10 Economics is a social science Discuss its kinship with other social sciences (पंजाब विश्वविद्यालय, १६५३)

देखिए विभाग ५ और ७

Or

Why is Economics called a Social Science ? Discuss the relation of Economics to History Politics and Ethics (जम्मू और काश्मीर, १६५५)

11 "Some people regard Economics as an aid to the solution of practical problems To what extent do you agree with this view ?

(पंजाब, १६५५ यू० पी० बोर्ड, १६५३, अजमेर, १६५३)

देखिए विभाग १ और ८

Or

Define Economics Give reasons to show why its study is so popular in our colleges today

(पंजाब, १६५३ Supplementary)

12 State the main branches into which the study of economic theory is divided and discuss their relations to each other

(पंजाब, १६३५)

देखिए विभाग ६ और १०

अध्याय २

आर्थिक विकास और आर्थिक व्यवस्थाएँ

(Economic Development and Economic Systems)

१ प्रस्तावना (Introduction)—आर्थिक विकास आरम्भ ही से बहुत धीमी किन्तु स्थिर गति से हुआ। इस आर्थिक विकास की दृष्टि से मानव समाज कई सुनिश्चित कालो एव अवस्थाओ (stages) से गुजरा है। देश-देश की अपनी विशेष परिस्थितियों के कारण हर काल मे लगा समय और विकास की अन्य बातें एक दूसरे से यथेष्ट भिन्न रहे हैं। परन्तु फिर भी हम अनुमान लगा सकते है कि प्रत्येक देश लगभग एक ही प्रकार के वातावरण से गुजरा होगा जिन्हे हम विकास के विभिन्न चरण कह सकते है। आरम्भ मे आर्थिक ढांचा बहुत सीधा और सरल था परन्तु समय बीतने पर और विशेषतया आज तो वह बहुत ही उलझा हुआ (complex) हो गया है। जिन नाना कालो (stages) से विभिन्न देश गुजरे है वे इस प्रकार है—

(१) आखेट और मछली पकडना (hunting and fishing),

(२) पशुपालन (pastoral),

(३) कृषि (agriculture)

(४) दस्तकारी (handicraft),

(५) घरेलू व्यवस्थाएँ (domestic systems) और

(६) उद्योग (industries).

२ आखेट और मछली पकडन का काल (Hunting and Fishing Stage)—मानव इतिहास के उषाकाल मे मनुष्य बहुधा कन्द मूल फल आदि पर, जिन्हे वह सहज ही जगल से प्राप्त कर पाता था अपना पेट भर कर जीवन निर्वाह करता था। उसकी इच्छाएँ बहुत कम थी सच तो यह है कि अपने को जीवित रखने के लिए जितना खाना जरूरी है यह प्राप्त कर लेना ही सब कुछ था। धीरे-धीरे उसने आखेट प्रारम्भ कर दिया। आरम्भ मे शिकार के लिए लकडी और पत्थर का प्रयोग शुरू हुआ। परन्तु अग्नि के आविष्कार और धातु क प्रयोग मे आने से छुरी चाकू जैसे नाना प्रकार के तेज शस्त्र उसके पास हो गए। इनके कारण उसको शिकार म तो बडी सहायता मिली परन्तु इस काल म उसके पास न तो कोई स्थायी निवास स्थान था और न कोई अचल सम्पत्ति। इस काल म ये शस्त्र ही उसकी कुल पूंजी थे। ये आखेटक आदिम जातियां (hunting tribes) अस्थिरवासियो (खानाबदोशो) के रूप मे स्थान स्थान पर घूमा करती थी। इनके अनेक दल समुद्र तट या नदियो और झीलो के किनारे मछली पकडकर अपना निर्वाह करते थे। बाद म इस कार्य के लिए भी उनके पास अच्छे अच्छे अस्त्र हो गए। इस काल मे जीवन बहुत खतरो से भरा था और बहुधा एक वक्त का खाना मिल जाय तो दूसरे का कोई भरोसा नही होता था।

३. पशुपालन काल (Pastoral Stage)—धीरे धीरे आखेट और मछली

पकड़ने के साथ साथ पशुपालन का कार्य भी मनुष्य ने अपने हाथ में ले लिया। इसी अवस्था का नाम पशुपालन काल है। इस काल में उसने ढोर पालने की कला भली भाँति सीख ली। उसने वन्य पशुओं को सधाया और बहुत सो को पालना आरम्भ कर दिया, जिससे नियमित रूप से खाद्य-सामग्री प्राप्त हो सके। आखेटकाल में तो वह केवल पशुओं को मारता था, परन्तु इस काल में उसने इन्हें पालना आरम्भ किया। इससे उसकी खाद्य-स्थिति में पर्याप्त सुधार हुआ और रोज रोज के जीवन में भी बहुत सी समस्याएँ सुलझ गईं। पशुओं द्वारा उसको न केवल भोजन प्राप्त होता था वरन् वस्त्रों के लिए ऊन और खाल भी मिलती थी। इसके अतिरिक्त वह उनसे सवारी और यातायात का काम भी लेता था। इस युग में ढोर और पशु उसकी *निजी सम्पत्ति* बन गए। परन्तु अब तक भी उसका कोई स्थायी ठौर ठिकाना नहीं बना था। जल और चरागाहों की खोज में मानव को अब भी जहाँ-तहाँ घूमना पड़ता था। परन्तु अब अकेले रहने के स्थान पर उसने समूहों (groups) या जनजातियों (tribes) की व्यवस्था को अपना लिया और वह दल नाना स्थानों पर बसने लगे। निजी सम्पत्ति के साथ-साथ धन के बँटवारे की असमानता (inequalities of wealth) भी सामने आई जो उस समय में इस रूप में थी कि किसी के पास कम पशु थे, किसी के पास अधिक।

४ कृषि काल (*Agricultural Stage*)—धीरे-धीरे मनुष्य ने जोतने-बोने की कला भी सीख ली। इस कारण उसको वन से प्राप्त हुई वस्तुओं पर पूर्णतया निर्भर रहने में सन्तोष नहीं रहा। जीवन को अधिक स्थिर और सुरक्षित बनाने के लिए उसने भूमि पर खेती और पशुपालन का काम साथ-साथ आरम्भ कर दिया। इस प्रकार मनुष्य अब काफी संख्या में एक स्थान पर बसने लगे। अब निजी सम्पत्ति के दो भाग हो गये एक तो था ढोरों के रूप में और दूसरा कृषि-भूमि के रूप में। श्रम-विभाजन (division of labour) का अत्यधिक साधारण रूप भी इसी काल से प्रारम्भ होता है। इधर उधर मारे मारे फिरने की बजाय वे अब छोटे-छोटे गाँव बसा-कर रहने लगे। उन्होंने अपने आराम के लिए झोपड़ियाँ बनानी आरम्भ कर दी, इस-लिए ढोरों के लिए और स्वयं के लिए खाद्य-सामग्री निश्चित और पर्याप्त मात्रा में मिलने लगी। खेती की जमीन का एक-एक टुकड़ा काफी जनसंख्या का पालन करने लगा। हर परिवार के पास घर, ढोर आदि चल सम्पत्ति के रूप में थे, परन्तु कृषि-योग्य भूमि आमतौर पर सामी थी। हर परिवार आत्म-निर्भर होता था और आवश्यक वस्तुओं के लिए दूसरों की सहायता की जरूरत न पड़ती थी। बड़े-बड़े गाँव नगरों में परिवर्तित होने लगे और धीरे-धीरे मंडियों (*marketing Centres*) का काम देने लगे।

५ दस्तकारी काल (Handicraft Stage)—खेती के लिए औजार अनिवार्य थे। इसलिए उन्हीं में से कुछ ने बढ़ई और लुहार का काम शुरू कर दिया। कुछ लोगों ने दस्तकारी और कारीगरी को वृत्ति (profession) के रूप में अपना ली। शुरू में लुहार और बढ़ई फेरी लगाकर औजार आदि बेचा करते थे और खेतों पर जाकर उनकी मरम्मत करते थे। धीरे-धीरे इन कारीगरों ने अपनी दुकानें बना लीं और वहीं

औजार बनाने आरम्भ कर दिए। इनके पास भूमि भी हो गई जिसे या तो वे स्वयं ही जोतते बोते थे या किसानों से जुतवाते-बुवाते थे। इन दस्तकारों ने अपने लिए शिल्पिक-संघ (Craft Guilds) सङ्गठित कर लिये। इन संस्थाओं का कार्य न केवल उनके कल्याण का ध्यान रखना था बल्कि उत्पादन (production) की देखभाल करना भी था। ये संस्थाएँ उत्पादित वस्तुओं की कीमत (price) निश्चित करती थी और वस्तुओं के गुण और प्रकार का भी फैसला करती थी। इस प्रकार के संघों (guilds) का विवरण हमें मध्यकालीन यूरोप के देशों में मिलता है। हमारे देश में भी वर्ण व्यवस्था की नींव इसी प्रकार से चली आ रही है। परन्तु जैसे-जैसे मंडियाँ (markets) दूर-दूर तक फैलती गईं इन संघों (guilds) की कार्यपटुता में अन्तर आने लगा। ऐसी जिन संस्थाओं के पास धन व अधिकार ज्यादा हो गए वे इस व्यवस्था के लिए हानिकारक सिद्ध हुईं। इस काल में आकर श्रम-विभाजन (division of labour) का क्षेत्र और भी विस्तृत हो गया। कई प्रकार की उपजीविकाओं (occupations) का विकास हुआ। इससे जीवन में काफी स्थिरता आ गई परन्तु साथ ही साथ दूसरों पर निर्भर रहने की प्रवृत्ति भी बढ़ गई। इस काल में उत्पादन (production) छोटे स्तर (small scale) पर और कुटीर उद्योग (cottage industry) के रूप में होता था। निजी सम्पत्ति की व्यवस्था काफी प्रचलित हो गई।

६ घरेलू व्यवस्था (The Domestic System)—हम ऊपर देख चुके हैं कि हमारी अर्थ-व्यवस्था किस दिशा में जा रही थी इसलिए अब हम एक नई प्रकार की आर्थिक व्यवस्था में प्रवेश करने लगे, जिसे अर्थशास्त्रियों ने घरेलू व्यवस्था (the domestic system) का नाम दिया है। इस काल में माल के आदान-प्रदान के लिए दलाल (middle man) या बिचौलिये का आरम्भ हुआ। व्यापारियों ने कच्चा माल आदि कारीगर को अपने ही घर पर सौंपना शुरू कर दिया, और उसकी मजदूरी (wages) नियत कर दी। उसके श्रम से माल तैयार कराकर स्वयं ही उसकी निकासी शुरू कर दी। मंडियों की दूरी ही इस व्यवस्था के श्रीगणेश का कारण थी। पूँजीपति मालिक (capitalist employer) और कारीगर (workman) विभक्त होकर दो श्रेणियों में बँट गये। कारीगर की आर्थिक स्वतन्त्रता समाप्त हो गई क्योंकि अब उसको अपने मालिक की दया पर ही निर्भर रहना पड़ने लगा। वह तो दिन भर काम करके केवल मजदूरी ही जुटा पाता था। जितना भी लाभ या मुनाफा था वह तो व्यावसायिक दलाल (commercial middle man) के ही हाथ लगता था। पूँजीपति दलाल (capitalist middle man) की देख-रेख में श्रम विभाजन (division of labour) और भी जटिल और विस्तृत हो गया। भारत के बहुत से नगरों में घरेलू व्यवस्था का स्वरूप अब भी देखा जा सकता है, यद्यपि इस समय यह पद्धति 'फैक्ट्री व्यवस्था' (factory system) के रूप में परिवर्तित होती जा रही है।

७ औद्योगिक काल (Industrial Stage)—अब हम आर्थिक प्रगति के इस शृंखलाबद्ध विकास के अन्तिम चरण में प्रवेश कर चुके हैं जिसे औद्योगिक काल (industrial stage) कहते हैं। कुटीर उद्योगों (cottage industries) के साथ-साथ दूसरे बड़े पैमाने के उद्योग भी पनपने लगे। अब संसार यन्त्र-युग से

गुजर रहा था, और इस प्रकार वृहत् स्तरीय उत्पादन (large scale production) और विश्व-व्यापक मण्डियाँ (world-wide markets) खुलने लगी। पूंजीपतियो ने अपने-अपने कारखाने (factories) स्थापित कर लिये और उद्योग पर उनका पूरा-पूरा नियन्त्रण होने लगा। श्रमिको (workers) को अपनी जगह से हटाकर कारखानो मे काम पर लगाया गया और इस प्रकार वे पूरी तरह फैक्ट्री मालिको के चंगुल म फँस गये। चूंकि कमकार (workman) स्वय बहुत गरीब था और मशीन या कच्चा सामान खरीदना उसके बूते से बाहर की बात थी इसलिए उसने पूँजीपति के हाथो, निश्चित दैनिक मजदूरी (fixed daily wages) पर, अपने आपको बेच दिया। इस काल मे श्रम का विभाजन (division of labour) अधिक पेचीदा हो गया। अब कोई भी व्यक्ति आत्मनिर्भर नही हो सकता था। हर व्यक्ति को हर वस्तु के लिए परदेश मे दूसरो के ऊपर आश्रित रहना पडता था क्योकि ये मण्डियाँ दूर दूर तक स्थापित हो गई थी। निजी सम्पत्ति की प्रथा अब काफी जोर पकड चुकी थी। बडे बडे शहर स्थापित होने लगे। सचार और परिवहन (communication and transport) के सस्ते किन्तु कारगर साधनो का विकास हुआ। गांवो की आर्थिक निर्भरता प्राय समाप्त हो चली। महाजनी और साख (banking and credit) व्यवस्था का भी विकास हुआ। वस्तु विनिमय (barter) की आर्थिक व्यवस्था का स्थान द्रव्य-व्यवस्था (money economy) और साख व्यवस्था (credit economy) ने ले लिया। व्यापार सगठन के क्षेत्र मे सयुक्त सम्पत्ति समवाय (Joint Stock Companies) का उदय हुआ। उत्पादन भविष्य मे होने वाली माग (demand) को ध्यान मे रखकर होने लगा। व्यापार मे जहाँ पहले रूढि का जोर था वहाँ अब स्पर्धा एक नियम सा बन गई है। मण्डी की सीमाएँ अब राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रो तक फैल गई है।

८ **भारत अब कौनसे काल से गुजर रहा है (At what stage is India passing ?)**—आर्थिक प्रगति की दृष्टि से भारत को किसी विशेष काल मे गिनना बडा कठिन है। भारत भौगोलिक रूप म एक उप महाद्वीप जैसा है और इसलिए एक ही साथ विभिन्न भागो मे आर्थिक प्रगति की ऊपर लिखी गई लगभग सभी अवस्थाएँ किसी-न-किसी रूप मे कही न कही दीख पडती है। एक ओर तो कुछ क्षत्र ऐसे है जिनमे अभी तक सभ्यता ही नही पहुँच पाई। वहाँ के वासी अब भी आदिम जाति-सगठन (tribal organisation) बनाकर रहते है, तथा उनके खेती, आदि के साधन प्राचीन है। पशुपालन ही उनका व्यवसाय है। दूसरी ओर बम्बई दिल्ली, कानपुर, लखनऊ, इलाहाबाद जैसे बडे बडे नगर है जहाँ के लोग आधुनिक सुविधाओ मे परि-पूर्ण जीवन व्यतीत करते है। अनुमानत भारत की दो तिहाई जनसख्या खेती स अपना जीवन निर्वाह करती है। परन्तु इस पर भी हम भारत को काल-विभाजन की दृष्टि से "कृषि काल" मे नही रख सकते। इसका कारण यह है कि भारत मे कई आधुनिक उद्योग पूरी तरह से विकसित है, उदाहरणार्थ रूई कागज, सीमेन्ट आदि के उद्योग। बडे बडे उद्योगो के साथ-साथ कुटीर उद्योग (cottage industries) भी चल रहे है। यदि हम परिवहन (transport) के साधनो पर दृष्टि डालें तो मालूम

होगा कि सड़क पर एक ओर तो आधुनिकतम मॉडल की कार जा रही है, और दूसरी ओर प्राचीन काल से चली आ रही बैलगाड़ी। दूर गाँवों में वस्तु-विनिमय (barter) की पद्धति अब भी प्रचलित है। इसके प्रतिकूल शहरों और नगरों में साख-व्यवस्था (credit system) का प्रचार है। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारत में एक प्रकार से सभी आर्थिक व्यवस्थाएँ चल रही हैं। और हम कह सकते हैं कि भारत प्राचीन व्यवस्था से आधुनिक और कृषि व्यवस्था (agricultural stage) से दस्तकारी (handicraft) और औद्योगिक अवस्थाओं की ओर प्रगति कर रहा है। दूसरी पंचवर्षीय योजना के पूरा हो चुकने पर यह आशा की जा सकती है कि बहुत शीघ्र हम 'औद्योगिक काल' में पहुँच जायेंगे। हमारी सामूहिक विकास योजनाओं का उद्देश्य देहात को आधुनिक करना और समृद्ध बनाना है। इस प्रकार आर्थिक और सामाजिक दोनों क्षेत्रों में व्यापक विकास होगा।

आर्थिक तन्त्र
(Economic Systems)

विश्व आज तीन मुख्य आर्थिक व्यवस्थाओं से परिचित है यानी (क) पूँजीवाद (Capitalism) (ख) समाजवाद (Socialism), और (ग) फासिज्म या नियन्त्रित-पूँजीवाद (Fascism of Controlled Capitalism)। अब हम एक एक करके इनका विवरण देंगे।

६ पूँजीवाद (Capitalism)—रूस, पूर्वी यूरोपीय देश और चीन को छोड़कर बाकी भारत, इंग्लिस्तान और अमरीका आदि देशों तथा सारे संसार में यही व्यवस्था प्रचलित है। इस व्यवस्था की मुख्य मुख्य बातें ये हैं—

(क) निजी सम्पत्ति (Private Property)—इस व्यवस्था की नींव है निजी सम्पत्ति (private property) की पद्धति। हर व्यक्ति सम्पत्ति कमा सकता है और उसे उत्तराधिकार के रूप में अपने वारिसों को सौंप सकता है। इस तथ्य से यह बात भी सही सही समझ में आ जाती है कि आर्थिक दृष्टि से लोग एक दूसरे से इतने असमान क्यों जन्म लेते हैं। यही अन्तर पीढ़ी दर पीढ़ी बढ़ते जाते हैं। धनवान और अधिक धनवान हो जाते हैं और निर्धन अधिक निर्धन होते जाते हैं।

(ख) आर्थिक स्वतन्त्रता (Economic Freedom)—पूँजीवाद में जनता को पूरी-पूरी आर्थिक स्वतन्त्रता (economic freedom)—या उद्यम की स्वतन्त्रता (freedom of enterprise) प्राप्त होती है। आर्थिक स्वतन्त्रता के तीन रूप हैं—(i) प्रत्येक व्यक्ति जीविका (occupation) का कोई भी साधन अपना सकता है, (ii) लोग स्वतन्त्रतापूर्वक आर्थिक लाभ को दृष्टि में रखते हुए किसी नागरिक से भी इकरार (contract) कर सकते हैं, और (iii) अपनी सम्पत्ति (property) का जिस रूप में भी चाहें उपयोग कर सकते हैं। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि उनको इन मामलों में पूरी स्वतन्त्रता प्राप्त है। तमाम देशों में सरकार व्यक्तिगत स्वतन्त्रता (individual freedom) पर रोक लगाती है जिससे समुदाय (community) के बड़े हितों की रक्षा हो सके।

(ग) उत्पादन के साधनों का स्वामित्व और प्रबन्ध (Ownership and Management of the Means of Production)—पूँजीवादी समाज में उत्पादन (production) के विभिन्न उपकरण (instruments) जैसे खेत, कारखाने और कारबार (business) आदि सब के सब विभिन्न व्यक्तियों के निजी अधिकार में होते है। उनका प्रबन्ध वे सिर्फ अपने हित (exclusive benefit) के लिए करते हैं। समुदाय के कल्याण की उनको तनिक भी चिन्ता नही होती। अपना ही कल्याण उनका प्रमुख ध्येय होता है। इस प्रकार पूर्ण लाभ उनकी जेबों में जाता है। श्रमिकों को तो राष्ट्रीय धन (national wealth) का एक थोड़ा सा भाग ही प्राप्त होता है। इस प्रकार सम्पत्तिवान् (haves) धनिकों और सम्पत्ति-हीन (have nots) निर्धनों के बीच की खाई बढ़ती जाती है।

(घ) वर्ग-संघर्ष (Class Conflict)—अमीर और गरीब 'हैव्ज और 'हैव नॉट्स' में निरन्तर झगड़ा चलता रहता है। पूँजीवाद के अन्तर्गत समाज दो छावनियों में बँट जाता है। मजदूर (labour) बनाम पूँजी यह संघर्ष निरन्तर होता रहता है। इसलिए पूँजीवाद समाज (capitalistic society) में सुख और धन नहीं मिलता। वहाँ सदैव हड़ताल और ताला बंदी (strikes and lock-outs) का डर रहता है और समाज में किसी समय भी गड़बड़ और अव्यवस्था की सम्भावना बनी रहती है।

(च) समन्वयहीन रूप (Uncoordinated Nature)—पूँजीवाद में आर्थिक जीवन के विभिन्न पहलुओं का मेल बिठाने का कोई भी उपाय नहीं होता। व्यापारिक निर्णय लाखों स्वतन्त्र व्यापारियों द्वारा किए जाते है। कोई ऐसी सत्ता नही होती जो उनको बन्धन में रखे ताकि वे मिलकर चलें। इसीलिए कहा जाता है कि पूँजीवाद के अन्तर्गत सभी कार्य अन्धाधुन्ध और ऊटपटांग होते हैं।

(छ) नियन्त्रण जोखिम लेने वालों के हाथ में होता है (Control goes with Risk)—पूँजीवाद के अन्तर्गत व लोग पैसा लगाते है और जोखिम मे डालते हैं। वे ही उद्योग का नियन्त्रण करते है। और यह आवश्यक भी है, क्योंकि निर्णय बहुत होशियारी से और समझ बूझकर करने होते है। अगर पूंजी किसी की हो और निर्णय का अधिकार किसी दूसरे के हाथ में हो तो स्पष्ट है कि निर्णय करते समय जिम्मेदारी की पूरी भावना उसमें नहीं रहेगी और इस तरह काफी हानि की गुंजाइश हो सकती है।

(ज) उद्यमी का प्रभावी स्थान (Dominant Role of the Entrepreneur)—समाज के पूँजीवादी ढाँचे मे उद्यमी का कार्य बड़ा प्रबल होता है। उत्पादन (production) के सारे साधन उसके इशारे (direction) पर चलते हैं। वही इस बात का निर्णय करता है कि माल का किस प्रकार और कहाँ उत्पादन किया जाय और उसे कहाँ बेचा जाय। उद्यमी ही उत्पादन के समस्त साधनों को खरीदता है और वेतन देता है। किसी देश का भविष्य, उसकी समृद्धि और सौभाग्य इस बात पर निर्भर करता है कि उसके उद्यमी कितने कुशल हैं।

१०. समाजवाद (Socialism)—पूंजीवाद (capitalism) के विपरीत समाजवाद ऐसी आर्थिक व्यवस्था (economic system) पेश करता है जिसके अनुसार उत्पादन के साधनों जैसे खेतों और कारखानों का राष्ट्रीयकरण (nationalisation) या समाजीकरण हो चुका हो। वे सब व्यक्ति व्यक्ति के हाथों से छिनकर सरकार के अधीन हो जाते हैं। व्यापार (trade) और उद्योग (industry) से जो लाभ होता है वह सब सरकारी कोष में जमा हो जाता है, व्यापारियों के हाथ कुछ भी नहीं लगता। संक्षेप में समाजवाद का अर्थ है—व्यक्तिगत पूंजी तथा उद्यम (private enterprise) का अन्त करना। सरकार ही सारे व्यापार को चलाने और संभालने वाली होती है और लाभ का उपयोग समुदाय के कल्याण और हित के लिए होता है।

परन्तु यह स्मरण रखना बहुत आवश्यक है कि समाजवादी (socialists) तमाम निजी सम्पत्ति को समाप्त करना नहीं चाहते। सिर्फ उत्पादन के ही क्षेत्र में वे निजी सम्पत्ति को समाप्त करना चाहते हैं। परन्तु साम्यवाद (Communism) का कहना है कि हर प्रकार की सम्पत्ति समाप्त कर दी जाएगी। यह भी भली भांति समझ लेना जरूरी है कि समाजवाद (Socialism) आर्थिक समानता (economic equality) नहीं ला सकता। चाहे हर व्यक्ति राज्य (state) के लिए काम करता है पर हर व्यक्ति को एक ही दर पर वेतन नहीं मिलता। काम के ढंग को देखकर और काम करने वाले की योग्यता देखकर वेतन दिया जाता है। यद्यपि समान वेतन की गारण्टी (guarantee) नहीं दी जाती तो भी अवसर की समानता (equality of opportunity) का आश्वासन दिया जाता है। समाजवादी राज्यों में निःशुल्क शिक्षा और मुफ्त औषधीय सहायता दी जाती है और हर नागरिक को काम देने की गारण्टी (guarantee) दी जाती है। पूंजीवाद में सब साधनों (resources) को उपभोक्ताओं की इच्छा के अनुसार बांटकर काम में लगाया जाता है परन्तु समाजवाद में इसका निर्णय सरकार के हाथ में होता है। उपभोक्ता (consumer) की सर्वोपरि प्रभुता (sovereignty) का प्रश्न ही नहीं उठता।

११ फसिज्म या नियन्त्रित पूंजीवाद (Fascism or Controlled Capitalism)—हिटलर और मुसोलिनी के शासन काल में जर्मनी और इटली में फसिज्म (Fascism) प्रचलित हुआ। फसिज्म (Fascism) के अन्तर्गत राज्य (state) ही सब कुछ है। ऐसा माना जा सकता है कि समाजवाद (Socialism) में श्रमिक ही उच्चतम होता है और पूंजीवाद (Capitalism) में पूंजी का पलड़ा भारी रहता है परन्तु इसके विपरीत फसिज्म (Fascism) के अन्तर्गत राज्य (state) ही सर्वोच्च होता है। न श्रमिकों को हड़ताल करने की इजाजत होती है न मालिकों को कारखाना बन्द करने की। यह मान लिया जाता है कि हड़ताल और तालाबन्दी (strikes and lock-outs) साधारणतया समाज के लिए हानिकारक हैं, और राज्य समाज के हितों का संरक्षक (guardian) होता है। राज्य श्रम और पूंजी दोनों पर रोक रखता है। फसिज्म (Fascism) का कुछ कुछ रूप (Capitalism) से इसीलिए मिलता है कि दोनों में निजी उद्यम और निजी पूंजी लगाने (private

enterprise and private investment) का काम एक जैसा है। उत्पादन के साधनों (means of production) में निजी सम्पत्ति (private property) को बनाये रखा जाता है परन्तु सरकार (state) मजदूरी (wages) और लाभ (profit) दोनों पर नियन्त्रण रखती है। फसिज्म का कुछ-कुछ रूप समाजवाद से भी इसलिये मिलता है कि दोनों में आर्थिक क्षेत्र (economic sphere) में सत्ता सर्वोच्च है। इस प्रकार फसिज्म पूंजीवाद और समाजवाद के बीच का मार्ग है। समाजवाद और फसिज्म दोनों में ही शासक निरंकुश तानाशाह (dictator) होते हैं। दोनों के अन्तर्गत सारे व्यापार और उद्योग को चलाने के लिए मालिकों मजदूरों और शासक दल की प्रतिनिधि निकाय (body) बनाई जाती है। ये निकाय (bodies) मिलकर आर्थिक कार्यों (economic activity) का मेल बिठाते हैं।

१२. **मिश्रित अर्थ-व्यवस्था** (Mixed Economy)— इस समय एक नई व्यवस्था के स्वरूप का निर्माण हो रहा है। इंग्लिस्तान में जिसे पूंजीवाद (capitalism) और स्वतन्त्र उद्यम (free enterprise) का गढ़ माना जाता था अब कुछ उद्योगों (industries) का राष्ट्रीयकरण (nationalisation) हो रहा है। भारत भी इंग्लिस्तान के पद चिन्हों पर चल रहा है। इंग्लिस्तान ने बैंक आफ इंग्लैंड (Bank of England) और इस्पात उद्योग (steel industry) का राष्ट्रीयकरण (nationalisation) कर दिया था परन्तु वहाँ की अनुदार (Conservative) सरकार ने पुन उसका—इस्पात उद्योग का—अराष्ट्रीयकरण (denationalisation) कर दिया है। भारत सरकार ने भारत के रिजर्व बैंक आफ इण्डिया का राष्ट्रीयकरण कर दिया है। यदि निधि (funds) और प्रशिक्षित कारीगरों (trained personnel) की कमी न होती और यदि भारत सरकार दूसरी महत्वपूर्ण समस्याओं में न फँसी होती तो अब तक बहुत से उद्योगों (industries) का राष्ट्रीयकरण (nationalisation) हो चुका होता। भारत सरकार ने घोषणा की है कि १० वर्ष तक राष्ट्रीयकरण का कार्य हाथ में नहीं लिया जायगा जिसका अर्थ यह होता है कि १० वर्ष के बाद राष्ट्रीयकरण के कार्य के लिए सरकार कदम उठायेगी यह उम्मीद की जा सकती है।

भारत सरकार की नयी औद्योगिक नीति (industrial policy) के अनुसार जिसकी घोषणा १९४८ में की गई थी, कुछ उद्योगों को राष्ट्रीय उद्योगों के तौर पर प्रारम्भ किया जा रहा है। उन पर सरकार का ही पूरा अधिकार होगा। ऐसे उद्योग सार्वजनिक क्षेत्र कहे जा सकते हैं। मिश्रित अर्थ-व्यवस्था (mixed economy) में निजी क्षेत्र (private sector) और सार्वजनिक क्षेत्र (public sector) साथ साथ रहते हैं। कुछ उद्योगों का स्वामित्व तो पूंजीपतियों के हाथ में रहता है और कुछ उद्योगों पर स्वामित्व राज्य (State) का होता है, परन्तु कुछ ऐसे उद्योग भी होते हैं जिनमें राज्य और पूंजीपति साझा (partnership) कर लेते हैं। ऐसा दीख पड़ता है कि भविष्य में पूंजीवादी देशों में मिश्रित अर्थ-व्यवस्था बहुत तेजी के साथ उन्नति करेगी।

पंचवर्षीय योजना के द्वारा सरकार के दखल, अधिकार और नियन्त्रण का क्षेत्र बहुत बढ़ गया है। निजी क्षेत्र को भी अब सरकार की मूलभूत नीति के

अनुसार ही चलना होगा। हमारी मिश्रित अर्थ व्यवस्था आखिर में लोकतन्त्री समाजवाद का रूप ले लेगी जिसमे सरकारी और निजी दोनो क्षेत्र रहेंगे परन्तु निजी क्षेत्र को मोटे तौर पर सरकार के निर्देशन में रहना पड़ेगा।

प्रश्न

1 Write a short account of economic life

(देहली, १९५१) देखिए विभाग २,७

2 Name the different economic systems and indicate the special features of each

देखिए विभाग ६, १२

3 Distinguish between Economics and Economic System Give the main features of any economic system with which you may be familiar

(यू० पी० १९४६)

(अर्थशास्त्र वह विज्ञान है जो मानव-व्यवहार का उद्देश्यों और उन दुर्लभ (scarce) साधनों के जिनके वैकल्पिक (alternate) प्रयोग हो सकते हैं, परस्पर सम्बन्ध के रूप में अध्ययन करता है। परन्तु आर्थिक पद्धति उस प्रबन्ध की ओर इंगित करती है जिसके अनुसार आर्थिक कार्यवाहियों (activities) का संगठन किया जाता है। पूंजीवाद से तो हम परिचित हैं ही।)

देखिए विभाग ६

माल—उपयोगिता—मूल्य—धन

(Goods—Utility—Value—Wealth)

बहुत उपयोगिता की चीज़ सस्ती और कम उपयोगिता की चीज महँगी क्यों ?

१. परिचय—इस अध्याय में हम कुछ ऐसे शब्दों (*terms*) की व्याख्या करेंगे जिनका आमतौर पर अर्थशास्त्र में प्रयोग होता है। यह केवल स्पष्ट विचार के लिए ही आवश्यक नहीं है वरन् अर्थशास्त्र की पुस्तकों की भाषा को भी समझने के लिए जरूरी है।

माल (Goods)

२ माल (Goods)—हम जानते है कि आर्थिक क्रिया का आरम्भ मनुष्य की आवश्यकताओं (wants) से होता है। अपनी जरूरतों को पूरा करना मनुष्य के लिए जरूरी है। दो चीज़ो से वह इन आवश्यकताओं (wants) की सन्तुष्टि कर सकता है—माल (goods) और सेवाएँ (services)। 'माल' (goods) से मतलब उन वस्तुओं (*commodities*) से है जिनका हम प्रयोग करते है और सेवाएँ (services) वह कार्य है जो कोई व्यक्ति करे। सेवा कोई ऐसा पदार्थ नही है जिसे हम देख या छू सकें। एक अध्यापक की सहायता वकील या डाक्टर की सलाह, रेलो की सेवा, घरेलू नौकरों का काम-काज यह सभी सेवाएँ (*services*) हैं। दूसरी ओर, माल या वस्तुएँ हमेशा आकार वाली होती हैं, देखी छुई जा सकती है। जैसे भूमि, मकान, फर्नीचर आदि। यह सब मनुष्य की आवश्यकताएँ पूरी करती है। हर ऐसी वस्तु जो मनुष्य की किसी आवश्यकता की सन्तुष्टि करती है माल (*goods*) कहलाती है।

३. 'माल' के प्रकार (Kinds of Goods)—

(क) आर्थिक माल व मुफ्त माल (Economic Goods and Free Goods) माल के सबसे महत्वपूर्ण दो प्रकार है —

मुफ्त माल और आर्थिक माल।

'मुफ्त माल' वे पदार्थ हैं जो इतनी अधिक मात्रा मे उपलब्ध है कि कोई जितना चाहे बिना दामो के पा सकता है, जैसे हवा, धूप आदि। ये सब पदार्थ प्रकृति के मुफ्त उपहार है।

'आर्थिक माल' वे पदार्थ है जो थोड़ी मात्रा मे है, दुर्लभ* (*scarce*) हैं और केवल कीमत अदा करके ही प्राप्त किए जा सकते है। अधिकतर जिन पदार्थो की जरूरत मनुष्य को अपनी आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के लिए पड़ती है, वे इसी वर्ग मे आते है।

अर्थशास्त्र मे हमे केवल 'आर्थिक माल' से मतलब है क्योंकि इन्ही की कीमत

*'दुर्लभ' शब्द का अर्थ हर जगह आर्थिक दुर्लभता से जो पहले समझाई जा चुकी है। देखिए पृ० 2 दुर्लभता का अर्थ अभाव अथवा दुष्प्राप्यता न समझना चाहिए।

तय होने और दिए जाने का प्रश्न उठता है। 'आर्थिक' माल को ही 'धन' (wealth) कहते हैं और अर्थशास्त्र धन से ही सम्बन्धित होता है। इसलिए यदि सभी माल मुफ्त (निर्मूल्य) तथा अपरिमित होता तो अर्थशास्त्र का विज्ञान ही न होता।

आर्थिक माल (economic goods) और निर्मूल्य माल (free goods) का यह भेद स्थायी नहीं है। जो माल आज निर्मूल्य है कल आर्थिक माल भी बन सकता है या कोई भी पदार्थ कुछ विशेष परिस्थिति में निर्मूल्य माल हो सकता है और दूसरी किसी परिस्थिति में आर्थिक माल बन सकता है। उदाहरण के लिए एक शहरी स्थान में हवा निर्मूल्य माल नहीं रहती। शहर में पानी आर्थिक माल है निर्मूल्य माल नहीं क्योंकि उसके लिए हमें कीमत चुकानी पड़ती है।

जनसंख्या के बढ़ जाने पर जो माल पहले मुफ्त थे वे फिर आर्थिक माल बन जाते हैं। अर्थात् उनके लिए कीमत देनी पड़ती है। आर्थिक माल की वृद्धि, धन की वृद्धि है। किन्तु धन की वृद्धि का यह अर्थ कदापि नहीं कि लोगों की हालत भी पहले से जरूर अच्छी हो गई है। यह भी एक विरोधाभास (paradox) एवं गुत्थी है कि धन की वृद्धि भी जनता को पहले से बुरी हालत में पहले से गरीब बना सकती है। सचमुच यह सम्भव है कि एक देश का धन तो बढ़े फिर भी उसका हित अथवा कल्याण कम हो जाय —(भिल्फरमैन)। यह इसलिए होता है कि ईंधन, पानी जैसी वस्तुएँ जिनके लिए आदिम मनुष्य को कुछ खर्च नहीं करना पड़ता था, आधुनिक मनुष्य को बिना खर्च किए नहीं मिल सकती। वे पदार्थ भी जो पहले मुफ्त माल थे आज आर्थिक माल अथवा धन की कोटि (category) में शामिल हो गए हैं और दुर्लभ हो गए हैं और दुर्लभता से मानव-कल्याण में वृद्धि नहीं होती।

(ख) उपभोग्य माल व उत्पादक माल (Consumers Goods and Producers' Goods)—उपभोग्य माल (consumers goods) वे पदार्थ हैं जिनका मानव सन्तुष्टि के लिए प्रत्यक्ष सीधा उपयोग (direct use) होता है। उपभोक्ता उन्हें अपनी आवश्यकताओं (wants) की पूर्ति के लिए तुरन्त काम में लाता है। जैसे, भोजन कपड़ा, कलम स्याही आदि वस्तुएँ। इन्हें पहली श्रेणी के माल (Goods of the first order) भी कहा जाता है।

उत्पादक माल (Producers goods) व माल है जो दूसरी वस्तुओं के उत्पादन में हमारी सहायता करते हैं जैसे औजार मशीनें आदि। इन्हें दूसरी श्रेणी का माल (goods of the second order) भी कहते हैं। यह पदार्थ हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति अप्रत्यक्ष रूप से (indirectly) करते हैं।

(ग) भौतिक और अभौतिक माल (Material and Non-material Goods) भौतिक माल (material goods) के उदाहरण हैं भूमि, मकान फर्नीचर नगदी, पुस्तकें आदि।

भिन्न भिन्न प्रकार की सेवाएँ (services) अभौतिक माल (non material goods) की श्रेणी में आती हैं। वे स्पर्शनीय (tangible) तथा स्थूल नहीं होती, परन्तु दुर्लभ होती हैं और इनका बदला (transfer) किया जा सकता है। किसी फर्म (firm) की ख्याति (goodwill) भी इसी श्रेणी में आती है।

(घ) हस्तांतरणीय और अ-हस्तांतरणीय माल (Transferable and non transferable goods)—अधिकतर भौतिक माल (material goods) का स्वामित्व बदला जा सकता है और इसके लिए पदार्थों को सशरीर उठाकर ही दूसरे के हाथ मे दे दिया जाता है। कभी कभी माल को एक स्थान से दूसरे स्थानों पर ले जाया जा सकता है, किन्तु कुछ मामलो मे ऐसा हिलाना सम्भव नही होता। उदाहरण के लिए भूमि को एक जगह से हटाकर दूसरी जगह नही पहुँचाया जा सकता। केवल उसका स्वामित्व (ownership) बदल जाता है। ऐसा तमाम माल जिसके स्वामित्व का एक से दूसरे के हाथ मे तबादला किया जा सकता है उसे परिवर्तनशील माल (Transferable goods) कहते है।

अपरिवर्तनशील माल (Non transferable goods) है जैसे हुनर, कौशल, योग्यता, बुद्धि आदि जो मानव के निजी गुण है और जिनका तबादला नही किया जा सकता— केवल उनकी सेवाओ का लाभ दूसरे उठा सकते है।

(ङ) शारीरिक या आन्तरिक तथा अ-शारीरिक या बाहरी माल (Personal or Internal and Impersonal or External Goods)—शारीरिक माल (personal goods) का अर्थ है मनुष्य के निजी गुण जैसे उसकी योग्यता, कौशल आदि, जो अभौतिक है और मनुष्य के अन्दर रहते है। यह 'माल' मनुष्य से अलग नही किए जा सकते। उनकी सत्ता मनुष्य की सत्ता तक ही सीमित है और वे व्यक्ति से अभिन्न समझे जाते है। एक प्रकार से यह माल' स्वय मनुष्य है।

अ-शारीरिक माल (impersonal goods) वे है जो व्यक्तिगत, शरीर से सम्बन्धित न हो। यह बाह्य होते हैं और इनकी सत्ता मनुष्य से पृथक् होती है। यह माल 'स्वय मनुष्य' नही है वरन् मनुष्य के 'पास', उसके अधिकार मे है। जैसे जमीन, मकान आदि।

(च) व्यक्तिगत एवं सार्वजनिक माल (Private and Public goods)—व्यक्तिगत माल व्यक्ति-विशेष की अपनी सम्पत्ति होती है जैसे वे जमीनें या मकान जिनका कोई खुद स्वामी हो और जिसमे दूसरो का कोई हिस्सा अथवा दखल न हो।

सार्वजनिक माल (Public goods) वे है जो सारे समाज की सामूहिक सम्पत्ति है, जैसे टाउन हाल, पाठशाला अथवा हस्पताल। इनका स्वामित्व व अधिकार समाज के हाथ मे सामूहिक रूप से है।

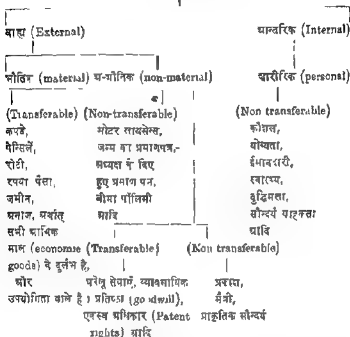
(छ) हम 'माल' को आवश्यकताएं (necessaries), आराम (comforts) एव विलासिता सम्बन्धी माल (luxuries) की कोटियो मे भी विभाजित कर सकते हैं। किन्तु इनकी चर्चा हम अगले अध्याय मे करेंगे।

माल और उनका वर्गीकरण

(Goods and their Classification)

माल (Goods)

(अर्थात् वे पदार्थ जो मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति करें)



उपयोगिता (Utility)

४ उपयोगिता की परिभाषा (Definition of Utility)—हम देख चुके है कि माल (goods) मनुष्य की आवश्यकताओं (wants) की सन्तुष्टि करते है। पदार्थो (goods) मे आवश्यकताओं की सन्तुष्टि करने का यह गुण ही उपयोगिता (utility) कहलाता है। उपयोगिता का अर्थ है आवश्यकता को सन्तुष्ट करने की सामर्थ्य या शक्ति।

उपयोगिता (utility) और लाभदायक होना (usefulness) एक ही बात नही। हो सकता है कि एक वस्तु मनुष्य की आवश्यकता को सन्तुष्ट कर सकती है, किन्तु फायदेमन्द होने की बजाय वास्तव मे हानिकारक हो जैसे अफीम और जहर। लेकिन क्योकि यह मनुष्य की इच्छा या आवश्यकता को सन्तुष्ट करती है और कुछ लोग इन्हें खरीदने के लिए तैयार होते है, हम कहते हैं कि इनमे उपयोगिता होती है चाहे इनका प्रयोग भले ही हानिकारक हो। इसी प्रकार से एक व्यक्ति के पास एक

अश्लील और भद्दा चित्र हो सकता है, लेकिन अगर दूसरा व्यक्ति उसके दाम देने को तैयार है तो अर्थशास्त्री होने के नाते हमें स्वीकार करना पड़ेगा कि उस चित्र मे उपयोगिता (utility) है। इसलिए उपयोगिता के शब्द का अर्थ जैसा कि अर्थशास्त्र मे प्रयुक्त होता है, कोई नैतिक महत्त्व नही रखता।

उपयोगिता और आनन्द का अर्थ एक नहीं है—एक पदार्थ मे उपयोगिता हो सकती है, किन्तु सम्भव है प्रयोग करने पर आनन्ददायी न हो, जैसे कुनैन। परन्तु इसके कड़वे स्वाद के बावजूद लोग इसे खरीदते और इस्तेमाल करते हैं क्योंकि यह उनकी एक जरूरत को पूरा करती है।

उपयोगिता का अर्थ सन्तुष्टि नहीं है—उपयोगिता किसी पदार्थ का वह गुण है जिसके कारण वह पदार्थ हमें सन्तुष्टि देता है। सन्तुष्टि वह है, जो हम प्राप्त करते हैं और उपयोगिता वह जो उस पदार्थ मे होती है। यह कहना कि ग्राम हमे उपयोगिता देता है, हमारे शास्त्र की दृष्टि से गलत होगा। हमे यह कहना चाहिए कि ग्राम मे उपयोगिता है, या यह कि वह हमे सतुष्टि देता है।

उपयोगिता व्यक्तिगत है—उपभोक्ता से बेलाग पदार्थ मे अपने आप कोई उपयोगिता नही हो सकती। उपभोक्ता की दृष्टि ही उसे उपयोगिता प्रदान करती है। अन्धा आदमी चित्र नही देख सकता अत उसके लिए उस चित्र मे कोई उपयोगिता नही। तम्बाकू न पीने वाले के लिए सिगरेट में कोई उपयोगिता नही है। उपयोगिता हर व्यक्ति के लिए अलग-अलग होती है। एक ही व्यक्ति के लिए भी एक ही वस्तु भिन्न-भिन्न समयो और स्थानो पर भिन्न-भिन्न उपयोगिता रख सकती है। एक गरम सूट मे गर्मियो की अपेक्षा जाडो मे अधिक उपयोगिता होती है।

फिर एक ही वस्तु मे भिन्न-भिन्न कामो के लिए भिन्न-भिन्न उपयोगिता भी हो सकती है। उदाहरण के लिए पीने, नहाने और कपडे धोने मे पानी की अलग-अलग उपयोगिता है। और फिर ज्ञान की वृद्धि के साथ-साथ उपयोगिता बदलती रहती है। हम एक वस्तु के नवीन उपयोग खोज सकते है। बहुत सी वस्तुओ (byproducts) से जो पहले बेकार समझकर फेंक दी जाती थी, अब काफी लाभ उठाया जा रहा है।

एक चीज का रूप बदल जाने से भी उसकी उपयोगिता बदल सकती है।

मेज के रूप मे परिवर्तित हो जाने के बाद एक लकडी के शहतीर की वही उपयोगिता नही रहती जो पहले थी।

अलग-अलग हाथो मे जाने पर या स्वामित्व बदले जाने पर एक वस्तु की उपयोगिता भी भिन्न हो जाती है। जब एक धनी अपने दो रुपए को बैंक मे जमा करवा देता है तो वह रुपया किसी जरूरतमन्द को उधार दिया जा सकता है। इस प्रकार उस 'धन' मे वह उपयोगिता आ जाती है जो पहले उसमे न थी। इसी प्रकार जब एक खेतिहर एक ऐसे आदमी से जमीन खरीदता है जो स्वय काश्तकार नही है तो उस जमीन की उपयोगिता बढ जाती है। एक अफ्रीकी गुलाम के हाथ पर बँधी हुई घडी की कोई उपयोगिता नही, यदि वह घडी देखना नही जानता। परन्तु आपके हाथ मे उसी घडी की बहुत उपयोगिता सिद्ध हो सकती है। इस सब चर्चा से हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि किसी वस्तु की उपयोगिता अवस्थाओं के बदलने पर बदल जाती है।

५ **क्या हम उपयोगिता को माप सकते हैं ? (Can we measure utility ?)** —एक मनुष्य के लिए किसी वस्तु की उपयोगिता इस बात पर निर्भर करती है कि वह उस वस्तु को कितना महत्त्व देता है। एक किताब की उपयोगिता एक विद्यार्थी के लिए एक अनपढ़ मनुष्य की अपेक्षा कहीं अधिक है। इस प्रकार उपयोगिता किसी मनुष्य की मानसिक अवस्था को प्रतिबिम्बित करती है। क्या हम इस *मानसिक अवस्था* की माप कर सकते हैं ? ऐसा प्रतीत होता है कि हम नहीं कर सकते। लेकिन हमारे पास एक माप दण्ड है और वह है पैसा—जो यहाँ हमारी सहायता करता है। जब हम एक फाउंटेनपेन के दस रुपये देने के लिए तैयार हो जाते हैं तो यह साफ पता लग जाता है कि हम उसे दस रुपये के योग्य समझते हैं। दूसरे शब्दों मे इसकी उपयोगिता हमारे लिए १०) के बराबर है और इस प्रकार *उपयोगिता रुपयों से मापी जाती है।*

६. **उपयोगिता की किस्में (Forms of Utility)**—.

(अ) रूपगत उपयोगिता (Form utility)—किसी वस्तु की शक्ल बदल देने से हम उसे अधिक उपयोगिता प्रदान कर सकते हैं। जैसे किसी लकडी के लट्ठे को मेज-कुर्सी आदि मे बदलना। इसे रूपगत उपयोगिता (form utility) कहते हैं।

(ब) स्थानीय उपयोगिता (Place utility)—किसी वस्तु को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने से भी उसकी उपयोगिता बढ सकती है। जब इमारती लकडी बाजार मे पहुँच जाती है, तो जगल की अपेक्षा उसमें उपयोगिता अधिक हो जाती है।

(स) सामयिक उपयोगिता (Time utility)—किसी वस्तु को गोदाम मे जमा रखकर अभाव के समय बेचकर हम उसे अधिक उपयोगिता प्रदान कर सकते है। इसे सामयिक उपयोगिता कहते हैं।

मूल्य (Value)

७ **मूल्य का अर्थ (Meaning of Value)**—मूल्य (value) अर्थशास्त्र मे दूसरा शब्द (term) है, जिसका बहुत प्रयोग होता है। परन्तु हम अर्थशास्त्र मे इसको उसी अर्थ में प्रयोग नहीं करते, जिसमे हम रोज की बोलचाल मे करते हैं। हम अक्सर कहते हैं कि *शिक्षा का बड़ा मूल्य है अथवा ताजी हवा अत्यन्त मूल्यवान्* है। यहाँ पर मूल्य शब्द का प्रयोग लाभदायक अथवा हितकारी होने के अर्थ मे हुआ है। यह उपयोगात्मक मूल्य है (value in use) जिसके लिए अर्थशास्त्री उपयोगिता (utility) शब्द का प्रयोग करते है। अर्थशास्त्र मे मूल्य (value) शब्द का इस अर्थ मे प्रयोग नहीं होता। उस स्थान मे हम उपयोगिता (utility) शब्द का ही प्रयोग करते हैं।

अर्थशास्त्र मे मूल्य (value) शब्द का प्रयोग विनिमय-गत मूल्य (value-in-exchange) के अर्थ मे करते है। मूल्य (value) शब्द उन पदार्थों की ओर निर्देश करता है, जो किसी वस्तु के बदले मे प्राप्त किए जा सकें। हम ताजी हवा को किसी दूसरी वस्तु से नहीं बदल सकते, इसलिए अर्थशास्त्र की दृष्टि से हवा का मूल्य

(value) नही है, क्योंकि यह किसी दूसरी वस्तु से बदली नही जा सकती। दूसरी तरफ एक पेन्सिल का मूल्य होता है क्योंकि हम इसके बदले मे थोडी-सी स्याही अथवा कागज का टुकडा ले सकते है। इस प्रकार, किसी वस्तु के मूल्य (value) का अर्थ है वे वस्तुएँ या सेवाएँ जो उसके बदले में हम प्राप्त कर सकते है। सक्षेप मे यह किसी वस्तु की उस शक्ति का नाम है जिससे वह अपने बदले मे दूसरी वस्तुएँ और सेवाएँ ला सकती है। यह बदले मे अन्य चीजें प्राप्त करने वाली शक्ति है।

तब यह बात साफ है कि किसी वस्तु का मण्डी मे मूल्य तभी हो सकता है, जब वह वस्तु निर्मूल्य माल न हो, क्योंकि मुफ्त चीज के लिए कोई भी कुछ देने के लिए तैयार न होगा। कोई भी व्यक्ति निर्मूल्य माल (free goods) को बिना कुछ दिए, जितना चाहे पा सकता है। अर्थशास्त्र की दृष्टि मे केवल आर्थिक माल (economic goods) का ही मूल्य हो सकता है। इससे पहले कि किसी वस्तु का कुछ मूल्य (value) हो, उसमें निम्नलिखित तीन गुण होने आवश्यक है—

(क) उसमे उपयोगिता होनी चाहिए,

(ख) वह दुर्लभ (scarce) होनी चाहिए, और

(ग) उसमे एक से दूसरे को दिए जाने की क्षमता (transferability) होनी चाहिए।

इन गुणो मे से किसी एक गुण के न होने से किसी वस्तु का कोई मूल्य न होगा, जो वस्तु दुर्लभ नही है, उसके बदले मे अथवा जिस वस्तु मे कोई उपयोगिता नही उसके लिए कोई कुछ देने के लिए तैयार न होगा।

८ कीमत (Price)—जब मूल्य (value) को द्रव्य (money) में प्रकट किया जाता है, तो उसे कीमत (price) कहते हैं। आदिम काल मे लोग द्रव्य (money) का प्रयोग न जानते थे। वे वस्तुओ के बदले मे वस्तुओ का विनिमय करते थे। इस विधि को वस्तु विनिमय (barter) कहते है। उस जमाने में किसी वस्तु के मूल्य (value) का मतलब उस वस्तु या वस्तुओ से होता था जो उसके बदले मे ली जा सके।

आधुनिक समय मे, साधारणतया पदार्थो को रुपयों के बदले मे लिया-दिया जाता है। इसलिए आजकल किसी वस्तु के मूल्य का अर्थ उन रुपयो मे होता है, जो उसके बदले मे मिल सकें, अर्थात् उसकी वह कीमत (price) जो मण्डी मे उठे।

९ मूल्य सापेक्ष है (Value is Relative)—किसी भी वस्तु का मूल्य अन्य वस्तुओ से अलग स्वतन्त्र रूप से नही बताया जा सकता। उदाहरण के लिए यदि हम कहे कि फाउटेनपेन का मूल्य बहुत है तो इसका मतलब केवल उसकी उपयोगिता होगा। परन्तु अर्थशास्त्र की दृष्टि से एक फाउटेनपेन का मूल्य बताने के लिए हमे उन दूसरी वस्तुओ का जिक्र करना होगा, जो उसके बदले हमे मिल सकती है।

मूल्य (value) कुछ विशेष वस्तुओ को बराबर करता है, जैसे एक फाउटेन-पेन के बदले मे यदि पाँच दर्जन पेन्सिलें मिल सकती हैं, तो फाउटेनपेन यहाँ पाँच दर्जन पेन्सिलो के बराबर हुआ। मूल्य (value) दो वस्तुओ का परस्पर सम्बन्ध प्रकट करता है। इसलिए मूल्य सापेक्ष है। कोई भी वस्तु अपना स्वतन्त्र महत्त्व नही रखती।

जब हम उसके मूल्य (value) के बारे मे सोचते हैं, तो हम सदा दूसरी चीजो के बारे मे भी सोचते है, जिनके मुकाबले मे मूल्य प्रकट किया जा सकता है। चाहे वह रुपया-पैसा हो या कोई दूसरी वस्तु।

मूल्य सापेक्ष है, और इसलिए वह दो वस्तुओ के बीच मे एक समीकरण (equation) बतलाता है। यह समझना सरल है कि समीकरण (eqation) के दोनो पक्ष एक साथ ही ऊँचे नही उठ सकते। पहला उदाहरण ही लीजिए, एक फाउटेनपेन=पाँच दर्जन पेन्सिलें। अगर फाउटेनपेन का मूल्य बढता है तो इसमे और ज्यादा पेन्सिलें खरीदने की ताकत आयेगी जिसका मतलब यह होगा, कि पेन्सिलों का मूल्य गिर गया। परन्तु यदि पेन्सिलो का मूल्य अधिक हो जाए तो एक फाउटेनपेन खरीदने के लिए पाँच दर्जन से कम पेन्सिलों की आवश्यकता होगी। इसका मतलब यह हुआ कि फाउटेनपेन का मूल्य गिर गया। इस प्रकार यदि एक चीज मूल्य मे ऊँची उठती है, तो दूसरी मूल्य मे गिर जाएगी। दोनो का मूल्य एक साथ ही घट या बढ नही सकता। इसलिए सभी मूल्यो मे इकट्ठा उतार चढाव नही हो सकता।

लेकिन कीमतें सारी एक साथ घट या बढ सकती हैं। आजकल हम कीमत मे इसी तरह की वृद्धि देखते हैं। एक ही समय मे सब चीजो की कीमत बढ गई है। लेकिन यहाँ हम समीकरण के एक पहलू को, पदार्थों के पहलू को, देखते हैं, और दूसरे को अर्थात् द्रव्य के पहलू को नही। सब पदार्थों का मूल्य बढ गया है, किन्तु द्रव्य का मूल्य गिर गया है। इस प्रकार सभी कीमत बढ गई हैं, किन्तु सभी मूल्य नही बढे हैं।

धन (Wealth)

१०. धन का अर्थ (*Meaning of Wealth*)—अर्थशास्त्र का अध्ययन शुरू करने वाले के मस्तिष्क मे धन (wealth) शब्द से काफी भ्रम उत्पन्न होता है, यह इसलिए है कि अर्थशास्त्र मे धन शब्द दूसरे अर्थ मे प्रयुक्त होता है, और साधारण बोलचाल मे दूसरे अर्थों मे।

साधारण बोलचाल मे 'धन' से अधिकता का ख्याल पैदा होता है। इसका अर्थ होता है, जेवर जायदाद, पैसा अमीरी आदि। धन वाला आदमी अमीर है, जो समृद्ध है वही धनवान है किन्तु अर्थशास्त्र की परिभाषा के अनुसार व्यक्ति के पास, गरीब से गरीब के पास भी कुछ धन अवश्य होता है, जैसा कि हम अभी देखेंगे। बोलचाल मे धन से लोगों का मतलब होता है रुपया पैसा। किन्तु अर्थशास्त्र मे केवल पैसा ही धन नही समझा जाता, बल्कि हर वह वस्तु जिसका कुछ मूल्य (value) है, धन होती है।

अर्थशास्त्र मे *धन* (*wealth*) शब्द का अर्थ है, तमाम आर्थिक माल (economic goods)। आर्थिक माल दुर्लभ (scarce) होते है और बाजार मे उनकी कीमत लगती है।

किन्तु कमी या दुर्लभता से ही कोई माल धन नही बन जाता। अगर कोई चीज किसी काम की नहीं है तो उसके लिए कौन पैसा देगा? कोई उसे लेना न चाहेगा।

कोई माल अपने आप, मनुष्य और उसकी इच्छाओं से अलग, धन नहीं होता। वह धन तब बनता है जब मनुष्य को उसकी आवश्यकता होती है। और वह उसका उपभोग करता है। इसलिए दुर्लभ होने के अतिरिक्त वस्तु में उपयोगिता भी होनी चाहिए यद्यपि यह जरूरी नहीं है कि वह वस्तु लाभ पहुँचाने वाली ही हो। एक हानिकारक वस्तु भी धन कही जायेगी यदि उसमें कोई उपयोगिता हो और वह किसी आवश्यकता की सन्तुष्टि कर सके। फिर धन में स्वामित्व का विचार भी सम्मिलित है। उसका मतलब यह है कि जब तक यह सम्भव न हो कि उस वस्तु पर स्वामित्व का अधिकार जमाया जा सके, और जब तक उसे एक से दूसरे के हाथ में न दिया जा सके तब तक उसकी गिनती धन में नहीं होती।

इस प्रकार धन के तीन गुण हैं —उपयोगिता (utility), दुलभता (scarcity) और परिवर्तनशीलता (transferability)। यदि आप यह पता लगाना चाहें कि अमुक पदार्थ धन है या नहीं तो अपने से तीन प्रश्न पूछिए। (1) क्या यह किसी मानवीय आवश्यकता की पूर्ति कर सकता है? (2) क्या यह दुर्लभ है? (3) क्या इसका एक से दूसरे के पास हस्तांतरण हो सकता है? यदि इन तीन प्रश्नों का उत्तर 'हाँ' हो तो वह पदार्थ धन है और इन तीनों में से किसी का उत्तर भी 'नहीं' हो तो हम उसे धन की श्रेणी से निकाल देंगे।

इन परीक्षाओं को लागू करके हम पाते हैं कि रुपया पैसा जमीन जायदाद, मकान, फर्नीचर, मशीनरी कपड़े सोना चांदी व्यवसायिक प्रतिष्ठा (goodwill), वास्तव में सभी पार्थिव या अपार्थिव वस्तुएँ जो मनुष्य की इच्छा पूर्ति के साधन हैं, इसलिए जिनको पाना मनुष्य का उद्देश्य है जो दुर्लभ है और जिन्हें बाजार में खरीदा-बेचा जा सकता है, वे सभी धन है।

मिलकियत के दस्तावेज जैसे हुण्डी, बिल्टी, जायदाद के कागज-पत्र, और बीमा पालिसी आदि भी धन हैं। ये मूल्यवान हैं क्योंकि ये सम्पत्ति की मिलकियत को प्रकट करते हैं। इसलिए इन्हें कभी कभी प्रतिनिधि धन (*representative wealth*) कहा जा सकता है।

किन्तु बे पैसे का माल (free goods) जैसे ताजी हवा पानी और धूप आदि धन नहीं है जब तक कि वे बड़े शहरों में दुर्लभ नहीं हो जाते और उनको पाने के लिए कीमत अदा नहीं करनी पड़ती।

व्यक्तिगत गुण जैसे ईमानदारी निपुणता, योग्यता और बुद्धि भी धन नहीं है। वे धन का स्रोत है किन्तु स्वयं धन नहीं है, क्योंकि उनका परिवर्तन (transfer) नहीं किया जा सकता। वे किसी दूसरे को नहीं दिये जा सकते।

इसी प्रकार महासागर, खाड़ियाँ, जल धाराएँ, सूर्य, चाद इत्यादि धन नहीं है क्योंकि वे किसी की मिलकियत या जायदाद नहीं हैं।

इन्सान धन नहीं है, जब तक वे गुलाम न हों क्योंकि गुलाम होने पर तो वे अपने मालिक की सम्पत्ति बन जाते है और उनको दिया लिया जा सकता है, पर वैसे नहीं।

११ द्रव्य और धन (Money and Wealth)—द्रव्य धन है, जैसा कि

ऊपर बताया जा चुका है। इसमे उपयोगिता है, यह दुर्लभ है। और इसका हस्तातरण (transfer) किया जा सकता है। इसलिए तमाम द्रव्य धन है किन्तु सभी धन द्रव्य नही है जैसा कि साधारणतया बोलचाल मे लोग समझते है। धन के अनेक रूप होते हैं। इसमे सभी तरह की सम्पत्ति शामिल है। द्रव्य उनमे से एक है।

१२ धन और आय (Wealth and Income)—आय वह है जो धन के उत्पादन से प्राप्त होती है। एक आदमी के पास बहुत सी मनल सम्पत्ति हो सकती है। मान लो वह दो लाख रुपये की है। यह उसका धन है। लेकिन एक वर्ष मे इस धन से उसे कितना और धन प्राप्त होता है? मान लीजिए दस हजार रुपया। यह उसकी आय (income) है। धन एक कोष अथवा निधि (fund) है और आय एक प्रवाह।

१३ धन और कल्याण (Wealth and Welfare)—साधारणतया धन से कल्याण मे वृद्धि होती है। यदि कोई व्यक्ति अमीर हो तो वह खुद भी मजे मे रह सकता है और दूसरो की भी सहायता कर सकता है। इस तरह धन से कल्याण मे वृद्धि होती है। धन कल्याण का साधन है और कल्याण धन का उद्देश्य। किन्तु अर्थशास्त्री जिसे धन कहते हैं वह, यह जरूरी नही, कि अच्छा और हितकारी ही हो। वह हानिकारक भी हो सकता है। उदाहरणार्थ कोई बुरी किताब, जहरीली दवा, अफीम, शराब, तम्बाकू आदि इनकी गिनती धन मे होती है। किन्तु इनके प्रयोग से मानवीय कल्याण मे कोई वृद्धि नही होती। अर्थशास्त्रियो द्वारा बताए गए धन को हित-अहित से कोई सरोकार नही है। उसमे कोई नैतिक या सदाचरण सम्बन्धी अर्थ मिला हुआ नही है।

फिर जैसा पहले कहा जा चुका है, धन बढने का मतलब कल्याण मे अवश्य-म्भावी वृद्धि नही है। इसका अर्थ केवल इतना है कि कुछ आर्थिक माल बढ गये हैं क्योकि वे लोगो की सम्पत्ति बन गए है और कुछ निर्मूल्य माल, जैसे ताजी हवा, पानी आदि, जो बहुत लाभदायक और आवश्यक है, घट गये है। यह दावा नही किया जा सकता कि हर परिस्थिति मे धन की वृद्धि से समाज का कल्याण भी जरूर बढ गया है।

इस प्रकार धन और कल्याण एक ही अर्थ वाले शब्द नही है।

धन का वर्गीकरण (Classification of Wealth)—धन का वर्गीकरण निम्न प्रकार से हो सकता है—

(i) **व्यक्तिगत धन** (Individual Wealth)—एक व्यक्ति का धन होता है।

(क) उसकी भौतिक सम्पत्ति जैसे नकदी, जमीन, मकानादि, ढोर, फर्नीचर, पूंजी, शेयर आदि,

(ख) अ-भौतिक सम्पत्ति जैसे व्यवसाय की प्रतिष्ठा, जिसकी बाजार मे कीमत उठ सकती है, किन्तु धन मे हम निपुणता, बुद्धि जैसे निजी गुणो, को नही गिनते जो बेचे नही जा सकते। हम उसका उधार लिया हुआ रुपया भी उसके धन मे से घटा देते है क्योकि वापिस किया जाता है।

(ii) निजी धन (Personal Wealth)—जैसा ऊपर बताया गया है, बुद्धि और निपुणता जैसे निजी गुण धन नही हैं। किन्तु उन्हे 'निजी धन' नाम दिया जाता है।

(iii) सामाजिक या सामूहिक धन (Social or Communal Wealth)—राज्य या म्यूनिसिपैलिटी की सम्पत्ति जैसे सभा भवन, सचिवालय, सड़के, पार्क, राजकीय रेल-पथ, सार्वजनिक पुस्तकालय, अजायबघर आदि वे वस्तुएँ जो सारे समाज या समुदाय की सामूहिक सम्पत्ति है सार्वजनिक या सामूहिक धन कहलाती है।

(iv) राष्ट्रीय धन (National Wealth)—राष्ट्रीय धन दोनो अर्थों मे प्रयुक्त होता है। एक तो सकुचित अर्थ मे और दूसरे व्यापक अर्थ मे। सकुचित अर्थ मे यह नागरिको के धन का जोड़ (aggregate) है, जिसमे उनके एक दूसरे को दिए जाने वाले ऋण शामिल नही किए जाते। यहाँ हम धन शब्द को ऊपर दिए अर्थ मे लेते है।

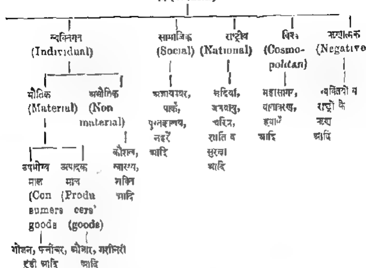
मोटे तौर पर कभी-कभी राष्ट्रीय धन मे नदियाँ, पहाड़, अच्छी जलवायु, अच्छी सरकार, जनता का ऊँचा चरित्र आदि भी शामिल कर लिया जाता है, क्योंकि वे मूल्यवान राष्ट्रीय पूंजी (assets) है। परन्तु धन का यह अर्थ आर्थिक माल से कही अधिक विशाल हो जाता है

(v) विश्व धन (Cosmopolitan Wealth)—यह सारे ससार का धन है, सभी राष्ट्रो के धन का कुल जमा।

(vi) ऋणात्मक धन (Negative Wealth)—इसका अर्थ है वे कर्ज जो व्यक्तियो अथवा राज्यो ने चुकाने हैं। यदि कोई वस्तु अपने लिए हानिकारक है तो वह भी ऋणात्मक धन समझी जाती है जैसे फसल को खराब करने वाले जगली सूअर। हमारे चीनी कारखानो को कुछ समय हुआ अपने अहातो मे से शीशा हटाने मे काफी व्यय करना पड़ा था। ऐसी परिस्थिति मे शीशा ऋणात्मक धन था।

अर्थशास्त्र मे प्रयुक्त होने वाले कुछ आवश्यक शब्दो (terms) की जानकारी पा लेने के बाद हम अब अर्थशास्त्र के विभिन्न विभागो अर्थात् उपभोग, उत्पादन, विनिमय, वितरण और सार्वजनिक वित्त का एक-एक करके अध्ययन करेंगे।

धन के रूप (Forms of Wealth)



इस अध्याय से तुम क्या सीखते हो ?

माल (Goods)—वे तमाम वस्तुएँ जो किसी मानवीय आवश्यकता की पूर्ति करती हैं, माल कहलाती हैं।

माल के प्रकार (Kinds of goods)—निमूल्य माल (free goods) उदाहरण के लिए हवा, धूप, पानी आदि जो प्रकृति के निर्मूल्य उपहार हैं।

आर्थिक माल (Economic goods)—उदाहरण के लिए, द्रव्य, भूमि, मकान, फर्नीचर कपड़े आदि। यह मात्रा में परिमित हैं और केवल कीमत पर ही मिल सकते हैं।

इन दोनों में भेद स्थायी नहीं है। विशेष परिस्थितियों में एक निर्मूल्य माल भी आर्थिक माल बन सकता है।

आर्थिक माल में वृद्धि के साथ मानव-कल्याण में वृद्धि आवश्यक नहीं है।

उपभोग्य माल (Consumers' goods)—जैसे भोजन, कपड़े, मकान आदि।

उत्पादक माल (Producers goods)—जैसे औज़ार उपकरण, मशीनरी आदि।

भौतिक माल (Material goods)—जैसे लकड़ी, कपड़े, मकान, फर्नीचर आदि।

अभौतिक माल (Non-material goods)—जैसे व्यावसायिक प्रतिष्ठा।

परिवर्तनशील माल (Transferable goods)—अर्थात् वे पदार्थ जिनका हस्तान्तरण किया जा सकता है, यानी बेचा या खरीदा जा सकता है। जैसे भूमि मकान, मोटरें, औज़ार आदि।

अपरिवर्तनशील माल (Non transferable goods)—जैसे व्यक्तिगत गुण, कौशल, निपुणता।

शारीरिक माल (Personal goods)—जैसे, कौशल, योग्यता, बुद्धि आदि।

अशारीरिक माल (Impersonal goods)—अर्थात् मनुष्य की भौतिक सम्पत्ति का कोई रूप।

व्यक्तिगत माल (Private goods)—अर्थात् वे जो व्यक्तियों की निजी सम्पत्ति है।

सार्वजनिक माल (Public goods)—जैसे सरकार या म्यूनिसिपैलिटी की सम्पत्ति।

उपयोगिता (Utility)—यह किसी वस्तु की आवश्यकता पूर्ति की क्षमता है। उपयोगिता और लाभदायक होना (usefulness) एक बात नहीं है। किसी वस्तु के हानिकारक होते हुए भी उसमें उपयोगिता हो सकती है।

उपयोगिता और आनन्द भी एक बात नहीं है। कोई वस्तु जैसे कुनीन, कड़वी हो सकती है किन्तु उसमें उपयोगिता तो है।

उपयोगिता का अर्थ सन्तुष्टि नहीं है। उपयोगिता उस वस्तु में होती है जिस वस्तु से हमें सन्तुष्टि प्राप्त होती है।

उपयोगिता व्यक्तिगत है। यह हर व्यक्ति के लिए भिन्न है। एक तम्बाकू पीने वाले के लिए सिगरेट में उपयोगिता है। न पीने वाले के लिए नहीं।

उपयोगिता स्थान, समय, रूप और स्वामित्व के परिवर्तन के साथ-साथ बदल सकती है।

उपयोगिता का माप (Measurement of Utility)—यद्यपि उपयोगिता व्यक्तिगत है और उपभोक्ता के मन की दशा है, फिर भी इसको इस बात से मापा जा सकता है कि एक व्यक्ति किसी वस्तु के लिए कितनी मात्रा में द्रव्य देने को तैयार है।

उपयोगिता के रूप (Forms of Utility)—रूपगत उपयोगिता (form utility), स्थानीय उपयोगिता (place utility), सामयिक उपयोगिता (time utility)।

मूल्य (Value)—इसका अर्थ है विनिमय-गत मूल्य (value in-exchange) या उपयोगात्मक मूल्य (value in-use)। किसी वस्तु के मूल्य के अर्थ हैं वे अन्य वस्तुएँ तथा सेवायें जो उस वस्तु के बदले में मिल सकती हैं।

मूल्यवान होने के लिए किसी वस्तु में (i) उपयोगिता, (ii) दुर्लभता और (iii) लिए दिए जा सकने की क्षमता होनी चाहिए।

कीमत (Price)—द्रव्य के रूप में मूल्य कीमत कहलाता है।

मूल्य सापेक्ष है (Value is Relative)—मूल्य दो वस्तुओं के बीच का सम्बन्ध प्रकट करता है। मूल्य सदैव किसी अन्य वस्तु के मुकाबले में गिना जाता है।

मूल्यों में इकट्ठा उतार चढ़ाव नहीं हो सकता, यद्यपि कीमतों में इकट्ठी वृद्धि हो सकती है। यह इसलिए कि मूल्य सापेक्ष है। यदि एक वस्तु का मूल्य ऊपर उठता है तो दूसरी का अवश्य गिरता है। सभी कीमतें ऊपर उठ सकती हैं क्योंकि उस अवस्था में द्रव्य का मूल्य गिर जाता है।

धन (Wealth)—यह आर्थिक माल का दूसरा नाम है। धन के तीन गुण हैं—

(i) उपयोगिता, (ii) दुर्लभता, और (iii) परिवर्तनशीलता।

बे दैसे का माल (free goods) धन नहीं है। शारीरिक गुण भी धन नहीं है।

द्रव्य और धन—सभी द्रव्य धन है, किन्तु सभी धन द्रव्य नहीं है।

धन और आय—धन एक कोष है, आय एक प्रवाह।

धन और कल्याण—धन साधारणतया कल्याण की वृद्धि करता है। किन्तु सदैव ऐसा नहीं होता। अनेक हानिकारक पदार्थों की भी धन में गिनती होती है। दोनों शब्द पर्यायवाची नहीं हैं।

धन का वर्गीकरण (Classification of Wealth)—व्यक्तिगत धन (Individual wealth) किसी व्यक्ति का धन। किन्तु इसमें बुद्धि जैसे उसके शारीरिक गुण तथा उसके ऋण सम्मिलित नहीं हैं।

निजी धन (Personal Wealth)—जैसे कुशलता, बुद्धि आदि।

सामाजिक धन (Social Wealth)—जैसे, सरकारी और म्यूनिसिपल सम्पत्ति।

राष्ट्रीय धन (National Wealth)—सारे राष्ट्र का धन। अर्थात् सभी व्यक्तियों के धन का कुल जोड़। व्यापक अर्थ से इसमें जलवायु, पहाड़ और नदियाँ भी सम्मिलित हैं।

विश्व धन (Cosmopolitan Wealth)—सारे विश्व का धन।

ऋणात्मक धन (Negative Wealth)—जैसे ऋण या कोई ऐसी वस्तु जो एक बोझ हो।

क्या आप निम्न प्रश्नों का उत्तर दे सकते हैं ?

1. In what sense is the term 'goods' used in the Economics ? Distinguish between economic goods and free goods

देखिए विभाग २, ३

2 Define the term 'utility' as used in Economics Does a harmful thing like alcohol possess utility ? Give reasons.

देखिए विभाग ४

3 What do you mean by utility ? Distinguish between—

(a) Utility and Usefulness.

(b) Utility and Pleasure.

(c) Utility and Satisfaction देखिए विभाग ४

4 *What is meant by 'value' in Economics ? Distinguish* between value-in exchange and value-in-use and price Explain why coal which possesses an infinitely greater utility than diamonds has less value देखिए विभाग ७ और ८

[मूल्य केवल उपयोगिता पर निर्भर नहीं है। वह दुर्लभता पर भी निर्भर है। हीरे कोयले की अपेक्षा अधिक दुर्लभ हैं इसलिए उनका मूल्य अधिक है।]

5 Explain the terms

(i) Value-in-use.

(ii) Value-in-exchange

(iii) Price

6 What do you understand by the term value ? Can you see any difference in the use *of this term in the following sentences* :—

(a) There is nothing *valuable* than a good friend

(b) The *value* of air for human life is immense

(c) *Values* have been rising recently due to war

(d) Gold has more *value* than silver

मूल्य की परिभाषा के लिए देखिए विभाग ७

(a) मूल्यवान का अर्थ यहां है 'प्रिय' या 'प्राप्त करने योग्य'। यहां 'मूल्य' शब्द आर्थिक अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है।

(b) यहां मूल्य का अर्थ है उपयोगात्मक मूल्य अर्थात् उपयोगिता।

(c) यह मूल्य 'कीमत' के लिए प्रयुक्त हुआ है।

(d) यह इस पद का उचित उपयोग है। इसका अर्थ है विनिमयात्मक मूल्य।

7 Explain 'Value is relative' Show why there cannot be general rise in values, though there can be a general rise in prices

देखिए विभाग ६

8 Explain the term 'Wealth' as it is understood in Economics (राजपूताना, १९४१; दिल्ली, १९३३)

Distinguish between Wealth, Capital and Income

देखिए विभाग १० १२

9 What is meant by wealth in Economics ? Is money wealth ? *Give reasons for your answer* (बिहार १९४३)

देखिए विभाग १० ११

क्या आप निम्नलिखित को धन मानेंगे—

	उत्तर
(a) देश प्रेम	नहीं।
(b) सर्जन की निपुणता	नहीं।
(c) प्रोफेसर की योग्यता	नहीं।
(d) पजाब की पाच नदिया	व्यापक अर्थ में राष्ट्रीय धन।
(e) मजदूर की साप्ताहिक मजदूरी	यह आय है धन नहीं।
(f) कालेज अथवा टाउन हाल	सामाजिक धन है।
(g) रुपये का सिक्का	यह धन है।
(h) महात्मा गाधी का ऑटोग्राफ	केवल जब महात्मा गाधी कोई कीमत मागते हों और वह मिल सकता हो।
(i) जरत का एक युद्ध-मैडल	नहीं।
(j) जीवन बीमा पालिसी	हा, उसके surrender value की मात्रा तक।
(k) वार-बॉण्ड	व्यक्ति का धन किन्तु राष्ट्र का सामान्य धन।
(l) कुरसी के टिकट	हा, आपको बदले में सेवा प्राप्त होती है।

10 How will the wealth of India be affected by the following—

(a) The Government issues a war loan

(b) The Government issues a development loan

(c) The Government pays interest by raising funds by taxation

(d) The Government pays off a loan

(a) धन जनता से सरकार के हाथ में आता है। कोई वृद्धि नहीं होती। किंतु उसका प्रयोग विनाश के लिए होता है। इसलिए समुदाय का धन घटता है। Bond holders को अवश्य अपना रुपया मिलेगा और सरकार उसे लोगों पर कर लगाकर अदा करेगी।

(b) इससे उद्योग और व्यापार के विकास द्वारा अधिक धन का उत्पादन होगा।

(c) धन में कोई वृद्धि न होगी। यह केवल कर दाता (tax payer) से bond holder को हस्तान्तरण है।

(d) जैसा (c) में है।

11 Define wealth and distinguish between Individual Wealth, Collective Wealth and National Wealth

(कलकत्ता विश्वविद्यालय, ११९३)

देखिए विभाग १० १४

12 "Ill fares the land to hastening ills a prey
Where wealth accumulates and man decay"

Do you agree with the poet ?

Or,

"Increase in wealth is not necessarily synonymous with increase of welfare" Discuss (कलकत्ता विश्वविद्यालय, १९३९)

देखिए विभाग १३

अध्याय ४

मानवीय आवश्यकताएँ और उनकी तृप्ति

(Human Wants & Their Satisfaction)

आपकी आवश्यकताएँ अर्थशास्त्र का आरम्भ भी हैं और अन्त भी

१. **प्रवेशिका** (Introductory)—"मनुष्य इच्छाओं का पुलिन्दा है।" उसकी आवश्यकताएँ अनेक प्रकार की हैं और उनका कोई अन्त नहीं। उसकी कुछ आवश्यकताएँ शरीरिक हैं और जन्म से ही होती हैं। जैसे उसे जीवित रहने के लिए कुछ खाना चाहिए, तन ढकने के लिए कुछ कपड़ा और अपने को जलवायु के क्लेशों और शत्रुओं से बचाने के लिए किसी प्रकार का आश्रय। इन पदार्थों के बिना उसका जीना ही असम्भव है।

किन्तु एक सभ्य व्यक्ति जीवन की इन पहली आवश्यकताओं की तृप्ति से ही सन्तुष्ट नहीं होता। जब उसके जीवन निर्वाह की समस्या सुलझ भी जाती है तब भी उसका संघर्ष उतना ही बड़ा रहता है। अब संघर्ष होता है आराम और जीवन के आनन्द के लिए। मनुष्य जितना-जितना सभ्य बनता है, उसकी आवश्यकताएँ बढ़ती हैं। वह बेहतर खाना चाहता है, फैशन वाले कपड़े और अच्छा आरामदेह मकान और इसी तरह और चीजें।

सब लोगों की एक सी आवश्यकताएँ नहीं होती। आवश्यकताएँ हर व्यक्ति की अपनी-अपनी हैं। वे प्रत्येक व्यक्ति की सामाजिक व आर्थिक परिस्थितियों के अनुसार होती हैं और व्यक्ति की शिक्षा स्वभाव तथा रुचि का फल होती हैं। आज का मनुष्य विकास के एक लम्बे रास्ते को तय करके बना है और यह बात उसकी असंख्य और हमेशा बढ़ती हुई आवश्यकताओं से प्रकट है।

२ **आवश्यकताओं का उदय कैसे होता है?** (How do Wants arise?)—आवश्यकताओं की उत्पत्ति तीन मुख्य स्रोतों से मालूम होती है—

(क) हमारी प्राथमिक आवश्यकताएँ हमारी स्वाभाविक प्रवृत्तियों से जन्म लेती हैं। हमारा शरीर ऐसा बना है कि उसे निश्चित अरसे के बाद नियमित रूप से भोजन चाहिए। उसे अपनी सुरक्षा के लिए कपड़े तथा आश्रय चाहिए।

(ख) इन प्राथमिक आवश्यकताओं से ऊपर हमारी अन्य बहुत सी आवश्यकताएँ हैं जो हमारी आर्थिक एवं सामाजिक स्थिति से उत्पन्न होती हैं। हम अकेले-अकेले नहीं रहते। हम सब एक सगठित समाज के सदस्य हैं और अन्य साथियों के साथ रहते हैं। इसलिए हमारी सामाजिक जिम्मेदारियाँ हैं और हमें अपने चारों ओर के मनुष्यों की आशाओं के मुताबिक बनना पड़ता है। कपड़ों के मामले में, सामाजिक प्रथाओं के पालन में, किस मुहल्ले में हम रहें यह तय करने में, यहाँ तक कि हम क्या

खाएँ और कैसे खाएँ, हम दूसरे लोगो के मतो और विचारो से प्रभावित होते हैं। इन सब और ऐसे ही अन्य मामलो मे हम अपना स्वतन्त्र निर्णय नही ले पाते।

(ग) एक और चीज जो हमारी आवश्यकताओ को जन्म देती है विज्ञापन और प्रचार है जो उत्पादको द्वारा किया जाता है। हम अक्सर यह देखते है कि कुशल और लगातार प्रचार से हमारे अन्दर वस्तुओ को पाने की इच्छा उत्पन्न होती है—ऐसी वस्तुओ की भी जिनकी हमे जरूरत नही है किन्तु जिन्हें उत्पादको ने बाजार मे रख दिया है। चारो ओर, हमारे ऊपर विज्ञापनो की बौछार है। वे हमें बताते है कि नाश्ते मे हम अमुक खाना अवश्य खाएँ, उस विशेष ऋतु मे हम अमुक जूते अवश्य पहनें, हम कोई खास कलम इस्तेमाल करें, आदि आदि।

एक प्रमुख अमरीकी लेखक, डा० डॉड (Dr Dodd) का विचार है कि हम सब की चार प्रकार की इच्छाएं या कामनाएँ होती हैं—

(१) प्रतिष्ठा की इच्छा (Wish for Recognition),

(२) विभिन्नता व नवीनता की इच्छा (Wish for Variety),

(३) सुरक्षा की इच्छा (Wish for Security); और

(४) प्रतिक्रिया की इच्छा (Wish for Response)।

यह इच्छाएँ सारी आर्थिक कार्यवाही के मूल में होती हैं।

६. मानवीय आवश्यकताओ की विशेषताएँ (Characteristics of Human Wants)—मानवीय आवश्यकताओ के गहन अध्ययन से निम्नलिखित विशेषताएँ पता लगी है—

(i) **मानवीय आवश्यकताओ की कोई सीमा नहीं**—हमने पिछले अध्याय में यह अध्ययन किया था कि मनुष्य तृप्त होने वाला नही है और उसकी आवश्यकताएँ बढ़ती ही रहती है। हम यहाँ सिर्फ दोहराएँगे कि मनुष्य की इच्छाओ का कोई अन्त नही। एक इच्छा पूरी होते ही दूसरी उत्पन्न होती है और यह कभी खत्म न होने वाला चक्कर चलता ही रहता है। मनुष्य का 'मन' (mind) ऐसा है कि वह कभी पूरा सन्तुष्ट नही होता। वह और अधिक माल के लिए उत्सुक रहता है। जब तक कोई जीवित है उसकी आवश्यकताओ की कोई सीमा नही।

(ii) **एक इच्छा-विशेष तृप्त हो सकती है**—यद्यपि इच्छाओ का योग—कुल इच्छाएँ—तो असीम है, किन्तु साधन प्राप्त होने पर किसी एक इच्छा विशेष की तृप्ति करना सम्भव है। यदि किसी को मोटरकार की इच्छा है, वह लेकर सन्तुष्ट हो जाएगा। अगर भूखा है तो खाना खाकर तृप्त हो सकता है। एक इच्छा-विशेष की सन्तुष्टि सम्भव है।

(iii) **इच्छाएँ परिपूरक है**—अकेली एक वस्तु स्वय किसी इच्छा को कम ही सन्तुष्ट कर पाती है। साधारणतया एक इच्छा को तृप्त करने के लिए उसके साथ और वस्तुओ की भी जरूरत पड़ती है। अगर हम एक पत्र लिखना चाहे तो हमें एक कलम भी खरीदना पड़ेगा और कागज और स्याही भी। अकेला कलम काफी न होगा।

यह तो हमारा दैनिक अनुभव [redacted] कि हमें वस्तुओ के कुछ समूह चाहिएँ।

समूह में से अलग होकर एक वस्तु अकेली हमारी आवश्यकता पूरी नही कर सकती। उसे अन्य वस्तुओ की आवश्यकता पड़ती है उसका उपभोग पूरा करने के लिए। जैसे मोटरकार को पेट्रोल और मोबिल आँयल चाहिए, तब वह चलेगी ; जूतो को फीते चाहिएँ, चाय के साथ दूध-चीनी आदि चाहिए, और इसी प्रकार अन्य वस्तुएँ भी। तो हमारा निष्कर्ष यह है कि इच्छाएँ परिपूरक (complementary) है।

(iv) **इच्छाएँ प्रतिस्पर्द्धो हैं**—इच्छाएँ न केवल एक दूसरे को पूरा करती हैं, बल्कि स्पर्द्धा (competition) भी करती है। हमारी पसन्द के लिए विभिन्न वस्तुओ मे आपस मे होड लगती है। हमारे सब के पास खर्च करने को परिमित द्रव्य है जबकि हम कितनी ही वस्तुएँ एक समय मे खरीदना चाहते है। हम सब को नही खरीद सकते। इसलिए हमे उनम से कुछ को स्वीकार और कुछ को अस्वीकार करके चुनाव करना पडेगा। इस तरह हमारे खरीदने की विभिन्न वस्तुओ म स्पर्द्धा होती है।

(v) **कुछ इच्छाएँ परिपूरक भी है और प्रतिस्पर्द्धी भी**—श्रम और मशीनरी मे स्पर्द्धा है। एक निर्माता किसी हद तक एक के बदले मे दूसरी वस्तु रख सकता है इसके साथ-साथ यह भी है कि दोनो साथ चलते है। श्रम बिना मशीन के और मशीन बिना श्रम के व्यर्थ है। कारखानो मे दोनो का उपयोग होता है। इस प्रकार वे एक दूसरे के साथ स्पर्द्धा ही नही करते वरन् एक दूसरे की कमी को पूरा भी करते है।

(vi) **इच्छाएँ वैकल्पिक हैं**—किसी एक विशेष इच्छा की पूर्ति के लिए अनेक उपाय हैं। अगर आप प्यासे हैं तो आप सोडा, शरबत, लस्सी कुछ भी गर्मियो मे पी सकते है और चाय, कॉफी या गरम दूध जाडे मे। हमारे सामने अनेक विकल्प हैं। फैसला उनकी कीमतो पर और अपने पास कितना धन है इस पर निर्भर होता है।

(vii) **इच्छाएँ समय, स्थान और व्यक्ति के साथ साथ बदलती हैं**—इच्छाएँ हमेशा वही नही रहती हैं या हर एक के साथ एक सी नही रहती। भिन्न भिन्न लोग भिन्न-भिन्न वस्तुएँ चाहते हैं और एक ही आदमी अलग-अलग समय मे और अलग अलग जगहो पर अलग-अलग चीजें चाहता है।

(viii) **इच्छाएँ बिकी के उन्नत उपायो और विज्ञापनो से प्रभावित होती हैं**—हम हमेशा अपनी जरूरत की चीजें ही नही खरीदते। अक्सर हम किसी खास ब्राड की चीजें इसलिए खरीद लेते है कि कुशल विज्ञापनकर्ता या चतुर सेल्समैन हमे बहका लेते है चाहे उनसे अच्छी और वस्तुएँ उपलब्ध हो।

(ix) **इच्छाएँ अपनी अनिवार्यता (Urgency) मे कम ज्यादा होती हैं**—सभी चीजे समान रूप से अनिवार्य नही है। कुछ इच्छाएँ दूसरो की अपेक्षा अधिक जरूरी या अनिवार्य (Urgent) है। और साधारणतया हम पहले उनकी पूर्ति करते है। अन्य को स्थगित कर देते हैं।

(x) **इच्छाएँ आदतो मे परिवर्तित हो जाती हैं**—यदि कोई एक इच्छा नियमित रूप से कुछ समय तक पूरी होती रहे तो आदमी उसके उपभोग का आदी

हो जाता है। इस तरह से वह आदत (habit) बन जाती है। तब वह उसी विशेष वस्तु का सदैव उपभोग करते रहना चाहता है। इसी तरह से नए-नए लड़के अक्सर पक्के सिगरेट पीने वाले बन जाते है।

(ञ) **इच्छाएँ प्रथाओं और परम्पराओं का भी फल हैं**—प्रथा अब भी दुनिया पर शासन करती है। हम सब, चाहे गाँव मे रहते हो या शहर मे, थोडे-बहुत प्रथाओं के गुलाम हैं। हमारी अधिकतर इच्छाएँ परम्परागत है। वे हमारे ऊपर समाज द्वारा लादी जाती हैं। चाहे हम पसन्द करते हो या न करते हो, हमें अक्सर शादी ब्याह, मरने-जीने मे रीति-रिवाजो पर खर्च करना पड़ता है।

इच्छाओं की विशेषताओं का गहन अध्ययन इसलिए जरूरी है क्योंकि वे अर्थशास्त्र के विज्ञान के कुछ सबसे महत्त्वपूर्ण नियमो को जन्म देती है। उदाहरण के लिए, इस जानकारी से कि मनुष्य की एक इच्छा अकेली तृप्त हो सकती है, हमने घटती हुई उपयोगिता का नियम (Law of Diminishing Utility) निकाला कि हर वस्तु की प्रत्येक क्रमागत वृद्धि पहली से कम उपयोगिता रखती है। फिर इच्छाओं के प्रतिस्पर्धी स्वभाव से हमें प्रतिस्थापन का सिद्धान्त (Law of Substitution) मिला। इच्छाओं की कुछ विशेषताओं से, जैसे इस बात से कि वे कई-कई इकट्ठी चलती है, और आदत बन जाती है, एक जर्मन विचारक डा० ऐंजल (Dr. Engel) ने अपना पारिवारिक व्यय का सिद्धान्त तय किया, जिसका हम बाद मे अध्ययन करेंगे।

४. **आवश्यकताओं का वर्गीकरण** (Classification of wants)—जिन वस्तुओं और सेवाओं की हमें जरूरत पड़ती है उनका साधारणतया इस तरह वर्गीकरण किया जाता है, निर्वाह-सम्बन्धी आवश्यकताएँ (necessaries), सुविधा सम्बन्धी आवश्यकताएँ (comforts), और विलास सम्बन्धी आवश्यकताएँ (luxuries)। अब हम एक-एक पर विचार करेंगे।

(1) **निर्वाह-सम्बन्धी आवश्यकताएँ** (Necessaries)—उनको और विभाजित कर सकते है—

(क) **जीवन-रक्षक आवश्यकताएं** (Necessaries of Existence)—ये वे चीजें हैं जिनके बिना हम जिन्दा नही रह सकते, जैसे कुछ आहार, कपड़ा और आश्रय।

(ख) **निपुणता-रक्षक आवश्यकताएँ** (Necessaries of Efficiency)—ये वे पदार्थ है जो हमारे जीवित रहने के लिए तो आवश्यक नही है, किन्तु हमे अच्छे कर्मकार बनाने के लिए जरूरी है। जैसे एक विद्यार्थी के लिए मेज और कुर्सी निपुणता-रक्षक आवश्यकता है। इनके होने पर वह ज्यादा अच्छी तरह पढ-लिख सकता है।

(ग) **प्रतिष्ठा-रक्षक आवश्यकताएँ** (Conventional Necessaries)—ये वे वस्तुएँ है जिनका हमे सामाजिक प्रथा के कारण उपयोग करना पड़ता है, या इसलिए कि हमारे साथ के लोग हमसे उनके इस्तेमाल की आशा करते है। यह स्पष्ट है कि हम किसी अद्भुत तरीके से कपडे नही पहन सकते। हमे अपने स्तर के अनुसार ही कपडे पहनने पड़ेंगे।

'प्रतिष्ठा-रक्षक आवश्यकताएँ' नाम उन वस्तुओं के लिए भी प्रयुक्त होगा जिनके लोग आदी हो गए हैं जैसे तम्बाकू या शराब।

(ii) सुविधा सम्बन्धी आवश्यकताएँ (Comforts)—जीवन निर्वाह की जरूरतें पूरी करने के बाद हम कुछ आराम भी चाहिए। एक विद्यार्थी के लिए पुस्तक तो नितान्त आवश्यक है, मेज कुर्सी उसकी कार्यक्षमता के लिए जरूरी है, किन्तु गद्देदार कुर्सी आराम की चीज है। आराम की चीजों से जीवन अधिक भरा-पूरा हो जाता है।

सुविधा सम्बन्धी आवश्यकता और निपुणता रक्षक आवश्यकता में भेद करने के लिए हम यह कहेंगे कि पहली वस्तु (आराम की वस्तु) से हमारा हित उस पर किए गए खर्च के मुकाबले में कम होता है जबकि दूसरी वस्तु (कार्यक्षमता की आवश्यकता) से स्वास्थ्य और कार्यक्षमता को अधिक लाभ होता है।

(iii) विलास सम्बन्धी आवश्यकताएँ (Luxuries)—मनुष्य सुविधाओं पर भी चुप नहीं बैठ जाता। सुविधा की वस्तुएँ प्राप्त हो जाने पर वह विलासिता भी चाहता है। विलासिता की परिभाषा यह की गई है कि वह अनावश्यक वस्तु है, एक ऐसी चीज है जिसके बिना हमारा काम बखूबी चल सकता है। कीमती फर्नीचर, सुन्दर कारें फुहारे लगा हुआ स्नान गृह रेशमी कपड़े, गहने जेवर, रेफ्रीजरेटर लगा हुआ घर, बिजली के कुकर मुलायम बिस्तर, धुलाई की मशीनें, और बड़े स्वादिष्ट व्यंजनों का कीमती खाना ये सब विलास की वस्तुएँ हैं। यह जरूरी नहीं और इनके बिना भी स्वस्थ तथा उपयोगी जीवन बिताया जा सकता है।

सुविधा की वस्तुओं पर व्यय किए हुए द्रव्य का कुछ मुआवजा भी मिलता है। किन्तु विलास पर किए गए व्यय का कोई फायदा नहीं। उससे कुछ हासिल नहीं होता। बल्कि कभी-कभी निश्चित हानि होती है।

५ क्या हम विलासिता को उचित कह सकते हैं?—कुछ लोग हैं जो विलासिता की सभी चीजों को आर्थिक दृष्टि से व्यय और नैतिक दृष्टि से बुरा बताते हैं। इसके विपरीत कुछ लोग कहते हैं कि हर एक को पूरा नैतिक अधिकार है कि जो कुछ उसके पास है उसका उपभोग करे। समझदार आदमी कहता है कि हक है लेकिन "चीजों को खराब क्यों किया जाय?" पर सामाजिक दृष्टि से सोचें तो हमें, किसी विशेष व्यय का समूचे समाज पर क्या असर पड़ता है यह देखना पड़ेगा। इस तरह विलासिता की समस्या इन विभिन्न मतों के कारण जटिल हो गई है।

विलास सम्बन्धी आवश्यकताओं का इन दलीलों से समर्थन किया जाता है—

(क) विलास सम्बन्धी वस्तुओं के उत्पादन से लोगों को काम मिलता है और किसी देश के उद्योग और व्यापार के लिए हितकर है। इस तरह उससे भी एक प्रकार की समाज सेवा होती है और थोड़े से लोगों को आनन्द भी मिल जाता है।

(ख) विलास पर व्यय से बेकार धन अमीरों के हाथ से निकलकर समाज के उन कामकाजू और उद्योगी सदस्यों के पास चला जाता है, जिनको इसकी जरूरत है और जो धन का अधिक लाभप्रद उपयोग करते हैं। धन का यह तबादला

समाज के लिए हितकर है क्योंकि इससे धन के बँटवारे में अधिक बराबरी आ जाती है।

(ग) विलास-सामग्री (luxury goods) के उत्पादन में कारीगरों की निपुणता और कौशल बढ़ता है।

(घ) विलास की इच्छा से नए आविष्कारों को प्रेरणा मिलती है नए श्रम-बचत (Labour saving) के उपाय पता लगते है, और नए प्रकार के माल बनते हैं। इस तरह इससे शिल्पिक (technical) और औद्योगिक प्रगति होती है।

(ङ) विलास-सामग्री का उपभोग समाज के लिए हितकर है क्योंकि इससे लोग अधिक सभ्य, सुसंस्कृत और कला-प्रेमी बनते हैं।

इन युक्तियों में निस्सन्देह काफी बल है। इसलिए विलास पर किया गया सभी व्यय बुरा नहीं कहा जा सकता। कोई दृढ नियम इस बारे में नहीं बनाया जा सकता। बहुत कुछ तो किए जाने वाले व्यय के रूप पर निर्भर है। इसमें सन्देह नहीं कि कुछ व्यय तो व्यक्ति के लिए हानिकारक और सामाजिक दृष्टि से अवांछनीय है ही जैसे नाच गाने और शराब पर किया गया व्यय। इसके अतिरिक्त, हम इससे सहमत नहीं है कि नौकरी में वृद्धि, आविष्कारों की प्रेरणा, और शिल्पिक एवं औद्योगिक प्रगति को प्रोत्साहन केवल विलास सामग्री के उत्पादन द्वारा ही मिल सकता है। एक विशाल प्रासाद बनाने की अपेक्षा कोई महाराजा यदि चीनी या सूती मिल स्थापित करे तो इन उद्देश्यों को अधिक सफलता मिलेगी और गरीबों के लिए अधिक कपड़ा और चीनी भी प्राप्त होगी।

विलासिता पर किए गए व्यय मानव-कल्याण में वृद्धि नहीं करते। इतना ही कहा जा सकता है कि उनमें से कुछ हानि-रहित हैं जबकि उनमें से अनेक तो अनिश्चित रूप से अहितकर हैं। किसी भी हालत में, इनमें से अधिकतर तो व्यर्थ का उजाड़ना ही है।

६. अपव्यय (उड़ाना) क्या है? (What is Waste?)—हम यह भी साफ-साफ समझ लें कि आखिर फूँकना क्या है? यह तय करने के लिए कि कोई व्यय फिजूल है या नहीं, हमें उस पर खर्च किए हुए द्रव्य और उससे प्राप्त हित या लाभ की तुलना करनी पड़ेगी। एक आदमी घुड़दौड़ में गया। उसने वहाँ १,००० रु० गँवा दिया। यदि वह घुड़दौड़ देखने से उसे जो सुख मिला उसी की बात सोचता है, और समझता है कि जुए में मिला हुआ आनन्द उसकी हानि के बराबर है तो उसके दृष्टिकोण से उसने कुछ नहीं खोया। जहाँ तक उस व्यक्ति का मामला है, उसका व्यय तो आर्थिक दृष्टि से ठीक है। उसकी हानि किसी और के लिए लाभ है। किन्तु यदि उसकी हानि इतनी है कि उसके साधनों या सम्पदा में बहुत कमी आ गई है और वह यह महसूस करता है कि खेल मँहगा पड़ा तो यह अवश्य नुकसान हुआ।

सामाजिक दृष्टिकोण से व्यय अपव्यय होगा यदि उस कार्य में प्रयुक्त श्रम और पूँजी से जो मिला वह उससे कम है जितना उस पूँजी और श्रम को कहीं और लगाने से मिला होता। और जब व्यक्तिगत तृप्ति व्यय की गई सामाजिक सम्पत्ति के बराबर नहीं है, तब तक भी क्षय है।

७ निर्वाह सम्बन्धी, सुविधा सम्बन्धी और विलास सम्बन्धी आवश्यकताएँ सापेक्षिक शब्द हैं (Necessaries, Comforts and Luxuries are Relative Terms)—यह याद रखना जरूरी है कि हम वस्तुओं पर हमेशा के लिए पक्के या स्थायी लेबिल नहीं चिपका सकते कि अमुक वस्तु निर्वाह सम्बन्धी आवश्यकता है और अमुक विलास सम्बन्धी। हम यह नहीं कह सकते कि कार हमेशा विलासिता की वस्तु है और कमीज हमेशा निर्वाह के लिए आवश्यक। वही वस्तु एक प्रकार की परिस्थितियों में आवश्यक हो सकती है और दूसरी हालतों में विलासिता। एक कॉलेज के विद्यार्थी के लिए एक प्रकार की पोशाक जरूरी है पर एक देहाती के लिए वही विलासिता की वस्तु है। एक छोटे शहर में जहाँ दूरी थोड़ी है किसी व्यक्ति के लिए कार विलास की वस्तु है किन्तु एक व्यस्त पदाधिकारी या डाक्टर के लिए किसी बड़े शहर में वही नितान्त आवश्यक है।

कल जो चीजें विलासिता में गिनी जाती थीं वे ही अब प्रतिष्ठा रक्षक आवश्यकता बन गई हैं। जीवन-स्तर के ऊँचा होने का और सम्पन्नता का यह स्वाभाविक परिणाम है। उच्च वर्गों को जो सुविधाएँ पहले प्राप्त थीं वे अब मजदूरों के लिए भी आवश्यक समझी जाती हैं।

इसी प्रकार एक वस्तु हिन्दुस्तान में विलास है पर वही इंग्लिस्तान में आवश्यक है। ओवरकोट और बिजली के हीटर यहाँ विलासिता की वस्तु हैं, और वहाँ आवश्यकता की।

तो हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि पदार्थ निर्वाह सम्बन्धी अथवा विलास सम्बन्धी कहे जा सकते हैं किन्तु देश, काल, जलवायु, जनता व परिस्थितियों को ध्यान में रखकर। वे व्यक्ति, देश, काल पर अवलम्बित हैं। कोई भी वस्तु सर्वत्र के लिए या हर व्यक्ति के लिए इन बातों को भूलकर, आवश्यक या विलास नहीं कही जा सकती।

८ किस क्रम से हम अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं? (*What is the order in which we satisfy our wants?*)—साधारणतया उत्तर होगा कि जीवन सम्बन्धी आवश्यकताएँ पहले, सुविधा सम्बन्धी उनके बाद और विलास सम्बन्धी सब के बाद। यही उचित क्रम भी होना चाहिए। बुद्धिमत्ता का रास्ता तो यही है कि अपनी जरूरी आवश्यकताओं को पहले सन्तुष्ट करें, फिर बाद में सुविधा और विलास की सोचें अगर हमारे साधन इतने हों तो।

किन्तु व्यवहार में इतनी सीधी बात नहीं होती। लोग हमेशा इतनी बुद्धिमत्ता से व्यवहार नहीं करते। कुछ उपभोक्ताओं में इतनी समझ ही नहीं है कि वे यह देख सकें कि उनके लिये क्या जरूरी है। कुछ रुपया बरबाद करने के बाद ही वे समझ पाते हैं कि उन्होंने फिजूल खर्च किया है।

चुनते समय हम बहुत गलत विज्ञापनों में बहक जाते हैं। अपने सम्बन्धियों और मित्रों की ओर भी बहुधा अपना कुछ कर्त्तव्य समझते हैं, जो अनावश्यक हो तो भी हम उस पर बहुत कुछ व्यय कर देते हैं।

साधारणतया हमारी अधिक जरूरी आवश्यकताएँ ही हमारे ध्यान में पहले आती हैं।

६. जीवन-स्तर (Standard of Living)—'जीवन-स्तर' शब्द अस्पष्ट-सा है। इसकी निश्चित परिभाषा करना कठिन है। फिर भी इसमे यथार्थता है। लोगो के मस्तिष्क मे उनके अपने जीवन-स्तर के बारे मे अच्छा-खासा चित्र रहता है। अगर वे यह पाते है कि उनका जीवन-स्तर खतरे मे है तो, वे 'सक्रिय-कदम' (direct action) उठाने को भी तैयार हो सकते है। हिन्दुस्तान के रेलवे और डाक-तार विभाग के कर्मचारियो ने हडताल करने का निश्चय किया था जब उनकी मजदूरी से उनके जीवन स्तर का भली भांति निर्वाह कठिन हो गया था।

जीवन-स्तर से अभिप्राय है वे निर्वाह सम्बन्धी, सुविधा सम्बन्धी व विलास सम्बन्धी आवश्यकताएँ जिनको पूरा करने का एक व्यक्ति आदी है। हम जानते है कि यदि कुछ आवश्यकताओ की पूर्ति, काफी समय तक हम किसी विशेष प्रकार से करते रहे, तो पुन उठती रहती हैं और आदत बन जाती है। उसको तब वे वस्तुएँ और सेवाएँ मिलनी ही चाहिये, अन्यथा वह तृप्त नही रह पाता। ऐसी वस्तुएं उसकी बाकायदा जरूरतें बन जाती है और इन्ही से उसका 'जीवन स्तर' बनता है। इसमे उसका भोजन, कपडे, मकान, आमोद प्रमोद आदि सभी सम्मिलित है। सक्षेप मे, जीवन-स्तर का अर्थ है उसका रहने का ढग।

एक बच्चा किसी विशेष स्तर मे जन्म लेता और पलता है। किन्तु उसका यह पारिवारिक स्तर अपरिवर्तनशील नही है। जब तक वह बच्चा बडा होता है, यह स्तर घटता-गिरता रहता है और जब वह स्वय वयस्क होकर कमाने लगता है तब भी उसमे परिवर्तन होता रहता है। किन्तु उसका प्रारम्भिक जीवन, उसकी शिक्षा-दीक्षा, रुचि, स्वभाव, महत्त्वाकाक्षाएँ और सामाजिक वातावरण जिसमे वह रहता है—सब उस पर प्रभाव डालते हैं। जैसे-जैसे ये बदलते है, उसका जीवन-स्तर भी बदलता है।

इस तरह यह स्पष्ट है कि व्यक्ति अपना जीवन-स्तर अपनी इच्छाओ अथवा कल्पनाओ से ही निश्चित नही करता। उसे यह भी सोचना पडता है कि समाज उससे क्या चाहता है। उसका जीवन-स्तर उसकी अपनी इच्छाओ और उसके समाज की आशाओ के बीच एक समझौता है।

फिर किसी व्यक्ति का जीवन-स्तर केवल उसकी अपनी ही चीज नही है। वह तो स्वय एक इकाई है जो किसी सामाजिक समूह का अग है। किसी समूह अथवा राष्ट्र के जीवन-स्तर का उसके कुल उत्पादन पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पडता है। भूखे और नगे मजदूर स्वभावत कम निपुण कर्मकार होंगे।

यदि भारत का जीवन स्तर ऊँचा उठे तो चीनी, दूध, कपडे और दूसरी वस्तुओ की कुल मांग बहुत ऊपर उठ जायगी। उनका उत्पादन अधिक करना होगा। इससे सारे समाज के कल्याण मे वृद्धि होगी और विशेषकर श्रम की कार्यक्षमता मे।

किसी देश के जीवन-स्तर से उसका आर्थिक व राजनैतिक सगठन, औद्योगिक कार्यक्षमता एव आर्थिक प्रगति का निश्चय होता है।

१०. जीवन-स्तर और जीवन का स्तर (Standard of living and Standard of life)—कभी-कभी जीवन स्तर (Standard of living) और जीवन के स्तर (Standard of life) मे कुछ भेद किया जाता है। जीवन-स्तर से जैसा हम

पहले ही बता चुके हैं, अर्थ होता है हमारे खर्च का दर्जा अर्थात् जिन पदार्थों और जिन सेवाओं का हम उपभोग करते है। जीवन का स्तर (Standard of life) इससे अधिक व्यापक शब्द है। इससे तात्पर्य होता है किसी जीवन के आदर्श। इसमें एक व्यक्ति का अपने अभौतिक उद्देश्यो (non-material requirements) पर किया गया व्यय भी सम्मिलित होता है। "सादा रहना और उच्च विचार रखना" लोकप्रिय उक्ति है। "सादा रहना" (simple living) कहने से इशारा एक निम्न जीवन स्तर की तरफ होता है। किन्तु "उच्च विचार" (high thinking) से एक ऊँचे जीवन के स्तर व आदर्श का निर्देश होता है। महात्मा गांधी का जीवन-स्तर निम्न था किन्तु उनका जीवन का स्तर अत्यन्त उच्च था।

११ एंजिल का उपभोग का सिद्धान्त (Engel's Law of Consumption)—'किसी परिवार का जीवन-स्तर उसके पारिवारिक बजट से पता लगता है। डा० अर्नेस्ट एंजिल, जो किसी समय प्रशियन स्टेटिस्टिकल ब्यूरो के अध्यक्ष थे, ने सन् १८५७ में एक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जो अनेक पारिवारिक आय-व्ययको के गम्भीर अन्वेषण से उन्होंने पाया था। उन्होंने विभिन्न वर्गों के लोगों के खर्चों का विश्लेषण करके निम्न निष्कर्ष निकाले—

(i) जैसे जैसे आय बढ़ती है भोजन तथा अन्य निर्वाह सम्बन्धी आवश्यकताओं पर प्रतिशत व्यय कम होता जाता है और जैसे जैसे घटती है वह बढ़ता जाता है।

(ii) प्रतिशत विलास सम्बन्धी तथा अन्य सांस्कृतिक अथवा मनोविनोद सम्बन्धी आवश्यकताएँ आय के बढ़ने के साथ बढ़ती और घटने के साथ घटती हैं। निम्न आय (Low Incomes) के मामलो मे वे लगभग होंगी ही नहीं। जब आय ऊंची होती है तो उपभोग अवश्य अधिक विविध हो जाता है।

(iii) किराया, ईंधन और प्रकाश पर प्रतिशत व्यय लगभग हर आय के लोगों के लिए एकसा है।

(iv) चाहे जो भी आय हो, कपड़े लत्तो पर प्रतिशत व्यय लगभग एकसा रहता है।

यह ध्यान रखना चाहिए कि हम प्रतिशत व्यय की बात कर रहे है न कि कुल व्यय की। धनवान तो अपने भोजनो पर एक निर्धन की अपेक्षा अधिक व्यय करता ही है। *किन्तु वास्तव मे वह अपनी आय का कम प्रतिशत भाग भोजन पर व्यय करता है।* गरीब आदमी की लगभग पूरी की पूरी आय जीवन की निर्वाह सम्बन्धी आवश्यकताओं पर व्यय हो जाती है।

भारत म भी पारिवारिक बजट का अध्ययन हुआ है। डा० हैरोल्ड मान (Dr. Harold Mann) ने इस प्रकार का एक अन्वेषण दक्षिण मे किया था। पंजाब के बोर्ड ऑफ इकनामिक इन्क्वायरी ने भी इस बात की गहरी खोज की थी कि पंजाब में किसान, शिल्पकार तथा कारखानो के मजदूर अपनी आय कैसे व्यय करते है। इन अन्वेषणो से एंजिल के सिद्धान्त की पुष्टि हुई।

इस अध्याय से तुम क्या सीखते हो ?

आवश्यकताएँ कैसे उदय होती है—हमारी आवश्यकताएँ जन्म लेती है

(i) स्वाभाविक प्रवृत्तियों, —

(ii) आर्थिक व सामाजिक स्थिति, तथा—

(iii) विज्ञापनों से।—

जितना मनुष्य अधिक सभ्य होता जाता है वह जीवन निर्वाह की आवश्यकताओं की पूर्ति से सन्तुष्ट नहीं होता। वह बेहतर भोजन, अधिक और फैशन वाले कपड़े और अधिक आराम देने वाला और सुरुचिपूर्ण निवास स्थान चाहता है।

मानवीय आवश्यकताओं की विशेषताएँ

(i) मानवीय आवश्यकताएँ अपरिमित हैं।

(ii) प्रत्येक आवश्यकता अकेली तृप्त हो सकती है।

(iii) आवश्यकताएँ परिपूरक हैं।

(iv) आवश्यकताएँ प्रतिस्पर्धी हैं।

(v) कुछ आवश्यकताएँ परिपूरक भी हैं और प्रतिस्पर्धी भी।

(vi) एक आवश्यकता की पूर्ति के लिए अनेक वैकल्पिक उपाय होते हैं।

(vii) आवश्यकताएँ देश, काल और व्यक्ति के अनुसार विभिन्न होती हैं।

(viii) आवश्यकताएं विज्ञापन और विक्रेताओं की कुशलता से प्रभावित होती हैं।

(ix) आवश्यकताएं अनिवार्यता में भिन्न होती हैं।

(x) आवश्यकताएं आदत बन जाती हैं।

(xi) आवश्यकताएं प्रथा और रुचि का भी परिणाम हैं।

आवश्यकताओं का वर्गीकरण (Classification of Wants)

(i) निर्वाह-सम्बन्धी आवश्यकताएँ—

(क) जीवन रक्षक आवश्यकताएँ, अर्थात् वे वस्तुएं जिनके बिना व्यक्ति जिन्दा नहीं रह सकता।

(ख) निपुणता-रक्षक आवश्यकताएँ अर्थात् वे पदार्थ जो हमें अधिक निपुण बनाते हैं।

(ग) प्रतिष्ठा रक्षक आवश्यकताएँ—जो सामाजिक प्रथाओं तथा रूढ़ियों के कारण हैं, अथवा जिनकी आदत हो गई है।

(ii) सुविधा सम्बन्धी आवश्यकताएं—वे वस्तुएँ जो हमें आराम पहुंचाती हैं, और हमारी निपुणता में भी सहायक सिद्ध होती हैं।

(iii) विलास सम्बन्धी आवश्यकताएँ—वे वस्तुएं जो अनावश्यक या व्यर्थ हैं। यह हानिकारक अथवा हानिरहित हो सकती हैं, किन्तु हमारी कार्यक्षमता नहीं बढ़ाती।

विलास सम्बन्धी आवश्यकताएँ अच्छी हैं या बुरी ? विलास सम्बन्धी आवश्यकताओं का समर्थन किया जाता है क्योंकि वे—

(क) काम पैदा करती हैं,

(ख) धनवानों से निर्धनों के हाथ में धन दिलवाती हैं,

(ग) कलाकारों की कुशलता तथा दस्तकारी को प्रोत्साहन देती हैं,

(घ) कठोर श्रम के लिए प्रेरणा देती हैं, और

(ङ) किसी दुर्दिन के लिए सामग्री जुटाती हैं और हमें अधिक सुसम्पन्न बनाती हैं।

किन्तु यह सब उद्देश्य रुपए को उद्योग या व्यापार में लगाने से अधिक फलीभूत हो सकते हैं बजाय विलास पर व्यय करने के।

अपव्यय क्या है ? व्यक्ति के दृष्टिकोण से रुपया व्यर्थ जाता है यदि उससे प्राप्त तृप्ति व्यय किए हुए द्रव्य के बराबर न हो।

सामाजिक दृष्टि से द्रव्य बजता है यदि उसके द्वारा उत्पादन के जिन साधनों का उपयोग हुआ है उनको और कहीं लगाने से जो प्राप्त हो सकता था उससे कम हुआ हो।

निर्वाह सम्बन्धी, सुविधा सम्बन्धी तथा विलास सम्बन्धी आवश्यकताएँ सापेक्षिक शब्द हैं—एक परिस्थिति में जो विलास सम्बन्धी आवश्यकता है वही किसी दूसरी परिस्थिति में कुछ और आवश्यकता समझी जा सकती है।

किस क्रम में आवश्यकताओं की सन्तुष्टि होती है ?—

अधिक जरूरी आवश्यकताओं की पहले तृप्ति की जाती । किन्तु प्रत्येक व्यक्ति अपने लिए स्वयं निश्चय करता है कि क्या अधिक अनिवार्य है। यह उसके विवेक, कर्त्तव्य भावना, शिक्षा, रुचि तथा स्वभाव पर अवलम्बित है।

जीवन-स्तर—इसका अर्थ है रहने सहने का ढंग। अर्थात् वे आवश्यकताएँ—निर्वाह, सुविधा तथा विलास सम्बन्धी जिनकी पूर्ति का व्यक्ति आदी हो चुका है। पहले तो यह अपने पूर्वजों से ही प्राप्त होती हैं, किन्तु बाद में अपनी स्वयं की आर्थिक और सामाजिक स्थिति, शिक्षा, रुचि और स्वभाव द्वारा बदल जाती है। जीवन-स्तर मनुष्य की अपनी इच्छाओं और समाज की आशाओं के बीच में एक समझौता है।

एन्जिल का उपभोग का सिद्धान्त—✓

(क) भोजन के ऊपर प्रतिशत व्यय आय की वृद्धि के साथ कम होता है।

(ख) विलास, सुविधाओं और आमोद प्रमोद पर प्रतिशत व्यय आय की वृद्धि के साथ बढ़ता है।

(ग) प्रकाश, ईंधन तथा किराए पर प्रतिशत व्यय सभी आय के व्यक्तियों के लिए वही रहता है।

(घ) कपड़ों पर प्रतिशत व्यय लगभग सभी आय के व्यक्तियों के लिए एकसा है।

क्या आप निम्न प्रश्नों का उत्तर दे सकते हैं ?

1 Describe the more important characteristics of human wants and point out their importance in the theory of consumption

(पंजाब विश्वविद्यालय, १६३५)

देखिए विभाग ३

2 Discuss the main characteristics of human wants Is the multiplication of wants desirable ? (उत्तर प्रदेश, १६४२)

[देखिए विभाग ३—यदि आवश्यकताएँ बढ़ती है, तो आर्थिक कार्यवाही भी बढ़ेगी और आर्थिक प्रगति होगी। जीवन स्तर में सुधार होगा और राष्ट्रीय कार्यक्षमता ऊँची उठेगी। किन्तु किसी व्यक्ति के लिए अपनी आवश्यकताएँ बढ़ाना सदैव हितकर नहीं होगा, जब तक कि उसकी आय भी न बढ़े।]

3 Define 'Wants' Discuss

(a) The effect of circumstances on wants

(b) Characteristics of wants (यू० पी० बोर्ड, १६५३)

देखिए विभाग ३ और उपर्युक्त प्रश्न का भी उत्तर दीजिए।

4 Explain and illustrate the distinction beween necessaries, comforts and luxuries. Give Indian examples in support of your, answer. (दिल्ली, १६४८)

देखिए विभाग ४

5. Show how the classification of wants into necessaries, comforts and luxuries does not primarily refer to articles of con-

sumption, but their units, and varies according to the individual consumer, the time and place Give Indian examples wherever possible (राजपूताना, १९४५)

देखिए विभाग ७

6 Is the consumption of luxuries beneficial from the economic point of view ? (नागपुर, १९४४)

देखिए विभाग ५

7 "What is luxury for one may be a necessity for another" Explain with illustrations

8 Distinguish between standard of living and standard of life Mention some of the influences the have formed your standard of living देखिये विभाग ९ और १०

9 Explain how your wants may change in the next ten years

[आप कदाचित् किसी धंधे को अपना लेंगे और आपका एक परिवार होगा। आपकी आवश्यकताएँ उसी के अनुसार बढ़ जायेंगी।

10 What is family budget ? What are the main items included in it ? Give a typical budget you may have studied

(राजपूताना, १९४४)

Or,

What is family budget ? Draw up a family budget and discuss the importance of various items in it from the point of view of Engel s Law (पंजाब विश्वविद्यालय, १९५३)

[पारिवारिक आय-व्ययक या बजट किसी परिवार के आय के मुकाबले उसका अनेक मदों पर व्यय का एक विवरण है। उसमें मुख्य मद होते हैं —खाना, कपड़ा, ईंधन, मकान, प्रकाश, चिकित्सा, यात्रा, शिक्षा, सामाजिक रस्में, मनोविनोद, ऋण की अदायगी आदि। नीचे एक मजदूर के सामान्य पारिवारिक बजट का एक दृष्टान्त दिया है, जिसकी आय ६०) रु० मासिक है।

खाना	४५)
कपड़ा	४)
किराया	५)
शिक्षा	१)
चिकित्सा	१)
ऋण पर सूद	२)
यात्रा	१)
विविध	१)
मनोविनोद	कुछ नहीं
बचत	कुछ नहीं
कुल	६०

11 State and explain Engel's Law of Family Expenditure How far is it applicable to Indian conditions ? (पंजाब विश्वविद्यालय १९४०)

देखिए विभाग ११

वाद-विवाद का विषय

(i) Increase in desires is the cause of human suffering

(ii) "Desire for recognition is the strongest social motive"

उपभोग

(CONSUMPTION)

जितना अधिक हम उपभोग करते हैं, हमारी आवश्यकता उतनी ही घट जाती है !

(The more we have, the less we want !)

१ उपभोग (Consumption) क्या है ? (What is Consumption ?)— आवश्यकताओं (wants), उनकी प्रकृति और गुण-दोषों के बारे में तो हम पिछले अध्याय में अध्ययन कर चुके हैं। अर्थशास्त्र (Economics) के जिस विभाग में आवश्यकताओं और उनकी पूर्ति का अध्ययन होता है, उसको उपभोग (consumption) कहते हैं।

पदार्थों और सेवाओं द्वारा अभाव पूर्ति (satisfaction of wants) का नाम ही उपभोग है। जब हम प्यास बुझाने के लिए एक गिलास पानी पीते हैं तो इसका अर्थ होता है, हमने पानी का उपभोग किया। जब कक्षा में विद्यार्थी कुर्सियों पर बैठते हैं तो अर्थशास्त्र में इसको कहते हैं, कि विद्यार्थियों ने कुर्सियों का उपभोग किया। मान लीजिए कि एक व्यक्ति बीमार है और डाक्टर को बुलाया जाता है, तो रोगी ने डाक्टर की सेवाओं का उपभोग किया। जब-जब हम पदार्थ (commodity) या सेवाओं का उपभोग करते हैं, तो वही उपयोग (use) उपभोग (consumption) कहलाता है।

एक दूसरी परिभाषा के अनुसार उपयोगिता (utility) का विनाश ही उपभोग (Consumption) है। मनुष्य भौतिक तत्व का सृजन नहीं कर सकता, और न ही वह इसका विनाश कर सकता है। भौतिक-तत्त्व तो इस संसार में विद्यमान हैं ही, और वे रहेंगे भी। मनुष्य सिर्फ इनका रूप बदल सकता है। जब एक व्यक्ति आम खाता है तो वह उसके तत्वों का, जिनसे आम बना है नाश नहीं करता वरन् वह केवल इनका रूप बदल देता है। पहले यह आम मानव-आवश्यकता (human want) की पूर्ति कर सकता था यानी इसमें उपयोगिता (utility) थी, अब इसमें से वह शक्ति लुप्त हो गई। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि आम खा करके मनुष्य ने उसकी उपयोगिता का नाश कर दिया। आम का उपभोग किया जा चुका।

उपभोग के द्वारा उपयोगिता का विनाश उसी समय और जल्दी से हो सकता है, जैसे आम या दूध आदि का या इस विनाश का क्रम लम्बा और धीरे-धीरे हो सकता है, जैसे फर्नीचर आदि का।

पर केवल उपयोगिता के विनाश का अर्थ उपभोग नहीं होता। अगर कोई मकान आग में जलकर भस्म हो जाय तो आर्थिक दृष्टि से यह नहीं माना जायगा कि उसका उपभोग हो चुका। मानव-आवश्यकताओं की पूर्ति का नाम ही उपभोग है। यदि किसी सेवा या कार्य से किसी मानव आवश्यकता की पूर्ति नहीं होती तो हम उसे उपभोग का नाम नहीं देंगे। व्यवहार में तो आय (money income) का व्यय करना ही उपभोग कहलाता है। दूध, भोजन और दूसरे तरह-तरह के पदार्थ जिनका हम उपभोग करते हैं हमें मुफ्त नहीं मिलते हम उन पर खर्च करना पड़ता है। इसलिए उपभोग में आय का व्यय (expenditure of income) तो होता ही है।

२ **उपभोग के प्रकार** (Types of Consumption)—अर्थशास्त्र में उपभोग के तीन भेद होते हैं, वे इस प्रकार है—

(i) **प्रत्यक्ष या अन्तिम उपभोग** (Direct or Final Consumption)—मैं अपनी कमीज पहिन पहिन कर फाड़ता हूँ, मैं एक खरबूजा खाता हूँ इन उदाहरणों से प्रकट है कि दोनों वस्तुओं का उपभोग हो चुका है और भविष्य में उनसे कोई लाभ नहीं हो सकता। इनका उपभोग अन्तिम रूप से हो चुका है। इन्होंने तात्कालिक और प्रत्यक्ष रूप से मेरी सन्तुष्टि की है। ठीक इसी तरह उपभोग की दूसरी वस्तुएँ भी मानव-इच्छाओं की सीधे और अंतिम रूप से सन्तुष्टि करती हैं। तरबूज की भांति कुछ वस्तुएँ तो क्षणिक उपयोग के बाद खत्म हो जाती हैं, परन्तु कई चीजें जैसे कमीज, फर्नीचर आदि अधिक टिकाऊ होते हैं और उनका उपयोग अथवा उपभोग अधिक काल तक हो सकता है।

(ii) **उत्पादक या परोक्ष उपभोग** (Productive or Indirect Consumption)—आप एक क्षण के लिए अपने मन में कपड़ा सीने की मशीन का ध्यान कीजिए। अब आप बताइये कि क्या आप इस मशीन से काम लेते हैं या इसका उपभोग करते हैं? इस मशीन से हमें प्रत्यक्ष रूप से कोई सन्तुष्टि प्राप्त नहीं होती। मशीन से हम कपड़े सीते हैं और इसी प्रकार का उपभोग हम वास्तव में करना भी चाहते हैं। सिलाई की मशीन का तो परोक्ष (indirect) रूप से ही उपभोग है। वास्तव में तो इसके द्वारा सी गई कमीज और दूसरे वस्त्रों का ही उपभोग होता है। यह परोक्ष उपभोग का उदाहरण है। ठीक इसी तरह उत्पादन के समस्त उपकरण (instruments of production) हमारी सन्तुष्टि परोक्ष रूप से ही करते हैं। उनका उपभोग किसी दूसरी उपभोग की वस्तु के बनाने में होता है।

(iii) **निरुपयोगी उपभोग** (Wasteful Consumption)—अग्नि काण्ड, भूचाल या ज्वार-भाटे के कारण जब किसी भवन वस्तु आदि की हानि या क्षति होती है तो अर्थशास्त्र में इसे निरुपयोगी उपभोग कहते हैं। वास्तव में इसको हम उपभोग नहीं कह सकते चूंकि इस प्रकार की हानि से किसी भी मानव अभाव या आवश्यकता की सन्तुष्टि और पूर्ति नहीं होती। हम देखते हैं कि उपभोग ही उत्पादन का उद्देश्य है। इसलिए आर्थिक कार्यवाही (economic activity) उपभोग से ही प्रारम्भ होती है। किन्तु हर वस्तु का, जिसका उत्पादन या निर्माण होना है उपभोग होना भी आवश्यक है। इस प्रकार उपभोग में ही मानव प्रयत्नों और कार्यवाहियों का शुरू भी

है और अन्त भी।

३. **हम उत्पादन से पहले उपभोग का अध्ययन क्यों करते हैं ? (*Why do we study consumption before production ?*)**—उपभोग (*consume*) होने से पहले किसी वस्तु का उत्पादन किया जाना जरूरी है। इसलिए क्रमानुसार सबसे पहले उत्पादन ही आता है। पर हम किसी वस्तु का उत्पादन क्यों करते हैं ? इसलिए कि किसी न किसी को उसकी आवश्यकता है। आवश्यकता न होने पर तो चीज का उत्पादन किया ही नहीं जाता। इसलिए तर्क से तो उपभोग पहले आता है।

आवश्यकता होने पर ही (यानी, वस्तु का उपभोग करने की इच्छा से ही) सारे मानवीय प्रयत्नों का आरम्भ होता है और फलस्वरूप उत्पादन किया जाता है। इसलिए सचमुच उपभोग का विषय पहले आता है और इसका अध्ययन भी सर्वप्रथम किया जाता है।

अर्थशास्त्र के अध्ययन में उपभोग ने अपना उचित स्थान प्राप्त कर लिया है और सबसे पहले रखा भी इसे ही गया है। काफी समय तक अर्थशास्त्रियों ने इसे पीछे रखा था। परन्तु अब उन्होंने अनुभव कर लिया है कि उपभोग कितना है और कैसा है। इसी से लोगों की कार्यक्षमता निश्चित होती है और इसीलिए सारी आर्थिक उन्नति की नींव में भी यही है। इसलिए अब उपभोग के महत्व को भलीभाँति पहिचान लिया गया है।

४. **उपभोग और उत्पादन का गठ-बन्धन (*Consumption and Production go side by side*)**—केवल प्राचीन समाज के बारे में ऐसा कहा जा सकता है कि मनुष्य पहले उत्पादन करता था और उसके बाद उसका उपभोग करने की बात सोचता था। आधुनिक समाज में तो दोनों सिलसिले एक साथ चलते हैं। हम गेहूँ बोने के बाद फसल पकने तक इन्तजार नहीं करते। इतने समय तक प्रतीक्षा कर भी कौन सकता है ? जब तक फसल पके, लोगों को तो अनाज चाहिए ही। यह तभी सम्भव है जब गेहूँ का उत्पादन पिछले वर्ष भी हुआ हो और उसका एक भाग वर्ष के लिए उठाकर स्टाक में रख दिया गया हो। हर व्यक्ति एक ही समय में उपभोक्ता और उत्पादक होता है (Every body is both a consumer and producer)। कभी कभी हम ऐसा सोचते हैं कि उपभोक्ता और उत्पादक दो भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं। ऐसा भी कहा जाता है कि युद्ध-काल में उपभोक्ताओं को हानि हुई और उत्पादकों को लाभ हुआ। किन्तु यह विचार भ्रमपूर्ण है। हर व्यक्ति एक ही समय में उत्पादक और उपभोक्ता दोनों होता है। उपभोक्ता के रूप में यदि वह हानि में रहता है तो उत्पादक के रूप में लाभ में।

५. **उपभोग का महत्त्व (Importance of Consumption)**—आधुनिक अर्थशास्त्री उपभोग के महत्त्व पर ठीक ठीक जोर देते हैं। इस बात को तो पहले ही समझाया जा चुका है कि उपभोग सारी आर्थिक चेष्टाओं का आदि और अन्त है। मनुष्य में इच्छा होती है और वह उसकी तृप्ति की कोशिश करता है। प्रयत्न पूरा होने पर फल मिलता है आवश्यकता की तृप्ति। हमारे आर्थिक प्रयत्न की जननी आवश्यकता आदि है और तृप्ति उसका अन्त। उपभोग सारी आर्थिक चेष्टाओं का

आरम्भ और अन्त माना गया है। उत्पादन के लिए जो पहला धक्का है वह उपभोग ही लगाता है। इस तरह उपभोग से ही उत्पादन को दिशा और प्रेरणा मिलती है।

इतना ही नहीं कि उपभोग करने वाले उत्पादन शुरू शुरू करवा देते हैं बल्कि उनकी इच्छाओं के अनुसार ही सारी उत्पादक-कार्यवाही (productive activity) चलती है। यदि उपभोक्ता प्रसन्न होते हैं तो व्यापार उन्नति करता है और उत्पादन बढ़ता है। और अगर उपभोक्ता किसी चीज को नापसन्द कर दें या यह मान लें कि इसकी कीमत अधिक है तो आखिरकार उस वस्तु का उत्पादन बन्द ही हो जायगा। उपभोक्ता मालिक है और आर्थिक कार्यवाही के सारे क्षेत्र में उसकी हुकूमत चलती है।

सारे आर्थिक जीवन का स्रोत आवश्यकताओं का होना है और उनका बढ़ना और फैलना ही सारी उन्नति का मूल मन्त्र है। आवश्यकताओं का विस्तार और आर्थिक उन्नति साथ-साथ चलते हैं। उपभोक्ता की तृप्ति के लिए निर्माता अधिक अच्छे और लाभकारी उपायों की खोज करते रहते हैं। इससे नये-नये उत्पादनों और रीतियों का पता चलता है और नये-नये यन्त्रों का आविष्कार होता है। प्रत्येक आर्थिक चेष्टा जो अभाव पूर्ति के लिए की जाती है, कई आवश्यकताओं को जन्म देती है। जितनी अधिक आवश्यकताओं की पूर्ति होती है, उतनी ही वे और अधिक बढ़ जाती है। "खाने से भूख लगने लगती है।" इसके अतिरिक्त अपने अभावों की पूर्ति करने के प्रयत्न में मनुष्य की योग्यताओं को भी अवसर मिलता है। सफल व्यापारियों के साथ साथ सधे हुए श्रमिकों का भी एक समुदाय तैयार हो जाता है। अर्थशास्त्र के प्रत्येक विभाग में उपभोग का व्यापक प्रभाव दीख पड़ता है। उपभोक्ता ही उत्पादन का निर्देश और पथ-प्रदर्शन करते हैं। उपभोक्ताओं की मांग की तेजी ही मण्डी में कीमतें तय करती हैं। इस तरह उपभोग विनिमय (exchange) पर भी अपना प्रभाव दिखाता है। उपभोग के बिना विनिमय का प्रश्न ही नहीं उठता। वितरण (distribution) अर्थात् जमींदारों, मजदूरों पूंजीपतियों और संगठनकर्त्ताओं की आय का बँटवारा प्रत्येक वर्ग के अपने-अपने उपभोग (जीवन-स्तर) को नियत करता है, और यह जीवन-स्तर जवाब में उनकी आमदनी पर असर डालता है। क्योंकि जीवन-स्तर उनकी कार्यक्षमता तय करता है और इसी कार्यक्षमता पर राष्ट्रीय आय में उनका अंश निर्भर रहता है। इससे अधिक उपभोग का महत्व और क्या हो सकता है?

६ घटती हुई उपयोगिता का नियम (The Law of Diminishing Utility)—उपभोग के बारे में एक बड़ा महत्वपूर्ण नियम है कि वस्तु के उपभोग करने से, उससे प्राप्त होने वाली तृप्ति घटती जाती है।

जैसे-जैसे हम एक वस्तु को अधिकाधिक पाते जाते हैं वैसे-वैसे हमें उसकी चाह कम होती जाती है। यह प्रत्येक उपभोक्ता का अनुभव होता है कि जैसे-जैसे वह एक वस्तु विशेष का उपभोग करता जाता है वैसे वैसे उससे अगली इकाई से तृप्ति की मात्रा घटती जाती है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि इसकी उपयोगिता हर कदम पर घटती जाती है।

यदि हम बहुत प्यासे हैं और पीने के लिए पानी का एक गिलास मोल लेते हैं

तो पानी पीकर हमारी तृप्ति होगी। चूँकि हमारी इच्छा पूरी हो चुकी होती है, हम पानी का दूसरा गिलास मोल लेना न चाहेंगे। यही हाल दूसरी वस्तुओं का भी होता है।

मार्शल इस नियम की परिभाषा इस प्रकार करता है—

"किसी वस्तु के 'स्टाक' में वृद्धि होने से व्यक्ति को जो अधिक लाभ (extra benefit) मिलता है वह जैसे जैसे स्टाक बढ़ता है घटता जाता है।"

निम्नलिखित तालिका (table), जिसमें रसगुल्लों ने एक काल्पनिक उपभोक्ता का उदाहरण लिया गया है इस नियम को भली भांति दिखाती है—

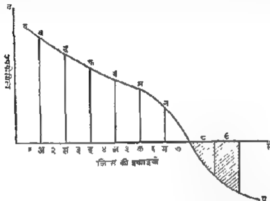
(१) रसगुल्लों की संख्या (No of Rasgullas)	(२) सीमान्त उपयोगिता (Marginal Utility)	(३) कुल उपयोगिता (Total Utility)
१	१५	१५
२	१३	२८
३	१०	३८
४	८	४६
५	४	५०
६	२	५२
७	०	५२
८	−२	५०
९	−३	४५

जैसे-जैसे उपरोक्त उपभोक्ता रसगुल्ले खाता जाता है, वैसे-वैसे अतिरिक्त या सीमान्त (additional or marginal) उपयोगिता घटती जाती है। सातवें रसगुल्ले से अतिरिक्त तृप्ति प्राप्त नहीं होती और आठवें और नवें से प्रतिकूल उपयोगिता (negative utility) प्राप्त होती है (देखिए स्तम्भ २)। उनका उपभोग तृप्ति के स्थान पर अरुचि उत्पन्न करता है।

यदि आप तीसरे स्तम्भ (कॉलम) पर नजर डालें तो आपको मालूम होगा कि एक हद तक कुल उपयोगिता (total utility) बढ़ती जाती है। यह भी जँचता है कि दो रसगुल्लों की उपयोगिता एक से अधिक होनी चाहिए, और क्रमशः तीन की कुल उपयोगिता दो से अधिक। परन्तु यदि आप ध्यान से देखें तो आपको मालूम होगा कि यद्यपि कुल उपयोगिता बढ़ती है लेकिन इस वृद्धि की दर घट रही है। उदाहरण के लिए जब यह काल्पनिक सज्जन दूसरा रसगुल्ला खाते हैं तो कुल उपयोगिता बढ़कर २५ से १८ हो जाती है, पर जब वह तीसरा रसगुल्ला खाते है तो कुल उपयोगिता सिर्फ दस ही बढ़ती है। स्तम्भ ३ में दिखाया गया है कि उपयोगिता किस दर से बढ़ती है। यह स्पष्ट है कि यह वृद्धि (increase) घटती हुई दर (diminishing rate) पर होती है।

इस नियम का रेखाचित्र (Diagram) द्वारा प्रदर्शन—घटती हुई उपयोगिता के नियम (The Law of Diminishing Utility) को रेखा चित्र (डायग्राम) में इस तरह रख सकते है—

चित्र में व म और अ म दो अक्ष (axis) हैं। क ख रेखा के साथ साथ वस्तुओं की इकाइयां दिखाई गई है और अ म रेखा के साथ साथ प्रति इकाई उपभोग (consumption) के अनुसार उपयोगिता (utility) का माप दिखाया गया है। और य य' रेखा उपयोगिता वक्र (utility curve) बताती है। अ व उपयोगिता (utility)



बताती है, जब एक रसगुल्ला खाया जाता है। स व अतिरिक्त उपयोगिता (additional utility) बताती है, जब दो रसगुल्ले खाये जाते हैं। स द (रेखा) भाग में अ व से छोटी है। अतिरिक्त उपयोगिता (additional utility) उत्तरोत्तर इकाइयों द्वारा प्रदर्शित की गई है जिनको ह फ, ज च क ख, म न रेखाओं में दिखाया गया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि हर कदम पर अतिरिक्त उपयोगिता घटती जाती है। परन्तु इससे आगे सातवें चरण पर उपयोगिता (utility) शून्य (zero) हो जाती है, और उसके बाद उपयोगिता प्रतिकूल हो जाती है जैसा कि चरण ८ और ९ में ख रेखा के अन्तर्गत य य' वक्र-रेखा के साथ-साथ छाया भाग में दिखाया गया है।

७. **प्रारम्भिक उपयोगिता** (Initial Utility)—इसका अर्थ होता है ऐसी उपयोगिता जो प्रारम्भ में या पहली इकाई में प्राप्त होती है। उपरोक्त तालिका में प्रारम्भिक उपयोगिता ६५ है।

कुल उपयोगिता (Total Utility)—तालिका के स्तम्भ ३ पर नजर डालिये। इसमें कुल उपयोगिता (total utility) को हर चरण पर दिखाया गया है। उदाहरण के लिए यदि आप एक रसगुल्ला खाएँ तो कुल उपयोगिता १५ होगी, परन्तु यदि आप दो रसगुल्ले खाएँ तो कुल उपयोगिता २८ होगी, आदि आदि।

शून्य उपयोगिता (Zero Utility)—जब एक वस्तु की एक इकाई का उपभोग (consumption) करने के बाद कुल उपयोगिता (total utility) में कोई जोड़ (addition) न हो, तो इसको शून्य उपयोगिता (zero utility) का बिन्दु (point) कहते हैं। उपरोक्त तालिका में छठी इकाई के उपभोग के बाद कुल उपयोगिता (total utility) ५२ होती है। सातवीं इकाई के उपभोग के बाद भी कुल उपयोगिता (total utility) ५२ ही रहती है। इस तरह सातवीं इकाई पर कोई

वृद्धि नहीं होती। यह स्थान शून्य उपयोगिता का है ऐसी उपयोगिता (utility) निषेधात्मक (negative) या उल्टी हो जाती है।

प्रतिकूल उपयोगिता—अगर किसी वस्तु का प्रयोग बेहद बढ़ जाए तो सन्तुष्टि देने की बजाए उससे कष्ट हो सकता है। उस स्थिति में उसे प्रतिकूल उपयोगिता कहते हैं।

सीमान्त उपयोगिता (Marginal Utility)—सीमान्त उपयोगिता उस बिन्दु या चरम सीमा की उपयोगिता है जहाँ पहुँचकर उपभोक्ता और लेने से मना कर देता है। इसीलिये उसे अन्तिम उपयोगिता (final utility) भी कहते हैं। परन्तु उपभोक्ता रुकता कहाँ है ? यदि आप अपने किसी मित्र के यहाँ रसगुल्लों की दावत पर आमन्त्रित हों तो आप पूर्ण सन्तुष्टि के तल (level of satiety) पर पहुँचकर ही ठहरेंगे, यानी जब आप और अधिक रसगुल्ले खाने की हालत में नहीं रहेंगे (यानी जब आप छक जायेंगे)। दूसरे शब्दों में आप शून्य उपयोगिता (zero utility) पर रुकेंगे। किन्तु ऐसा तब होता है जब आपको रसगुल्लों का दाम नहीं चुकाना पड़ता।

वास्तव में किसी को भी प्रतिदिन दावत के न्योते नहीं मिलते। आमतौर से उपभोक्ता (consumer) को खाने पीने पर पैसा खर्च करना पड़ता है। ऐसी हालत में तो उसको अपने मन में वह जो कीमत (price) देता है और उसको जो आनन्द प्राप्त होता है उन्हें तोलते रहना पड़ता है। जब तक उपयोगिता (utility) कीमत (price) से ज्यादा होगी तब तक वह उपयोग करता जाएगा। परन्तु जैसे-जैसे वह उपयोग करता चलता है उपयोगिता (utility) धीरे धीरे घटती जाती है। एक समय ऐसी सीमा आ जायगी जबकि कीमत (price) और उपयोगिता (utility) दोनों बराबर हो जाएँगी। स्पष्ट है कि इस सीमा पर पहुँचकर वह खाना बन्द कर देगा, क्योंकि अगर वह और आगे बढ़ता है तो उपयोगिता कीमत से कम हो जाती है, और इस तरह वह घाटे में चला जाता है। यही सीमान्त उपयोगिता का बिन्दु है। इस बिन्दु पर पहुँचकर जो फायदा (benefit) उसे मिलता है वह उस कीमत के बराबर होता है जो वह अदा करता है।

सीमान्त उपयोगिता (Marginal Utility) की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है कि यह कुल उपयोगिता (total utility) में उस आखिरी इकाई (last unit) की उपयोगिता का जोड़ है जिसे इस्तेमाल करना ठीक माना गया हो। पृष्ठ ५८ पर दी गई तालिका के स्तम्भ ३ में हर चरण पर सीमान्त उपयोगिता दिखाई गई है। यदि कोई उपभोक्ता पाँचवा रसगुल्ला खाकर उठ जाय तो उसकी सीमान्त उपयोगिता ४ होगी।

यह कहना अनुचित होगा कि इस जगह सीमान्त उपयोगिता (Marginal Utility) पाँचवें रसगुल्ले की उपयोगिता हुई। सभी रसगुल्ले एक जैसे हैं और उनमें भिन्न उपयोगिता नहीं हो सकती। लेकिन चूँकि वह विशेष रसगुल्ला पाँचवें चरण पर खाया गया है इसलिये उपयोगिता उससे पहले के हर रसगुल्ले से कम होगी। इस तरह यह कहना ठीक होगा कि सीमान्त उपयोगिता वह उपयोगिता है जो कुल उपयोगिता में उस इकाई से जमा होती है जिसका इस्तेमाल किनारे पर उचित समझा गया था।

सीमा (Margin) कोई निश्चित नही होती। यह आगे-पीछे होती रहती है। यदि कीमत (Price) बढ़ती है तो हम पहिले ही रुक जायेंगे। और यदि कीमत गिरती है तो हम अधिक खरीदेंगे।

८ सीमान्त उपयोगिता और कीमत (Marginal Utility and Price)—उपरोक्त तालिका के छठे विभाग को देखिए। स्तम्भ २ मे सीमान्त उपयोगिताऐं (marginal utilities) दिखाई गई है। मान लीजिए कि सीमान्त उपयोगिता की प्रति इकाई एक पैसे के बराबर है। मान लीजिए कि एक रसगुल्ले का मूल्य ८ पैसे है। तब हम चौथे रसगुल्ले पर खरीदना बन्द कर देंगे। तीसरे (रसगुल्ले) पर इसकी उपयोगिता (utility) १० पैसे के बराबर है जब कीमत ८ पैसे है और हम इससे अगले (चौथे) रसगुल्ले को खरीदने का प्रलोभन होता है परन्तु इससे अगले का नही। इस विन्दु पर इसकी (रसगुल्ले की) कीमत ८ पैसे है और उपयोगिता भी ८ पैसे। दोनो समान हो जाती है। अगर रसगुल्ले का मूल्य २ पैसे प्रति रसगुल्ला कम हो जाय तो हम छठा भी खरीद लेंगे, क्योकि फिर इस विन्दु पर आकर ही उपयोगिता (utility) और कीमत (price) बराबर होगे।

जब हम किसी वस्तु के लिये कोई कीमत देने को तैयार होते है तो इसका निश्चित अर्थ यह होता है कि तृप्ति कीमत के बराबर तो जरूर है (अधिक चाहे हो)। इस प्रकार हम कहते है कि कीमत सीमान्त उपयोगिता (marginal utility) को मापती है या सीमान्त उपयोगिता (marginal utility) कीमत की सूचक है।

सीमान्त उपयोगिता और कीमत का सम्बन्ध भली भाँति समझ लेना चाहिए। यदि कीमत बढ़ जाती है तो सीमान्त उपयोगिता भी बढ जाती है और इसके विपरीत वह कम हो तो यह भी कम हो जाती है। दोनो ही (कीमत और सीमान्त उपयोगिता) समान हो जाते हैं। परन्तु यह कहना भूल होगी कि सीमान्त उपयोगिता कीमत निर्धारित अथवा निश्चित करती है। यह (सीमान्त उपयोगिता) तो केवल इसको प्रकट करती है। सीमान्त उपयोगिता और कीमत दोनो ही माँग और पूर्ति (demand and supply) के नियम द्वारा तय होते है।

९. घटती हुई उपयोगिता के नियम की सीमाऐं या अपवाद (Limitations of or Exceptions to the Law of Diminishing Utility)—घटती हुई उपयोगिता के नियम का कहना है कि जब हम पदार्थ की इकाइयो का अधिकाधिक उपभोग करते जाते है, तो उपयोगिता धीरे धीरे कम होती जाती है। परन्तु यह नियम विशेष अवस्थाओ मे ही ठीक उतरता है। ये अवस्थाऐं (assumptions) जो मान ली जाती है निम्नलिखित हैं—

(i) इकाइयाँ (Similar Units)—वस्तु की सभी इकाइयाँ एक जैसी होनी चाहिये। यदि इकाइयाँ समान न होंगी तो यह नियम लागू न होगा। यदि दूसरा आम बहुत बढ़िया हुआ तो उसरो पहिले आम की अपेक्षा उपयोगिता और तृप्ति अधिक होगी।

(ii) उपयुक्त इकाइयाँ (Suitable Units)—जिस पदार्थ का उपभोग किया जाना हो उसकी इकाइया बहुत छोटी नही होनी चाहियें। यदि हमे तेज प्यास मे चमचो से पानी दिया जाय तो आगे आगे हर चमचे से और अधिक तृप्ति मिलती

जायगी। परन्तु, यदि इकाई पानी का एक गिलास है तो यह नियम तत्काल ही लागू हो जाएगा। बहुत छोटी इकाइयों के सम्बन्ध में नियम काफी देर के बाद लागू होता है। प्रारम्भ में घटने के स्थान पर उपयोगिता बढ़ती है।

(iii) **उपयुक्त अवधि (Suitable Period)**—इकाइयों का उपभोग उपयुक्त अवधि में ही होना चाहिए। यदि आप सुबह का खाना १० बजे खाते है और रात का ८ बजे, और इस बीच में कुछ नहीं खाते, तो रात का भोजन कलेवे की अपेक्षा अधिक तृप्ति देने वाला होगा। परन्तु यदि आपको भोजन के एक घण्टे के बाद ही दूसरा खाना दिया जाय, तो यह नियम निस्सन्देह लागू हो जाएगा। इसलिए यह नियम तभी लागू होता है जब किसी पदार्थ की इकाइयाँ एक के पश्चात् दूसरी जल्दी-जल्दी ली जाएँ।

(iv) **दुष्प्राप्य संग्रह (Rare Collections)**—दुष्प्राप्य तथा संग्रहणीय वस्तुओं के सम्बन्ध में यह नियम लागू नहीं होता। यदि किसी व्यक्ति को दुष्प्राप्य सिक्के जमा करने का शौक है तो ज्यों ज्यों वह अधिक सिक्के जमा करेगा उसकी खुशी बढ़ती जाएगी।

(v) *सामान्य व्यक्ति (Normal Person)—यह तो हम मानकर ही चलते* है कि हम सामान्य व्यक्तियों की ही चर्चा कर रहे हैं। लेकिन कुछ व्यक्ति असामान्य भी होते है। उदाहरण के लिए कंजूसो को ले लीजिए। जितना अधिक द्रव्य कंजूस के पास इकट्ठा हो जाता है, उसको मिलने वाली तृप्ति की मात्रा भी बढ़ जाती है। इसलिए यह नियम असामान्य व्यक्तियों (abnormal persons), जैसे कंजूस, शराबी और गानेवाले आदि पर लागू नहीं होता जो अपने शौक की वस्तु को अधिकाधिक चाहते है। इस दशा में उपभोग (consumption) चाह को और जगाता है।

इस प्रसग में इतना कह देना अनुचित न होगा कि बदलते हुए फैशन से या उपभोक्ता (consumer) की दूसरी वस्तुओ मे परिवर्तन से और कभी-कभी दूसरे व्यक्तियों के पास जो कुछ है उसमें परिवर्तन भी उपयोगिता घटने के इस नियम (The Law of Diminishing Utility) को अस्त-व्यस्त कर देता है। परन्तु वास्तव में यह नियम (law) मानव-व्यवहार के आधारभूत सिद्धान्तों को अभिव्यक्त करता है।

१० क्या घटती हुई उपयोगिता का नियम, द्रव्य पर भी लागू होता है ? (Does the Law of Diminishing Marginal Utility apply to Money ?)—*कभी-कभी यह कहा जाता है कि घटती हुई सीमान्त उपयोगिता के नियम को द्रव्य* (money) पर लागू नहीं किया जा सकता। चूंकि द्रव्य से नाना प्रकार की सेवाएँ (services) और पदार्थों को खरीदा जा सकता है इसलिए द्रव्य की लालसा का कोई अन्त नहीं। ज्यादा द्रव्य का तो सर्वत्र स्वागत ही होगा चाहे किसी व्यक्ति के पास पहिले से कितना भी पैसा क्यों न हो। जितना अधिक पैसा उसके पास होगा, वह उतना ही अधिक अपने पास और जमा करना चाहेगा। उससे वह न सिर्फ तरह तरह के भौतिक पदार्थों (material objects) का भोग करेगा, वरन् इससे उसका गौरव, शक्ति और प्रतिष्ठा भी बढ़ेगी। इसलिए, यह दावा किया जाता है कि यह नियम द्रव्य पर लागू नहीं होता।

लेकिन थोड़ा सोचने से ही यह मालूम हो जायेगा कि द्रव्य भी इस नियम के लिए कोई अपवाद नहीं है। हमारे धन कोष में प्रत्येक वृद्धि चाहे वह कितनी भी वाञ्छनीय क्यों न हो पहली से कम आनन्द देती है हम उसको कम महत्त्व देते हैं। जैसे-जैसे एक व्यक्ति धनवान होता जाता है, वह पैसा खर्च करने में उतना ही लापरवाह हो जाता है। वह धन को निरर्थक विलास सामग्री पर ही बरबाद कर देता है जिससे उसका कोई हित नहीं होता। इसका मतलब यह हुआ कि वह आदमी अधिक धन (additional wealth) को इतना महत्त्व नहीं देता जितना अगर उसके पास कम धन होता तब देता या यह कह लीजिए कि द्रव्य की सीमान्त उपयोगिता (marginal utility) उसके लिए घट जाती है। इसीलिए सरकार धनवान व्यक्तियों पर कर लगाती है। वे जितने धनवान होते जाते हैं, उनको उतने ही अधिक कर देने पड़ते हैं। उत्तरोत्तर कराधान (Progressive taxation) का मूलभूत सिद्धान्त घटती हुई सीमान्त उपयोगिता के नियम (Law of Diminishing Marginal Utility) पर ही आश्रित है।

११ घटती हुई सीमान्त उपयोगिता के नियम का महत्त्व (Importance of the Law Diminishing Marginal Utility)—जैसा हमने ऊपर समझाया है घटती हुई उपयोगिता का नियम मानव व्यवहार के बुनियादी सिद्धान्त को अभिव्यक्त करता है। यह नियम प्रायः जीवन के हर क्षेत्र में लागू है—

(१) यह तो हम देख ही चुके हैं कि सरकार इस नियम को कराधान (taxation) के लिए उपयोग में लाती है। जैसे-जैसे व्यक्ति का धन (wealth) बढ़ता जाता है, उस पर और अधिक कर लगा दिये जाते हैं क्योंकि धनवान के लिए धन की उपयोगिता (utility of money) निर्धन की अपेक्षा कम होती है।

(२) इस नियम का उपयोग मण्डी (market) में कीमत (price) निश्चित करने में भी लागू होता है। किसी वस्तु की अधिकता जब सीमान्त उपयोगिता कम कर देती है, उसके प्रति आकर्षण उत्पन्न करने के लिए कीमत (price) कम कर दी जाती है। जितनी अधिक पूर्ति होती है, उसकी निकासी के लिए कीमत उतनी ही कम होनी चाहिए, और इसके ठीक विपरीत भी ऐसा ही होता है।

(३) समाजवादी भी जब वे धन के समान वितरण (equal distribution of wealth) की बात करते हैं, इसी नियम का सहारा लेते हैं। उनका तर्क यह होता है कि सामाजिक दृष्टि से धनिकों के पास फालतू धन (excess wealth) इतना हितकर नहीं होता, जितना कि उस धन को गरीबों को दे देने से होगा। गरीबों के पास यह धन उनकी अनिवार्य आवश्यकताओं (urgent needs) को पूरी करेगा, और उसकी उपयोगिता उनके लिए अधिक होगी।

(४) **घटती हुई सीमान्त उपयोगिता का नियम** (The Law of Diminishing Marginal Utility) हमारे दैनिक खर्च नियमित (regulate) करता है। हम जानते हैं कि जब हम कोई वस्तु अधिक खरीदते हैं तो उसकी सीमान्त उपयोगिता गिर जाती है। हमारे पास द्रव्य की परिमित मात्रा (limited amount) ही होने से, हम उसको किसी अनावश्यक पदार्थ की अधिक मात्रा पर व्यय नहीं कर सकते।

इसलिए हम उस बिन्दु पर पहुँचकर खरीदना बन्द कर देते हैं, जहाँ व्यय किए गए धन की उपयोगिता खरीदी गई वस्तु की अन्तिम इकाई की उपयोगिता के बराबर हो जाती है। हम बाकी धन को दूसरी वस्तुओं पर व्यय करते हैं।

१२. अधिकतम सन्तुष्टि के प्रतिस्थापन अथवा समान सीमान्त प्राप्ति का नियम (Law of Substitution of Maximum Satisfaction of Equimarginal Returns)—अर्थशास्त्र के अनुसार इस नियम को एक बुनियादी सिद्धान्त (fundamental principle) माना गया है। जैसा कि पहले बताया जा चुका है मनुष्य की इच्छाएँ (wants) अपरिमित (unlimited) होती हैं, और उनकी पूर्ति के साधन बहुत परिमित होते हैं। इसलिए हर एक बुद्धिमान उपभोक्ता (consumer) अपने रुपये-पैसे का जो उसके पास है पूरा पूरा लाभ उठाना चाहता है और उससे अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त करता है।

अपने रुपये पैसे का पूरा पूरा लाभ उठाने के लिए हम पहिले अपने मन ही मन प्रति आने से मिलने वाली तृप्ति की कल्पना करते हैं। अगर हम इस निर्णय पर पहुँचे कि एक प्रकार से खर्च की गई इकन्नी से हमें दूसरे प्रकार खर्च की गई इकन्नी की अपेक्षा अधिक उपयोगिता मिलती है तो हम पहिले पदार्थ पर ही व्यय किए जायेंगे और तब तक व्यय करते रहेंगे जब तक पहिले और दूसरे से प्राप्त सीमान्त उपयोगिता (marginal utility) बराबर न हो जाय। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि हम अधिक उपयोगिता (greater utility) वाले पदार्थ की इकाइयों को कम उपयोगिता (less utility) वाले पदार्थ की इकाइयों से बदल (substitute) लेते हैं। इस प्रतिस्थापन या तबादले (substitution) का परिणाम यह होता है कि पहले वाले पदार्थ की सीमान्त उपयोगिता कम हो जाती है और दूसरे की अधिक—और दोनों पदार्थों की सीमान्त उपयोगिताएँ बराबर हो जाती हैं। इसी नियम को कई नामों से पुकारते हैं जैसे प्रतिस्थापन का नियम (Law of Substitution) या समान-सीमान्त प्राप्ति (Equi marginal Returns) या समान सीमान्त उपयोगिता (Equi-marginal Utility) का नियम आदि।

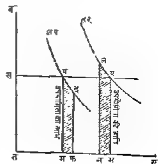
निम्नलिखित तालिका को ध्यान से देखिए—

इकाइयाँ (Units)	नारंगियों से प्राप्त सीमान्त उपयोगिता (Marginal utility of oranges)	सेवों से प्राप्त सीमान्त उपयोगिता (Marginal utility of apples)
१	१०	८
२	८	६
३	६	४
४	४	२
५	२	०
६	०	—२
७	—२	—४
८	—४	—६

मान लीजिये कि नारंगियाँ और सेब दोनो एक आने मे एक—इस भाव मिलते है। यह भी मान लीजिये कि हमारे पास खर्च करने के लिये ७ आने है। यदि हम ३ आने नारंगियो पर और ४ आने सेबो पर खर्च करते है तो क्या परिणाम होगा। तीसरी नारंगी की उपयोगिता ६ है और चौथी की २। जैसे-जैसे नारंगियो की सीमान्त उपयोगिता अधिक होती है हम सेबो की अपेक्षा नारंगियाँ अधिकाधिक मात्रा मे खरीदते है। अगर एक सेब के स्थान पर हम एक नारंगी मान लेते है, तो इसका अर्थ हुआ कि हम ४ नारंगियाँ और ३ सेब खरीदते है। ऐसा करने मे नारंगियो और सेबो की सीमान्त उपयोगिता समान रहती है अर्थात् ४। इस तरह से ही हम अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त होती है १०+८+६+४=२८ यह है ४ नारंगियो की कुल उपयोगिता (total utility) और ८+६+४=१८ यह है ३ सेबो की कुल उपयोगिता और दोनो का योग होता है २८+१८=४६, अर्थात कुल उपयोगिता जो नारंगियो और सेबो से प्राप्त होती है वह है ४६। इसम हम इस परिणाम पर पहुँचते है ४ नारंगियो और ३ सेबो को जिनको १ आना प्रति नारंगी या सब की दर पर खरीदा गया है अधिकतम सतुष्टि प्राप्त होती है। और दूसरे किसी भी उपाय से उपयोगिता ४६ नहीं होती।

इस तरह हम इस नतीजे पर पहुँचते है कि हमे अधिकतम सतुष्टि तभी मिलती है जब अधिक आमदायक वस्तु को कम आमदायक वस्तु की जगह दे-देकर सीमान्त उपयोगिताओ को समान (equalise) कर लेते है। इस सिद्धान्त को रेखाचित्र (diagram) की सहायता से भी समझा जा सकता है।

प्रतिस्थापन या अधिकतम सतुष्टि के नियम का रेखाचित्र द्वारा निरूपण— चित्र मे त, ए और त ब दो अक्ष (axes) दिखाए गए है। त ए रेखा पर मुद्रा (money) को मापा गया है और त ब के साथ साथ उपयोगिताओ को। मान लिया कि एक व्यक्ति के पास त म′ जितना धन है (७ आने) जिसको वह नारंगियो और सेबो पर व्यय कर सकता है जिनकी घटती हुई सीमान्त उपयोगितायें क्रम से दो वक्र रेखाओं अ प और त र द्वारा प्रदर्शित की गई है। यदि उपभोक्ता त म मुद्रा (३ आने) सेबो पर व्यय करे और म म′ मुद्रा (४ आने) नारंगियो पर तो उसको अधिकतम सतुष्टि प्राप्त होगी क्योंकि ऐसा करने से दोनो की सीमान्त उपयोगिताएँ बराबर हो जाएँगी। (प म=प म′)। इसके अलावा दूसरे किसी भी उपाय से कुल सन्तुष्टि (total satisfaction) कम मात्रा मे प्राप्त होगी।



अब इसी चित्र मे दूसरी और मान लीजिए कि ग्राहक म फ मुद्रा (१ आना) सेबो पर अधिक व्यय करता है और उतनी ही मुद्रा (१ आना) नारंगियो पर कम करता है। [न म′ (=म फ)] इस प्रकार रेखा चित्र के छाया वाले क्षेत्र (shaded area) मे उपयोगिता की हानि

दिखाई गई है जो क्रमश: इस प्रकार है, न न' प' और प म फ इ क्योंकि म फ = न म' और प म = प' म'। इसलिए यह सिद्ध हो जाता है कि न न म' प' (नारंगियों के कम उपयोग के कारण उपयोगिता में कमी) प म फ इ (सेबों के अधिक उपयोगिता में वृद्धि) से बड़ा है। फलस्वरूप हम नये मेल से प्राप्त होने वाली कुल उपयोगिता कम होती है।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सेबों और नारंगियों का कोई और मेल इतनी सन्तुष्टि नहीं देता जितनी कि उस समय मिलती है जब सेबों और नारंगियों की सीमान्त उपयोगिताएँ समान (प म = प' म') हो जाती हैं।

इस नियम की कुछ सीमाएँ (Limitations of the Law)—(i) यदि उपभोक्ता अनजान हो या फैशन के पीछे या प्रथा के अनुसार व्यवहार करे तो वह पैसे का गलत इस्तेमाल करेगा। तब वह केवल आर्थिक दृष्टिकोण से कार्य नहीं करता। कारण शायद उसको अधिकतम सन्तुष्टि न मिल पाए क्योंकि उसकी सीमान्त उपयोगिताओं में और उसके व्यय में बराबरी नहीं हो सकेगी।

(ii) ठीक इसी तरह अयोग्य व्यवस्थापक को भी कारोबार में लगाई हुई भूमि (land), श्रम (labour) और पूंजी (capital) से अधिकतम लाभ प्राप्त नहीं होगा।

(iii) जहां साधन (resources) परिमित नहीं है वहाँ भी यह नियम लागू नहीं होता। उदाहरण के लिए हम कह सकते हैं प्रकृति के निर्मूल्य उपहारों (free gifts of nature) जैसे प्रकाश, जल, वायु आदि के प्रयोग पर।

१३ प्रतिस्थापन अथवा अधिकतम सतुष्टि के नियम का व्यावहारिक महत्त्व (Practical Importance of the Law of Maximum Satisfaction of Substitution)—यह नियम काफी व्यावहारिक महत्त्व रखता है।

(१) हर चतुर उपभोक्ता अपने खर्चे का ब्योरा बनाते समय समझ बूझ कर इस नियम का पालन करता है। एम० ई० टॉमस के शब्दों में कहा जा सकता है कि उसके व्यय का वितरण इस प्रकार होता है कि एक मूल्य विभिन्न रूपों की सीमाओं पर समान उपयोगिताएँ मापता है। हरएक को अपनी आय (income) इस प्रकार व्यय करनी चाहिए कि उसे अधिकतम सतुष्टि मिले। ऐसा तभी सभव है जब वह धन का व्यय इस ढंग से करे कि खरीदे हुए सभी पदार्थों की सीमान्त इकाइयों से उसे समान सतुष्टि मिले।

(२) उत्पादन (production) के क्षेत्र में भी यह नियम काफी महत्त्वपूर्ण है। निर्माता को उत्पादन के विभिन्न साधनों (factors of production) का सहारा लेना पड़ता है। उसका ध्येय अधिकतम शुद्ध लाभ (net profit) प्राप्त करना होता है। इस ध्येय की पूर्ति के लिए उसे एक साधन (factor) का दूसरे से प्रतिस्थापन (substitution) करना आवश्यक होता है जिससे उनका सबसे ज्यादा किफायती मेल (most economical combination) हो सके। वह श्रम के स्थान पर यंत्रों को, या इसके विपरीत, यंत्रों के बजाय श्रम को लगाता है, जिससे श्रम और यंत्र दोनों की सीमान्त उपयोगिता या सीमान्त उत्पादकता (productivity) समान हो जाए।

(३) सार्वजनिक कार्यों पर व्यय करते समय सरकार भी इस नियम से लाभ उठाती है। सार्वजनिक राजस्व (public revenues) को इस ढंग से खर्च किया जाता है कि समुदाय (community) का अधिक से अधिक कल्याण हो सके।

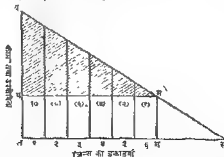
✓१४. उपभोक्ता की बचत (Consumer's Surplus)—अर्थशास्त्र का यह विषय बहुत महत्वपूर्ण है और विद्यार्थियों को इसे अच्छी तरह से समझ लेना चाहिए। अपने प्रतिदिन के कार्यों में हम देखते हैं कि किसी पदार्थ पर हम जो पैसा खर्च करते हैं वह प्राय उसके उपयोग से मिलने वाली सन्तुष्टि से कम होता है। लोगों को कई बार ऐसा कहते सुना जाता है 'मेरा काम अमुक वस्तु के बिना नहीं चल सकता था और मैं तो इसके लिए नहीं अधिक खर्च करने को तैयार था।"

कुछ वस्तुओं के विषय में तो उपभोक्ता की बचत का विचार बिलकुल साफ ही है, जैसे पोस्टकार्ड, समाचारपत्र दियासलाई आदि। ये सभी वस्तुएँ बड़ी उपयोगी हैं और साथ-साथ सस्ती भी। इसलिए यदि आवश्यकता आ पड़े तो हम इन पर, जितना वास्तव में खर्च करते हैं उससे कहीं अधिक व्यय करने को तैयार होंगे। इसलिए इन वस्तुओं के क्रय (purchase) से हमें काफी मात्रा में कीमत से अधिक संतुष्टि मिलती है। अर्थशास्त्र में, इसी का नाम उपभोक्ता की बचत पड़ गया है।

जितनी कीमत हम देते हैं और जितनी देने के लिए तैयार हैं उन दोनों में जो अन्तर होता है वह उपभोक्ता की बचत है।

उपभोक्ता की बचत=हम जितना व्यय करने को प्रस्तुत होते हैं—हम जो व्यय वास्तव में करते हैं। इसी नियम को विद्यार्थियों की सरलता के लिए, नीचे दिए रेखाचित्र की सहायता से समझाया गया है।

उपभोक्ता की बचत का रेखाचित्र द्वारा स्पष्टीकरण—चित्र में त ए और त य दो प्रक्ष-दण्ड (axes) दिखाये गये हैं। त ए रेखा के द्वारा उपभोग की गई वस्तुओं



की इकाइयाँ दिखाई गई हैं और त य रेखा के साथ-साथ कीमत (price) और उपयोगिता (utility)। अब मान लीजिए कि कीमत का एक आना उपयोगिता के एक आने के बराबर है। एक व्यक्ति एक समय में ६ इकाइयाँ खरीदता है। इसलिए छठी इकाई सीमान्त इकाई (marginal unit) कहलायेगी। यहाँ कीमत और उपयोगिता समान हो जाते हैं।

छठी इकाई के लिए दी गई कीमत उतनी ही है जितनी अन्य इकाइयों पर

प्रति इकाई के अनुसार दी गयी है। इसलिए, वह कुल मिलाकर ६ आने खर्च करता है। लेकिन उपभोग की गई ६ इकाइयों से प्राप्त होने वाली कुल उपयोगिता है (१०+८+६+४+२+१)=३१ या दूसरे शब्दों में कह लीजिए, ३१ आने के बराबर (चूंकि एक इकाई का मूल्य हमने एक आना माना है)। परन्तु वास्तव में वह कुल ६ आने ही खर्च करता है। इस प्रकार उसे २५ आने भर अतिरिक्त संतुष्टि (excess satisfaction) प्राप्त होती है। यानी यहां उसे 'उपभोक्ता की बचत' २५ आने भर मिली।

इस रेखा-चित्र में उपभोक्ता की बचत छाया वाले क्षेत्र प म' प के द्वारा दिखाई गई है। यदि आप कुल उपयोगिता (यानी वह भाग जो इस रेखाचित्र म वक्र रेखा और अक्ष-दण्डों के बीच दिखाया गया है) म से वास्तविक व्यय की गई कीमत घटा दें (यानी न म स प बिन्दुओं के बीच का समकोण चतुर्भुज (rectangle) तो आपको उपभोक्ता की बचत मालूम हो जायेगी।

उपभोक्ता की बचत=कुल उपयोगिता—व्यय की गई कुल राशि।

१४ उपभोक्ता की बचत की समालोचना (Criticism of Consumer's Surplus)—कई आधारों को लेकर 'उपभोक्ता की बचत' की धारणा (concept) की आलोचना हुई है जो इस प्रकार है—

(१) कुछ आलोचक ऐसा मानते हैं कि यह विचार बिल्कुल काल्पनिक (imaginary) है। इस नियम में सिर्फ इतना ही बताया गया है कि आप जो व्यय करना चाहते है उसकी कल्पना कर लें और फिर जितना आप वास्तव म व्यय करते हैं उसे कल्पित राशि में से घटा दें। इसलिए यह नियम कोरी कल्पना (hypothesis) है। आप कुछ भी कह सकते हैं कि मैं इतने तक व्यय करने को तैयार हूँ।

(२) इस बचत को ठीक ठीक माप अत्यन्त कठिन है। यह बात कुछ ही लोग कह सकते हैं कि वे एक वस्तु पर इतना तक व्यय करने को तैयार हैं। और अलग-अलग व्यक्ति अलग अलग राशि व्यय करने को तैयार होंगे। इसलिए यह हिसाब लगाना बड़ा टेढ़ा काम होगा कि हर एक व्यक्ति कितना व्यय करने को तैयार है। इस प्रकार मण्डी (market) में उपभोक्ता की कुल बचत की जाँच नहीं की जा सकती और न उसका माप ही हो सकता है।

(३) ऐसा भी कहा जाता है कि यदि उपभोक्ता को मण्डी में खरीदते समय अपनी उपभोक्ता की बचत पर विश्वास हो तो वह उस वक्त तक खरीदता चला जाएगा जब तक कि उसे मिलने वाली अतिरिक्त (excess) उपयोगिता लुप्त न हो जाए। किन्तु यह युक्ति तर्कसंगत नहीं है। क्योंकि उपभोक्ता किसी वस्तु विशेष से प्राप्त होने वाली बचत (surplus) के पीछे नहीं भागता है। उसे तो दूसरी वस्तुओं से मिलने वाली उपयोगिताओं की भी तुलना करके देखना होता है।

(४) यह नियम जीवन रक्षक तथा प्रतिष्ठा-रक्षक तथा रूढ़िगत आवश्यकताओं पर लागू नहीं होता। उनमें तो जो बचत होती है वह अपरिमित है। प्यास से तड़पता हुआ व्यक्ति यदि पानी न मिले तो पानी के एक गिलास के लिए क्या कुछ खर्च करने को तैयार न होगा।

डा० मार्शल ने आलोचको के इन सभी आक्षेपो का ब्यौरेवार उत्तर दिया है। उन्होंने समझाया है कि यह धारणा (concept) इतनी काल्पनिक (unreal) नही है जितना कि आलोचक इसे मान बैठे है। नगर मे रहने वाले व्यक्ति को थोडे ही मूल्य पर अनेक सुविधाएँ (amenities) प्राप्त हो जाती है। किन्तु इसके विपरीत यदि कोई ग्रामीण उन्ही सुविधाओ को प्राप्त करना चाहे तो उसे उससे कई गुना अधिक व्यय करना पडेगा। इस प्रकार नगरो मे रहकर २०० रु० प्रति मास आय पाने वाला व्यक्ति, दूर गाँव म रहकर उतनी ही आय वाले व्यक्ति से, अधिक सतुष्टि प्राप्त करेगा। नगर म रहने वाले को 'उपभोक्ता की बचत' बहुत होती है क्योंकि उसे कई वस्तुएँ कम दामो पर मिल सकती है।

१६ उपभोक्ता की बचत की धारणा का महत्त्व (Importance of the Concept of Consumer's Surplus)—उपभोक्ता की बचत की धारणा सिर्फ किताबी नही है। इसका सैद्धान्तिक एव व्यावहारिक दोनो दृष्टिकोणो से जीवन म बडा महत्त्व है और यह अनेक प्रकार से लाभदायक सिद्ध होता है।

(१) कर लगाने और उनकी दर (rate) निश्चित करते समय यह नियम वित्तमन्त्री (Finance Minister) का बहुत सहायक होता है। यह विशेषकर उन्ही वस्तुओ (commodities) पर कर (tax) बढाते है जिन पर "उपभोक्ता की बचत" अधिक होती है। उन वस्तुओ पर जनता सरलता से अधिक व्यय करने को राजी हो जायेगी। इस प्रकार के करो से न सिर्फ राज्य (state) को अधिक आय होगी बल्कि जनता को भी अपेक्षाकृत कम कष्ट होगा। यदि उन वस्तुओ पर जिन पर "उपभोक्ता की बचत" कम होती है कर लगाया गया होता तो उन्हे अधिक कष्ट होता।

(२) यह धारणा व्यापारी के लिए भी लाभदायक सिद्ध होती है। वह उन पदार्थों की कीमत बढा सकता है जिन पर "उपभोक्ता की बचत" की मात्रा अधिक होती है। परन्तु साधारणतया यह सच होगा जब वह व्यापारी एकाधिपति (monopolist) हो और उस वस्तु की पूर्ति पर नियन्त्रण (control) रखता हो।

(३) "उपभोक्ता की बचत" की धारणा का फायदा होता है जब हम दो स्थानो म (जैसे कि नगर और ग्राम मे) रहने के फायदो की परस्पर तुलना करें। इसलिए वह स्थान जहा अधिक सुविधाएँ सस्ते दामो पर मिल सकती है रहने के लिए अवश्य अधिक उपयुक्त होगा।

१७ अर्थशास्त्र के अनुसार व्यय करते समय जानने योग्य बातें (Economics of Spending)—व्यय किये जाने वाले धन से पूरा-पूरा लाभ उठाने के लिए निम्नलिखित कुछ बातो का जानना बहुत आवश्यक है—

(१) विलास सामग्री (Luxuries) पर कम से कम खर्च करना चाहिए। व्यय करते समय हमे एक प्रश्न सदैव अपने मन मे रखना चाहिए, 'क्या हम अपने स्वास्थ्य या निपुणता (efficiency) को हानि पहुँचाये बिना इस वस्तु का त्याग कर सकते है?'

(२) अपने खर्चे के ब्यौरे की योजना (बजट) पहिले ही बना लेनी चाहिए।

आय व्यय का ठीक ठीक लेखा बना लेना चाहिए और जहाँ तक सम्भव हो आकस्मिकताओं (contingencies) का भी पूरा पूरा प्रबन्ध रखना चाहिए।

(३) हमें सचमुच किसी वस्तु की कितनी आवश्यकता है यह ठीक ठीक जान लेना चाहिए। हमें किसी भी वस्तु को सिर्फ सस्ता होने के ख्याल से नहीं खरीदना चाहिए।

(४) हमें अपने पैसे का तब तक पूरा पूरा फायदा नहीं मिल सकता जब तक हम किसी वस्तु के गुणों को पूरा पूरा परखना नहीं सीख लेते। भोला खरीदार किसी वस्तु के बाहरी आकर्षण से मुग्ध होकर उस वस्तु को खरीद सकता है जो सिर्फ काम चलाऊ ही हो।

(५) हमें इस बात का ठीक-ठीक पता करना चाहिए कि अमुक वस्तु कहाँ सस्ते दामों पर मिल सकती है और वहाँ जाकर उस वस्तु को खरीदने में हमें कभी आलस्य नहीं करना चाहिए। यदि कोई वस्तु चाँदनी चौक में कम दामों पर मिल सकती है तो सिर्फ सुविधा के प्रलोभन से हमें कनाट प्लेस में नहीं खरीदनी चाहिए।

(६) सौदा और मोल तोल करने से हमेशा बचके रहना चाहिए। प्राय ऐसा देखा गया है कि लोग भाव ताव करने से शर्माते हैं। ऐसा करना ठीक नहीं क्योंकि यदि सौदा मँहगा मिलता है तो दुकानदार की अपेक्षा हम ही अधिक दोषी ठहरते हैं।

(७) सबसे अधिक आवश्यकता तो इस बात की होती है कि हम बड़े ध्यान से विभिन्न आवश्यकताओं (wants) को परखें और उचित आवश्यकता को अपने सामने रखें। उदाहरण के लिए कहा जा सकता है कि अपने पुत्र की शिक्षा-दीक्षा पर ५,००० रु० व्यय करना उसके विवाह संस्कार पर २,००० रु० व्यय करने से कहीं बेहतर है। बड़ी बड़ी दावतों या चाय पार्टियों पर पैसा खराब करने से यह बेहतर होगा कि घर में काम आने लायक एक अच्छा सा रेडियो सेट खरीद लिया जाये।

परन्तु इन सब बातों के बाद भी यही निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि अपने अपने दृष्टिकोण के अनुसार हर व्यक्ति एक ओर प्राप्त होने वाली उपयोगिता की तुलना दूसरी ओर उसे प्राप्त करने के लिए होने वाले कष्ट से, ठीक ठीक कर लेता है। दृष्टान्त के लिए कनॉट प्लेस की बड़ी बड़ी दूकानों पर किसी अमुक वस्तु के लिए एक आना फालतू देना चाँदनी चौक तक सड़कों पर घिसटते फिरने से ज्यादा सुविधाजनक मालूम पड़ता है।

विद्यार्थियों के लिए इस पाठ की कुछ ज्ञातव्य बातें

उपभोग क्या है? (What is Consumption?)—सहज अर्थ है वस्तुओं और सेवाओं (services) द्वारा मानव अभावों या आवश्यकताओं (wants) की पूर्ति। दूसरे प्रकार से इसकी परिभाषा में इसका अर्थ बताया गया है उपयोगिताओं का विनाश करना, चाहे वह शीघ्र हो या धीरे धीरे। परन्तु साथ-साथ विद्यार्थियों को यह भी न भूलना चाहिए कि सिर्फ उपयोगिता के विनाश को उपभोग नहीं कहते। मानव अभाव की पूर्ति इसका अर्थ का आवश्यक अंग है जैसे हम कह सकते हैं कि आग लगकर नष्ट हुए मकान को उपभोग में लाया गया नहीं कहा जा सकता।

उपभोग के प्रकार (Types of Consumption)

(i) प्रत्यक्ष या अन्तिम उपभोग (Direct or Final Consumption)—यह

उपभोक्ता के माल (goods) के बारे में बनता है। इससे हमारी इच्छाओं (wants) की पूर्ति सीधे-सीधे होती है।

(ii) उत्पादक या परोक्ष उपभोग (Productive or Indirect Consumption)—इसका अर्थ है मशीनों और दूसरे मध्यस्थ माल (उपकरणों) का इस्तेमाल।

(iii) निरुपयोगी उपभोग (Wasteful Consumption) का अर्थ है वह विनाश जिससे हमें संतुष्टि प्राप्त न हो।

उपभोग का अध्ययन उत्पादन से प्रथम क्यों किया जाता है? (Why is consumption studied before production?) क्योंकि वह तर्कसम्मत (logical) है। उपभोग करने की इच्छा पहले जागृत होती है और वस्तु का उत्पादन उसके बाद किया जाता है। दूसरा कारण यह भी है कि उत्पादन की अपेक्षा उपभोग को अधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है।

उपभोग और उत्पादन का क्रम साथ-साथ चलता है (Consumption and Production go side by side)—ऐसा नहीं होता कि पहले उत्पादन करने के बाद उसका उपभोग किया जाये। असल में तो दोनों काम साथ-साथ चलते हैं और फिर हर व्यक्ति उपभोक्ता और उत्पादक दोनों होता है।

उपभोग का महत्त्व (Importance of Consumption)—वास्तव में उपभोग आर्थिक कार्यवाही (economic activity) का आदि और अन्त होता है। उत्पादन का रूप और परिमाण (nature and volume) उपभोग से नियन्त्रित होता है। जिस हद तक उपभोक्ता 'मालिक' है उस हद तक वह उत्पादन पर नियन्त्रण रखता है। इच्छाओं का बढ़ना ही सारी आर्थिक प्रगति का मूल है। उपभोग से अर्थशास्त्र के प्रत्येक विभाग पर प्रभाव पड़ता है।

घटती हुई उपयोगिता का नियम (The Law of Diminishing Utility)—किसी वस्तु का जितना आधिक्य (abundance) होता है उतना ही कम हम उसे अपने पास रखना चाहते हैं। "एक व्यक्ति को जो किसी वस्तु के भंडार (stock) की वृद्धि द्वारा अतिरिक्त फायदा (extra benefit) मिलता है, वह स्टाक के बढ़ने के साथ घटता जाता है।"—मार्शल

इस नियम की कुछ सीमाएँ इस प्रकार हैं (Limitations of the Law)—यह नियम तब तक लागू नहीं होता जब तक—

(१) इकाइयां एक रूप में समान (identical) न हों,

(२) इकाइयां उपयुक्त आकार (suitable size) की न हों,

(३) इकाइयों को एक समय पर उपभोग में लिया गया हो,

(४) यह नियम दुष्प्राप्य तथा मूल्यवान वस्तुओं पर लागू नहीं होता,

(५) यह नियम असामान्य व्यक्तियों के लिए जैसे कंजूस, शराबी, विद्वानों आदि पर भी लागू नहीं होता। इन व्यक्तियों के लिए जैसे जैसे उपभोग की मात्रा बढ़ती जाती है, उनकी रुचि में (उस वस्तु विशेष के प्रति उनकी आसक्ति में) अन्तर हो जाता है।

क्या घटती हुई उपयोगिता का नियम द्रव्य (money) पर भी लागू होता है? (Does the Law of Diminishing Utility apply to money?)—हाँ! उत्तरोत्तर करारोपण (progressive taxation) का सिद्धान्त इसी तथ्य पर आधारित है कि यह नियम द्रव्य पर भी लागू होता है।

घटती हुई उपयोगिता के नियम का महत्त्व (Importance of the Law of Diminishing Utility)—

(१) यह नियम सार्वजनिक वित्त (Public Finance), जैसे उत्तरोत्तर करारोपण (progressive taxation) पर लागू होता है।

(२) व्यापार में भी यह नियम लागू होता है यानी अधिक सप्लाई का अर्थ होता है गिरी हुई कीमत।

(३) इस नियम के आधार पर ही धन (wealth) का अधिक समान (even) वितरण (distribution) न्यायसंगत माना जाता है।

(४) यह नियम हमारे खर्चों को तरतीब देता (regulates) है।

प्रारम्भिक उपयोगिता (initial utility) वह है जो हमें उपभोग की प्रथम इकाई से प्राप्त होती है।

कुल उपयोगिता (total utility) वह है जो हमें उपभोग की कुल इकाइयों से प्राप्त होती है।

शून्य उपयोगिता (zero utility) वह इकाई है जिसके उपभोग से कुल उपयोगिता में कोई योग (addition) नहीं होता।

प्रतिकूल उपयोगिता (negative utility) वह इकाई है जिसके उपभोग से सन्तुष्टि के बजाय असन्तोष होता है।

सीमान्त उपयोगिता (marginal utility) वह बिन्दु है जहाँ तक उपभोग करना ठीक होता है, या दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि दी गई कीमत और प्राप्त हुआ हित समान हो जाते हैं। कीमत सीमान्त उपयोगिता की माप है। सीमान्त उपयोगिता, कुल उपयोगिता में उस इकाई द्वारा किया गया जोड़ (addition) है जिसे हम योग्य मान लिया जाता है।

अधिकतम सन्तुष्टि या प्रतिस्थापन या समान सीमान्त प्राप्ति का नियम (The Law of Maximum Satisfaction or the Law of Substitutions or Equimarginal Returns)—हर व्यक्ति अपने परिमित साधनों से अधिकतम सन्तुष्टि पाने की इच्छा से उपभोग की जाने वाली वस्तुओं में, अधिक उपयोगिता वाले पदार्थों का प्रतिस्थापन कर लेता है। यह तब तक करता है जब तक वस्तुओं की सीमान्त उपयोगिता एक दूसरे के बराबर हो जाती है।

इस नियम की सीमाएं—यह नियम लागू नहीं होगा, यदि,

(क) उपभोक्ता आदत, फैशन या पुराने रिवाज या रूढ़ि पर चलने वाला हो।

(ख) उपभोक्ता कम योग्यता वाला हो और उपादान ■ विभिन्न साधनों को या उनकी इकाइयों (respective units) को तुलनात्मक दृष्टि से न जान सके।

(ग) साधन अत्यन्त परिमित हों।

इस नियम का व्यावहारिक महत्व—

(१) इस नियम का सहारा लेकर, उपभोक्ता अपनी सन्तुष्टि को अधिकतम बना सकता है।

(२) व्यापारी अपने लाभ (profit) की सीमा को बढ़ा सकता है।

(३) सार्वजनिक संस्था की सहायता से, सरकार लोक कल्याण में अधिकतम वृद्धि कर सकती है।

"उपभोक्ता की बचत" (Consumer's Surplus)—उपभोक्ता की बचत का द्रव्य में माप (money measure) वह अन्तर है जो एक व्यक्ति किसी वस्तु के लिए जितना खर्च करने के लिए तैयार है और जो वह वास्तव में खर्च करता है, उन दोनों का अन्तर है।

उपभोक्ता की बचत=कुल उपयोगिता—(क्रय की गई इकाइयां × कीमत)

आलोचना—

(१) यह नियम काल्पनिक (hypothetical) है।

(२) इसकी ठीक ठीक माप करना कठिन है।

(३) यदि उपभोक्ता को यह मालूम हो जाय तो वह बचत के खत्म होने तक खरीदता जाए।

(४) यह नियम जीवन की आवश्यक वस्तुओं पर लागू नहीं होता। यद्यपि 'उपभोक्ता की बचत' के नियम को यथार्थता सिद्ध (prove) नहीं किया जा सकता तो भी इतना सच है कि यह नियम सर्वथा काल्पनिक नहीं है। यह नियम वास्तव में ठीक है। यह आपके अनुकूल वातावरण के महत्व को प्रकट करता है।

इस नियम का महत्व

(१) सार्वजनिक राजस्व (public revenue) में इस नियम का बड़ा महत्व है। जिन पदार्थों में उपभोक्ता की बचत का अधिक गुंजाइश होती है वहां पर कराधान या उसकी वृद्धि के लिए अच्छे माने जाते हैं।

(२) एकाधिपति इससे माल की कीमत बढ़ा सकता है।

(३) इस नियम से हम यह भी आसानी से तय कर सकते हैं कि अपना खर्च कहां करें।

अर्थशास्त्र के अनुसार व्यय करने समय जानने योग्य बातें (Economics of Spending)—निम्नलिखित नियमों का सदैव पालन करना चाहिए —

(१) विलास सामग्री पर कम से कम व्यय करना चाहिए।

(२) अपने खर्चों का ब्यौरा (हिसाब) सदा ■ बना रखना चाहिए

(३) हमें वास्तव में किस वस्तु की कितनी आवश्यकता है यह ठीक ठीक जान लेना चाहिए

(४) यह सदैव ध्यान रखना चाहिए कि कौन वस्तु कहां सस्ती मिलती है?

(५) मोल भाव या खर्च करने में कभी भी हिचकना नहीं चाहिए

(६) आपको वास्तव में क्या माल लेना है इस पर विचार कर लेना चाहिए। इस बात का ठीक ठीक निर्णय कर लेना चाहिए कि क्या आवश्यक है और क्या नहीं।

(७) दिखावटी बातों पर व्यय दिखावे वालों का त्याग करना चाहिए।

भारत के विश्वविद्यालयों के प्रश्न पत्रों में आये निम्नलिखित प्रश्नों का उत्तर दीजिए—

1 What is consumption ? Are the following consumption

(a) Seeing a cinema show (b) Taking a glass of water from a domestic servant (c) Looking at a watch ? Give reasons for your answers (दिल्ली १९५६)

(उपर्युक्त सभी उपभोग के विषय हैं वस्तुओं या सेवाओं के उपभोग द्वारा हर विषय से मनुष्य आर्थिक रूप से मिलती है)

2 What exactly do you mean by consumption ? What is the relation between consumption and production ?

(यू० पी० १९४९, १९५०)

देखिए विभाग १, ३ और ४

3 Consumption is the end of all economic activity Do you agree with this statement ? (पंजाब विश्वविद्यालय १९४५)

देखिए विभाग ५

4 What is utility ? Distinguish between total and marginal utility How will you measure it ? (बम्बई १९५३)

देखिये विभाग ६, ७ और ८

Or

State the distinction and relation between marginal utility and total utility (कलकत्ता १९५५)

5 The Law of Diminishing Utility holds good for all kinds of satisfactions Explain and examine this statement (पं० वि० १९३५)

Or

Explain and illustrate the law of diminishing utility with its limitations (अजमेर, १९५४)

देखिये विभाग ६, ९ और ११

6 Discuss the significance of the Law of Diminishing Utility (*a*) in taxation, and (*b*) in the theory of value

देखिये विभाग ११

7 Enunciate the Law of Maximum Satisfaction *Illustrate* with a diagram and discuss its practical importance

(यू० पी० बोर्ड, १९५३ Supplementary)

देखिये विभाग १२ और १३

8 *How would you spend a rupee on the purchase of tea,* sugar and milk if their marginal utilities are as under

	1st Chhtk	2nd Chhtk	3rd Chhtk	4th Chhtk	5th Chhtk
Tea	100	8		40	20
Sugar	80	60	40	20	10
Milk	60	40	20	10	5

The prices per chhatak are tea 4 as, sugar 2 as, milk 1 anna

(उत्तर—२ छटांक चाय, ३ छटांक चीनी और २ छटांक दूध)

9 What do you understand by consumer's surplus? Mention any three articles from your domestic consumption in which you enjoy large consumer's surplus

देखिये विभाग १४। नमक, दियासलाई और अखबार में 'उपभोक्ता की बचत' अधिक मात्रा में प्राप्त होती है।

10 Explain clearly the doctrine of consumer's surplus and point out *its main limitations Use diagrams*

(अजमेर १९५३, सागर १९५२)

What is the importance of this concept in Economics?

(बम्बई, १९४०)

Or

Examine the concept of Consumer's Surplus How can this surplus be measured?

(पटना, १९५४)

देखिये विभाग १४, १५ और १६। मूल्यांकन (valuation) में 'उपभोक्ता की बचत' के कारण एकाधिकारी को कीमत तय करने में सहायता मिलती है। सार्वजनिक राजस्व में, वित्त मंत्री को कराधान के समय वस्तुओं की छूट करने में सहायता मिलती है।

11 From your study of consumption can you lay down a few rules for spending money?

देखिये विभाग १७

माँग

(Demand)

खरीदने की इच्छा तथा क्रय शक्ति

१. विषय प्रवेश (Introduction)—पिछले अध्याय में हमने उपभोग का अध्ययन किया था। उपभोक्ता को अपनी जरूरतें पूरी करने के लिए कोई चीज चाहिए। पर किसी वस्तु की इच्छा या अभाव ही उस वस्तु की माँग नहीं है। माँग शब्द का अर्थशास्त्र में एक विशेष अर्थ है। क्योंकि यह शब्द अर्थशास्त्र में बार-बार आता है इसलिए इसको भली भाँति समझ लेना जरूरी है।

२. माँग का अर्थ (Meaning of Demand)—साधारण भाषा में माँग शब्द बहुत से अर्थों में प्रयुक्त होता है और अक्सर हम माँग (demand) को इच्छा (desire) ही समझ बैठते हैं।

इच्छा (desire) है किसी वस्तु या सेवा को पाने की अभिलाषा। किन्तु माँग का अर्थ इच्छा मात्र से कहीं अधिक है। माँग का अर्थ होता है कि एक व्यक्ति अपनी इच्छित वस्तु के लिए रुपया देने को तैयार और समर्थ है। एक भिखारी की इस कामना का कि वह दिल्ली से बम्बई विमान यात्रा करे कोई महत्व या मूल्य नहीं है, क्योंकि वह इस यात्रा के लिए पैसा नहीं दे सकता। दूसरी ओर, एक व्यापारी की हवाई जहाज से बम्बई जाने की इच्छा 'माँग' (demand) है क्योंकि वह उसका व्यय उठाने में समर्थ है और पैसा देने को तैयार है। इस प्रकार माँग का अर्थ है वह अभिलाषा जिसके पीछे रुपया देने का सामर्थ्य और तैयारी हो।

व्यय करने का सामर्थ्य तथा तैयारी दोनों आवश्यक हैं। यदि कोई पैसा देने को तैयार तो है पर उसके पास देने को है नहीं तो उसकी अभिलाषा माँग नहीं होगी। इसी प्रकार यदि वह पैसा देने में तो समर्थ है किन्तु देने को तैयार नहीं, तो उसकी अभिलाषा कारगर माँग (effective demand) में न गिनी जायगी।

इसके अतिरिक्त, माँग से एक कीमत (price) का निर्देश होता है और एक अरसे का भी जिसके अन्दर माँग ने पूरा होना है। यह तो स्पष्ट है, कि किसी भी व्यक्ति की किसी वस्तु के लिए माँग वह वस्तु किस कीमत पर मिलती है इस पर निर्भर है। आदमी कम कीमत पर ज्यादा खरीदता है और ज्यादा कीमत पर कम। इसी प्रकार माँग समय की अवधि पर भी बदलती रहती है। एक परिवार की गेहूँ की एक महीने की माँग एक दिन की माँग से अधिक है।

इस प्रकार, माँग (demand) की परिभाषा यह की जा सकती है—'माँग' का अर्थ है वह परिमाण (मिकदार) जो किसी नियत कीमत पर निश्चित समय के लिए माँगा जाता है।

३. मांग अनुसूची (Demand Schedule)—यदि हम वे विभिन्न परिमाण लिख डालें जो कोई व्यक्ति या व्यक्तियों का समूह, विभिन्न कीमतों पर खरीदने को तैयार होगा तो हमें उस व्यक्ति या समूह की मांग अनुसूची (Demand Schedule) मिल जायगी। दूध के उपभोक्ता की एक "मांग-अनुसूची" नीचे दी गई है—

कीमत	प्रति दिन की माँग का परिमाण
रु० १ ० ० प्रति सेर	कुछ नहीं
० १२ ० ,, ,,	,,
० १० ० ,, ,,	आधा सेर
० ८ ० ,, ,,	डेढ़ ,,
० ६ ० ,, ,,	दो ,,
० ४ ० ,, ,,	तीन ,,
० २ ० ,, ,,	चार ,,

बाजार अनुसूची (Market Schedule)—ऊपर एक व्यक्ति-विशेष की मांग-अनुसूची दी गई है। किन्तु हम एक बाजार अनुसूची भी बना सकते हैं जिसमें किसी बाजार में तमाम उपभोक्ताओं द्वारा मांगे गए दूध का कुल परिमाण दिखाया जाय। हम उन उपभोक्ताओं को तीन वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—(अ) जिनकी मासिक आय १००) तक है, (ब) जिनकी आय १००) से ५००) तक है, और (स) जिनकी आय ५००) से ऊपर है। हम यह देख सकते हैं कि प्रत्येक वर्ग प्रत्येक कीमत पर कितना दूध खरीदेगा और तब उन सब मांगों का योग कर सकते हैं, जैसे—

प्रति सेर कीमत (रुपयों में)	'अ' वर्ग की मांग (सेरों में)	'ब' वर्ग की मांग (सेरों में)	'स' वर्ग की मांग (सेरों में)	कुल (सेरों में)
२ ० ०	२			२
१ ० ०	५	२	...	७
० १२ ०	५	३	..	८
० १० ०	५	३½	१	९½
० ८ ०	५	४	१	१०
० ६ ०	५	४	२	११
० ४ ०	५	४	३	१२
० २ ०	५	४	४	१३
० १ ०	५	४½	४½	१४

४. मांग-अनुसूची बनाने में कठिनाइयाँ (Difficulties in Constructing a Demand Schedule)—एक व्यक्ति की मांग-अनुसूची बनाना कठिन है। यह सब कल्पना के अनुसार है। कोई व्यक्ति भी निश्चित रूप से यह नहीं कह सकता कि अगर कीमतें भिन्न हों तो वह कितना खरीदेगा। इसलिए अनुसूची में कुछ कीमतें काल्पनिक हैं। दूध की कीमत २) सेर या १ आना सेर शायद कभी भी न हो। तब किसी से यह पूछने से क्या लाभ कि तुम इन कीमतों पर कितना खरीदोगे? एक

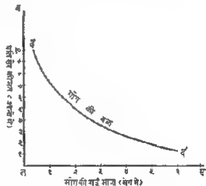
बाजार-अनुसूची बनाना यही अधिक कठिन है और अधिक काल्पनिक।

५. माँग-अनुसूची की व्यावहारिक उपयोगिता (Practical Utility of the Demand Schedule)—यद्यपि वैज्ञानिक रूप से सही माँग-अनुसूची बनाना सम्भव नहीं है, फिर भी यह बात सच है कि विभिन्न कीमतों पर भिन्न-भिन्न परिमाण में वस्तुएँ क्रय की जाती हैं। माँग-अनुसूची निम्न प्रकार से लाभप्रद है—

(१) आखिरकार, व्यवसायी अपनी बुद्धि से इस बात का अन्दाजा लगाते ही हैं कि किसी विशेष कीमत ऊँची—या नीची होने पर—कितनी बिक्री होगी। एकाधिकार रखने वाले कभी-कभी जान-बूझकर माँग बढ़ाने के लिए कीमतें कम कर देते हैं।

(२) किसी वस्तु की बिक्री पर करों की विभिन्न दरें लगाने का क्या फल होगा, यह जानने के लिए वित्त-मन्त्री को माँग अनुसूचियों की सहायता लेनी पड़ती है। परिगणना (calculation) चाहे मोटी और अपूर्ण हो, फिर भी उससे मदद मिलती है और वह उपयोगी सिद्ध होती है।

६ माँग वक्र (Demand Curve)—विभाग ३ में दी गई एक व्यक्ति की माँग-अनुसूची की सहायता से हम निम्न प्रकार का वक्र (वक्र-रेखा) बना सकते हैं, यदि हम परिमाणों को त ए पर गायें और कीमतों को त ब पर।



जब कीमत सिर्फ दस आने सेर होती है तब उपभोक्ता केवल आधा सेर खरीदता है। हम त ए अक्ष (axis) पर ½ बिन्दु चल कर १० आने के सामने एक बिन्दु रख देते हैं। दूसरे बिन्दुओं की स्थिति भी इसी प्रकार निश्चित करके और उन बिन्दुओं को एक रेखा द्वारा जोड़ कर हमें द द' वक्र मिलता है।

हम देखते हैं कि माँग वक्र की ढाल बाएँ से दाएँ है। क्यों? ऊपर पाँचवें अध्याय में हमने देखा था कि उपभोक्ता वस्तु को तब तक खरीदता जाता है जब तक उसकी सीमान्त उपयोगिता मूल्य के बराबर नहीं हो जाती। तभी उसकी कुल उपयोगिता अधिकतम होगी। अगर उसका मूल्य कम होगा तो अपनी सीमान्त उपयोगिता को उसके बराबर लाने के लिए उसे अधिक खरीदना होगा। इसका कारण यह है कि सीमान्त उपयोगिता घटने के नियम के अनुसार अधिक उपभोग से ही सीमान्त उपयोगिता कम की जा सकती है। इसलिए माँग वक्र साधारणतः दायीं ओर को ही झुकता है।

यहाँ यह भी उल्लेख कर देना चाहिए कि व्यक्ति के माँग-वक्र के समान समूचे बाजार का माँग-वक्र भी बनाया जा सकता है जिसके लिए विभाग २ में दी बाजार

माँग अनुसूची लेनी होगी। उसको ढाल भी बाएँ से दाएँ होगी क्योंकि कीमत कम होने पर (i) पुराने मर्यादार (ऊपर दिये कारणों से) ज्यादा खरीदेंगे और (ii) कुछ नये लोग भी खरीदना शुरु कर सकते है।

७ **माँग का नियम** (Law of Demand)—हमने देखा कि माँग का क्या मतलब है, और हमने मांग अनुसूची का भी अध्ययन कर लिया। माँग-अनुसूची से हमने जाना कि मांग कीमत के साथ बदलती है। अब हम मांग का नियम (law of demand) निर्धारित कर सकते है। यह नियम कहता है कि माँग में कीमत की अपेक्षा विपरीत (उल्टी दिशा मे—inversely) परिवर्तन होता है, अर्थात् यदि कीमत बढती है तो माँग सकुचित (contract) होती है और इसका उल्टा भी सही है।

"एक निर्दिष्ट समय म, किसी वस्तु (commodity) या सेवा के लिए प्रचलित कीमत पर माँग, उससे अधिक कीमत होने पर जितनी माँग होती, उससे अधिक और प्रचलित कीमत से कम कीमत होने पर जितनी माँग होती उससे कम होती है। —एस० ई० टॉमस (S E Thomas)।

एक निर्दिष्ट समय मे' (at a given time) की यह शर्त अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है क्योंकि विभिन्न कालो मे भिन्न परिस्थितियों के कारण, कीमत के न बदलने पर भी, माँग भिन्न हो सकती है।

माँग के नियम के अपवाद (Exceptions to the Law of Demand)—माग का नियम कहता है कि माग कीमत के घटने पर बढेगी और कीमत बढने पर कम होगी। किन्तु यह नियम निम्नलिखित दशाओ मे लागू न होगा—

(i) यदि किसी वस्तु के दुर्लभ (shortage) हो जाने का डर हो जाय तो कीमते बढती रहने पर भी उसकी बिक्री बढ जाएगी।

(ii) कीमत गिर जाने पर भी वस्तु का क्रय कम होगा यदि वह फैशन के बाहर चली गई है या प्रचलित नही रही है।

(iii) जब किसी वस्तु का प्रयोग बड़प्पन व सम्मान की निशानी समझा जाता है तब उसकी कीमत कम हो जाने पर वह कम खरीदी जाएगी क्योंकि जनसाधारण उसे खरीदना शुरू कर देंगे।

(iv) कभी कभी लोग किसी चीज की कीमतें गिरने के बारे मे अनजान रहते हैं और वे अधिक नहीं खरीदते।

८ **माँग घटने-बढने (कमी-वृद्धि) मे और विस्तार-सकुचन मे अन्तर है** (Increase and Decrease in Demand distinguished from Extension and Contraction of Demand)—जो माँग का नियम ऊपर बताया गया है वह केवल माँग के विस्तार (extension) तथा सकुचन (contraction) से सम्बन्धित है। जब माँग केवल कीमत के परिवर्तन के कारण घटती-बढती है तब हम इसे उसका विस्तार या सकुचन कहते है।

वृद्धि तथा विस्तार (Increase and Extension)—यदि कोई आदमी अधिक दूध इसलिए खरीदता है कि दूध की कीमत घट गई है, तो यह माँग का विस्तार है। किन्तु यदि कीमत से अलग, स्वतन्त्र रूप से, माँग मे परिवर्तन होता है, अर्थात्

यदि कोई मनुष्य अधिक खरीदता है, इसलिए नहीं कि कीमत घट गई है, बल्कि किसी अन्य कारण से, तो इसे माँग का बढ़ना या वृद्धि कहा जाएगा।

विस्तार (extension)—कम कीमत पर अधिक माँग।

वृद्धि (Increase)—अधिक माँग उसी या उससे अधिक कीमत पर।

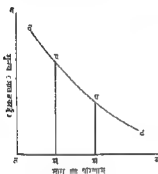
उपभोक्ता की माँग में वृद्धि का अर्थ यह है कि वह एक वस्तु पर, परिस्थितियों में किसी परिवर्तन के कारण, पहले से अधिक पैसा खर्चने के लिए तैयार है।

कमी और संकुचन (Decrease and Contraction)—यदि कोई आदमी इसलिए कम खरीदता है कि कीमतें बढ़ गई हैं तो यह सीधा-सादा "माँग के संकुचन" का मामला है। किन्तु यदि कोई व्यक्ति कीमत की ओर ध्यान न देते हुए या उसके बावजूद भी, कम खरीदता है तो यह माँग की कमी कही जाएगी। इस मामले में, फैशन अथवा परिस्थितियों में अन्तर आ जाने के कारण यह हो सकता है कि एक उपभोक्ता कीमत उतनी ही रहने पर भी कम माल खरीदे या कीमत कम हो जाने पर भी उतना ही माल खरीदता रहे जितना वह पहले ले रहा था।

संकुचन (Contraction)—ऊँची कीमत पर कम माँग।

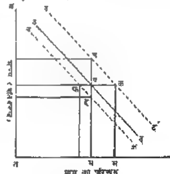
कमी (Decrease)—उतनी ही कीमत पर कम माँग, या कम कीमत पर उतनी ही माँग।

रेखाचित्र द्वारा माँग की वृद्धि और कमी, विस्तार तथा संकुचन का दिग्दर्शन (Diagrammatic Representation of Increase and Decrease, Extension and Contraction of Demand)—चित्र १ में माँग का विस्तार तथा



(१)

माँग का विस्तार तथा संकुचन



(२)

माँग की वृद्धि और कमी

संकुचन दिखाया गया है। जब कीमत प म से प′ म′ तक गिर जाती है, माँग त म से त म′ तक विस्तृत हो जाती है। दूसरी ओर यदि कीमत प′ म′ से प म तक बढ़ती है तो माँग त म′ से त म तक संकुचित हो जाती है। यहाँ हम एक ही वक्र (curve) पर ऊपर-नीचे चलते हैं जिससे प्रकट होता है कि माँग में परिवर्तन कीमत बदलने के कारण ही होता है।

नया वक्र (बिन्दुओं से बना हुआ) पुराने वक्र के ऊपर या नीचे मिलता है। यह दिखाता है कि माँग की परिस्थितियाँ ही एकदम बदल गई हैं। द द' माँग की वृद्धि दिखाता है। पहले हम प म कीमत पर त म खरीदते थे। किन्तु अब हम प' म कीमत जो कि बढ़ी हुई कीमत है त म खरीदते हैं। हम उतनी ही मात्रा अधिक कीमत पर खरीदते हैं। या हम पहले से अधिक मात्रा (न म') उसी कीमत पर (क म'=प म) खरीदते हैं। इसी प्रकार से नीचे का बिन्दु वक्र ज ज' माँग में कमी दिखाता है।

माँग में परिवर्तन क्यों होता है? (Why Demand Changes?)—माँग में परिवर्तन का अर्थ उसमें वृद्धि या कमी होता है, न कि केवल विस्तार एवं संकुचन। इसलिए जब हम यह जानना चाहें कि माँग में परिवर्तन क्यों होता है, तब हमें उन कारणों को बताना पड़ेगा जो माँग की नई परिस्थितियाँ उत्पन्न करते हैं जिनसे माँग वक्र ऊपर (चित्र २ में द द' की तरह) या नीचे (चित्र २ में ज ज' की तरह) चला जाता है। यह तो स्पष्ट है कि वे कारण कीमत नहीं है।

निम्न कारण माँग में परिवर्तन लाते हैं—

(i) **फैशन में अन्तर**—जब वस्तुएँ फैशन में नहीं रहती तो उनकी माँग कम हो जाती है, चाहे वे सस्ती हो जायें।

(ii) **ऋतु में परिवर्तन**—इसका प्रभाव भी फैशन के प्रभाव के समान होता है। जब ऋतु बदलती है माँग में भी परिवर्तन हो जाता है। गरम कपड़ों की कीमत कम हो जाने से भी गर्मियों में उनकी माँग नहीं बढ़ती।

(iii) **चालू द्रव्य परिमाण में अन्तर**—यदि चलन में द्रव्य का परिमाण बढ़े तो लोगों की क्रय-शक्ति अधिक हो जाएगी। फलस्वरूप माँग भी बढ़ जाएगी। आज हम अपने को इसी स्थिति में पाते हैं। मुद्रा स्फीति (inflation) हो गई है, तो माँग बढ़ गई है और कीमतें भी बढ़ गई हैं। द्रव्य के परिमाण में कमी का भी इसी प्रकार विपरीत दिशा में प्रभाव पड़ता है।

(iv) **जनसंख्या में अन्तर**—जनसंख्या में घट-बढ़ या उसके स्वरूप में परिवर्तन होने से भी माँग में परिवर्तन होगा। यदि किसी देश की जन्म-दर बढ़ेगी तो अधिक खिलौनों और बच्चा गाड़ियों की माँग होगी जबकि किसी दूसरे देश में जहाँ बूढ़ों की संख्या अधिक होगी दवाइयों और घूमने की छड़ियों की माँग बढ़ जाएगी।

(v) **धन के वितरण में अन्तर**—यदि धन का अधिक समान वितरण हो जाता है तो निर्वाह और सुविधा सम्बन्धी आवश्यकताओं की वस्तुओं की जिनका गरीब लोग साधारणतया अधिक उपयोग करते हैं माँग बढ़ जाएगी क्योंकि निम्न वर्ग के लोग पहले की अपेक्षा सम्पन्न हो जाएँगे। विलास-सामग्री की माँग गिर जाएगी।

(vi) **वास्तविक आय (Real Income) में परिवर्तन**—वास्तविक आय में वृद्धि का अर्थ है कि वस्तुएँ सस्ती हों जिससे उसी आय के लोग अधिक माल खरीदने में समर्थ हों। यह आवश्यक नहीं है कि वे निर्वाह-सामग्री अधिक खरीदें। व्यय की सारी योजना ही नए सिरे से बनेगी और वस्तुओं की माँग बदल जाएगी। सम्भव है कुछ सुविधा या विलास की वस्तुओं की माँग भी बढ़ जाए।

(vii) आदत, रुचि या प्रथाओं में अन्तर—माँग किसी समाज की रुचियों, आदतों तथा प्रथाओं पर निर्भर है। इनमें से किसी में अन्तर पड़ने से माँग में परिवर्तन होना स्वाभाविक है। मान लो लोग लस्सी की बजाय चाय का शौक पैदा कर लें, उससे चाय का माँग—वक्र दायीं ओर ऊँचा हो जाएगा, अर्थात् माँग बढ़ जाएगी।

(viii) शिल्पिक प्रगति—आविष्कारों व खोजों से बाजार में नई वस्तुएँ आती हैं। इसके फलस्वरूप पुरानी चीजों की माँग नहीं रहती। जैसे आजकल ग्रामोफोन का स्थान रेडियो सेट ले रहे हैं।

(ix) सस्ते विकल्पों (Substitutes) का पता लगना—जैसे वनस्पति घी के निर्माण से घी के स्थान पर एक सस्ता विकल्प प्राप्त हो गया है। इसलिए असली घी की माँग कम हो गई है।

(x) विज्ञापन (Advertisement)—लगातार और कुशल विज्ञापनों द्वारा प्रचार से नई प्रकार की माँगें उत्पन्न हो सकती हैं। जैसा कि पेटेंट दवाओं और शृंगार के प्रसाधनों के बारे में होता है।

१०. माँग की लोच (Elasticity of Demand)—हमने देखा कि माँग का विस्तार या संकुचन कीमत के उतार-चढ़ाव के साथ होता है। माँग की यह विशेषता अथवा गुण जिससे वह कीमत के अन्तर—(कमी-वृद्धि) के साथ-साथ बदलती, बढ़ती-घटती है—माँग की लोच (elasticity) कहलाती है। लोच (elasticity) का मतलब है कीमत में परिवर्तन के फलस्वरूप माँग की बदलने की प्रवृत्ति (responsiveness)।

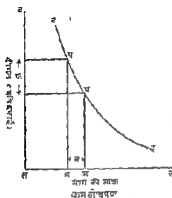
बदलने की यह प्रवृत्ति कम भी हो सकती है और बहुत भी। जैसे नमक है, उसके मूल्य में काफी कमी आने से भी चाहे माँग का खास विस्तार न हो जब कि सन्तरों के भाव में थोड़ी कमी से उनकी माँग का काफी विस्तार हो सकता है। इसलिए पहली माँग बेलोच व दूसरी लोचदार कहलाती है।

"माँग की लोच (elasticity) या प्रतिकारकता (responsiveness) बाजार में उतनी कम या ज्यादा कही जाएगी जितना कि माँगा हुआ परिमाण कीमत के एक खास उतार पर, कम या ज्यादा बढ़ता है, और कीमत के एक खास चढ़ाव पर, कम या ज्यादा घटता है।"—मार्शल

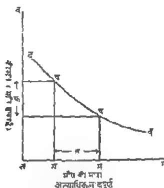
परन्तु माँग पूरी तरह "लोचदार" या "बेलोच" नहीं हो सकती। पूरी लोच का मतलब होगा कि मूल्य में ज़रा सी कमी (या वृद्धि) से माँग में अनन्त विस्तार (या संकुचन) हो जाए। बिल्कुल "बेलोच" माँग का अर्थ होगा कि कीमत कितनी ही क्यों न बदल जाय माँग में कुछ भी फरक नहीं पड़ता। ये दोनों अवस्थाएँ वास्तविक जगत् से दूर की हैं इसीलिए लोच के केवल 'कम' या 'ज्यादा' होने की ही बात की जाती है।

इस चीज़ को और अधिक स्पष्ट करने के लिए हम माँग-लोच को रेखा-चित्र द्वारा दिखा सकते हैं।

इन दोनो चित्रो व प्रथा पर फ कीमत का उतार बताता है और ज माँग क त म से त म' तक विस्तार।



(१)



(२)

चित्र १ म, कीमत का उतार काफी है किन्तु माँग का विस्तार थोडा है। इस उदाहरण मे, कीमत के उतार म माँग की प्रतिक्रिया (*response*) इतनी अधिक नही है। माँग केवल कुछ ही लोचदार है।

चित्र २ मे, कीमत थोडी ही गिरी है किन्तु माँग का विस्तार अपेक्षाकृत अधिक बढा है। इसलिए यह माँग अधिक लोचदार है। *यह बात ध्यान से समझ लेनी चाहिए* कि माँग की लोच (elasticity) वक्र की ढाल (slope) से पता नही चलती जैसी कि आम धारणा है। लोच हमेशा किसी मूल्य पर ही होती है। माँग-वक्र के भिन्न बिन्दुओ की लोच भिन्न-भिन्न होगी। इसलिए वक्र की ढाल को देख कर ही हम नही कह सकते कि माँग कम लोच वाली है या ज्यादा। ऐसा वक्र भी बनाया जा सकता है जिसकी लोच हमेशा इकाई रहे पर जिसकी ढाल बदलती जाए। ऐसे वक्र को 'रेक्टेंगुलर हाइपरबोला' (rectangular hyperbola) कहते हैं।

११ लोच की माप (Measurement of Elasticity)—माँग की लोच को मापन के तीन उपाय है।

पहला उपाय—इसम, मूल्य म बदल आने से उस वस्तु पर होने वाले कुल व्यय मे जो अन्तर पडता है उसे देखते हैं। नीचे दी हुई रुमालो की माँग-अनुसूची देखिए।

(१) कुल व्यय के द्वारा (२) डा० मार्शल का उपाय (३) गणित का उपाय।

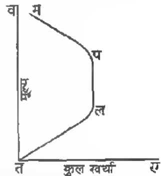
प्रति रुमाल कीमत रुपयो मे	माँग की सख्या	कुल व्यय (रुपयो मे)	
२ ० ०	२	४ ० ०	(१)
१ ० ०	३	३ ० ०	(२)
० १२ ०	४	३ ० ०	(३)
० १० ०	५	३ २ ०	(४)

जब व्यय किये गये द्रव्य की कुल राशि उतनी ही रहती है, [जैसे ऊपर (२) और (३) संख्या में], तो लोच इकाई कहलाती है।

जब व्यय किए गए द्रव्य की कुल राशि कीमतें घटने पर बढती (या कीमतें बढने पर घटती) है तो लोच इकाई से अधिक कही जायगी (जैसे ३ और ४)।

जब व्यय किये गए द्रव्य की कुल राशि कीमत गिरने पर कम होती (या कीमत बढने पर बढती है) तो लोच इकाई से कम होगी (जैसा कि संख्या १ और २ में है)।

इस उपाय को रेखा चित्र से भी प्रकट किया जा सकता है। त ए के साथ कुल खर्चा और त व के साथ कीमत अंकित कीजिए। हमें त ल प म वक्र मिलता है जो कि पीछे की ओर मुड़ा हुआ है। इसमें तल भाग इकाई से कम लोच दिखाता है क्योंकि मूल्य में वृद्धि और कमी से कुल खर्चे में क्रमशः वृद्धि और कमी आती है। ल प में लोच इकाई है क्योंकि मूल्य बदलने से कुल व्यय पर कोई परिणाम नहीं होता। प म में इकाई से अधिक लोच है क्योंकि मूल्य बढने से कुल खर्चा कम होता है और मूल्य कम होने से कुल खर्चा बढता है।



दूसरा उपाय—इस उपाय में जिसको डॉ० मार्शल ने प्रस्तुत किया है, माँग वक्र के किसी बिन्दु पर लोच ढूंढने के लिए उस बिन्दु पर एक स्पर्शज्या (tangent) खींचनी चाहिए। मान लीजिए हमने द द' माग वक्र के बिन्दु प पर लोच को मापना है। प में से होती हुई स्पर्शज्या (tangent) खींचिए जो त ए को 'ल' पर और त व को म पर काटे। तो प बिन्दु पर मांग की लोच हुई $\frac{लप}{पम}$।

व द म प द' त ल ए

लोच इकाई से अधिक, इकाई या इकाई से कम होगी जैसे कि ल प प म से अधिक हो, उसके बराबर हो या उससे कम हो।

इसी तरह माँग वक्र के किसी और बिन्दु पर कितनी लोच है यह पता लग सकता है।

तीसरा उपाय— इसमें हम मूल्य के प्रतिशत परिवर्तन की तुलना मांग में हुए प्रतिशत परिवर्तन से करके लोच को माप सकते है। लोच इकाई, इकाई से अधिक और इकाई से कम होगी जब कि माँग में बदल क्रमशः उसी अनुपात में है, अनुपात से अधिक है अथवा अनुपात से कम है। इसका सूत्र (फार्मूला) यह बना—

$$\text{मांग की लोच} = \frac{\text{मांग में प्रतिशत बदल}}{\text{मूल्य में प्रतिशत बदल}}$$

१२. माँग की लोच का घटती हुई उपयोगिता के नियम से सम्बन्ध (Relation of Elasticity of Demand with the Law of Diminishing Utility)—माँग की लोच की धारणा घटती हुई उपयोगिता के सिद्धान्त से निकाली गई है।

घटती हुई उपयोगिता का सिद्धान्त कहता है कि जैसे जैसे हम किसी वस्तु की अधिक इकाइयाँ पाते जाते हैं, प्रत्येक अगली इकाई की उपयोगिता घटती जाती है। कुछ वस्तुओं से उपयोगिता तेजी से गिरती है। उदाहरणार्थ अपनी सब्जी में यदि हम जरा-सा नमक ज्यादा डाल दें तो उपयोगिता एक दम इतनी नीचे गिर जाएगी कि हम उससे ज्यादा नमक बिल्कुल नहीं चाहेंगे। ऐसी वस्तुओं में माँग बेलोच (inelastic) है। कीमत बढ़े या घटे हम नमक की मात्रा उतनी ही खरीदते रहेंगे। दियासलाई उसी तरह का दूसरा उदाहरण है।

किन्तु ऐसी वस्तुएँ हैं जिनमें उपयोगिता, मात्रा के बढ़ने पर शीघ्र नहीं घटती। हम जल्दी ही उनसे ऊब नहीं जाते। जैसे, सभी विलास-सामग्री के बारे में यही बात है, इन वस्तुओं में माँग लोचदार (elastic) है। यदि कीमत गिरती है तो अधिक विलास-सामग्री खरीदी जाएगी। उदाहरण के लिए यदि बड़े-मछली की कीमत गिर जाय तो साधारण आय वाले लोग भी उन्हें खरीदेंगे।

इस तरह माँग की लोच घटती हुई उपयोगिता के सिद्धान्त से सम्बन्धित है।

१३. माँग की लोच का उपभोक्ता की बचत से सम्बन्ध (Relation between Elasticity of Demand and Consumer's Surplus)—हम जानते हैं कि जीवन-निर्वाह की आवश्यकताओं की माँग अपेक्षाकृत बेलोच है। उनकी कुछ भी कीमत हो, हम उन्हें खरीदेंगे ही। जरूरी आवश्यकताओं के लिए हम जितना खर्च करते हैं उससे कहीं अधिक खर्च करने को तैयार हैं, क्योंकि यह वस्तुएँ आम तौर पर सस्ती रहती हैं इसलिए ऐसी वस्तुओं में बड़ी 'उपभोक्ता की बचत", (consumer's surplus) रहती है, क्योंकि उपभोक्ता की बचत", उपभोक्ता कितना देने को तैयार है और वास्तव में कितना पैसा देता है, इसके अन्तर के बराबर है। विलास के लिए हम कोई बड़ा त्याग करने को तैयार नहीं होते। उनके लिए हमारी माँग लोचदार है। इनमें 'उपभोक्ता की बचत' थोड़ी है।

इसलिए हमारा निष्कर्ष है कि जब माँग बेलोच (inelastic) होती है तब उपभोक्ता की बचत अधिक होती है और जब माँग लोचदार होती है तब कम।

१४. माँग की लोच में भिन्नता कब होती है? (When does Elasticity of Demand vary)?—(i) निर्वाह सामग्री (necessaries) के लिए माँग कम लोचदार या अपेक्षाकृत बेलोच होती है। कुछ भी दाम हो, हमें उन्हें हमेशा खरीदना पड़ेगा।

(ii) विलास सामग्री के लिए माँग कम ज्यादा लोचदार होती है। उनकी कीमत में जरा-सी कमी माँग को प्रोत्साहित करती है और जरा सी वृद्धि माँग को निरुत्साहित करती है। इसीलिए कीमत के उतार-चढ़ाव पर क्रमश माँग में काफी विस्तार या सकुचन होता है।

किन्तु यह याद रखना चाहिए कि निर्वाह (necessaries) तथा विलास (luxuries) शब्द सापेक्षिक (relative) है। जो एक के लिए विलास है, वही दूसरे के लिए निर्वाह हो सकता है। इसलिए उसी एक वस्तु की माँग कुछ लोगों के लिए लोचदार और कुछ के लिए बेलोच हो सकती है।

(iii) जिन वस्तुओं के विकल्प (substitutes) प्राप्य है, उनकी माँग लोचदार है, उदाहरण के लिए चाय और कॉफी। यदि इनमें से किसी एक की कीमत गिरती है तो वही अधिक परिमाण में खरीदी जायगी। यदि कीमत बढ़ेगी तो माँग संकुचित हो जाएगी और बदले में लोग उसके विकल्प को खरीदने लगेंगे। इसलिए ऐसी वस्तुओं की कीमतों के परिवर्तन पर उनकी माँग का विस्तार अथवा संकुचन अधिक होता है।

(iv) किसी वस्तु के अनेक उपयोग होते हैं तब उसकी माँग लोचदार होती है। ऐसी वस्तु की कीमत गिरने पर उसका उपयोग कम आवश्यक उपयोगों में भी होने लगता है। इसलिए माँग विस्तृत हो जाती है। इसका उल्टा भी सही है।

(v) जब हम किसी वस्तु की खरीद स्थगित कर सकते हैं, तब उसकी माँग लोचदार होती है। जब कीमत घटती है तब वह ज्यादा खरीदी जाती है और कीमत बढ़ने पर कम।

(vi) माँग की लोच कीमतों के तल (level) पर आश्रित है। यदि कीमत अत्यधिक या बहुत कम है तो उसकी माँग अपेक्षाकृत बेलोच होगी। मध्यम कीमतों के लिए माँग लोचदार है।

१५. "माँग की लोच" की धारणा का महत्त्व (Importance of the Concept of Elasticity of Demand)—माँग के लोच की धारणा का बड़ा व्यावहारिक महत्त्व है।

(१) यह व्यवसायी को अपने माल की कीमतें रखने में सहायता करती है। यदि माँग बेलोच है तो वह जानता है कि लोग खरीदेंगे ही, चाहे जो दाम रक्खे जाएँ। और ऐसी चीजों के दाम बढ़ाने में वह समर्थ होता है। यदि वह एकाधिकारी (monopolist) है तब तो जरूर ही कीमत बढ़ाएगा और अधिक लाभ लेगा।

(२) वित्त-मन्त्री भी करारोपण (taxation) के लिए वस्तुओं का निर्वाचन करते समय माँग की लोच को ध्यान में रखते हैं। यदि वह राजस्व के बारे में निश्चित होना चाहते हैं तो उन्हें ऐसी वस्तुओं पर कर लगाना होगा जिनकी माँग बेलोच है। ऐसी चीजों पर कर लगाने से फायदा होगा जिनको लोग कर लगाने के बाद, कीमतें बढ़ने पर भी खरीदते रहें। यदि माँग लोचदार है तो लोग कम खरीदेंगे और सरकारी राजस्व फिर कम रह जाएगा।

१६. परस्पर सम्बन्धित माँग (Inter-connected Demand)—हम माँग की चर्चा ऐसे करते हैं मानो किसी वस्तु की माँग स्वयं ही सबसे अलग कोई बात हो। ऐसा वास्तव में नहीं होता। एक वस्तु की माँग अन्य वस्तुओं की माँग से सम्बन्धित हो सकती है। और बहुधा यही होता है।

निम्न कुछ बातों पर ध्यान दीजिए—

(क) **संयुक्त माँग (Joint Demand)**—जब बहुत सी वस्तुएँ किसी संयुक्त प्रयोजन के लिए माँगी जाती है तो उसे हम *संयुक्त माँग (joint demand)* कहते है। चाय बनाने के लिए दूध, चीनी और चाय की पत्तियो की आवश्यकता पड़ती है। एक मकान बनाने के लिए ईंटें, गारा, लकड़ी और बढ़ई तथा राजगीरो की सेवाएँ चाहिएँ। इन सब चीजो की माँग एक साथ होती है और यह संयुक्त माँग के उदाहरण हैं।

एक वस्तु की आवश्यकता इसी प्रकार की अन्य संयुक्त माँगो के साथ एक साथ भी पड़ सकती है। उदाहरण के लिए, दूध की जरूरत न सिर्फ चाय, कॉफी और ओवल्टीन बनाने के लिए है, वरन् रसगुल्ले और बर्फी बनाने के लिए भी है।

जब वस्तुओ की संयुक्त माँग होती है तब उनकी कीमतें अन्तिम उद्देश्य से प्रभावित होती है। जैसे, ईंटो की कीमत और राजगीरो की मजदूरी अन्त मे मकानो की माँग से प्रभावित होगी। मकान बनाने के लिए आवश्यक प्रत्येक वस्तु की माँग इस पर निर्भर होगी कि मकान बनाने मे उस वस्तु विशेष की आवश्यकता कितनी अधिक है।

(ख) **प्रत्यक्ष तथा उद्भूत माँग (Direct and Derived Demand)**—उपर्युक्त उदाहरण मे अन्तिम उद्देश्य की माग अर्थात् मकानो की माँग *प्रत्यक्ष (direct)* माँग कहलाती है जबकि विभिन्न प्रकार की उन वस्तुओ और सेवाओ की माँग जो उस अन्तिम उत्पादन के लिए आवश्यक है और उसी के आधार पर बनती है, *उद्भूत (derived)* माँग कहलाती है।

ईंट-चूने की माँग मकान बनाने की माँग से उत्पन्न या उद्भूत होती है। वास्तव मे तो हमे मकान चाहिए और अन्य वस्तुओ की माँग इसलिए होती है कि हमको मकान की आवश्यकता है और मकान बनाना है।

(ग) **मिश्रित माँग (Composite Demand)**—जिस वस्तु को अनेक उपयोगो मे लाया जा सकता है, उसकी माँग *मिश्रित माग (composite demand)* है। यह उसके विभिन्न उपयोगो को मिलाकर बनती है। कोयला गर्म करने खाना बनाने और भाप-इंजन चलाने के काम आ सकता है। तो कोयले की माँग इन सब उपयोगो की माँगो से मिलकर बनती है। इसलिए इसे मिश्रित माँग कहते है।

इन सब परस्पर सम्बन्धित माँगो के मामले मे कीमते कैसे तय होती है यह *बाद के किसी अध्याय मे बताया जाएगा।*

१७ **उदासीनता वक्र**—कुछ काल से अर्थशास्त्रियो ने बाजार में उपभोक्ता के व्यवहार का विश्लेषण करने के लिए उदासीनता वक्रो का प्रयोग करना शुरू किया है। जैसा हम देख चुके है, मनुष्य की आवश्यकताएँ अनन्त है। परन्तु उसके पास साधन कम है। इसलिए उसे चुनाव करना पड़ता है कि एक वस्तु खरीदे या दूसरी। माँग वक्र, जिसका अध्ययन हमने ऊपर किया, दिखाता है कि किसी एक चीज के मूल्य के बदलने से उसके क्रय मे परिवर्तन होता है। यह अर्थशास्त्र के आधारभूत संघर्ष—"यह वस्तु या वह वस्तु"—का चित्रण नही करता। उदासीनता वक्र ज्यादा वास्तविक है

क्योंकि वे दो या अधिक वस्तुओं का एक साथ विचार करते हैं। फिर, हमारा मांग-वक्र इस मान्यता पर टिका हुआ है कि उपयोगिता या सन्तुष्टि को मुद्रा या अन्य किसी इकाई में मापा जा सकता है। जैसा कि पाँचवें अध्याय में कहा गया है यह सम्भव नहीं है। उदासीनता वक्र केवल सतुष्टि-स्तरों को ध्यान में लेते हैं इसलिए वे ऊपर कही गई त्रुटि को भी दूर करते हैं।

उच्चतर विश्लेषणों में, इन्हीं विशेषताओं के कारण, अर्थशास्त्री उदासीनता वक्रों का उपयोग करने लग पड़े हैं।

आपने इस अध्याय से क्या सीखा है ?

मांग (demand) का अर्थ है एक वस्तु को खरीदने की ताकत तथा तैयारी के साथ इच्छा।

माग सदैव एक निर्दिष्ट कीमत (given price) पर और एक समय काल के लिए (per unit of time) पर होती है। इसलिए मांग की परिभाषा हो सकती है, "वह मिकदार जो किसी निर्दिष्ट कीमत पर एक विशेष कालावधि में मांगी जाता है।"

माग-अनुसूची (Demand Schedule) वह तालिका है जिसमें निर्दिष्ट समय में (in a given time) विभिन्न कीमतों पर मांगी गई मात्राओं का हिसाब होता है। यह काल्पनिक है, वैज्ञानिक ढंग से पक्की नहीं। किन्तु व्यवहार में इसका बड़ा उपयोग है। यह व्यवसाय तथा करारोपण की समस्याओं को सुलझाने में सहायता करता है।

माग का नियम (Law of Demand) किसी निर्दिष्ट समय में, किसी वस्तु अथवा सेवा की प्रचलित कीमत पर जो मांग होती है वह उस मात्रा से ज्यादा होती है जो उससे अधिक कीमत पर होती, और उस माग से कम जो उससे कम कीमत पर होती अथवा "कीमत गिरने पर मांग का विस्तार तथा कीमत बढ़ने पर मांग का संकुचन होता है।"

अपवाद (Exceptions)—

(१) ऊँची कीमत पर भी माग अधिक हो जायगी यदि आगे वस्तु के न मिलने का डर हो।

(२) कम कीमत पर भी कम माग रहेगी यदि उसका फैशन नहीं रहा।

(३) यह नियम उन वस्तुओं पर लागू नहीं होता जो बड़प्पन और सम्मान की निशानी समझी जाती है।

(४) यह नियम तब लागू नहीं होता जब खरीदार बिल्कुल अनजान हो।

माग की वृद्धि का विस्तार (Increase of Demand and Extension of Demand)—माग के विस्तार का अर्थ है कीमतों के गिरने पर अधिक माग।

मांग की वृद्धि का अर्थ है कि उसी कीमत पर अधिक माग अथवा ऊंची कीमत पर उतनी ही मांग।

माग की कमी और संकुचन (Decrease of Demand and Contraction of Demand)—मॉग के संकुचन का अर्थ है कि कीमत बढ़ने पर उसकी कम खरीद।

माग की कमी का अर्थ है कि उसी कीमत पर कम खरीद अथवा कीमत गिर जाने पर भी उतनी ही खरीद।

मॉग में परिवर्त्तन के कारण (Causes of Change in Demand)—निम्न बातों में से किसी एक में अन्तर माग में परिवर्त्तन ले आएगा—फैशन, ऋतु, द्रव्य, आय, जनसंख्या, धन का बटवारा, वास्तविक आय, आदतें, प्रथाएं, शिल्पिक प्रगति, विकल्पों की खोज, विज्ञापन आदि।

माग की लोच (Elasticity of Demand)—इसका अर्थ है कीमत में अन्तर के दबाव में मांग की संवेदनशीलता (sensitiveness) या प्रतिक्रियता (responsiveness)। "बाजार में माग की लोच अधिक या कम होती है यदि मांगी गई परिमाण कीमत के किसी

निर्दिष्ट उतार पर अधिक या कम बढ़ता है, और कीमत के निर्दिष्ट चढ़ाव पर अधिक या कम घटता है।"—(मार्शल)

लोच की माप (Measurement of Elasticity)—जब व्यय किया गया कुल द्रव्य उतना ही रहता है तब लोच इकाई है, जब कुल व्यय कीमत की गिरावट के साथ बढ़ता या कीमत की वृद्धि के साथ घटता है, लोच इकाई (unity) से कम है। यदि कुल व्यय कीमत के गिरने से कम होता या कीमत के बढ़ने से बढ़ता है तो लोच इकाई से अधिक है। या हम कह सकते हैं कि लोच क्रमशः इकाई है, इकाई से अधिक है, या इकाई से कम है, यदि माँग में परिवर्तन कीमत के अन्तर की तुलना में ठीक अनुपात (proportionate) है, उसके अनुपात में अधिक है या उसके अनुपात से कम है।

लोच का घटती हुई उपयोगिता के नियम से सम्बन्ध (Relation of Elasticity to the Law of Diminishing Utility)—यदि उपयोगिता शीघ्र घटती है, तो माँग बेलोच (inelastic) है और यदि उपयोगिता धीरे धीरे या कम घटती है तो माँग लोचदार है।

लोच का उपभोक्ता की बचत से सम्बन्ध (Relation of Elasticity to Consumer's Surplus)—यदि माँग बेलोच है तो उपभोक्ता की बचत अधिक है यदि माँग लोचदार है तो उपभोक्ता की बचत कम है।

वे परिस्थितियाँ जिनमें माँग लोचदार है अथवा बेलोच (Cases where demand is inelastic or elastic)—

(१) निर्वाह आवश्यकताएँ—बेलोच।

(२) विलास-आवश्यकताएं—लोचदार।

किन्तु निर्वाह और विलास—इन शब्दों का अर्थ हालात पर निर्भर है।

(३) विकल्पों के लिए—लोचदार।

(४) जब किसी वस्तु के अनेक उपयोग होते हैं—लोचदार।

(५) जब माँग स्थगित की जा सकती है—लोचदार।

(६) लोच का मान (degree) कीमतों का तल (level) पर भी आश्रित है।

माँग के लोच का महत्त्व (Importance of Elasticity of Demand)—

(१) यह व्यवसायियों को, विशेषकर एकाधिकारियों को, कीमतें निर्धारित करने में सहायता देता है।

(२) यह सार्वजनिक वित्त (public finance) में उपयोगी है कि कौनसी वस्तुओं को कर लगाने (taxation) के लिए चुना जाय।

आपस में सम्बन्धित माँग (Inter connected Demand)—संयुक्त माँग (Joint Demand) वह है जब कई वस्तुएं एक ही प्रयोजन के लिए चाहिये, जैसे कि एक मकान बनाने के लिए बहुत सी वस्तुएं।

प्रत्यक्ष माँग (Direct Demand)—अन्तिम उत्पादन की माँग प्रत्यक्ष माँग कही जाती है।

उद्भूत माँग (Derived Demand)—किसी और वस्तु के निर्माण के लिए जरूरी वस्तु की माँग उद्भूत माँग कही जाती है।

मिश्रित माँग (Composite Demand)—जब एक वस्तु के अनेक उपयोग होते हैं, तब वह उन तमाम उपयोगों का मिश्रण होती है।

उदासीनता वक्र—माँग वक्र एक समय पर एक चीज को ही लेता है। वास्तविक संसार में हमें एक वस्तु अधिक या दूसरी इस प्रकार तुलना पड़ता है। उदासीनता वक्र दो या अधिक वस्तुओं का एक साथ विचार करते हैं। फिर, वे उपयोगिता को माँग वक्र की तरह स्थूल इकाइयों (objective units) में मापने का प्रयास नहीं करते।

क्या आप निम्न प्रश्नों का उत्तर दे सकते हैं ?

1. What is demand ? Can you draw a market demand curve for sweets during the Dewali festival ? (दिल्ली १९४९)
देखिये विभाग ० और ३

2 Write a note on the demand schedule
(कलकत्ता विश्वविद्यालय, १९४९)
देखिये विभाग ३

3 Explain the law of demand Explain its limitations
(आगरा १९५३, कलकत्ता विश्वविद्यालय १९५७)
देखिये विभाग ७

4 Explain why the demand for a commodity falls when its prices. Is it always true ? (पटना, १९५६)
देखिये विभाग ६

5 Examine the factors which bring about a change i.e. increase or decrease in demand for goods (प. वि० १९५५)
देखिए विभाग ३

6 What do you understand by "elasticity of demand" ? Distinguish extension from increase of demand
(दिल्ली १९५०, कलकत्ता विश्वविद्यालय १९५२)
देखिए विभाग ८ और १०

7 Explain the concept of elasticity of demand Show how elasticity of demand is related to the law of demand (दिल्ली १९५३)
[देखिये विभाग १०। मांग का नियम कहता है कि मांग कीमत के साथ बदलती है और लोच यह बताती है कि यह परिवर्तन अधिक होता है या कम।]

8 What do you mean by 'Elasticity of Demand' ? What are the factors on which elasticity depends ? Give examples
(अजमेर १९५३, जम्मू व काश्मीर १९५३)
देखिये विभाग १० और १८

Or

Why is the demand for some commodities more elastic than for others ? (सागर, १९५२)

9 Explain "Elasticity of demand " Name five goods of daily use having comparatively elastic demand, and five having comparatively inelastic demand for your own family (पंजाब विश्वविद्यालय, १९५३)
देखिये विभाग १०

10 What do you mean by elasticity of demand ? With reference to elasticity why do salts, tea, and motor cars differ ?
(पंजाब विश्वविद्यालय १९४३)
देखिये विभाग १०

[नमक जीवन निर्वाह की आवश्यकता है। इसलिए इसकी मांग बेलोच है। चाय किसी हद तक कॉफी का विकल्प है। इसलिए मांग लोचदार है। मोटरकार विलासिता की वस्तु है और इसकी मांग लोचदार है।]

11 What do you mean by elasticity of demand ?

(a) When is elasticity of demand less than unity ?

(b) What is the nature of demand for the following—

(i) Salt

(ii) Perfume

(iii) Opium

(iv) Ticket for a circus show

(दिल्ली, १६५५)

देखिये विभाग १० और ११

12 Consider the effect of elasticity, of demand on (a) taxation and (b) monopoly profit (कलकत्ता विश्वविद्यालय, १६३६)

देखिये, विभाग १५

13 Distinguish between joint demand and composite demand

(पञ्जाब विश्वविद्यालय, १६४४)

देखिये विभाग १६

उत्पादन का स्वरूप

(Nature of Production)

उपयोगिता के स्थान पर मूल्य का उत्पादन

(Producing value rather than Utility)

१ प्रवेशिका (Introduction)—हमने उपभोग का अध्ययन समाप्त कर दिया और अब हम उत्पादन के अध्ययन की ओर चलते हैं।

हम जानते है कि उपभोग और उत्पादन म घनिष्ठ सम्बन्ध है और दोनो एक दूसरे पर निभर है। वास्तव मे वे दोनो एक ही कायवाही के दो चरण (stages) है। उपभोग उसका अन्तिम चरण है। इसके अलावा एक ही चरण को उपभोग और उत्पादन दोनो भी समझा जा सकता है। उदाहरण के लिए एक बढई जो मेज बनाता है एक ओर तो फर्नीचर का उत्पादन करता है दूसरी ओर उसी समय लकडी का उपभोग करता है। इस प्रकार म वह उपभोक्ता और उत्पादक दोनो है।

अब हम उत्पादन के स्वरूप को देखे।

२ उत्पादन क्या है ? (What is Production)—एक बढई मेज बनाता है। उसने धन का उत्पादन किया। किन्तु उसने लकडी पैदा नही की। वह तो पहले से ही थी। तब उसने वास्तव मे किया क्या ? उसने लकडी का रूप बदल दिया और उसे एक उपयोगिता दे दी जो उसमे पहले न थी। इस प्रकार उसने 'स्वरूप उपयोगिता (form utility) पैदा की।

यदि वह उस मेज को किसी बडे शहर मे बचता है तो उसकी अच्छी कीमत उठगी। तब उसम और भी अधिक उपयोगिता आ जाएगी। उस मेज को शहर ले जाना स्थानीय उपयोगिता (place utility) पैदा करना है।

यदि उस मेज को वह उस वक्त तक अपने पास रखता है जब तक उसकी अधिक माग न हो जाय तो वह उसको और अधिक कीमत पर बेच सकता है। अर्थात उसकी कीमत म वृद्धि होगी। इस स्टोर करने से सामयिक उपयोगिता' (time utility) उत्पन्न होती है।

इन उदाहरणो म, धन का उत्पादन हुआ कि तु पदाथ (matter) का नही। जिस प्रकार मनुष्य भूत (matter) का नाश नही कर सकता वह पदार्थो का निर्माण भी नही कर सकता। उपर्युक्त उदाहरणो म उसने केवल उपयोगिताओ का सृजन किया। इस तरह तीन प्रकार की उपयोगिताएँ हैं—

(1) रूप उपयोगिता (form utility)।

(ii) स्थान-उपयोगिता (place utility)।

(iii) समय-उपयोगिता (time utility)।

तब क्या उत्पादन का अर्थ केवल उपयोगिता का सृजन है ?

उपर्युक्त उदाहरणों में, उपयोगिताओं का सृजन हुआ है और भौतिक माल अथवा धन का उत्पादन भी हुआ। ऐसा होना हर हालत में जरूरी नहीं है। ऐसी उपयोगिता का भी सृजन हो सकता है जो बाजार में बेची न जा सके। जैसे ऑक्सीजन (Oxygen) की एक गली का मैदानों में कोई खरीदार न मिलेगा क्योंकि वहाँ हवा की बहुतायत है। ऐसी उपयोगिता की प्राप्ति—और निस्सन्देह ऑक्सीजन बहुत बड़ी उपयोगिता है—उत्पादन नहीं समझी जा सकती। किसी वस्तु में उपयोगिता होते हुए भी उसमें कुछ मूल्य न हो यह सम्भव है। जैसे हवा में। अर्थशास्त्र में उत्पादन का अर्थ होता है धन या मूल्य का उत्पादन न केवल उपयोगिता का। उत्पादन की सर्वोत्तम परिभाषा है धन या मूल्य का सृजन या वृद्धि। यह केवल पदार्थों की नहीं, डॉक्टर, वकील, शिक्षक आदि की सेवाओं की भी हो सकती है। उत्पादन, संक्षेप में, सभी उपयोगिताओं का सृजन नहीं है। बल्कि केवल उन उपयोगिताओं का, जिनका कुछ विनिमय-गत मूल्य (value in-exchange) है।

उपर्युक्त से यह स्पष्ट है कि उत्पादन का कार्य तब तक पूरा नहीं होता जब तक कि वस्तु उपभोक्ताओं के हाथों तक न पहुँचे। एक मेज के बन जाने से ही उस को "उत्पादित" नहीं समझा जायगा। उसे विभिन्न लोगों के हाथ से गुजरना पड़ेगा तब वह अपने उपभोक्ता तक पहुँचेगी और तभी उसे 'उत्पादित' कहा जायगा।

अर्थशास्त्र में हमें उत्पादन के शिल्पिक पहलू से कोई वास्ता नहीं है। हम यह अध्ययन नहीं करते कि कपड़ा कैसे बुना जाता है। उसे बनाने की कला नहीं सीखते। यह काम जुलाहों, कातने-बुनने वालों, रंगरेजों आदि का है। अर्थशास्त्र के विद्यार्थी को तो सिर्फ रूई की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं—कातना, बुनना, रंगना आदि—को देखना होता है जिनमें से यह अपने अन्तिम ग्राहक के हाथों में पहुँचने से पहले गुजरती है।

अधिक उत्पादन (Over-Production) क्या है ?—उपभोक्ता की दृष्टि से तो कभी भी आवश्यकता से अधिक उत्पादन नहीं हो सकता। जो कुछ भी उत्पादित किया गया है उस सब का उपभोग हमेशा किया जा सकता है और फिर भी और की जरूरत रहेगी। सम्पन्न से सम्पन्न देश में भी भूखे और नंगे हैं। अधिक-उत्पादन (over-production) का शब्द इस अर्थ में प्रयुक्त नहीं होता कि जितना माल उपभोग किया जा सकता है उससे अधिक पैदा हो गया है और कुछ बेकार जाने का भय है। अधिक उत्पादन उत्पादक के दृष्टिकोण से होता है। कभी ऐसा होता है कि उत्पादित वस्तुएँ लाभ पर नहीं बेची जा सकतीं। उत्पादन की लागत उस समय की प्रचलित कीमत से ज्यादा हो जाने के कारण उस कीमत पर वह माल बेचना लाभप्रद (profitable) नहीं होता। बहुत बेकारी के कारण भी किसी माल की माँग गिर सकती है। इस तरह से बाजार में बहुतायत (glut) हो सकती है जिसे हम अधिक-उत्पादन (over-Production) कहते हैं। यह उद्योग के त्रुटिपूर्ण संगठन के कारण हो

सकता है या उत्पादकों के अनुचित आशावाद के कारण अथवा लागत और कीमतों के गलत अनुमान से ।

३ उत्पादक उपजीविकाओं का वर्गीकरण (Classification of Productive Occupations)—उत्पादक उपजीविकाओं का वर्गीकरण निम्न प्रकार से किया जा सकता है—

(i) **औद्योगिक धन्धे (Industrial Occupations)**—निम्न प्रकार (types) के हैं—

(क) **प्रकृति से निकालने वाले उद्योग (Extractive Industries)**—फसलों का उत्पादन, खनिज पदार्थों का निकालना, मछली पकड़ना आदि इस कोटि में हैं ।

(ख) **निर्माण उद्योग (Manufacturing Industry)**—जैसे, गन्ने से चीनी बनाना, रुई से कपड़ा पिग आयरन से इस्पात आदि ।

(ii) **व्यापारिक उद्योग (Commercial Occupations)**—इस कोटि में निम्न क्रियाएँ सम्मिलित हैं—

(क) खरीदने बेचने और माल जमा करने (stocking) में व्यवसायियों—दलालों और दूसरे मध्यस्थों (middle-men)—के कार्य ।

(ख) गाडी, लारी, रेल आदि के द्वारा किया गया माल ले आने का कार्य ।

(ग) बैंकिंग और बीमा कम्पनियों की सेवाएँ जिनमें पूँजी संचित की जाती और व्यापार व उद्योग को दी जाती है ।

(iii) **उपभोक्ता की प्रत्यक्ष सेवाएँ (Direct Services to the Consumer)**—इसमें वकील, डॉक्टर, शिक्षक, घरेलू नौकरों की अपने ग्राहकों या मालिकों को दी गई सेवाएँ हैं । इसी में सरकारी अफसरों और सैन्य-दल की सेवाएँ भी सम्मिलित हैं ।

४ **उत्पादन पर प्रभाव डालने वाले कारण**—किसी देश में उत्पादन का परिमाण निर्धारित करने वाले कई कारण होते हैं—

(i) **प्राकृतिक कारण**—किसी देश में उत्पादन का परिमाण व स्वरूप, उसकी जलवायु, जलवृष्टि, भूमि के गुण आदि पर आश्रित है । उत्पादन प्राकृतिक दुर्घटनाओं से भी कम हो जाता है जैसे भूचाल, बाढ़, सूखा और ओले पड़ने से ।

(ii) **राजनीतिक कारण**—सरकार का रूप और स्वभाव भी किसी देश में उत्पादन के परिमाण पर बहुत प्रभाव डालता है । रूस में, सोवियत सरकार ने आयोजन *(planning) द्वारा उत्पादन में जबर्दस्त वृद्धि प्राप्त की है । एक बड़े अरसे तक भारत* सरकार देश में कच्चे माल के उत्पादन को प्रोत्साहन देती थी और निर्माण-उद्योग को निरुत्साहित करती थी ।

(iii) **शिल्पिक (technical) उन्नति**—उत्पादन बहुत कुछ देश की शिल्पिक प्रगति तथा वैज्ञानिक ज्ञान पर भी निर्भर है । नए पदार्थों, नए तरीकों और नई मशीनों की खोज का प्रभाव उत्पादन के परिमाण पर अवश्य पड़ेगा ।

(iv) **साख, महाजनी और परिवहन तथा संचार के साधनों का विकास**—

बिना सुचारु बैंक-व्यवस्था और सस्ते तथा कारगर परिवहन तथा संचार के साधनों के, उत्पादन अवश्य पीछे रह जायगा। यह किसी देश के उत्पादन के बढ़ने के लिए प्राथमिक आवश्यकताएँ हैं।

(v) किसी देश में रहने वाले लोगों का चरित्र भी उत्पादन के स्वरूप और परिमाण पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव डालता है। परिश्रमी, शिक्षित और गम्भीर व्यक्ति हमेशा दूसरों से अधिक और बेहतर माल बनाते हैं।

५ उत्पादन के साधन (Factors of Production)—धन के उत्पादन में अनेक साधनों के सहयोग की आवश्यकता पड़ती है। उदाहरणार्थ, कपड़ा बनाने के लिए पहले भूमि चाहिए जो कपास दे फिर उसे कपड़े में बदलने के लिए कातने-बुनने वालों की सेवाओं की जरूरत होगी, साथ ही इनको मशीनें और औज़ार ख़रीदने के लिए द्रव्य भी चाहिए। और सबसे अधिक एक संगठनकर्ता (organiser) चाहिए जो तमाम व्यवसाय (business) को संगठित करे और प्रयुक्त होने वाले सभी साधनों का सहयोग स्थापित करे। इन साधनों को अर्थशास्त्री क्रमशः भूमि (land), श्रम (labour), पूँजी (capital) और संगठन (organisation) या उद्यम (enterprise) कहते हैं।

भूमि (land) से हमारा मतलब न केवल जमीन से है जैसा कि आम तौर पर समझा जाता है, बल्कि स्थल, जल और वायु के सभी प्राकृतिक साधनों से है जो मनुष्य को उपलब्ध है।

श्रम (labour) न सिर्फ एक कुली या अकुशल (unskilled) मजदूर का काम है बल्कि सभी प्रकार का शारीरिक या मानसिक परिश्रम है जो आय प्राप्त करने के लिए किया जाता है।

पूँजी का अर्थ न केवल व्यवसाय में प्रयुक्त होने वाली नगदी है, वरन् औज़ार, मशीनें और उत्पादन के दूसरे उपकरण भी है।

संगठन (organisation) है उपर्युक्त तीनों साधनों को साथ जुटाना और उनसे समुचित रूप से कार्य लेना। इसमें श्रमिकों को उनके परिश्रम के लिए पुरस्कार देना भी सम्मिलित है।

इन साधनों को क्रमशः जमींदार, श्रमिक, पूँजीपति और संगठनकर्ता (organiser) या उद्यमी (entrepreneur) कहते हैं, उनकी आय क्रमशः किराया (rent), मजदूरी (wages), ब्याज (interest) और लाभ (profit) कहलाती है।

६ क्या इन चारों साधनों को दो गिना जा सकता है?—कुछ अर्थशास्त्रज्ञ यह दृष्टिकोण सामने रखते हैं कि साधन चार नहीं हैं केवल दो ही मूल या आधारभूत साधन हैं। उनका तर्क है कि पूँजी कोई स्वतन्त्र या मौलिक साधन नहीं है वरन् बचत का फल है। श्रमिक भूमि पर कार्य करते हैं और जितना स्वयं उपभोग करते हैं उससे अधिक पैदा करते हैं। इस तरह जो वे पैदा करते हैं उसका एक अंश बच जाता है और धन के उन रूपों में बदल जाता है जो आगे उत्पादन में सहायक होते हैं। यही पूँजी है। इसकी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है और इसे भूमि और श्रम में ही गिनना चाहिए।

संगठन या उद्यम के लिए भी, उनका यह कहना है कि यह केवल श्रम का एक रूप है। अर्थशास्त्री श्रम में सब प्रकार का शारीरिक व मानसिक कार्य शामिल करते है। तब संगठन भी उसी में क्यों न गिना जाय ?

इस तरह हमारे पास केवल दो साधन बच रहते है, भूमि और श्रम। या कहें, प्रकृति और मनुष्य। अन्य दोनों साधन, पूंजी और उद्यम इनमें सम्मिलित है।

उपर्युक्त मत की दलील बिल्कुल ठीक है किन्तु यथार्थवादी नही है। आधुनिक काल में पूँजी का जबर्दस्त महत्त्व है। इसने श्रम को पृष्ठभूमि में छोड़ दिया है और भूमि का महत्त्व कम कर दिया है। इससे कौन इनकार कर सकता है कि आज पूंजीपति ही शासन करता है ? बिना पूंजी के उत्पादन नगण्य होगा। इसके अपने महत्त्व के कारण, पूंजी को उत्पादन के साधनों में एक स्वतन्त्र स्थान दिया जाना चाहिए।

फिर यद्यपि संगठन एक प्रकार का मानसिक कार्य ही है, फिर भी इस कार्य को सामान्य मानसिक श्रम से भिन्न समझना चाहिए। यह एक विशिष्ट प्रकार का कार्य है। इसमे न सिर्फ उत्पादन के सारे काम का प्रारम्भ का निर्देशन, नियन्त्रण और संचालन है, बल्कि सबसे ज्यादा उसमे जोखिम (risk) लेना भी शामिल है। आधुनिक काल मे, जहाँ उत्पादन के अन्य तीन साधन बिखरे हुए पड़े रहते है और उत्पादन कार्य अत्यन्त जटिल और खर्चीला है, एक संगठनकर्ता अथवा उद्यमी की सेवाओं का महत्त्व कम नहीं समझा जा सकता। उत्पादनो के साधनों मे इसको अपनी एक जगह होनी चाहिए और वह भी बहुत ऊँची।

इस तरह हम फिर उसी मत पर लौट आते है कि उत्पादन के दो नहीं वरन् चार साधन है—भूमि, श्रम, पूँजी और संगठन।

७. उत्पादन के साधनों की संख्या के बारे में आधुनिक मत—आज के अर्थशास्त्र के विचारक जैसे (बेन्हम), यह कहते है कि उत्पादन के साधन दो-चार नहीं बल्कि लाखों है। जो भी वस्तु उत्पादन मे काम आती है वह उसका एक साधन है। भूमि का प्रत्येक एकड़ स्वयं एक साधन है और ऐसे ही प्रत्येक कर्मकार, प्रत्येक रुपया और प्रत्येक उद्यमी स्वयं एक साधन है। इस प्रकार इन साधनो मे से प्रत्येक की संख्या लाखों ही नहीं बल्कि असंख्य है। हम अधिक से अधिक यह कर सकते है कि समान भूमि, कर्मकारो, मशीनों और उद्यमियो को एक ही पंक्ति में रखकर श्रेणी (group) को एक साधन गिन सकते है। किन्तु तब भी साधनो की संख्या हजारो मे जाएगी। आधुनिक अर्थशास्त्री पुराने परम्परागत वर्गीकरण पर इस आधार पर आपत्ति करते हैं कि बिल्कुल भिन्न वस्तुओं को एक श्रेणी में रख दिया गया है। उदाहरण के लिए, वे कहते है कि टाइपिस्ट और एक राज दोनों के काम को 'श्रम' का साँझा नाम देकर एक ही कोटि में कैसे रखा जा सकता है ? वे यह भी कहते है कि क्योंकि यह सभी साधन समान आर्थिक सिद्धान्तो से शासित है इसलिए इन्हें अलग-अलग रखने के कोई मायने नहीं।

यह विचारधारा भी तर्कसंगत है किन्तु हम चार साधनों के प्राचीन वर्गीकरण को ही अपनाएंगे। इससे उत्पादन के विभाग के अध्ययन मे सुविधा होती है।

हम अध्ययन के इस प्रारम्भिक स्तर पर विद्यार्थी को ऐसी सूक्ष्म बातो पर विवाद करके चक्कर में नहीं डालना चाहते।

८ उत्पादन के साधनों की कार्यक्षमता (Efficiency)—उत्पादन केवल किसी साधन के आकार (size) पर निर्भर नहीं है। यह उसकी कार्यक्षमता (efficiency) अर्थात् उसकी उत्पादन के सामर्थ्य (capacity) पर भी बहुत कुछ निर्भर है। किसी के पास हजारो एकड़ बालू की जमीन हो किन्तु वह उससे कुछ भी न पाएगा। जापानी, यद्यपि सख्या मे थोडे है, किन्तु एक वर्ष मे करोडो चीनियो और भारतीयो से अधिक उत्पादन कर लेते हैं। केवल सख्या से कुछ नहीं होता। इसी प्रकार एक बिल्कुल नए ढंग की मशीन पुरानी अप्रचलित मशीन से कहीं अधिक उत्पादन करती है। एक योग्य सगठनकर्त्ता एक छोटे से व्यवसाय से भी काफी लाभ कमा सकेगा। इसलिए किसी साधन की कार्यक्षमता अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

कार्यक्षमता प्राकृतिक हो सकती है और प्रयत्नो से पैदा भी की जा सकती है। बजर जमीन को वैज्ञानिक रीतियों द्वारा उपजाऊ बनाया जा सकता है। श्रमिको को सिखाया जा सकता है। पूँजी को उचित रूप से सगठित किया जा सकता है और उद्यमी को आंकडे तथा अन्य उपयोगी जानकारी देकर सहायता एवं शिक्षा दी जा सकती है। अच्छे गुणो को बढाया और बुरे गुणो को मिटाया जा सकता है। इस प्रकार कार्यक्षमता बहुत हद तक मनुष्य द्वारा निर्मित है।

९. उत्पादन के साधनो की गतिशीलता (Mobility)—उत्पादन की कार्यक्षमता किसी हद तक उत्पादन के साधनो की गतिशीलता (mobility) पर भी निर्भर है। गतिशीलता का अर्थ केवल एक स्थान से दूसरे स्थान पर शारीरिक हिलना-डुलना नहीं है वरन् एक उपयोग से दूसरे उपयोग मे बदले जाने की क्षमता भी है।

कुछ ही ऐसे साधन होगे जो केवल किसी विशेष उपयोग मे ही लाए जा सकें और किसी में नहीं। अधिकतर को एक से बदलकर दूसरे उपयोगो मे भी लाया जा सकता है। भूमि से अनेक फसलें उपजाई जा सकती है। श्रम एक धन्धे, स्थान अथवा उद्योग से दूसरे मे जा सकता है। एक मशीन तक विभिन्न वस्तुओ अथवा एक ही वस्तु की भिन्न-भिन्न किस्मो का उत्पादन कर सकती है। उद्यमी तो खैर एक व्यवसाय से दूसरे की ओर जा ही सकता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि अधिकतर उत्पादन के साधन पर्याप्त रूप मे गतिशील (mobile) हैं। उनमे से बहुत कम बिल्कुल रूढ एव निर्दिष्ट है।

कुछ मामलो मे गतिशीलता सरल है। उदाहरण के लिए चीनी कारखाने का एक एकाउन्टेन्ट सरलता से सूती मिल का भी एकाउन्टेन्ट बन सकता है। उसका काम वही रहता है यद्यपि वह एक उद्योग से दूसरे मे चला गया है। अन्य मामलों मे, गतिशीलता बडी कठिन भी है जैसे एक पेशे या स्थान को बदलना।

गतिशीलता से कभी-कभी हानि भी हो सकती है यदि उद्यमी एक व्यवसाय से दूसरे की ओर जाता है।

उत्पादन व्यवस्था की अपने आप को ढाल लेने की शक्ति (adaptability) उत्पादन के साधनो की गतिशीलता (mobility) पर आश्रित है। पिछले महायुद्ध ने

दिखाया कि उत्पादन-व्यवस्था काफी हद तक मोड़ी जा सकती है। जो देश युद्ध में फँसे थे उन्होंने शान्ति अर्थ व्यवस्था (peace economy) के स्थान पर युद्ध अर्थ-व्यवस्था (war economy) शीघ्र ही ग्रहण कर ली और बाद में इसके विपरीत भी वे सरलता से कर सके।

१० उत्पादन के साधनों का सापेक्षिक महत्त्व (Relative Importance of Production)—यह कहना कठिन है कि उत्पादन का कौनसा साधन अधिक महत्त्वपूर्ण है और कौन कम। सभी समान रूप से आवश्यक और महत्त्वपूर्ण लगते हैं।

भूमि हमें प्रकृति के उपहार देती है, वह हमें आर्थिक कार्यवाहियों के लिए स्थान देती है, कच्चा माल देती है। जो कुछ भी आज हमारे उपयोग में है अन्त में सो भूमि से ही आता है। भूमि के बिना मानव-जीवन की कल्पना करना असम्भव है।

किन्तु भूमि अकेली क्या कर सकती है? मनुष्य की सहायता के बिना वह जरा-सा ही तो उगा सकती है—शायद यहाँ वहाँ कुछ जंगली फल और बेर ही तो। जंगली वनस्पतियों से वर्तमान मानव जन-संख्या का गुजारा नहीं हो सकता। मनुष्य को भूमि पर कार्य करना पड़ता है जिससे उत्पादन में वृद्धि हो। इसलिए श्रम उतना ही महत्त्वपूर्ण और आवश्यक है। मनुष्य के प्रयास द्वारा ही उत्पादन इतना अधिक बढ़ा और अनेक प्रकार का हुआ है। वास्तव में, हर वस्तु पर जो हम देखते हैं, या प्रयोग में लाते हैं, मानवीय श्रम की मुहर लगी है।

पूँजी एक वास्तविक आवश्यकता की पूर्ति करती है। औजारों के बिना मनुष्य अधिक उत्पादन नहीं कर सकता। यदि मनुष्य ने आज प्रकृति पर विजय पायी है, यदि वह हवा में उड़ सकता है महासागर पर तैर सकता है, सागर के गर्भ में डुबकी लगा सकता है या पृथ्वी के अन्तराल में घुस सकता है, तो केवल मात्र मशीनों की सहायता से। जो समुदाय केवल भूमि और उसकी सम्पत्ति पर निर्भर हो, वह सदैव गरीबी के गड्ढे में पड़ा रहेगा। आज का युग यन्त्र का युग है। 'औद्योगीकरण करो या मरो', यही सर्वसाधारण का नारा है। किन्तु बिना पूँजी के औद्योगीकरण असम्भव है। आज का उत्पादन पूँजीवादी उत्पादन (capitalist production) कहलाता है वह बिना वजह के नहीं। पूँजी की महत्ता बढ़ा-चढ़ाकर कहना असम्भव है।

उद्यमी या संगठनकर्ता उत्पादन में अत्यावश्यक भाग पूरा करता है। वही तो उत्पादक यन्त्र की स्थापना और आरम्भ के लिए उत्तरदायी है। उसी के नेतृत्व में उत्पादन आगे बढ़ता है और नूतन मार्ग खोजता है।

इस प्रकार से हम समझ सकते हैं कि आधुनिक उत्पादन के लिए सभी साधनों की समान आवश्यकता है। किन्तु वे सदैव समान रूप से महत्त्वपूर्ण न थे। किसी विशेष साधन की महत्ता देश के आर्थिक विकास के काल पर आश्रित है। आखेट और पशु-पालन काल में निस्सन्देह भूमि ही सबसे बढ़कर थी। खेती के काल में श्रम ने भूमि की महत्ता कम कर दी और अपने आधिपत्य के लिए संघर्ष किया। किन्तु श्रम को पूर्ण सफलता न मिली। आज पूँजी और उद्यमी ही सबसे अधिक प्रभावशाली हैं और दूसरे साधनों का महत्त्व छिप-सा गया है।

इसके अतिरिक्त उत्पादन के साधनों का सापेक्षिक महत्त्व उद्योग के अनुसार

कम-ज्यादा हो जाता है। जिन उद्योगो म कच्चे माल का व्यय अधिक है उनमे हम कह सकते है कि भूमि अधिक महत्त्वपूर्ण है। जहां अधिक लागत की मशीनो का प्रयोग होता है पूंजी की अधिक महत्ता है। और इसी प्रकार से क्रमश अगले अध्यायो मे हम प्रत्येक साधन का अब बारी-बारी से विस्तारपूर्वक अध्ययन करेंगे।

आपने इस अध्याय से क्या सीखा है ?

उपभोग उत्पादन पर निर्भर है और उत्पादन उपभोग पर।

उत्पादन और उपभोग सापेक्ष शब्द है। ये एक ही व्यवहारी के विभिन्न पहलू है। प्रत्येक व्यक्ति उत्पादक भी है और उपभोक्ता भी।

उत्पादन क्या है ? इसका अर्थ है मूल्य का सृजन या वृद्धि। क्या इसका अर्थ उपयोगिता का सृजन है ? नहीं। इसका अर्थ है धन या मूल्य का सृजन। किसी वस्तु में उपयोगिता होते हुए भी सम्भव है उसमें मूल्य न हो।

अधिक उत्पादन (over production) क्या है ? अधिक उत्पादन केवल उत्पादक के ही दृष्टिकोण से होता है जब वे अपना माल लाभ पर नहीं बेच सकने और स्टाक एकत्रित हो जाते हैं। उपभोक्ता के दृष्टिकोण से अधिक उत्पादन नहीं हो सकता क्योंकि वे तो सदैव जितना उत्पादन हो उतना उपभोग कर सकते हैं और और अधिक की इच्छा करते हैं।

उत्पादक धन्धों का वर्गीकरण—

(१) औद्योगिक (Industrial) (क) निष्कर्षक (extractive), (ख) निर्माणकारी (*manufacturing*)

(२) व्यावसायिक (Commercial) (क) क्रय विक्रय, (ख) परिवहन, (ग) महाजनी और बीमा।

(३) उपभोक्ताओं की प्रत्यक्ष सेवा, उदाहरणतया घरेलू नौकरों और वकीलों आदि की सेवाएं।

उत्पादन पर प्रभाव डालने वाले कारण

(१) प्राकृतिक कारण जैसे जलवायु बाढ़, भूचाल।

(२) राजनीतिक कारण।

(३) शिल्पिक प्रगति।

(४) सचार एवं परिवहन के साधनों का विकास।

(५) साख और महाजनी (बैंकिंग) का विकास।

(६) जनता का चरित्र।

उत्पादन के साधन चार साधन

(१) *भूमि (land)* अर्थात् प्राकृतिक सम्पदा।

(२) श्रम (labour) समस्त मानसिक व शारीरिक कार्य जो द्रव्य के लिए किया जाए।

(३) पूंजी (capital) उत्पादन के सभी सहायक जैसे औजार, उपकरण आदि।

(४) संगठन (organisation) सभी अन्य साधनों को जुटाकर उत्पादन की जोखिम उठाने का कार्य।

क्या चारों साधनों को दो श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है ?—कुछ अर्थशास्त्रियों की दलील है कि पूंजी भूमि और श्रम के संयुक्त प्रयास का फल है और संगठन केवल एक प्रकार का श्रम है। इसलिए वे यह जोर डालते हैं कि भूमि और श्रम, केवल दो ही साधन है, या प्रकृति और मनुष्य।

आधुनिक अर्थशास्त्री सोचते हैं कि साधन चार है। उनका कहना है कि विभिन्न वस्तुओं का एक शीर्षक के नीचे वर्गीकरण करना गलत है।

उत्पादन के साधनों की कार्यक्षमता (efficiency)—उत्पादन बहुत कुछ उत्पादन के

साधनों की कार्यक्षमता (efficiency) पर आश्रित है। कार्यक्षमता स्वाभाविक भी हो सकती है और अर्जित भी।

उत्पादन के साधनों की गतिशीलता (mobility)—गतिशीलता का अर्थ है या तो साधनों का एक स्थान से दूसरे को जाना अथवा एक उपयोग से दूसरे उपयोग में बदलना।

उत्पादन की कार्यक्षमता तथा अवस्था की बदलने की शक्ति उत्पादन के साधनों की गतिशीलता पर निर्भर है।

उत्पादन के साधनों का सापेक्षिक महत्ता—सभी साधन महत्त्वपूर्ण एवं आवश्यक हैं। उनकी सापेक्षिक महत्ता उद्योग के प्रकार (type) तथा किसी देश के आर्थिक विकास के काल पर निर्भर है।

क्या आप निम्न प्रश्नों का उत्तर दे सकते हैं?

1 What is meant by production in Economics? In the light of your answer discuss the claim of the following to be called producers:—

(a) Farmers, (b) Hunters (c) Miners, and (d) Middlemen.

(दिल्ली, १९४६)

देखिये विभाग २

2 Mention some of the causes which affect the volume of production in a country Why is production low in India?

देखिए विभाग ८

भारत में उत्पादन निम्न कारणों से कम है

(१) कृषि के लिए पर्याप्त जल की कमी।

(२) छोटे खेत।

(३) किसान की गरीबी और अशिक्षा तथा खेती के आदिम उपाय।

(४) उद्योग का त्रुटिपूर्ण संगठन।

(५) विदेशी स्पर्द्धा।

(६) प्राकृतिक स्रोतों का आंशिक उपयोग अथवा अनुपयोग।

(७) श्रम की अपेक्षाकृत अकुशलता।

(८) पर्याप्त उधार तथा महाजनी सुविधाओं की कमी।

(९) परिवहन के साधनों की कमी।

(१०) अकुशल प्रशासन।

3 What is production? What are the factors of production?

(पंजाब विश्वविद्यालय, १९३६)

देखिए विभाग २ और ५

4 "Land, Labour and Capital have been called three requisites of production Explain this statement and offer any criticism upon it that you may think desirable (पंजाब विश्वविद्यालय, १९२९)

देखिए विभाग ५

5 What do you mean by the efficiency of a factor of production? On what does the efficiency of land and capital depend? (उत्तर प्रदेश, १९४०)

देखिए विभाग ८

6 What do you understand by 'mobility' of the factors of production ? Enumerate the factors that deter it. (बम्बई, १९४४)

देखिए विभाग ६

7 Discuss the relative parts played by Man and Nature in production Which of the two do you consider as more fundamental and why ? (पंजाब विश्वविद्यालय, १९३७)

देखिए विभाग १०

उत्पादन के साधन

(Agents of Production)

भूमि (Land)

'भूमि' का अर्थ केवल जमीन नहीं है

१. अर्थशास्त्र के अनुसार "भूमि" के शाब्दिक अर्थ—अर्थशास्त्र मनुष्य के दैनिक जीवन का शास्त्र है। इसमे साधारण भाषा शब्दो का ही प्रयोग होता है। परन्तु हमारे विज्ञान मे उन साधारण शब्दो के भी विशेष अर्थ और व्याख्या हो जाती है, कभी यह सकुचित तो कभी बहुत व्यापक। जैसे मूल्य (value) शब्द का अर्थ बहुत सीमित और सकुचित होता है परन्तु इसके विपरीत भूमि (land) शब्द का अर्थ बहुत व्यापक और विस्तृत होता है।

अर्थशास्त्र मे भूमि (land) शब्द से निरा जमीन का तल (surface of earth) ही नही माना जाता। इसके उलट यह शब्द अधिक बडे अर्थ मे प्रयुक्त किया जाता है और इसमे सारे प्राकृतिक उपहार (जिनमे भूमि भी शामिल है) माने जाते है। इसमे समस्त प्रकृति, जड और चेतन (living and lifeless), सम्मिलित मानी जाती है। इसमे सभी प्राकृतिक साधन शामिल है जो हमे वायु, जल और भूमि से बिना किसी मूल्य के मिलते है। पहाडी और मैदानी दोनो तरह की जमीन इसमे गिनी जाती है। नदी और नाले, समुद्र, खनिज सम्पत्ति, वर्षा जल शक्ति, मौसम-क्षेत्र, वन और प्रकृति द्वारा दिये हुए सारे स्रोत, जिनका उपयोग मानव करता है, इसी नाम (भूमि) मे आते हैं। इस तरह भूमि मे सभी प्राकृतिक साधन जो पृथ्वी के ऊपर, नीचे या पृथ्वी पर उपलब्ध है, आ जाते है। डा० मार्शल ने ठीक ही कहा है कि, 'भूमि' का अर्थ केवल जमीन ही नही है वरन् उसमे वे सारे उपकरण व सामग्रियाँ सम्मिलित है, जिन्हें प्रकृति मानव की सहायता के लिए मुफ्त भेंट करती है, जैसे जमीन, पानी हवा, प्रकाश और जलवायु।

२ उत्पादन के साधन के रूप मे भूमि का महत्त्व (Importance of Land as a factor of Production)—उत्पादन के साधन के रूप मे भूमि का भारी महत्व है। यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि हर वस्तु, जिसका उपयोग हमारे दैनिक जीवन मे है, शुरू म भूमि से मिलती है। वास्तव मे भूमि को सारी भौतिक विभूतियो का मूल स्रोत कहने मे कोई गलती नही है।

किसी भी देश की आर्थिक समृद्धि उसके प्राकृतिक साधनो के साथ बँधी हुई है। प्राय यह सच है कि हर देश (आर्थिक महत्व की दृष्टि से) वैसा होता है जैसा

प्रकृति ने उसे रच दिया है। यह भी सम्भव है कि प्राकृतिक साधनों से भरा पूरा होने पर भी कोई देश, किन्ही कारणों से, निर्धन रहे जैसे भारत। परन्तु उसके विपरीत यदि प्रकृति की किसी देश पर कृपा नहीं हुई तो उसको समृद्ध बनाने का कार्य बड़ी टेढ़ी खीर होगा।

स्पष्ट है कि किसी भी देश के कृषि धन (agricultural wealth) की गुण और मात्रा इसी बात पर निर्भर है कि उसकी मिट्टी (soil), जलवायु और वर्षा कैसी है। कृषि द्वारा उत्पादित ये वस्तुएं ही देश के उद्योग और व्यापार की नींव बनती है। और फिर, औद्योगिक समृद्धि निर्भर है देश में कोयले की खानों पर और बिजली पैदा कर सकने वाले जल प्रपातों (झरनों) पर।

उद्योगों के केन्द्र यहाँ बनें यह कच्चे माल और शक्ति की निकटता पर निर्भर है जिसका निश्चय प्रकृति ने किया होता है। देश की स्थल-रचना (topography) पर यातायात के सुलभ और अच्छे साधनों का होना निर्भर है।

इस तरह आर्थिक जीवन की सभी बातें—कृषि, व्यापार और उद्योग—उन प्राकृतिक साधनों से प्रभावित है जिन्हें अर्थशास्त्री 'भूमि' का नाम देते हैं। किसी भी देश के लोगों का जीवन, उपजीविका और जीवन-स्तर बनाने में उस देश की भूमि या प्रकृति का निश्चित प्रभाव पड़ता है।

३. उत्पादन के साधन के रूप में भूमि की विशेषताएँ (Peculiarities of Land as a Factor of production)—उत्पादन के साधन के रूप में भूमि बहुत विलक्षण (peculiar) है। इसमें कुछ ऐसी विशेषताएँ पाई जाती है जो इसे दूसरे साधनों से अलग करती है। वे इस प्रकार है—

(i) **भूमि प्रकृति का मुक्त उपहार है (Land is a free gift of Nature)**—यह मनुष्य द्वारा बनाई हुई या रची हुई चीज नहीं है। इसका मतलब यह हुआ कि हमें यह जिस रूप में भी प्राप्त हुई है स्वीकार करनी पड़ती है। यह तो सच है कि मनुष्य प्रकृति में सुधार और वृद्धि का प्रयत्न सदैव करता रहता है। परन्तु वह उस पर पूर्ण रूप से विजयी नहीं हो सकता। बंजर भूमि और प्रतिकूल जलवायु औद्योगिक और व्यापार कार्यों के लिए सदैव बाधा बन रहते हैं।

(ii) **भूमि की मात्रा सदा के लिए तय होती है (Land is permanent)**—इसका विनाश करना भी सहज नहीं है। इसके अतिरिक्त सभी साधन नाशवान् है, किन्तु भूमि को पूर्णतया नष्ट करना सम्भव नहीं है यहां तक कि अणु बम (Atom bomb) द्वारा नष्ट और विध्वस भूमि भी समय लेकर ठीक की जा सकती है और कुछ समय बाद उसके पहले के प्राकृतिक गुण फिर उसमे लाये जा सकते है।

(iii) *भूमि विस्तार से सीमित होती है (Land is limited in Area)*—यद्यपि खारे समुद्र का पानी सुखाकर भूमि को कृषियोग्य बनाने के कई सफल प्रयत्न किये जा चुके हैं, जिससे संसार की कृषि योग्य भूमि में कुछ विस्तार हो सकता है किन्तु इन प्रयत्नों से कोई विशेष लाभ नहीं हुआ है। हालैण्ड में इस तरह से भूमि के विस्तार का कार्य हुआ है। परन्तु इस प्रकार प्राप्त की गई भूमि बहुत कम मात्रा में पायी जाती है और सारे विश्व की भूमि के मुकाबले में बहुत थोड़ी है।

(iv) भूमि जड (निश्चल) होती है (Land lacks mobility)—भूमि को एक स्थान से उखाड़कर दूसरे स्थान पर नही ले जाया जा सकता। भौगोलिक शब्दो मे इसमे गतिशीलता (mobility) नही पायी जाती परन्तु इसका उपयोग विभिन्न कार्यो के लिए किया जा सकता है, इसलिए दूसरे दृष्टिकोण मे इसे गतिशील माना गया है।

(v) भूमि विविध प्रकार की होती है (Land is of infinite variety)—भूमि मनुष्य द्वारा निर्मित नही होती। प्रकृति ने इसे ऐसा बनाया है कि इसके अलग-अलग भाग भिन्न-भिन्न प्रकार के है। कोई भी निश्चित रूप से नही कह सकता कि रेतीली परत (sandy soil) का कहाँ अन्त होता है और चिकनी मिट्टी (clay) का कहाँ आरम्भ। यह एक दूसरे मे मिले हुए हैं। इतनो ज्यादा बारीकी वाले अन्तर किसी और दूसरी वस्तु या उत्पादन के साधन मे नही पाए जाते। विभिन्न भूखण्डो की स्थिति भी अलग-अलग होती है।

४ भूमि के गुणो मे भिन्नता क्यो होती है ? (Why Qualities of Land Differ)—कुछ कारणो और परिस्थितियो मे भूमि के गुणो मे भेद पाया जाता है।

(क) उपजाऊपन के भेद (Differences in fertility)—कुछ भूखण्ड और प्रदेश रेतीले (sandy) होते है और कुछ चट्टानी (rocks)। कुछ सूखे (dry) और कुछ काफी वर्षा वाले होते है। कुछ में अच्छा जलवायु पाया जाता है, और कुछ ऐसे होते है कि मनुष्य वहाँ रह ही नही सकता। मिट्टी (soil) के अग (constituents) भी कई प्रकार के होते हैं।

(ख) स्थिति के भेद (Differences in location)—भूमि का वह खण्ड जो मण्डी के समीप है दूर स्थित खण्ड की अपेक्षा सुविधाजनक होता है। स्थिति भेद करने का एक बहुत महत्त्वपूर्ण साधन है। यह भी सम्भव है कि मौके की जमीन कम उपजाऊ हो और इसके विपरीत बेमौके की जमीन अधिक उपजाऊ हो।

५. भूमि की उत्पादन-शक्ति पर प्रभाव डालने वाले कारण (Factors affecting Productivity of Land)—यह तो हम ऊपर समझा चुके है कि गुणो मे भूमि-खण्ड परस्पर भिन्न क्यो होते है। इसी प्रकार के दूसरे कारण उनकी उत्पादन शक्ति पर भी प्रभाव डालते है —

(क) प्राकृतिक साधन (The Natural Factor)—प्राकृतिक कारण जैसे मिट्टी, जलवायु, वर्षा का जल, स्थल रचना (topography), और प्राकृतिक समुद्र-तट भी किसी भूमि के उपजाऊ होने न होने का कारण बनते है। यदि भूमि अधिक रेतीली मिट्टी वाली या शुष्क जलवायु प्रधान (dry climate) है तो वहाँ उपज अपेक्षाकृत कम होगी। इसके विपरीत दोमट मिट्टी (alluvial soil), अनुकूल जलवायु और समयानुकूल जलवृष्टि से धनधान्यपूर्ण उपज होती है, और ऐसे भूमि खण्ड पर घनी आबादी (dense population) अपना निर्वाह कर सकती है।

(ख) मनुष्य का कार्य (The Human Factor)—मनुष्य सहज ही मे प्रकृति के सामने आत्मसमर्पण नही करता। यदि प्रकृति दयालु नही होती तो वह उससे सघर्ष करता है और उसमे सुधार करने के प्रयत्न करता है। उदाहरण के लिए, यदि

वर्षा के जल की कमी होती है, तो वह नहर के जल का प्रबन्ध करता है। यदि मिट्टी मे कुछ तत्त्वो का अभाव होता है तो वह नहर के जल का प्रबन्ध करता है। यदि मिट्टी मे कुछ तत्त्वो का अभाव होता है तो वह रासायनिक खाद (chemical manure) द्वारा उसे ठीक करता है। वास्तव मे मनुष्य प्रकृति की त्रुटियो (deficiencies) को दूर करने मे एक बड़ा महत्त्वपूर्ण भाग लेता है।

(ग) स्थिति का साधन (The Situation Factor)—भूमि की स्थिति का बड़ा महत्त्व होता है। नगर या मण्डी से दूर स्थित उर्वरा (fertile) भूमि को भी बेकार छोड़ दिया जाता है। कारण यह होता है कि उसके परिवहन पर पड़ने से अधिक पैसा खर्च होने का डर बना रहता है। इन उपजाऊ भूमि-खण्डो की तुलना नगर और मण्डी के समीप कम उपजाऊ भूमि खण्डो से नही की जा सकती।

६ विस्तृत और गहन खेती (Extensive and Intensive Farming)—यहाँ यह जान लेना नितान्त आवश्यक है कि विस्तृत और गहन खेती क्या होती है। यदि किसी भूमि-खण्ड पर अधिकाधिक श्रम (labour) और पूँजी (capital) लगाई जाय तो इस खेती की प्रणाली को गहन खेती (intensive farming) कहेंगे। श्रम और सम्पत्ति की अधिकता मे कृत्रिम सिंचाई (artificial irrigation), रासायनिक खाद और मशीनो का ज्यादा से ज्यादा प्रयोग भी सम्मिलित है। इस दशा मे भूमि से प्रति एकड़ अधिक उपज होती है। इस प्रकार खेती करके किसान भूमि से अधिक उपज करना चाहता है। इस प्रकार की खेती उन्नत देशो मे की जाती है जहाँ पर जनसंख्या के मुकाबले कृषि-योग्य भूमि कम है।

दूसरी ओर विस्तृत खेती (extensive farming) का अर्थ होता है भूमि के अधिक क्षेत्रफल पर खेती करना। इस प्रणाली के अनुसार किसान जितनी भूमि पर कार्य कर सकता है करता है। परन्तु खेती की प्रणाली प्राचीन और अवैज्ञानिक होती है और अपेक्षाकृत प्रति एकड़ उपज भी कम होती है। परन्तु गहन कृषि के मुकाबले मे जिसमे श्रम और पूँजी अधिक व्यय की जाती है उपज अधिक होती है। नई जमीन पर अपेक्षाकृत कम मेहनत की जाती है पर वह अधिक फसल देती है। और जब उस जमीन की ताकत घट जाती है तो और नई जमीन ले ली जाती है। वहाँ सिर्फ बुआई की जाती है और पकने पर फसल काट ली जाती है। १०० वर्ष पहिले संयुक्त राज्य अमरीका और कनाडा मे इसी प्रकार की खेती की जाती थी।

७ क्या विस्तृत कृषि का अर्थ बड़े पैमाने पर खेती करना है और गहन कृषि का अर्थ छोटे पैमाने पर खेती करना? (Does Extensive Cultivation mean Large-scale Farming and Intensive Cultivation Small-scale Farming?)—यह कोई जरूरी नही है। ऐसा अनुमान होना स्वाभाविक है कि एक किसान के पास अगर विस्तृत क्षेत्र है तो उसकी खेती बड़े पैमाने पर होती होगी। ठीक इसी तरह गहन कृषि का अर्थ छोटे पैमाने की खेती मालूम होती है। इस प्रणाली के अनुसार अधिकाधिक श्रम और पूँजी एक भूमि खण्ड पर व्यय करके अधिक उपज की आशा की जाती है।

परन्तु ऐसा हमेशा हो नहीं होता। विस्तृत और गहन खेती का भेद खत के

आकार का अन्तर नहीं है बल्कि कृषि-उपायों (Methods) का है। कनाडा, संयुक्त राज्य अमरीका, आस्ट्रेलिया और रूस में भी जहां भूमि का राष्ट्रीयकरण हो चुका है खेत बड़े-बड़े हैं और कभी-कभी तो मीलों लम्बे होते हैं। परन्तु फिर भी इनमें खेती के गहन (intensive) उपाय ही बरते जाते हैं। भूमि में धन की बड़ी राशि व्यय की जाती है। भूमि को ट्रेक्टरों (tractors) की सहायता से जोता जाता है, बीज भली प्रकार छांटा जाता है, सिंचाई की विपुल सुविधाएँ होती हैं और खाद काफी मात्रा में दिया जाता है। कृषि-कार्य पूर्ण वैज्ञानिक ढंग से होता है। संक्षेप में हम इसे गहन खेती कह सकते हैं।

भारत जैसे देश में, खेत बहुत छोटे होते हैं और फसल भी बहुत गिरी हुई होती है। हमारी खेती की रीति (method) विस्तृत है। हमारी आर्थिक अवनति का यह एक बड़ा कारण माना जाता है।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद और विशेषकर १९५०-५१ में पंचवर्षीय योजनाओं का सिलसिला शुरू होने के कारण गहन खेती को अत्यधिक महत्त्व दिया जाने लगा है। यह महत्त्व आगे और भी बढ़ता जाएगा क्योंकि हम खाद्य और उद्योगों के कच्चे माल में आत्म-निर्भर होना चाहते हैं।

विद्यार्थियों के लिए इस पाठ की कुछ ज्ञातव्य बातें

'भूमि' का अर्थ (The Meaning of Land)—'भूमि' का अर्थ केवल जमीन या मिट्टी नहीं होता। यह समस्त प्राकृतिक साधनों का भूमि पर, भूमि के ऊपर और भूमि के नीचे सम्मिलित नाम है।

उत्पादन के साधन के रूप में भूमि का महत्त्व (Importance of Land as a Factor of Production)—

(१) यह सारी भौतिक विभूतियों का मूल स्रोत है।
(२) किसी भी देश की आर्थिक उन्नति उसके प्राकृतिक साधनों पर निर्भर होती है।
(३) कृषि सम्बन्धी उपज की मात्रा और गुण इसी पर निर्भर हैं।
(४) औद्योगिक उन्नति भी इसी से सम्भव होती है।
(५) उद्योगों का स्थानीयकरण (localisation) इसी से निर्धारित होता है।
(६) परिवहन के साधनों का विकास भी इसी से प्रभावित होता है।

भूमि की विशेषताएँ (Peculiarities of Land)—

(१) यह प्रकृति का उपहार मानी जाती है।
(२) यह स्थायी होती है।
(३) यह सीमित होती है।
(४) यह गतिहीन निश्चल होती है।
(५) इसके बहुत से भेद होते हैं।

भूमि के गुणों में विभिन्नता क्यों होती है (Why Land differs in Quality ?)—उपजाऊपन और स्थिति, इन दो कारणों से भूमि में परस्पर भेद पाया जाता है।

भूमि की उत्पादन शक्ति पर प्रभाव डालने वाले कारण (Factors affecting Productivity of Land)—

(१) प्राकृतिक या स्वाभाविक गुण।
(२) मानवीय कारण—सिंचाई, खाद इत्यादि।
(३) मण्डियों से दूरी।

विस्तृत और गहन कृषि से (Extensive and Intensive Farming)—जब भूमि का प्रचुर मात्रा में उपयोग होता है तो इस प्रणाली को विस्तृत खेती कहते हैं। ऐसा लगता है कि इस प्रकार किसान के पास आवश्यकता से अधिक भूमि होती है। गहन खेती का अर्थ होता है वैज्ञानिक कृषि-प्रणाली। इस रीति के अनुसार फसलों का नियमित हेर-फेर (systematic rotation) ठीक तरह का बीज, गहरी जुताई, पर्याप्त मात्रा में सिंचाई और आधुनिक उपकरणों का उपयोग होता है।

विस्तृत कृषि का असली अर्थ यह नहीं है कि बड़े पैमाने पर खेती हो और गहन कृषि का अर्थ छोटे पैमाने पर खेती हो। दोनों का भेद रीति (method) का है न कि खेती में काम आने वाली भूमि की मात्रा का।

परीक्षा प्रश्न

1 Define land and discuss its importance as a factor of production What are the factors that affect the productivity of land ?

(देहली, १९५०)

देखिये विभाग १, २ और ५

2 *A country is what nature has made it ? Discuss*

[देखिये विभाग २। किसी देश की समृद्धि केवल उसके प्राकृतिक साधनों पर ही अवलम्बित नहीं होती। दूसरे साधन भी होने चाहिये। लोगों के पास पर्याप्त मात्रा में पूंजी होनी चाहिए और उनको शक्तिसम्पन्न और साधनयुक्त होना चाहिये। भारत प्राकृतिक उपहारों और साधनों का भंडार है परन्तु फिर भी काफी पिछड़ा हुआ है। इसका कारण यह है कि सामाजिक और राजनैतिक साधन उसके हक में नहीं।]

3 Distinguish between Intensive and Extensive Cultivation Does extensive cultivation necessarily mean large scale farming ? Give reasons

देखिये विभाग ६ और ७

4 In what respects is land fundamentally different from the other factors of production ? (उत्तर प्रदेश, १९३६)

देखिये विभाग ३

5 *Describe carefully the term Extensive and 'Intensive'* cultivation To what extent is the latter process of cultivation being carried on in India ? What are the chief difficulties to be met with in its adoption in India ? (उत्तर प्रदेश, १९२९)

[देखिये विभाग ६। भारत में गहन कृषि की प्रणाली बहुत कम है। इसका विशेष कारण पूँजी की कमी और कृषि के आधुनिक साधनों से अनभिज्ञता है।]

उत्पादन के साधन (क्रमशः)

(Agents of Production *Contd*)

श्रम (Labour)

स्वान्तःसुखाय कार्य श्रम नहीं है

१ अर्थ (Meaning)—ड्रिल मास्टर का कहना है कि "मेरा श्रम तब शुरू होता है जब दूसरे खेलते है।" जो यह कहता है, सच है। जो दूसरो के लिए खेल है, उसके लिए आय प्राप्त करने का उपाय है। यदि हम स्वास्थ्य के लिए व्यायाम करते है, यदि माँ बच्चे का पालन करती है यदि पिता अपने पुत्र को स्वय शिक्षा देता है, या यदि एक व्यक्ति अपने बाग के पौधो को अपने आनन्द के लिए सींचता है, तो यह सब कार्य अर्थशास्त्र मे "श्रम" नही कहलाते। ये द्रव्य प्राप्त करने के लिए नही किए जाते। अपना काम स्वय अपने आनन्द के लिए स्वान्तः सुखाय करना, चाहे वह जितना भी कठोर परिश्रम हो आर्थिक दृष्टि से 'श्रम' (labour) नही है। जब तक काम किसी प्राप्ति की आशा से न किया जाय, अर्थात् द्रव्य अथवा पदार्थो के रूप मे उसका फल न मिले, तब तक उसे 'श्रम" (labour) नही कह सकते।

साधारण भाषा मे 'श्रम" (मजदूरी) से हमारा मतलब होता है कुलियो द्वारा किया गया काम—कठोर शारीरिक परिश्रम, आम तौर पर अकुशल (unskilled)। किन्तु अर्थशास्त्र मे 'श्रम" पद का अर्थ अधिक व्यापक है। इसका अर्थ केवल अकुशल, शारीरिक परिश्रम नही है। इसमे मानसिक श्रम भी सम्मिलित है। इस तरह इसमे मजदूरो, इञ्जीनियरो, क्लर्को, टाइपिस्टो, प्रबन्धको पुलिस के तथा अन्य सरकारी पदाधिकारियो, शिक्षको, वकीलो, घरेलू नौकरो आदि सभी का काम आ जाता है। सब तरह का काम अर्थशास्त्र मे श्रम कहलाता है।

श्रम की परिभाषा यह हो सकती है कि "बुद्धि या शरीर का कोई कार्य जो आंशिक अथवा पूर्ण रूप मे किसी पदार्थ (माल) को प्राप्त करने, अर्थात् आय की दृष्टि से किया जाय, न कि केवल कार्य द्वारा प्राप्त आनन्द के लिए।" (मार्शल)

एक बात का उल्लेख आवश्यक है। अर्थशास्त्र मे 'श्रम' का जो मतलब लिया जाता है उसमे सिर्फ मनुष्यो का काम आता है। पशुओ की मेहनत उसमे शामिल नही। उसे पूंजी द्वारा हुआ कार्य गिना जाता है।

२ उत्पादक तथा अनुत्पादक श्रम (Productive and Unproductive Labour)—बहुत काल तक अर्थशास्त्रियो मे असहमति थी कि किस प्रकार का श्रम उत्पादक कहा जा सकता है और कौनसा अनुत्पादक।

१८वी सदी मे फ्रास मे अर्थशास्त्र की एक परिपाटी (school) फीजियोक्रेट्स

(Physiocrats) के अनुसार केवल कृषि ही उत्पादक श्रम था, क्योंकि केवल उसी में वास्तविक उत्पादन होता था। एडम स्मिथ के खयाल से वही कार्य उत्पादक था जिससे कोई स्थूल वस्तु बनती थी। वकीलों, प्रोफेसरों, गाने वालों की सेवाओं को उस विचार में उत्पादक नहीं माना गया। बाद में, माल निर्माण का कार्य भी उत्पादक गिना जाने लगा। धीरे-धीरे यह माना जाने लगा कि व्यापारी का कार्य वस्तुओं को जमा करने और लाने ले जाने का कार्य भी उनके मूल्य में वृद्धि करता है। महाजनी (बैंकिंग) और बीमा का काम भी 'उत्पादक' की श्रेणी में आ गया। आजकल सभी प्रकार का कार्य, चिकित्सा, वकालत, शिक्षण आदि यहाँ तक कि घरेलू नौकरों का काम भी उत्पादक समझा जाता है। दूसरे शब्दों में, आर्थिक दृष्टि से सभी श्रम उत्पादक है।

आजकल अनुत्पादक श्रम (unproductive labour) का पद केवल उस श्रम के लिए प्रयुक्त होता है जो क्षय हो जाता है या जिसका निर्देशन गलत होता है, या वह श्रम जो अपना प्रयोजन पूरा नहीं कर पाता। इन उदाहरणों में भी कुछ अर्थशास्त्री कहते है कि श्रम उत्पादक है, क्योंकि जब उस श्रम का उपयोग किया गया था उस समय उसका प्रयोजन था उत्पादन। यह तो बाद में ही मालूम पड़ा कि उससे कुछ प्राप्त नहीं हुआ। गलत रूप में निर्देशित श्रम भी उत्पादक है, कम से कम मजदूर की दृष्टि से क्योंकि उस उसके लिए मजदूरी मिल जाती है। वह अनुत्पादक केवल समाज की दृष्टि से है।

३. **श्रम की विलक्षणताएँ (Peculiarities of Labour)**—भूतकाल में श्रम को एक साधारण पदार्थ की भाँति समझा जाता था जो बाजार में बिकने और खरीदने के लिए आता था। उस समय यह नहीं माना जाता था कि श्रम न केवल एक उद्देश्य का (उत्पादन का) साधन है, वरन् स्वयं भी एक साध्य (उपभोक्ता) है। अब यह अन्तर, जो श्रम को अन्य पदार्थों से पृथक् करता है, सामने रखा जाता है। इसलिए हमें श्रम की उन विलक्षणताओं (peculiarities) को देखना पड़ेगा जो उसे अन्य पण्यों से भिन्न बनाती है।

(१) **श्रम श्रमिक से पृथक् नहीं किया जा सकता**—एक श्रमिक का कार्य उसे स्वयं ही करना पड़ता है। किसान घर पर रहकर अपना 'श्रम' खेत पर नहीं भेज सकता। एक डाक्टर को अपने मरीज के पास सशरीर स्वयं जाना होगा। और यदि कोई श्रम कोई विशेष रूप ग्रहण कर लेता है, जैसे किसी विद्वान् के विचार पुस्तक के रूप में आ जाते हैं, तो वह सीधा-सादा श्रम नहीं रह जाता। पुस्तक श्रम का फल है और वह एक भौतिक पदार्थ है। इसलिए वह कहीं भी भेजी जा सकती है।

(२) **श्रमिक अपना श्रम बेचता है, स्वयं को नहीं**—जो कुछ किसी श्रमिक के प्रशिक्षण पर व्यय किया गया है वह उसका श्रम बेचकर वापस नहीं मिल सकता। यह कदाचित् गुलामी की प्रथा के समय सम्भव था, किन्तु वे दिन अब चले गए।

(३) **श्रम बाकी सब पदार्थों से अधिक नाशवान है**—कहते है समय उड़ता है। किन्तु यदि यह सच है तो श्रम भी उसके साथ उड़ता है। जो दिन बिना काम किए चला गया वह अब वापस नहीं आ सकता।

(४) **श्रमिकों में "सौदा करने" की शक्ति मालिकों के बराबर नहीं है**—यह इसलिए क्योंकि श्रम को संचित नहीं किया जा सकता। और मजदूर निर्धन और अशिक्षित है। इसलिए यद्यपि उनके पास हड़ताल का शस्त्र है जिसे वे मालिकों के विरुद्ध प्रयोग करते हैं किन्तु वह हथियार उन्हें भी हानि पहुँचाता है। अधिकतर औद्योगिक देशों में शक्तिशाली मजदूर यूनियनों के बन जाने से औद्योगिक मजदूर को काफी सहायता मिली है और कहीं-कहीं मालिकों के विरुद्ध पाँसा ही पलट गया है। जब श्रमिक मालिकों से अलग अलग व्यवहार करने की बजाय सामूहिक रूप से व्यवहार करना सीख जाते हैं तब वे कमजोर नहीं रह जाते।

(५) **श्रमिक एक यन्त्र से भिन्न है**—क्योंकि उसकी अपनी भावनाएँ और रुचियाँ हैं। वह सबसे अच्छा काम तब करता है जब वह खुश होता है और दिल लगा कर काम करता है। आराम, अवकाश, स्वस्थ वातावरण, मनोविनोद और सबसे अधिक पदाधिकारियों का सद्व्यवहार उसकी कार्यक्षमता बढ़ाता है।

(६) **श्रम, पूंजी तथा अन्य पदार्थों से कम गतिशील है**—जो ऊपर कहा गया है उसमें ही यह परिणाम निकलता है कि श्रमिक मशीन नहीं है।

(७) **श्रम की पूर्ति (सप्लाई) उसकी माँग पर निर्भर नहीं है और शीघ्र बढ़ाई या घटाई नहीं जा सकती**—श्रमिकों का अन्य पदार्थों की भाँति आदेशानुसार निर्माण या उत्पादन नहीं हो सकता। यदि वे अत्यधिक हैं तो उनकी संख्या केवल प्रवास या भुखमरी जैसे कष्टकर उपायों से ही कम की जा सकती है।

(८) **श्रमिकों के उत्पादन की लागत की गणना करना सरल नहीं है**—यह भी इसलिए कि श्रम एक विलक्षण वस्तु है।

(६) **श्रमिक अपनी निपुणता में भिन्न होते हैं**—इसलिए औजारों तथा यन्त्रों के समान वे बदले नहीं जा सकते।

४. किसी देश की श्रम शक्ति (Labour Strength of a Country)—किसी देश की श्रम शक्ति उसके श्रम की संख्या और गुण दोनों पर आश्रित है। गुण से उनकी कार्यक्षमता तथा काम करने की सामर्थ्य का अभिप्राय है। अब हम श्रम के इन पहलुओं पर विचार करेंगे—परिमाण तथा गुण पर।

५ मालथस का जनसंख्या का सिद्धान्त (Malthusian Theory of Population)—श्रम का परिमाणात्मक पहलू जनसंख्या की वृद्धि से सम्बन्धित है। जनसंख्या का सुपरिचित सिद्धान्त मालथस का सिद्धान्त है। टामस रॉबर्ट मालथस (Thomas Robert Malthus) ने अपना यह सिद्धान्त १७६८ में अपनी पुस्तक 'ऐसे आन पापुलेशन' (Essay on Population) में प्रतिपादित किया था। उसने इस सिद्धान्त में बाद में और भी संशोधन किए किन्तु उसकी प्रमुख बातें ज्यों की त्यों रहीं।

मालथस ने लिखा कि जनसंख्या में ज्यामितिक वृद्धि (Geometrical Progression) होती है जैसे $२^१, २^२, २^३, २^४, २^५$ (अर्थात् २, ४, ८, १६, ३२); जबकि खाद्य-पूर्ति में समानान्तर वृद्धि (Arithmetical Progression) होती है, जैसे २, ४, ६, ८, १०, १२। इसका परिणाम यह होता है कि खाद्य अवश्य ही

जनसंख्या की अपेक्षा कम पड़ जायगा।

बाद में माल्थस ने अपने सिद्धान्त का गणितसम्बन्धी अंश त्याग दिया क्योंकि उसे प्रमाणित नहीं किया जा सका। उसने 'ज्यामितिक वृद्धि' और 'समानान्तर वृद्धि' पदों का प्रयोग केवल अपने सिद्धान्त पर जोर डालने के लिए किया था।

संक्षेप में, माल्थस का सिद्धान्त इन शब्दों में कहा जा सकता है :—

"प्रजनन की शक्ति मानव में नैसर्गिक है, जैसी कि वनस्पति तथा पशुओं में भी है। यदि यह निर्बाध रूप से प्रयुक्त हो तो इस शक्ति से संख्या में शीघ्र वृद्धि होगी। गुणन प्रकृति का नियम है। इसलिए जनसंख्या जोर-शोर से बढ़ती है।"

किन्तु खाद्य का उत्पादन, क्योंकि घटती हुई उपज के नियम (law of diminishing returns) के अधीन है इसलिए उसमें इतनी शीघ्र वृद्धि नहीं होती।

जब जनसंख्या तेजी से बढ़ती है किन्तु खाद्य सप्लाई धीरे-धीरे, तो यह परिणाम स्पष्ट है कि जनसंख्या खाद्य सप्लाई से आगे बढ़ जाएगी। जब खाद्य सप्लाई कम पड़ जाएगी तो लोग भूखों मरेंगे और दुःख भोगेंगे।

अपने को इस आगामी दुःख से बचाने के लिए माल्थस ने कहा कि लोगों को निरोधक उपायों का उपयोग करना चाहिए, जैसे आत्मसंयम तथा देर से विवाह करना आदि। यदि निरोधक प्रतिबन्ध (preventive checks) न लगाए गए तो निश्चयात्मक प्रतिबन्ध (positive checks) जैसे रोग, युद्ध अकाल आदि लागू होंगे। इस प्रकार जनसंख्या कम होकर अपनी सीमा में आ जाएगी—उतनी हो जाएगी जितनी के लिए खाद्य प्राप्त हो सकता है।

६. माल्थस के सिद्धान्त की आलोचना (Criticism of Malthusian Theory)—माल्थस के सिद्धान्त ने एक विवाद का तूफान खड़ा कर दिया। आलोचकों ने निम्न आधारों पर उसका विरोध किया —

(i) इसका गणनात्मक पहलू सही नहीं है। माल्थस ने उत्तर दिया कि गणनात्मक अंश उसके सिद्धान्त का आवश्यक अंग नहीं है। उसका उपयोग तो उसने केवल अपनी बात पर उचित जोर देने के लिए किया था।

(ii) यह सिद्धान्त खेती में अनुभव में आने वाले घटती हुई उपज के नियम पर आधारित है। किन्तु यह कहा गया कि इस नियम का मुकाबला खेती के वैज्ञानिक उपायों का प्रयोग करके किया जा सकता है। अब तक तो कृषि की प्रगति ने माल्थस के भय को निर्मूल साबित किया है। किन्तु क्या हम निश्चित रूप से यह कह सकते हैं कि विज्ञान की प्रगति जनसंख्या की वृद्धि के साथ हमेशा कदम मिला सकेगी? क्या अन्त में विज्ञान की हार न होगी?

(iii) यह सिद्धान्त वास्तविक तथ्यों से सच साबित न हुआ। माल्थस भविष्य की प्रगति को पहले से ही न देख सकता था। उन्नत देशों में लोग इतने सन्तति निरोधक उपायों का प्रयोग करते हैं कि जनसंख्या की वृद्धि लगभग रुक गई है। इसका ज्वलन्त उदाहरण फ्रांस है। फिर जनसंख्या में वृद्धि माल्थस की बताई हुई दर से नहीं हुई है। उन्नत देशों में जन्म-दर (birth rate) तथा मरण-दर (death rate) दोनों ही कम हो गई हैं। आज जन्म-दर तथा मरण-दर का अन्तर, सजीवन-

गति (survival rate) पहले से बहुत कम हो गई है। पिछली शताब्दी में इंगलिस्तान की जनसंख्या की दसवर्षीय वृद्धि १९% से ५% रह गई।

लोग अब अपने जीवन स्तर को अधिक महत्त्व देते हैं। वे या तो विवाह स्थगित कर देते हैं या करते ही नहीं जब तक वे जिस जीवन स्तर के आदी हो चुके हैं, उसे बनाए रखने की स्थिति में न हों।

आज आर्थिक सम्पन्नता (खुशहाली) का स्तर पहले से ऊँचा है। खाद्य सामग्री पहले से कहीं अधिक बढ़ी हुई तथा विविध है। माल्थस की निराशाजनक भविष्यवाणी सब साबित नहीं हुई। पश्चिमी देशों में लोगों के स्वास्थ्य और शरीर पहले से कहीं अच्छे हैं।

(१८) धन और सम्पन्नता परोक्ष रूप में जनसंख्या को रोकते हैं। यह बताया गया है कि धनी परिवारों में गरीबों की अपेक्षा कम बच्चे पैदा होते हैं। इस वक्तव्य का वैज्ञानिक प्रमाण तो नहीं है किन्तु आँकड़ों (statistics) से ऐसी प्रवृत्ति पता चलती है।

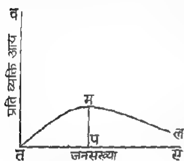
इसमें सन्देह नहीं कि माल्थस कुछ ज्यादा निराशावादी था। पश्चिम में जनता उस सकट से बच गई है जिसकी भविष्यवाणी उसने की थी। कृषि व्यापार एवं उद्योग में हुई प्रगति से और उन्नत देशों में हुए सामाजिक सुधारों से उसका भय गलत साबित हुआ है।

किन्तु हिन्दुस्तान और चीन जैसे पिछड़े हुए देशों के लिए भी क्या यह सच है? उनकी लाखों करोड़ों की जनता भीषण निर्धनता में ग्रस्त है। कोई निरोधात्मक प्रतिबन्ध प्रयोग में नहीं लाए जाते। इसलिए निश्चयात्मक प्रतिबन्ध जैसे अकाल, युद्ध और रोग खुलकर खेल रहे हैं। क्या हम सन्देह कर सकते हैं कि माल्थस ने जो कुछ कहा वह इन देशों पर लागू होता है?

फिर उसका सिद्धान्त किसी देश विशेष पर भले ही लागू न होता हो किन्तु समूचे विश्व पर तो मोटे तौर पर लागू हो सकता है। एक देश खाद्य का आयात करके या कोई दूसरे उपाय अपनाकर अपने को भले ही बचा ले। किन्तु विश्व की कुल जनसंख्या अपनी कुल खाद्य-सप्लाई से अधिक अवश्य हो जाएगी। यदि यह न होता तो पश्चिमी देश और ब्रिटिश डोमिनियन्स एशिया वासों के आने पर रोक न लगाते। गोरे लोग एशिया की बढ़ती हुई जनता से अपनी रक्षा करने के लिए दीवारें खड़ी करने को आतुर हैं जिससे वे अपना जीवन-स्तर बनाए रख सकें।

७ जनसंख्या का आधुनिक सिद्धान्त (Modern Theory of Population)—जनसंख्या का सिद्धान्त आदर्श जनसंख्या सिद्धान्त (Optimum theory) के नाम से जाना जाता है। माल्थस के सिद्धान्त ने, कोई देश अधिक से अधिक कितनी जनसंख्या का निर्वाह कर सकता है इस पर अपना ध्यान रक्खा। यदि वह अधिक से अधिक सीमा पार हो गई तो उस देश के लिए दुःख और संकट ही भाग्य में बदा है। 'आदर्श सिद्धान्त'—आप्टिमम थ्योरी—के अनुसार ऐसी कोई अधिकतम सीमा नहीं है। यदि एक देश अपनी सम्पदा में विकास करता है तो वह अपनी जनसंख्या भी तदनुकूल बढ़ा सकता है।

'आदर्श' जनसंख्या सिद्धान्त (Optimum Population theory) कहता है कि यदि हम किसी एक समय एक देश में तब तक जो विकास वहाँ की प्राकृतिक सम्पत्ति का हो चुका है उसको ध्यान में रखें, तो एक विशेष जनसंख्या है जो उसके लिए सर्वोत्तम है। यदि आदर्श संख्या है। वह देश इस संख्या को ही सर्वोत्तम दशा में बनाए रख सकता है। किन्तु यदि जनसंख्या इस 'आदर्श' (Optimum) संख्या से अधिक बढ़ती है तो अत्यधिक-संख्या (over-population) हो जाएगी क्योंकि तब उपलब्ध माल अत्यधिक व्यक्तियों में बँट जाएँगे। यदि वास्तविक जनसंख्या इस योग्यतम, आदर्श—आप्टिमम से कम है तो "अल्प जनसंख्या" (under population) होगी। इसका अर्थ यह होगा कि उपलब्ध स्रोतों के सर्वोत्तम उपभोग के लिए, उन्हें काम में लाने के लिए, पर्याप्त संख्या में लोग न होंगे। दोनों दशाओं में—अर्थात् अत्यधिक व अल्प संख्या में—प्रति व्यक्ति आय जितनी होनी चाहिए उससे कम होगी। "आदर्श" (optimum) स्तर पर ही प्रति व्यक्ति आय सबसे अधिक होगी। "यह आदर्श स्तर तब पहुँचता है, जब अन्य साधनों के उपलब्ध परिमाण से (यह साधन भी स्वयं परिवर्तनशील है), प्रति व्यक्ति अधिकतम (maximum) उत्पादन होने लगता है।"—सिल्वरमैन (Silverman)। 'आदर्श जनसंख्या' को रेखा-चित्र द्वारा भी सरलता से प्रकट किया जा सकता है। किसी देश की सम्पत्ति-स्रोतों का विकास कम, साधारण, या अच्छा हो चुका हो सकता है जिसे हम क, ख, ग आदि नाम दे सकते हैं। इनमें से कोई एक स्तर ले लीजिए। अब त ए के साथ जनसंख्या अंकित की जाए और त व के साथ प्रति व्यक्ति आय। त प जनसंख्या पर सबसे ज्यादा प्रति व्यक्ति आय प म मिलती है जबकि विकास का एक निश्चित स्तर है। त प से कम जनसंख्या अत्यल्प होगी और उससे ज्यादा आबादी अत्यधिक। इन दोनों अवस्थाओं में प्रति व्यक्ति आय प म से कम रहेगी।



यह आदर्श जनसंख्या (Optimum population) सम्पदा स्रोतों (resources) से सम्बन्धित है। यह संख्या रूढ़ नहीं है। आज हम यह कहते हैं कि भारत की जनसंख्या अत्यधिक है। किन्तु हम अपने सम्पत्ति स्रोतों (resources) को पूर्णतया विकसित कर लें और अपना राष्ट्रीय धन बढ़ा लें तो भारत में अत्यधिक जनसंख्या नहीं रहेगी। इसका अर्थ यही है कि हम विकास के एक निचले दर्जे से उठकर एक ऊँचे दर्जे पर पहुँच गए। ऊँचा दर्जा कुदरती तौर पर ज्यादा आबादी को अधिक प्रति व्यक्ति आय पर पाल सकता है। इस प्रकार एक छोटी सी आबादी भी अत्यधिक जनसंख्या (over-population) हो सकती है, यदि उपलब्ध स्रोत पर्याप्त न हों, और यदि पर्याप्त मात्रा में स्रोत प्राप्त हों तो बड़ी जनसंख्या भी अत्यधिक नहीं

होगी। मक्षेप में यह सिद्धान्त जनसंख्या को सम्पत्ति-स्रोतों से सम्बन्धित कर देता है, मालथस की तरह देश के स्रोतों से अलग, जनसंख्या की बात निरपेक्ष ढंग से नहीं करता।

८ **श्रम की कार्यक्षमता (Efficiency of Labour)**—हमने देखा है कि किसी देश की श्रम शक्ति (labour strength) का अन्दाजा लगाते समय जनता की संख्या और उसकी कार्यक्षमता दोनो को लेना पड़ेगा। हमने जनसंख्या के सिद्धान्त में परिमाणात्मक पहलू पर काफी विचार कर लिया है। अब हम श्रम की कार्यक्षमता (efficiency) की समस्या पर विचार करेंगे।

अंग्रेज, अमरीकी तथा जापानी श्रम, भारतीय श्रम की अपेक्षा अधिक कार्यक्षम (efficient) तथा निपुण समझा जाता है। इसका क्या कारण है ?

कर्मकार की कार्यक्षमता दो प्रकार के कारणों पर अवलम्बित है—वे जो (क) उसकी कार्य करने की शक्ति पर प्रभाव डालते है और वे जो (ख) उसकी कार्य करने की इच्छा पर प्रभाव डालते है। श्रमिक की काम करने की शक्ति और क्षमता पर जो प्रभाव डालते है वे कारण निम्नलिखित है—

(i) **नैसर्गिक मूलवंशीय (Racial) गुण**—जालन्धर के जाट कांगड़ा के राजपूतों अथवा गुड़गांवा के मेवों की अपेक्षा अधिक अच्छे किसान हैं। आदमी जिस मूलवंश (race) का होता है उसके कुछ गुण विरासत में पाता है। कुछ जातियाँ अन्य की अपेक्षा अधिक परिश्रमी होती है। ये गुण व्यक्ति के हाथ में नहीं और बहुत कुछ प्राकृतिक वातावरण तथा जलवायु पर निर्भर है।

(ii) **अर्जित गुण**—कुछ गुण ऐसे है जो कर्मकार को सामान्य अथवा शिल्पिक (technical) शिक्षा द्वारा प्राप्त होते हैं। इन गुणों में ईमानदारी बुद्धि, धैर्य, निर्णय शक्ति, स्वास्थ्य और शारीरिक शक्ति, मौलिकता उत्तरदायित्व की भावना आदि भी कहे जा सकते हैं। इन गुणों पर श्रम की कार्यक्षमता निर्भर है।

(iii) **कमाई**—यदि एक कर्मकार अच्छी मजदूरी कमा रहा है, तो वह अच्छा भोजन तथा जीवन निर्वाह की अन्य वस्तुएँ पा सकता है। इससे उसका स्वास्थ्य बन, सहन शक्ति बढ़ेगी और वह नि सन्देह एक बेहतर कर्मकार बन सकेगा। अधिक मजदूरी की बचत (economy of high wages) सब को मालूम है। "कम मजदूरी मँहगी मजदूरी होती है" (low wages are dear wages)।

(iv) **नौकरी की दिशाएँ**—यदि कारखाना साफ-सुथरा और हवादार है, यदि वातावरण स्वस्थ और आकर्षक है तो कर्मकार बेहतर काम कर सकेगा। इसी प्रकार, यदि मशीनरी आधुनिक है और कच्चा माल अच्छी किस्म का है, यदि प्रबन्धक (मैनेजर) कुशल है और श्रम शक्ति का बखूबी उपयोग कर सकता है तो श्रम का उत्पादन बढ़ेगा।

(v) **काम के घंटे**—यह साबित हो चुका है कि ज्यादा देर तक काम का मतलब होता है निम्न कार्यक्षमता (low efficiency)। कर्मकार को थकावट घेर लेती है। वह बोझिल मन से और धीरे-धीरे काम करता है जिसका फल निम्न कार्यक्षमता हो जाता है। यदि कार्य दिवस बहुत लम्बा नहीं और आराम के लिए

उचित समय बीच बीच में दिया जाता है तो कर्मकार अपनी शक्ति भर अच्छा काम कर सकेगा।

कर्मकार की कार्य करने की इच्छा उसकी उन्नति की महत्वाकांक्षा से बल पाती है। वह अवसर का पूरा लाभ उठाना चाहता है। इसलिए कार्यक्षमता के लाभांश (efficiency bonus), या लाभ बँटाई की योजनाएँ (profit-sharing schemes) और उसकी कर्त्तव्य की भावना साथ साथ चलती और उसे प्रोत्साहन देती है। यह सब कारण उसके काम करने के उत्साह को बढ़ाते हैं। और जितनी ज्यादा उसमें लगन होगी उतनी ही अधिक उसकी उत्पादन-शक्ति होगी।

६. कार्यक्षम श्रम के लाभ (Advantages of Efficient Labour)—कार्यक्षम श्रम व्यक्तिगत रूप से श्रमिकों के लिए, मालिकों के लिए और सारे राष्ट्र के लिए भी हितकर है।

कर्मकार को अपनी कार्यक्षमता से लाभ है ही। वह अपने सहयोगियों से आदर पाता है और मालिक से तारीफ। वह अधिक कमा भी सकता है और अधिक अच्छा जीवन स्तर बना सकता है।

कारखाने का मालिक भी कार्यक्षम श्रमिक से बड़ा लाभ उठा सकता है। ऐसे श्रमिक पर देख-रेख की जरूरत कम पड़ती है। वह कच्चा माल कम बर्बाद करता है और मशीन को सावधानी से बरतता है। मरम्मत का व्यय कम हो जाता है और उत्पादन की लागत कम हो जाती है।

अन्ततोगत्वा निपुण जनसंख्या से सारे राष्ट्र का हित होता है। राष्ट्रीय धन में वृद्धि होती है। कुशलता, बुद्धि और स्वास्थ्य का स्तर ऊँचा उठता है। और सबसे अधिक तो यह अन्य देशों के उद्योगों का मुकाबला करने की ताकत बढ़ाता है। यह सब जानते हैं कि दुनिया के बाजार में जापान की औद्योगिक प्रभुता अधिकांश जापानी श्रम की कार्यक्षमता के कारण ही थी। निपुण श्रम राष्ट्र की एक बड़ी पूँजी (national asset) है। भारत का आर्थिक पिछड़ापन कुछ हद तक तो भारतीय श्रम की निम्न कार्यक्षमता के कारण है।

१०. श्रम की गतिशीलता (Mobility of Labour)—सभी प्रकार के सामान में, मनुष्य को कहीं ले जाना सबसे कठिन कहा जाता है। भूमि को छोड़कर शायद श्रम ही सबसे कम गतिशील (mobile) साधन है। मनुष्य एक न एक बहाना ढूंढ लेता है और अपने जन्म स्थान को छोड़ना नहीं चाहता।

श्रम की गतिशीलता निम्न रूप ग्रहण करती है—

भौगोलिक गतिशीलता (Geographical Mobility)—इसका अर्थ है एक नगर से दूसरे को और एक राज्य या देश से दूसरे को जाना। सब प्रकार की गतिशीलताओं में यह सबसे कठिन है। मनुष्य परिवर्तन से उतना ही डरता है जितना बच्चा अन्धकार से। वह जहाँ है वहीं रहना चाहता है। वह परिचित कठिनाइयों को पसन्द करता है बजाए इसके कि अपरिचित कठिनाइयों को निमन्त्रण दे। नई और अनजानी जगहों के लिए उसे एक अस्पष्ट-सा भय होता है। आदमी अपने सगे-सम्बन्धियों के बीच रहना चाहता है। धर्म, जाति और भाषा के अन्तर उसे दूर जगहों में जाने

से रोकते हैं। पंजाबी श्रमिक विशेषकर सिक्ख अपेक्षाकृत अधिक गतिशील (mobile) हैं। वे दुनिया के लगभग सभी भागों में—अमरीका, कनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड, अफ्रीका आदि देशों में—मिलेंगे।

वृत्तिक गतिशीलता (Occupational Mobility)—यह दो प्रकार की है—खड़ी या ऊर्ध्वोत्तर (vertical) और पड़ी या क्षितिजीय (horizontal)। क्षितिजीय गतिशीलता (horizontal mobility) से अभिप्राय है कि एक श्रमिक एक धन्धे से दूसरे में चला जाता है किन्तु लगभग एक ही कोटि में। जैसे एक टाइपिस्ट नौकरी छोड़ कर उसी काम के लिए एक अपनी दूकान खोल लेता है। उसी औद्योगिक धरातल पर गतिशील होना अपेक्षाकृत सरल है। क्योंकि इसमें कोई कार्य परिवर्तन नहीं होता।

ऊर्ध्वोत्तर या खड़ी गतिशीलता (vertical Mobility)—इसके विपरीत इसका अर्थ होता है किसी निम्न वृत्ति से उच्च वृत्ति की ओर जाना। उदाहरण के लिए एक मिस्त्री या मैकेनिक का एक मैकेनिकल इन्जीनियर बन जाना या स्कूल के अध्यापक का कालिज में प्रोफेसर बन जाना। इस प्रकार की गतिशीलता सरल नहीं है। इसमें कार्य करने की सामर्थ्य और योग्यता बढ़ाने की आवश्यकता होती है, और इसके लिए अवसरों और उनके उपयोग करने के साधनों का होना आवश्यक है।

११ श्रम की गतिशीलता की महत्ता (Importance of the Mobility of Labour)—गतिशीलता स्वयं श्रमिक के लिए बड़ी लाभदायक है। निस्सन्देह बहुत से वे लोग जो अपने गाँव या घर छोड़कर दूर औद्योगिक केन्द्रों में या विदेशों में चले जाते हैं उनका भविष्य सुधर जाता है। वे आर्थिक रूप में अपने को ऊँचा उठा लेते हैं।

गतिशील श्रम शक्ति औद्योगिक ढाँचे के लिए भी लाभदायक है। हम नए उद्योगों की स्थापना और पुराने उद्योगों का विस्तार देखते हैं। इसी प्रकार उद्योग सकुचित और नष्ट भी होते हैं। यह आवश्यक है कि श्रम नष्टप्राय उद्योगों से निकल कर उन्नतिशील उद्योगों में जाए। और केवल गतिशीलता द्वारा ही श्रम की सप्लाई उसकी माँग के अनुरूप हो सकती है।

यह भी कहना आवश्यक है कि जनसख्या में वृद्धि श्रम की गतिशीलता बढ़ाती है। नई पीढ़ी नए उद्योगों की ओर जा सकती है। कोई देश, जिसकी जनसख्या स्थिर हो, इस मामले में बड़ी असुविधा में पड़ेगा।

श्रम की गतिशीलता बेकारी को कम करती है। श्रम उन स्थानों से जहाँ उसकी आवश्यकता नहीं है उन स्थानों में जहाँ उसकी आवश्यकता है, चला जाता है।

आपने इस अध्याय से क्या सीखा ?

श्रम का अर्थ—इसका अर्थ है "बुद्धि या शरीर का कोई परिश्रम जो पूर्णतया अथवा आंशिक रूप में, कार्य से प्राप्त प्रत्यक्ष आनन्द की अपेक्षा, कुछ अन्य पदार्थों को पाने के प्रयोजन से किया जाय।"

श्रम का वर्गीकरण—

(1) उत्पादक श्रम—सभी श्रम आर्थिक दृष्टि से उत्पादक है, यदि वह किसी प्रयोजन से किया जाय।

(ii) अनुत्पादक श्रम—वह श्रम जो गलत निर्देशन या अन्य किसी कारण से अपने प्रयोजन को सिद्ध न कर सके और जिसका व्यय हो।

किसी देश की श्रम शक्ति निर्भर है उसकी—

(क) जनसंख्या और (ख) श्रम कार्यक्षमता, अर्थात् परिमाण और गुण दोनों पर।

जनसंख्या के सिद्धान्त—

माल्थस का सिद्धान्त—जनसंख्या खाद्य पूर्ति की अपेक्षा अधिक तेजी से बढ़ती है। यदि निरोधक प्रतिबन्धों का उपयोग करके जनसंख्या को बढ़ने से न रोका जाय तो युद्ध, अकाल और रोग जैसे निरोधात्मक प्रतिबन्ध लागू हो जाएँगे और जनसंख्या घटकर अपने उचित आकार में आ जाएगी।

इसकी आलोचना—

(१) इसका गणित का अंश सही नहीं है।

(२) यह घटती हुई उपज के नियम पर आधारित है जिसकी कार्यशीलता कृषि में विज्ञान के उपयोग से रुक गई है।

(३) इतिहास इसका साक्षी नहीं है। पाश्चात्य देशों में जनसंख्या इस तेजी से नहीं बढ़ी है। सम्पन्नता का स्तर, स्वास्थ्य और शारीरिक बल आज बहुत अच्छा है। माल्थस की निराशा पूर्ण भविष्यवाणी सच नहीं हुई है।

(४) धन की वृद्धि और जीवन स्तर में सुधार परोक्ष रूप से जनसंख्या को कम रखते हैं।

(५) माल्थस ने खाद्य उत्पादन को अनुचित महत्ता दी। महत्त्व है, धन के उत्पादन का न कि केवल भोजन का।

निष्कर्ष—यद्यपि माल्थस का सिद्धान्त आज पश्चिम पर लागू नहीं होता किन्तु यह भारत, चीन जैसे कुछ पूर्वीय देशों में प्रचलित दशाओं में पूर्ण रूप से सार्थक है। विज्ञान की प्रगति और खाद्य पूर्ति में वृद्धि सदैव जनसंख्या की वृद्धि के साथ साथ न चल सकेगी। यह सिद्धान्त कुछ विशेष देशों पर चाहे लागू न होता हो किन्तु समूचे विश्व पर अवश्य लागू है।

जनसंख्या का आदर्श—ऑप्टिमम (Optimum) सिद्धान्त—सिद्धान्त जिसे आधुनिक सिद्धान्त कहते हैं—"आदर्श"—ऑप्टिमम—का अर्थ है सर्वोत्तम। "आदर्श" संख्या उचित संख्या है। यह सम्पत्ति-स्रोतों से सम्बन्धित है। इस संख्या में प्रति व्यक्ति आय सर्वोच्च है।

श्रम की कार्यक्षमता—यह कार्य करने की शक्ति तथा इच्छा पर निर्भर है। निम्न कारण श्रम की कार्यक्षमता पर प्रभाव डालते हैं—

(१) मूल-वंश (race) के गुण।

(२) शिल्पकला तथा सामान्य शिक्षा द्वारा अर्जित गुण।

(३) कमाई।

(४) नौकरी की दशा।

(५) काम के घंटे।

(६) निजी गुण जैसे मौलिकता, ईमानदारी, लगन, कर्त्तव्य भावना, महत्त्वाकांक्षा आदि।

कार्यक्षम श्रम के लाभ—

(१) मालिक के लिए अधिक कमाई।

(२) उत्पादक की कम लागत।

(३) समुदाय के लिए अधिक माल।

श्रम की गतिशीलता—विभिन्न प्रकार—

(क) भौगोलिक गतिशीलता—एक स्थान से दूसरे स्थान को।

(ख) वृत्तिक गतिशीलता।

(i) क्षितिजीय (horizontal), अर्थात् एक ही स्तर पर उद्योगों मे परिवर्त्तन ।

(ii) ऊर्ध्वोत्तर (vertical) निम्न से उच्चतर वृत्ति की ओर चलन ।

गतिशीलता की महत्ता—

(क) गतिशीलता से मजदूरों को आर्थिक लाभ होते है।

(ख) इससे श्रम की मांग के अनुसार उसकी पूर्ति समायोजित होती है।

(ग) श्रम नाशवान उद्योगों से हट जाता है।

(घ) यह बेकारी रोकता है।

क्या आप निम्न प्रश्नों का उत्तर दे सकते हैं ?

1 Define Labour—Will the following come under Labour ?

(पंजाब विश्वविद्यालय, १९२६)

(*a*) Practice at the nets by a tennis player for winning the university match

(*b*) A professor working in his garden on Sunday

(*c*) The factory owner making a round of his factory

(*d*) The poet Dante, painting a picture

(*e*) The work of a factory manager

[अर्थ के लिए देखिये विभाग १

(*a*) नहीं, जीवन के आनन्द के लिए वह इतना कठिन अभ्यास कर रहा है न कि पैसे के लिए।

(*b*) नहीं, यह उसका शौक है और जीवन निर्वाह का साधन नहीं।

(*c*) हां, यही उसका काम है। वह लाभ के लिए कर रहा है।

(*d*) नहीं, यह उसका काम न था। वह कवि था, चित्रकार नहीं।

(*e*) हाँ उसे इसके लिए पैसा मिलता है।]

2 Distinguish between Productive and Unproductive Labour Give two illustrations of each type (कलकत्ता विश्वविद्यालय, १९६१)

देखिये विभाग २

3 In what respects does labour differ from other factors of production ?

देखिये विभाग ३

4 Fully explain the Malthusian theory of population How far is the teaching of Malthus relevant to the problem of population of the world in our days (आगरा, १९५४)

देखिये विभाग ५ व

Or

Critically examine the Malthusian theory of population Is India over populated ? (बम्बई, १९५४)

5 What is meant by over, under and optimum population ? In what way is the optimum theory of population improvement on the Malthusian concept ? (बम्बई, १९५३)

देखिये विभाग ७

6 On what does the efficiency of labour depend ? How does the employer contribute to the efficiency of labour ?

(दिल्ली, १९४८ ; सागर, १९५२)

[देखिये विभाग ८। नियोजक कार्यक्षमता बढ़ा सकता है, मजदूरी शीघ्र देकर, अच्छा कच्चा माल और मशीन देकर, काम के घंटे कम करके, और कल्याण की सुविधाएँ देकर।]

7 How does the efficiency of labour profit the consumer, the capitalist, the entrepreneur the nation and the labourer himself?

(पंजाब विश्वविद्यालय १९४०)

[उपभोक्ता को बेहतर और ज्यादा सस्ती वस्तुएं मिलती हैं। पूँजीपति को सूद की दर अच्छी मिलेगी। उद्यमी को अधिक लाभ मिलेगा। राष्ट्र को औद्योगिक नेतृत्व और अधिक माल मिलेगा। श्रमिक की कमाई अधिक होगी।]

8 Explain what you understand by the phrase 'Mobility of Labour'. Mention three types of mobility Also bring out the advantages of the mobility

देखिये विभाग १० और ११

श्रम (क्रमशः)

(Labour)

श्रम का विभाजन (Division of Labour)

संयोजन के लिए विभक्त होना

१. परिचय (Introduction) —पहले से भी अधिक आज उत्पादन एक सहकारी कार्य है। हजारों आदमी उस कागज के उत्पादन मे सहयोग देते है जिस पर आप लिख रहे है, उस पुस्तक के उत्पादन मे जिसे आप पढ रहे है। हजारों कर्मकार कच्चे माल के उत्पादन के लिए है और अन्य हजारों निर्माण तथा वितरण के कार्य मे लगे है, वे सब एक ही ध्येय के लिए कार्य कर रहे हैं। और यह सहकारिता व सहयोग अस्त व्यस्त नही है। यह सगठित सहकारिता है जिसमे अनावश्यक दोहरापन नही है। इस सहयोग की प्रमुख विशेषता श्रम का विभाजन है।

२. श्रम के विभाजन का अर्थ (Meaning of Division of Labour) —जब अनेक व्यक्ति किसी वस्तु के उत्पादन के लिए सयोजित होते हैं, तब कार्य का प्रबन्ध इस प्रकार किया जाता है कि वस्तु के निर्माण को अनेक प्रक्रियाओ मे विभक्त कर देते है। फिर प्रत्येक प्रक्रिया को पृथक् व्यक्तियो के दलो को दे दिया जाता है। अर्थशास्त्र मे इस विशिष्टीकरण (specialisation) को श्रम का विभाजन कहते है। उदाहरण के लिए, हम देखें कि फर्नीचर के कारखाने मे एक कुर्सी कैसे बनती है। एक दल पाए बनाता है, दूसरा उसकी पीठ, तीसरा गद्दी, और एक अन्य दल उन सब अगो को जोडने का काम करता है। अन्त मे कोई और दल कुर्सियो को पालिश करता है। यही श्रम का विभाजन है। एडम स्मिथ (Adam Smith) ने पिन बनाने का उदाहरण देकर इसे स्पष्ट किया। पिन बनाने का कार्य स्मिथ के समय मे १८ विभिन्न क्रियाओ मे विभक्त था।

३. श्रम का सादा तथा जटिल विभाजन (Simple and Complex Division of Labour) —जब बहुत से आदमियो की सयोजित चेष्टा से कोई कार्य सम्पन्न होता है, तो यह नही कहा जा सकता कि किस आदमी ने कौनसा अश पूरा किया। यह सादे श्रम विभाजन का मामला है। दस आदमी मिलकर लकडी का एक भारी लट्ठा उठाते हैं। तो आप नही कह सकते कि लट्ठे का कितना बोझा हर एक ने उठाया।

दूसरी ओर श्रम का जटिल विभाजन वह है जिसमे प्रत्येक कर्मकार या कर्मकारो का दल एक पृथक् और निश्चित कार्य करता है। उदाहरण के लिए कपडा बनाने मे एक दल कताई करता है और दूसरा बुनाई।

४. श्रम-विभाजन के रूप (*Forms of Division of Labour*)—श्रम-विभाजन की प्रगति आर्थिक विकास के काल पर आश्रित है। जितनी समाज की है, उतना ही श्रम-विभाजन अधिक जटिल होता जाता है। हम श्रम विभाजन की उन्नति के लिए निम्नलिखित मुख्य रूप अथवा स्तर बना सकते है—

(i) **सबसे पहले व्यापारो और धन्धो मे विशिष्टीकरण था।** मनु ने हिन्दू समाज को चार वर्णों म बाँटा—ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र। किन्तु व्यापार और धंधे बढते गए और अब हमारे सामने बढई जुलाहे, दुकानदार किसान वकील, *शिक्षक डाक्टर आदि अनेक धन्धे है। इस काल मे प्रत्येक व्यक्ति पूरी वस्तु ही बनाता* है। जुलाहा सभी क्रियाओ को स्वय ही सम्पादित करके कपडा बनाता है। बढई समूची कुर्सी बनाता है। और इसी प्रकार से और लोग भी काम करते हैं।

(ii) **दूसरा** काल कार्यो के विशिष्टीकरण का है। एक वस्तु का निर्माण कुछ सादी क्रियाओ मे बँट जाता है और प्रत्येक क्रिया को लोगो के अलग-अलग दल करते है। इसे प्रक्रिया विशिष्टीकरण (specialisation of process) भी कहते हैं। उदाहरण के लिए कपडा बनाने का काय कातने, बुनने रग और फिनिशिंग करने *की क्रियाओ मे विभक्त हो जाता है। यही वास्तव म श्रम विभाजन है।*

(iii) **अपूरी प्रक्रिया द्वारा विशिष्टीकरण**—श्रम विभाजन के इस रूप मे, प्रत्येक प्रक्रिया को अनेक उप-क्रियाओ (sub processes) मे बाँट देते है। आज के कारखानो मे पिन बनाने के कार्य को केवल अठारह क्रियाओ मे ही नही बल्कि कही अधिक क्रियाओ मे विभक्त करते है। कातने बुनने आदि मे भी यहीं क्रम है। आज के युग मे श्रम विभाजन बहुत अधिक सूक्ष्म एव जटिल हो गया है। इसने समाज के *एक व्यक्ति की दूसरे पर निर्भरता को बहुत बढा दिया है।*

(iv) **प्रादेशिक या भौगोलिक श्रम विभाजन**—इसका अर्थ है कि कुछ स्थान, जिले नगर, या क्षेत्र किसी विशेष प्रकार की वस्तु बनाने मे विशिष्ट हो जाते है। वे इसके लिए प्रसिद्ध हो जाते है जिससे कि उन्हे दूर देशो से आदेश मिलने लगते है। जैसे लुधियाना ने होजरी का माल बनाने मे विशेषता प्राप्त की है करतारपुर ने फर्नीचर मे, अलीगढ ने तालो म बगाल ने जूट मे, आदि।

५. श्रम विभाजन के आर्थिक प्रभाव (Economic Effects of Division of Labour)—श्रम विभाजन का आर्थिक क्षेत्र मे बडा दूरगामी असर पडता है। इसके अच्छे-बुरे दोनो फल हुए है। एक ओर तो कही कम लागत पर बडे परिमाण मे माल बनाना आज सम्भव हो गया है। दूसरी ओर प्रमाणीकृत (*standardised*) सब प्रकार से समान माल का बडी मिकदार मे उत्पादन होता है जिसमे व्यक्तिगत रुचि को *स्थान नही है। उत्पादन अधिक जटिल और पूंजीवादी* हो गया है। धन्धो की संख्या बढ गई है। मजदूर को आज अपने काय का केवल एक अंश ही सीखना पडता है। इससे उसका काम सरल हो जाता है किन्तु साथ ही वह अविविध (monotonous) और उबा देने वाला (boring) भी हो गया है। मजदूर में पूरी चीज बनाने का हुनर या कुशलता (skill) नही रही है। अब वह अपने औजारों का या उत्पादित वस्तु का भी मालिक नही रहा है। पूंजीपति पर ही उसका पूर्ण

आश्रय रह गया है। श्रम-विभाजन ने हमारी परस्पर-निर्भरता बढा दी है। इसने श्रम पूँजी के संघर्ष की समस्या ला खडी की है, जिसका समाधान अभी तक सन्तोष-जनक रूप मे समाज नही कर पाया है।

श्रम-विभाजन के अच्छे और बुरे प्रभाव इस पद्धति के गुण-दोषो से पता लगते है जिनकी विवेचना नीचे की गई है।

१. श्रम-विभाजन के गुण (Merits of Division of Labour)—अर्थशास्त्री श्रम विभाजन मे होने वाले लाभो के बारे मे बडा उत्साह दिखाते है। यह पद्धति कर्मकार को निम्न प्रकार से हित पहुँचाती है—

(१) उचित स्थान पर उपयुक्त व्यक्ति—श्रम-विभाजन मे यह अधिक सम्भव है कि प्रत्येक व्यक्ति वही काम पाएगा जिसके वह सर्वथा उपयुक्त है। गलत स्थानो पर अनुपयुक्त व्यक्ति नही लगेंगे। काम बेहतर होगा। दूसरी ओर जरा कल्पना कीजिए कि एक किसान और उसकी पत्नी अपना-अपना काम बदल लेते है। किसान खाना बनाता है और पत्नी खेत जोतती है। नतीजा क्या होगा, आप स्वयं सोच लें।

(२) कारीगर विशेषज्ञ (Expert) बन जाता है—अभ्यास से पूर्णता आती है। मजदूर की कुशलता और दस्तकारी मे वृद्धि होती है। मजदूर का हित होता है। वह कम समय मे बेहतर नतीजे देता है।

(३) बोझिल कार्य मशीन कर लेती है—श्रम-विभाजन द्वारा यह सम्भव होता है कि बोझिल काम मशीन पर डाल दिया जाय। आदमी केवल हलका काम करते है जिससे उनकी मासपेशियो पर कम जोर पडता है।

(४) कम प्रशिक्षण अपेक्षित है—जब मजदूर को कार्य का एक अश मात्र करना पडता है तब उसे उतना ही सीखना जरूरी है। लम्बा और कीमती प्रशिक्षण अनावश्यक हो जाता है।

मजदूरो के इन हितो के अतिरिक्त श्रम विभाजन से औद्योगिक पद्धति तथा समूचे समाज को और भी लाभ होते है—

(५) आविष्कार—जब कोई आदमी एक ही काम बार बार करता है, उसको कुछ नए विचार आने स्वाभाविक है। इससे अनेक आविष्कारो का जन्म होता है।

(६) मशीनरी का प्रचार—श्रम-विभाजन द्वारा काम कुछ सरल चेष्टाओ तक ही सीमित हो जाता है। और देर-सबेर इन यात्रिक गतियो को पूरा करने के लिए कोई न कोई मशीन बन जाती है।

(७) सस्ती चीजें—श्रम-विभाजन और मशीनरी के उपयोग से बडे पैमाने पर विपुल उत्पादन सम्भव होता है और सस्ती चीजें बन पाती है। गरीब आदमी भी उन्हें खरीद सकता है। यह समाज के लिए हितकर है।

(८) औजारों के उपयोग मे बचत—हर मजदूर को तमाम औजारो की जरूरत नही पडती। उसे थोडे से ही उपकरण चाहिएँ जो लगातार काम आते रहते हैं।

(९) समय की बचत—मजदूर को एक क्रिया से दूसरी पर नही जाना पडता। वह एक ही काम मे लगा रहता है। इसलिए वह समय बरबाद किए

बिना काम करता रहता है।

(१०) उद्यमी की उत्पत्ति—जब काम विभक्त हो जाता है तो उसका संयोजन एवं सहयोग करने के लिए किसी व्यक्ति की आवश्यकता पड़ती है। इससे उद्यमी का उदय होता है जो संगठन के कार्य का विशेषज्ञ होता है। इससे समाज की उत्पादक कार्यक्षमता में उन्नति होती है।

७. श्रम-विभाजन के दोष (Demerits of Division of Labour)—श्रम-विभाजन कुछ अर्थों में व्यक्तिगत मजदूरों के लिए हानिकारक सिद्ध हुआ है।

(१) अ-विविधता (monotony)—एक ही कार्य को बार बार, बिना किसी परिवर्तन के, करने से मानसिक क्लान्ति (Mental fatigue) हो जाती है। काम उबा देने वाला और मलिन हो जाता है।

(२) सृजनात्मक प्रवृत्ति का हनन—क्योंकि अनेक व्यक्ति एक वस्तु के निर्माण में योग देते हैं, इसलिए यह कोई नहीं कह पाता कि मैंने इस वस्तु का सृजन किया है। मनुष्य की सृजनात्मक प्रवृत्ति (creative instinct) को सन्तोष नहीं मिलता। अपने कार्य से उसे गर्व तथा आनन्द नहीं प्राप्त होता।

(३) कुशलता की हानि—कर्मकार की शिल्पिक कुशलता का ह्रास होता है। सारी वस्तु को बनाने के स्थान पर अब कर्मकार केवल कुछ सादी सी क्रियाओं को दोहराता रहता है। कर्मकार की वह कुशलता जिससे कभी वह कलात्मक वस्तुओं का निर्माण करता था, नष्ट हो जाती है।

(४) गतिशीलता से बाधा पड़ती है—श्रमिक कार्य का केवल एक अंग करता है। वह उतना ही जानता है उससे अधिक नहीं। यदि वह परिवर्तन चाहे तो उसके लिए वैसा ही काम कहीं और पाना कदाचित सम्भव न हो।

(५) बेकारी का डर—यदि मजदूर को एक कारखाने से निकाल दिया जाता है तो जिस काम में उसने विशिष्टीकरण किया है उसे ढूंढने के लिए दूर-दूर खोज करनी पड़ेगी, तब भी शायद उसे काम न मिले।

(६) व्यक्तित्व के विकास में बाधा—यदि एक व्यक्ति पिन का अठारहवाँ हिस्सा ही बनाता रहा है तो वह आदमी का भी अठारहवाँ अंश ही रह जाता है। मनुष्य अपने शरीर और मन में उतनी ही उन्नति करता है जितना किसी कार्य में उसकी योग्यताओं का उपयोग होता है। कार्य की कोई संकुचित परिधि स्वभावतया श्रमिक के शारीरिक एवं मानसिक विकास में बाधा पहुँचाती है। उसका उपक्रम और मौलिकता मर जाती है। उसका दृष्टिकोण घुट जाता है और वह एक मशीन के स्तर पर आ जाता है।

(७) उत्तरदायित्व की भावना का क्षय—क्योंकि कोई पूर्ण वस्तु नहीं बनाता इसलिए पूरे उत्पादन के लिए कोई भी उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता। जब फल बुरा होता है तो हर आदमी किसी दूसरे पर जिम्मेदारी डालने की चेष्टा करता है।

श्रमिकों के लिए अहितकर होने के अतिरिक्त श्रम विभाजन की इस पद्धति ने अनेक सामाजिक दोषों को जन्म दिया है।

(८) **कारखाना-पद्धति के दोष**—श्रम-विभाजन ने कारखाना पद्धति (factory system) को जन्म दिया है जो दोषों से परिपूर्ण है। चारों ओर के प्राकृतिक सौन्दर्य को नष्ट करके, बच्चों और स्त्रियों का शोषण कर, उत्पादन और प्रबन्ध में व्यक्तित्व का अन्त मिटाकर, यह पद्धति उद्योग और मनुष्य की मानवीयता का हनन कर देती है।

(९) **वितरण की समस्या**— जब कोई श्रम-विभाजन न था, एक कारीगर स्वतन्त्र रूप से पूरी वस्तु बनाता था। वह अपना मूल्य पा लेता था और कोई कठिनाई न होती थी। किन्तु श्रम-विभाजन के अन्तर्गत अनेक व्यक्ति एक वस्तु के निर्माण में योग देते हैं। उन सबको उत्पादन का उचित भाग मिलना चाहिए और यह भाग निर्धारित करना सरल नहीं है। इस प्रकार वितरण की समस्या दुष्कर हो जाती है। यह समाज को दो विरोधी शिविरों में विभक्त कर देती है—श्रम और पूँजी। मालिक और उसके आदमी के बीच में खाई रोज-ब-रोज बढ़ती जाती है और उसको पाटना कठिन होता जा रहा है।

(१०) **निर्भरता**- एक देश की दूसरे देश पर निर्भरता, जो श्रम-विभाजन का स्वाभाविक परिणाम है युद्ध-काल में भयंकर सिद्ध होती है।

निष्कर्ष—श्रम-विभाजन निःसन्देह अनेक त्रुटियों से भरा हुआ है। किन्तु इसके लाभ इसके दुर्गुणों से कहीं अधिक हैं। इसके दोष काम के घण्टे कम करके और मजदूर को अधिक अवकाश देकर घटाए जा सकते हैं। आज न तो यह वाञ्छनीय ही है और न ही सम्भव कि इस पद्धति का अन्त कर दिया जाय। इसने श्रम-शक्ति का अधिक कारगर उपयोग करके और पूँजी की बचत करके उत्पादन को अधिक सुचारु बना दिया है। सस्ती सेवाओं और माल का प्रवाह आज अधिक बढ़ा है, जो मनुष्य की आवश्यकताओं की सन्तुष्टि करके उसे अधिक सम्पन्न जीवन बिताने का अवसर देता है। श्रम-विभाजन के हक में निःसन्देह अधिक कहा जा सकता है।

८ **श्रम-विभाजन की शर्तें**—श्रम-विभाजन के सिद्धान्त को लागू करना कुछ शर्तों पर निर्भर है। इसके पहले आर्थिक व सामाजिक विकास की एक सीढ़ी पर पहुँचना आवश्यक है। इसकी कुछ शर्तें निम्नलिखित हैं —

(१) **सहयोग की भावना**— श्रम-विभाजन सभ्यता की एक उन्नत अवस्था पर ही सम्भव है। यदि लोग झगडालू और मिलकर खुशी से काम नहीं कर सकते तो श्रम-विभाजन का प्रश्न ही नहीं उठता। लोगों में सहयोग की भावना, समझौते और मेल-जोल की भावना अनिवार्य है। बिना लेन देन (give and take) की प्रवृत्ति के श्रम विभाजन आरम्भ नहीं किया जा सकता।

(२) **बाजार का आकार**—बाजार का आकार दूसरी महत्त्वपूर्ण शर्त है। यदि बाजार छोटा है तो श्रम-विभाजन का कोई मूल्य नहीं। श्रम-विभाजन में बड़ी संख्या में लोगों को एक प्रक्रिया या उसके छोटे से अंश का कार्य सौंपना पड़ता है। इसका फल होता है बड़े पैमाने पर उत्पादन, जो किसी वस्तु की बड़ी माँग और विस्तृत व्यापार की कल्पना करके चलता है।

यदि एक गाँव में प्रतिदिन एक कमीज को ही जरूरत पड़े तो एक दर्जी ही

वह माँग पूरी कर सकता है। तब श्रम-विभाजन का क्षेत्र ही नहीं है। किन्तु जैसे-जैसे वह प्रसिद्धि प्राप्त करता है उसे आस-पास के गाँव में आर्डर मिलने लगते हैं। उस हालत में उसके लिए कुछ सहायक रखना उपयोगी सिद्ध होगा। अब विशिष्टीकरण शुरू होता है। विशेषज्ञ होने के नाते वह कटाई करेगा, उसके पुराने शागिर्द सिलाई कर सकते हैं और नयों को आरम्भिक कार्य जैसे, लोहा करना, बटन लगाना आदि दिए जा सकते हैं। जैसे-जैसे मण्डी का विस्तार होता है श्रम-विभाजन की परिधि और क्षेत्र बढ़ता है। इसीलिए कहा जाता है कि—

श्रम-विभाजन बाजार के विस्तार द्वारा परिमित है।

(३) *माँग का स्वभाव*—श्रम-विभाजन के लिए यही जरूरी नहीं है कि बाजार बड़ा हो, वरन् यह भी कि माँग स्थिर हो। एक बड़ी किन्तु अस्थिर माँग श्रम विभाजन के क्षेत्र को सीमित कर देगी।

(४) उद्योग का स्वभाव—कुछ उद्योग ऐसे हैं कि उनमें कार्य का निश्चित और पृथक् प्रक्रियाओं में विभक्तीकरण सम्भव नहीं होता। यहाँ भी श्रम विभाजन की सम्भावना थोड़ी है। कृषि एक ऐसा ही उद्योग है।

(५) उपज का नियम—जिन उद्योगों में घटती हुई उपज का नियम कारगर होता है अधिक उत्पादन का अर्थ होता है अधिक लागत। इसलिए उत्पादन कम रखना पड़ता है जिसका अर्थ है श्रम विभाजन का क्षेत्र परिमित हो जाता है। जहाँ बढ़ती हुई उपज का नियम लागू होता है वहाँ श्रम विभाजन के लिए अधिक अवसर है।

(६) *श्रम और पूंजी की उपलब्धता*—*श्रम विभाजन का अर्थ है बड़े पैमाने पर* उत्पादन। बड़ी संख्या में कुशल श्रमिकों की आवश्यकता होती है। जैसे जैसे मशीनों का उपयोग तथा श्रम का विभाजन होता चलता है, अधिक द्रव्य मशीनों पर व्यय करना पड़ता है। यदि श्रम और पूँजी की अपेक्षित मात्रा नहीं मिलती तो श्रम-विभाजन को विस्तृत नहीं किया जा सकता।

निष्कर्ष—अधिकतर देशों में ये शर्तें पूरी करना कठिन नहीं है। ऐसे उद्योग भी हैं जिनमें छोटे पैमाने पर उत्पादन होता है और ऐसे भी जिनमें बड़े पैमाने पर। पहले में श्रम विभाजन की अधिक सम्भावना नहीं है। दूसरे में जटिल श्रम विभाजन आवश्यक है।

उद्योग का स्थानीयकरण
(Localisation of Industry)

६. स्थानीयकरण का अर्थ (Meaning of Localisation)—उद्योगों के स्थानीयकरण अथवा श्रम के भौगोलिक या प्रादेशिक विभाजन का अर्थ है कि कुछ नगर व क्षेत्र किसी वस्तु या वस्तुओं के उत्पादन में विशिष्ट हो जाते हैं। उनमें से कुछ प्रान्तीय प्रसिद्धि पा लेते हैं, कुछ तमाम देश में और संसार के कुछ अन्य भागों में भी। काश्मीर की कुछ वस्तुएँ अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति की हो गई हैं। मैसूर सिल्क सारे भारत में जाना जाता है और शेफील्ड की कटलरी विश्व भर में प्रसिद्ध है।

भारतीय उद्योगों में से जिनका स्थानीयकरण हो गया है वे हैं बम्बई और अहमदाबाद में सूती कपड़े का उद्योग, यू० पी० और बिहार में चीनी उद्योग, कलकत्ता का जूट मिल उद्योग तथा टाटा नगर का लोहा तथा इस्पात उद्योग। यह स्थान अपनी उत्पादित वस्तुओं के लिए प्रसिद्ध हो गए हैं। इस प्रकार के विशिष्टीकरण को उद्योगों का स्थानीयकरण (localisation) अथवा केन्द्रीयकरण (centralisation) कहते हैं।

१०. स्थानीयकरण के कारण (Causes of Localisation)—अनेक कारण हैं जो कुछ क्षेत्रों में कुछ वस्तुओं के विशिष्टीकरण के लिए उत्तरदायी हैं। प्रथम तो जलवायु, भूमि के गुण, खनिज पदार्थों की उपस्थिति तथा शक्ति स्रोतों का आविर्भाव आदि प्राकृतिक कारण हैं। फिर आर्थिक कारण भी होते हैं जैसे श्रम तथा पूँजी की उपलब्धि और बाजारों से निकटता। कभी-कभी राजनैतिक कारणों से भी स्थानीयकरण में सहायता मिलती है तथा वे बाहरी प्रतियोगिता को कम करने के लिए अन्य प्रकार के संरक्षण देते हैं।

अब हम इन कारणों की विस्तार से चर्चा करेंगे।

(i) अनुकूल जलवायु—कुछ उद्योगों को एक विशेष प्रकार की जलवायु चाहिए। जैसे कातने और बुनने के लिए नमीदार जलवायु। कुछ औषधियों के निर्माण तथा जड़ी-बूटियों के उत्पादन के लिए भी शीतोष्ण जलवायु चाहिए। जलवायु का कारण किसी उद्योग का स्थानीयकरण करने में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। बम्बई की नम जलवायु सूती कपड़ा उद्योग के लिए विशेषकर उपयुक्त है और वहाँ सूती कपड़ा उद्योग स्थानीयकृत है।

(ii) कच्चे माल की निकटता—कच्चे माल की निकटता भी स्थानीयकरण की आवश्यक शर्त है, यदि माल भारी हो। एक सीमेन्ट का कारखाना चूना, पत्थर की चट्टानों के निकट ही बनाना पड़ेगा। लोहा और इस्पात उद्योग लोहे की खानों के निकट ही स्थित होना चाहिए। साथ ही कोयले की खानें और काफी पानी भी निकट होना जरूरी है। ये शर्तें सबसे अच्छी बिहार और बंगाल में पूरी होती हैं।

(iii) शक्ति-स्रोतों से निकटता—एक कारखाना चलाने के लिए शक्ति आवश्यक है। किसी नहर या नदी की ऊँचाई से गिरता हुआ झरना बिजली पैदा करने के काम में लाया जा सकता है। या फिर निकट ही कोयला उपलब्ध हो। मद्रास, बम्बई, उत्तर प्रदेश और पंजाब कोयले में तो निर्धन हैं किन्तु जल-विद्युत (hydro-electricity) में धनी हैं।

(iv) भूमि की उर्वरता—जो उद्योग कृषि पर आश्रित है, जैसे चीनी, डेरी, फल तथा शाक, कैनिंग (भोजन को डब्बों में बन्द करना) आदि उद्योग—इनके लिए बड़े क्षेत्र में चारों ओर उर्वरा भूमि आवश्यक है। इन उद्योगों को ऐसे क्षेत्रों में स्थापित करना असम्भव होगा जहाँ रेगिस्तानी मैदान हो।

(v) बाजार से निकटता—यदि बाजार निकट है तो यातायात की लागत कम होगी। अनेक विदेशी कम्पनियों ने भारत में कारखाने खोल लिये हैं जिससे वे अपने उपभोक्ताओं के निकट आ जाएँ और यातायात की लागत कम हो जाए।

(vi) **प्रशिक्षित श्रम की उपलब्धि**—कुछ क्षेत्रों की पैतृक कुशलता की परम्परा है। वहां प्रशिक्षित श्रम पर्याप्त मात्रा में मिल सकता है। नियोजकों को वहां कार्यक्षेत्र, तथा निपुण श्रम पर्याप्त मात्रा में प्राप्त करने में कठिनाई न होगी। पूंजीपतियों के लिए अपने कारखाने वहां खोलने का बड़ा प्रलोभन है।

(vii) **पूंजी की उपलब्धि**—कोई भी व्यवसाय सफलतापूर्वक स्थापित या विस्तृत नहीं किया जा सकता जब तक कि पर्याप्त उधार की सुविधाएं उचित दर पर प्राप्य न हों। किसी स्थान पर बैंकों और साहूकारों की उपस्थिति व्यापारी और औद्योगिक कम्पनियों (concerns) की स्थापना को प्रोत्साहन देती है।

(viii) **राजनैतिक संरक्षण**—कभी-कभी राज्य कुछ सुविधाएं—कन्सेशन—दे देता है जैसे मुफ्त जमीन की मंजूरी, सस्ती पूंजी का एडवान्स, अनुदान, संरक्षक शुल्क और क्रय की गारंटी। इससे कुछ क्षेत्रों में उद्योग आकर्षित होते हैं। अनेक भारतीय उद्योग करों की दीवारों (tariff walls) के संरक्षण में पले हैं। देशी रियासतों में अनेक मिलें वहां के राजाओं द्वारा दिए गए कन्सेशनों से आकर्षित होकर आरम्भ हुई थी।

(ix) **पहले आरम्भ करने का आवेग**—कभी-कभी किसी उद्योग के किसी क्षेत्र-विशेष में स्थानीयकरण का कोई विशेष कारण नहीं होता सिवाय इसके कि कुछ व्यवसायियों ने उसे वहां पहले-पहल शुरू किया। इससे उस उद्योग को बल मिला और वह दिनोदिन बढ़ता गया। लुधियाने के होजरी उद्योग की वर्तमान उन्नत दशा का यही कारण है।

११ **स्थिरता के कारण** (Causes of Persistence)—हम देखते हैं कि कुछ उद्योग किसी क्षेत्र में स्थानीयकृत हो गए हैं और वहीं रहना चाहते हैं यद्यपि उनके वहां स्थानीयकरण के मूल कारण समाप्त हो चुके हैं। यदि उस औद्योगिक क्षेत्र में कोई नया कारबार भी खोला जाता है तो उसमें भी उसी प्रदेश में चले जाने की प्रवृत्ति होती है। जैसे जो भी व्यक्ति होजरी का कारखाना खोलना चाहेगा उसे लुधियाना में खोलने में आसानी होगी। क्यों?

इसके निम्नलिखित कारण हैं—

(१) **प्रशिक्षित श्रम**—किसी और नगर में होजरी का काम जानने वाले मजदूरों की इतनी संख्या नहीं मिलेगी जितनी लुधियाना में। जो कारखाने यहां काम कर रहे हैं। वे एक प्रकार के प्रशिक्षण केन्द्र हो जाते हैं और वे एक तरह से प्रशिक्षित श्रम की पूर्ति करते रहते हैं। तथा उद्योगी उन पर निर्भर हो सकता है यह कम आकर्षण नहीं है।

(२) **उधार सुविधाएं**—एक औद्योगिक केन्द्र में बहुत से बैंक शुरू हो जाते हैं। काफी मात्रा में उधार लेने की सुविधाएं इससे प्राप्त हो जाती हैं। यह भी बड़ी सुविधा है।

(३) **विशिष्ट परिवहन**—परिवहन के साधन भी विशिष्ट हो जाते हैं और उस विशेष उद्योग की आवश्यकताओं के अनुकूल हो जाते हैं। उदाहरणार्थ, रेलवे की तरफ से साईडिंग्स (sidings) बना दी जाती हैं।

(४) सहायक उद्योग (Subsidiary Industries)—बहुत से सहायक उद्योगों का भी उस स्थान में विकास हो जाता है। मुख्य उद्योग को इनसे अमूल्य सहायता प्राप्त होती है। जैसे लुधियाने में ब्लीचिंग धुलाई और रंगसाजी के उद्योग विकसित हो गए हैं। यह होजरी (hosiery) उद्योग के लिए सहायक है।

(५) औद्योगिक जडता (Industrial Inertia)—एक उद्योग जहाँ स्थित होता है वहीं बने रहने की उसकी प्रवृत्ति होती है जब तक कि उस स्थान में कोई निश्चित त्रुटियाँ न उत्पन्न हो जाएँ। छोटी छोटी असुविधाओं और कठिनाइयों तक का सामना तो उद्योग करता रहेगा क्योंकि मनुष्य जहाँ है वहाँ से हटना नहीं चाहता यदि उसके बस में हो तो।

(६) दूसरे कारण हैं—स्थान की प्रतिष्ठा प्रचार में सहायक होती है। पत्रिकाओं के प्रकाशन शिल्पिक शोध-संस्थाएँ और स्थानीय उद्योगों के हितों की सुरक्षा के लिए संगठन वहाँ बन जाते हैं।

१२. स्थानीयकरण के लाभ—किसी उद्योग के एक स्थान में स्थानीयकरण हो जाने से अनेक लाभ होते हैं। उपर्युक्त विभाजन में हमने देखा है कि क्यों कोई उद्योग एक स्थान पर स्थानीयकृत हो जाने पर उसी जगह बने रहने की प्रवृत्ति रखता है। स्थानीयकरण के अनेक लाभ हैं।

इनको संक्षेप में निम्न प्रकार से कह सकते हैं—

(i) श्रम प्रशिक्षित हो जाता है। दस्तकारी और निपुणता पीढ़ी दर पीढ़ी श्रमिकों में आती जाती है।

(ii) एक विशेष प्रकार के श्रम के लिए एक नियमित बाजार उस स्थान में विकसित हो जाता है। इस प्रकार का श्रम उस स्थान में नौकरी मिलने की पूर्ण आशा से चला जाता है। इस प्रकार के श्रम की खोज करने वाले नियोजकों को भी वह श्रम वहाँ मिल सकता है।

(iii) वित्तीय सुविधाएँ उत्पन्न और परिवर्धित होती हैं। वहाँ बैंक शुरू हो जाते हैं।

(iv) संचार तथा परिवहन के साधन भी बन जाते हैं।

(v) सहायक (subsidiary) अथवा अनुपूरक (supplementary) उद्योगों के प्रारम्भ करने का प्रोत्साहन मिलता है। इस प्रकार पूँजी और श्रम के नियोजन के लिए अपेक्षाकृत अधिक व्यापक क्षेत्र मिल जाता है। उपवस्तुएँ (byproducts) आर्थिक उपयोगों में आ जाती हैं।

(vi) विशेष माल के लिए स्थान की प्रसिद्धि बाजार को मशहूर कर देती है। आर्डर दूर दूर से आने लगते हैं। इस प्रकार बाजार सुनिश्चित हो जाता है।

(vii) शिल्पिक पत्रिकाओं का प्रकाशन आरम्भ हो जाता है। प्रशिक्षण तथा शोध-संस्थाएँ स्थापित हो जाती हैं जिनसे उद्योगपति को बड़ा लाभ होता है।

(viii) इससे उस स्थान को समृद्धि मिलती है।

(ix) सामूहिक कार्यवाही सम्भव होती है। उद्योगपति अपने को संघों में

सगठित कर लेते हैं जिससे वे अपने हितो की रक्षा कर सकें और यही श्रमिक भी करते हैं।

(x) उद्योग मे अनेक सुधार हो जाते हैं क्योकि विचार-विनिमय का अवसर मिलता है। उद्योग मे स्वस्थ प्रतियोगिता भी हो जाती है।

१३. स्थानीयकरण की हानियां (Disadvantages of Localisation)—उद्योगो का स्थानीयकरण पूर्ण दोष-रहित वरदान नही है। इसके साथ अनेक दोष भी सम्बद्ध हैं। वे हैं—

(१) मुख्य उद्योग पर निर्भरता खतरनाक है। उस उद्योग मे मन्दी आने पर स्थान के तमाम उद्योगो पर सकट आ जाता है। एक ही टोकरी मे अपने सारे अडे रखना बुद्धिमानी नही है।

(२) *नियोजन का क्षेत्र नियन्त्रित हो जाता है।* केवल एक प्रकार के श्रम के लिए ही नौकरी मिलती है। जिस केन्द्र मे नौकरी का अधिक विभिन्न क्षेत्र है वहाँ, मजदूर के सारे कुटुम्ब को नौकरी मिल सकती है। किन्तु यहाँ केवल उनमे से कुछ को काम मिलेगा और परिवार की कुल कमाई कम हो जाएगी।

(३) *अत्यधिक विशिष्टीकरण (Over-specialisation) से दूसरे केन्द्रो पर* निर्भरता बढ जाती है जो युद्ध-काल मे बडी खतरनाक है। हम आवश्यक सामग्री व मशीनरी का आयात शायद न कर पाएँ। विदेशी बाजारो मे माल बेचने की निर्भरता भी खतरनाक है।

(४) *श्रम की गतिशीलता कम होती है।*

(५) शहरो मे भीड-भडक्का हो जाता है और इसका श्रमिको व उनके बच्चो के स्वास्थ्य और क्षमता पर बुरा असर पडता है। बम्बई कलकत्ता व कानपुर मे ऐसा ही होता है।

(६) कुछ निर्माताओ की बेईमानी से बाकी सबको बदनामी उठानी पडती है। अगर एक स्थान की वस्तुओ को बुरा कहा जाने लगा तो ईमानदार निर्माता भी नुकसान उठाएँगे।

(७) युद्ध-काल मे बमबारी से सारा उद्योग नष्ट हो सकता है।

१४ उपचार (Remedies)—स्थानीयकरण की इन त्रुटियो को दूर करने के लिए दो उपचार सुझाए गए है—

(i) **अनुपूरक उद्योग**—अनेक छोटे उद्योग जो मुख्य उद्योग को सहायता पहुँचा सकें स्थापित किए जाते हैं। यह बेकारी का डर कम कर देते है और अगर मन्दी (depression) आए तो उसकी तीव्रता कम कर देते है।

(ii) **विकेन्द्रीकरण**—किसी उद्योग को कम भीड वाले केन्द्रो मे स्थानान्तरित कर देना अधिक मितव्ययी मालूम होगा। इससे केन्द्रीकरण के कुछ दोष कम हो जाएँगे। ऐसा विकेन्द्रीकरण इधर कुछ दिनो से हो रहा है। उदाहरण के लिए, सूती कपडा मिलें बम्बई से दूर दूसरे केन्द्रो मे भी स्थापित हो रही हैं।

१५ विकेन्द्रीकरण या विस्थानीकरण (Decentralisation or De-localisation)—जैसा ऊपर कहा गया है, हाल मे कुछ उद्योग अपना मूल स्थान छोडकर

अन्य स्थानों में प्रवास कर गए हैं या विदेशों में चले गए हैं। कुछ मामलों में तो आरम्भ में जो लाभ स्थानीयकरण से थे, उनके खत्म हो जाने के कारण और कुछ में इसलिए कि उसमें अधिक सुविधाएँ अन्यत्र प्राप्त हैं।

निम्न मुख्य कारण इस प्रवृत्ति के लिए उत्तरदायी हैं—

(१) **बिजली का आगमन**—बिजली आने के बाद से यह जरूरी नहीं है कि कारखाने कोयले की खानों या नदियों और जलधाराओं के निकट बनाए जाएँ। बिजली हजारों मील दूर के उत्पादक केन्द्र से प्राप्त हो सकती है। इसलिए, यदि स्थानीयकरण शक्ति स्रोत के सामीप्य के कारण था तो वह कारण अब समाप्त हो गया है।

(२) **परिवहन के साधनों का विकास**—अधिक उन्नत परिवहन के साधनों के कारण दूर देशों की मण्डियों में भी पहुँच हो सकती है और दूरगत कच्चे माल के स्रोतों में भी लाभ उठाया जा सकता है। इसलिए, आज किसी उद्योग के लिए कच्चे माल अथवा मण्डी के निकट होना जरूरी नहीं है यदि अधिक महत्त्वपूर्ण लाभ कहीं और मिल सकें।

यह भी कहना जरूरी है कि परिवहन के साधनों का विकास दोनों दिशाओं में कारगर होता है। यह केन्द्रीभूत होने में भी और वि केन्द्रीकरण में भी, दोनों में सहायता पहुँचाता है। केन्द्रीभूत होने (concentration) में यह इस प्रकार सहायक है कि यदि कच्चे माल की स्थानीय सप्लाई अपर्याप्त हो जाय तो उसे बाहर से आयात किया जा सकता है। उद्योग उसी स्थान पर स्थानीयकरण के अन्य लाभ प्राप्त करने के लिए विकसित होगा। किन्तु यह विकेन्द्रीकरण (decentralisation) में भी सहायक है। उदाहरण के लिए यदि कच्चे माल की अपेक्षा मण्डी अधिक महत्त्वपूर्ण है तो कारखाने वहाँ से हटकर मण्डियों के निकट स्थापित हो सकते हैं और कच्चा माल वहाँ आयात किया जा सकता है।

(३) **पुराने केन्द्रों में अधिक लागत**—पुराने औद्योगिक केन्द्रों में लागत में वृद्धि और साथ ही अन्य स्थान पर अधिक सुविधाओं की प्राप्ति विकेन्द्रीकरण में सहायक है। यदि उद्योगों के बढ़ने के साथ साथ यह हो कि किराए बढ़ जाएँ, और म्युनिसिपल कर बढ़ जाएँ, तो निर्वाह-व्यय भी बढ़ जाएगा जिससे ऊँची मजदूरी देनी पड़ेगी। इन सब कारणों से वहाँ कारखाने खोलना अमितव्ययी होगा। दूसरी ओर कारखानों के लिए सस्ती जगहें और कहीं मिल सकती हैं। हमारा सूती मिल उद्योग विकेन्द्रीकृत हो रहा है। बम्बई मँहगी जगह मालूम होती है। यह पंजाब जैसे उपभोग-केन्द्रों से बहुत दूर भी है। देशी रियासतों के राजाओं ने बहुत सी और सुविधाएँ भी दीं। जैसे सस्ते ऋण, मुफ्त जमीनें, राज्य संरक्षण, शेयर पूँजी में अंशदान, न्यूनतम लाभांश (dividend) की गारण्टी, आदि। इसलिए अनेक सूती मिलें हैदराबाद और इन्दौर जैसी रियासतों में स्थापित हो गईं।

(४) माल के एकत्रित और वितरण करने के अधिक उन्नत संगठन बन गए हैं जिन्होंने स्थानीय मण्डियों पर निर्भर रहने की आवश्यकता खत्म कर दी है।

(५) पिछले महायुद्ध ने यह बताया कि केन्द्रीकरण खतरनाक है, क्योंकि भीड़-

भाग का क्षेत्र हवाई बमबारी में अधिक नष्ट हो सकता है। इसलिए बुद्धिमान सरकारों ने उद्योग के फैलाव (spreading out) को प्रोत्साहन दिया है।

अधिकतर भारतीय उद्योग अति केन्द्रीकरण (over-centralisation) से ग्रस्त हैं। इसलिए किसी हद तक विकेन्द्रीकरण आवश्यक है। किन्तु विकेन्द्रीकरण का अर्थ नियन्त्रण (control) का विकेन्द्रीकरण नहीं होता। किसी अविकसित क्षेत्र में शुरू की गई मिल भी उन्हीं लोगों की हो सकती है जो उद्योग में प्रमुख हैं। एक स्वीडिश कम्बाइन (Swedish Combine) ने सारे भारत में दियासलाई के कारखानों का जाल बिछा दिया है। यहाँ उत्पादन विकेन्द्रीकृत है किन्तु नियन्त्रण केन्द्रीकृत ही है।

आपने इस अध्याय से क्या सीखा ?

श्रम विभाजन का अर्थ (Meaning of Division of Labour)—इसका अर्थ है किसी वस्तु को बनाने के कार्य का अनेक प्रक्रियाओं में विभक्तीकरण तथा श्रमिकों के विभिन्न दलों में से प्रत्येक को एक विशेष प्रक्रिया सौंपना।

सादा तथा जटिल श्रम विभाजन (Simple and Complex Division of Labour)—जब हम यह नहीं पता लगा पाते कि प्रत्येक मजदूर ने सम्मोजित कार्य में से कितना भाग किया, तब सादा श्रम विभाजन (Simple Division of Labour) है।

जब प्रत्येक मनुष्य को एक अधूरी किन्तु पृथक् क्रिया पूरी करने के लिए सौंपी जाती है तब जटिल श्रम विभाजन है।

श्रम-विभाजन के स्वरूप (Forms of Division of Labour)—

(i) व्यापारों का विशिष्टीकरण।
(ii) कार्यों का विशिष्टीकरण
(iii) पूर्ण प्रक्रियाओं का विशिष्टीकरण।
(iv) अपूर्ण प्रक्रियाओं का विशिष्टीकरण।
(v) प्रादेशिक या भौगोलिक श्रम विभाजन।

श्रम विभाजन के आर्थिक प्रभाव (Economic Effects of Division of Labour)—प्रभाव अच्छे और बुरे दोनों होते हैं।

(१) उत्पादन सस्ता है किन्तु विपुल उत्पादन व्यक्तिगत रुचियों की सन्तुष्टि नहीं करता।
(२) उत्पादन अधिक पूँजीवादी हो जाता है।
(३) श्रमिक का कार्य सरल हो गया है किन्तु अविविध और एकांगी। बेकारी का खतरा बढ़ गया है। वह नियोजक की मर्जी पर आश्रित है।
(४) आर्थिक उन्नति हुई है। किन्तु श्रम बनाम पूँजी की समस्या खड़ी हो गई है।

श्रम विभाजन के गुण (Merits of Division of Labour)—

(१) उपयुक्त व्यक्ति उचित स्थान पर।
(२) अभ्यास मनुष्य को पूर्ण बनाता है।
(३) मशीनें मनुष्य को कठिन और थकाने वाले काम से बचाती हैं।
(४) यह मशीनों के प्रचलन की ओर ले जाता है।
(५) लम्बा प्रशिक्षण श्रमिक के लिए आवश्यक नहीं रहता।
(६) विपुल उत्पादन सस्ता होता है।
(७) प्रमापीकृत उत्पादन मण्डी का विस्तार करता है।
(८) समय की बचत।
(९) उद्यमी के कार्य के विशिष्टीकरण ने उत्पादकता बढ़ा दी है।

श्रम विभाजन के दोष (Demerits of Division of Labour)—

(१) कार्य उबाने वाला और मलिन हो गया है।
(२) सृजनात्मक प्रवृत्ति का हनन करता है।
(३) श्रम की गतिशीलता (mobility) में बाधा डालता है।
(४) बेकारी बढ़ाता है।
(५) कारीगर संकुचित विचारधारा का हो गया है।
(६) इसने श्रमिक की दायित्व की भावना का अन्त कर दिया है।
(७) श्रमिक की कुशलता कम हो गई है।
(८) कारखाना-पद्धति के दोष।
(९) वितरण की समस्या अधिक कठिन होती गई है।
(१०) अधिक विशिष्टीकरण का अर्थ है दूसरों पर अत्यधिक निर्भरता।

श्रम विभाजन की शर्तें (Conditions of Division of Labour)—

(१) सहकारिता तथा समझौते की भावना।
(२) मण्डी का आकार।
(३) काम का स्वभाव।
(४) व्यापार की परिस्थितियाँ।
(५) उद्योग की विशेषता।
(६) श्रम और पूँजी की उपलब्धि।

उद्योगों का स्थानीयकरण या केन्द्रीकरण (Localisation or Centralisation of Industries)—

इसका अर्थ—कुछ भाग या स्थान कुछ वस्तुओं के उत्पादन में विशिष्टीकरण करते हैं।

स्थानीयकरण के कारण—

(१) प्राकृतिक कारण जैसे जलवायु (२) कच्चे माल से निकटता, (३) शक्ति-स्रोतों से निकटता, (४) भूमि की उर्वरता, (५) मण्डियों से निकटता, (६) पूँजी की उपलब्धि, (७) प्रशिक्षित श्रम की उपलब्धि, (८) राजनैतिक संरक्षण और (९) पहले आरम्भ करने का आवेग।

स्थानीयकरण की अनवरत प्रवृत्ति (Persistence) के कारण—

(१) प्रशिक्षित श्रम उपलब्ध होता है।
(२) वित्तीय सुविधाएँ।
(३) परिवहन [illegible] साधन विशिष्टीकृत होते हैं।
(४) अनुपूरक और सहायक उद्योग स्थापित होते हैं।
(५) औद्योगिक जड़ता।
(६) शिल्पिक पत्र-पत्रिकाएँ, शोध एवं प्रशिक्षण संस्थाएँ।

स्थानीयकरण के लाभ—

(१) श्रमिकों की कुशलता में वृद्धि।
(२) उस प्रकार के श्रम को नौकरी की गारण्टी। नियमित श्रम बाजार का विकास।
(३) बैंकों की उन्नति।
(४) अनुपूरक और सहायक उद्योगों को प्रोत्साहन।
(५) परिवहन व सचार के साधनों का विकास।
(६) बाजार प्रसिद्धि से विस्तृत होता है।
(७) शिल्पिक पत्रिकाएँ, शोध तथा प्रशिक्षण संस्थाएँ स्थापित होती हैं।
(८) स्थान सम्पन्न हो जाता है।
(९) उद्योगपतियों और श्रमिकों द्वारा संयुक्त कार्यवाही सम्भव होती है।
(१०) उद्योग में सुधार।

स्थानीयकरण से हानियाँ और उनका उपचार—

(१) एक उद्योग पर पूर्ण निर्भरता।

(२) नियोजन का क्षेत्र संकुचित हो जाता है।

(३) आर्थिक विशिष्टीकरण का अर्थ है विदेशों पर निर्भरता।

(४) कुछ व्यवसायियों की बेइमानी का स्थान में रहने वाले सभी पर प्रभाव पड़ता है।

(५) श्रम की गतिशीलता में कमी।

(६) भीड़ भड़क्के से श्रमिकों के स्वास्थ्य और क्षमता पर बुरा असर पड़ता है।

(७) हवाई हमलों से युद्ध में खतरा।

उपचार—

(क) सहायक उद्योगों की स्थापना।

(ख) उद्योगों का विकेन्द्रीकरण।

विकेन्द्रीकरण या विस्थानीयकरण के कारण—

(१) बिजली का आगमन।

(२) परिवहन के साधनों का विकास।

(३) पुराने स्थानों में व्यय में वृद्धि तथा नए स्थानों में रियायतों की उपलब्धि।

(४) माल इकट्ठा करने और वितरण करने के लिए अधिक उन्नत संगठन।

(५) बमबारी का भय।

क्या आप निम्न प्रश्नों का उत्तर दे सकते हैं ?

1 What do you understand by '*Division of Labour*' ? What are its various forms ? (दिल्ली, १९५०)

देखिए विभाग ३, ४

2 (*a*) What do you understand by Division of Labour ?

(*b*) 'Division of Labour is limited by the extent of the *market*' Explain. (पंजाब विश्वविद्यालय, १९४२)

[श्रम विभाजन के अर्थ के लिए देखिए विभाग ३ ३, ४, दूसरे भाग के लिए देखिए विभाग ७, (२)]

3 Give the advantages and disadvantages of division of labour (लाहौर, १९४६)

देखिए विभाग ६, ७

Or

Describe the advantages of Division of Labour and point out its limitations (कलकत्ता, १९५१)

देखिए विभाग ६, ८

4 (*a*) Is it correct to say that the extent of the *market* is limited by division of labour ?

(*b*) Is Division of Labour necessarily beneficial ?

(पंजाब विश्वविद्यालय, १९४३)

[(क) किसी हद तक तो यह सच है कि मण्डी का विस्तार श्रम-विभाजन द्वारा परिमित होता है। श्रम-विभाजन का फल होता है बड़े पैमाने पर उत्पादन का प्रमाणीकरण (standardisation)। इससे मण्डी का विस्तार बढ़ जाता है। इसलिए मण्डी का विस्तार श्रम-विभाजन द्वारा परिमित है। किन्तु यह कहना अधिक सही होगा कि श्रम-विभाजन मण्डी के विस्तार पर निर्भर है।

जितनी बड़ी मण्डी होगी उतना ही श्रम विभाजन लागू करने का क्षेत्र अधिक होगा। [देखिए विभाग ८ (२)] सच तो यह है कि मण्डी और श्रम विभाजन एक दूसरे पर आश्रित है।]

(ख) नहीं, यह लाभदायक हो ही, ऐसा जरूरी नहीं है। निस्सन्देह श्रम विभाजन के अनेक फायदे है। (देखिए विभाग ६) किन्तु उसकी कुछ हानियां भी है (देखिए विभाग ७) फिर भी मोटे तौर पर यह फायदेमन्द है।]

5 Is it true to say that division of labour increases immobility of labour ? Show how division of labour is limited by (a) the extent of the market, and (b) the nature of employment

देखिए विभाग ७, ८

6 What is meant by Localization of Industry' ? In what parts of India are the industries named below localized and what are the reasons for their localization there ?

(a) Cotton Industry, (b) Glass Industry, (c) Leather Industry, (d) Iron and steel Industry and (e) Jute Industry

[(क) सूती उद्योग (Cotton Industry)—बम्बई में स्थानीकृत है। यह नम जलवायु, मशीनरी और कपास के आयात और सूत के निर्यात के लिए, बन्दरगाहों की सुविधाओं, निकट में कपास के उपजाऊ क्षेत्रों तथा वित्त एवं उद्यम सम्बन्धी योग्यता की सुलभता के कारण है।

(ख) काच उद्योग (Glass Industry)—फिरोजाबाद (उत्तर प्रदेश) में। मिट्टी और बालू जिसका उद्योग में उपयोग होता है पास में उपलब्ध है। मण्डी काफी विस्तृत है।

(ग) चमड़ा उद्योग (Leather Industry)—उत्तर प्रदेश में कानपुर और आगरे में सरकारी संरक्षण (Patronage) तथा खालों की सुलभता के कारण। मद्रास राज्य के कुछ भागों में भी, क्योंकि चमड़े की कमाई (Tanning) करने की सामग्री एक पेड़ की छाल से उसी क्षेत्र में मिल जाती है।

(घ) लोहा और इस्पात उद्योग (Iron and Steel Industry)—बिहार, बंगाल में जहाँ लोहे और कोयले की खानें निकट है।

(ङ) जूट उद्योग (Jute Industry)—कलकत्ते के आस पास जहां कच्चा माल और शक्ति सरलता से प्राप्य है।

देखिए विभाग ६, १०

7 What are the factors leading to localization of Industry ? Mention the consequences of such localization

(आगरा १६५२, यू० पी० बोर्ड १६६३, बिहार १९५३ बम्बई १६५४)

Or

What do you mean by 'territorial division of labour' ? Consider its merits and possible drawbacks (दिल्ली १६५५, यू० पी० बोर्ड १६३२)

देखिए विभाग ६, १३

8 Discuss the causes advantages and disadvantages of localization of industries (अजमेर, १६५३)

देखिए विभाग ६, १०, १३ और १४

What are the causes which have led to the decentralization of industries ? देखिए विभाग १५

उत्पादन के साधन (क्रमश.)

(Agents of Production—*Contd*)

पूंजी और यन्त्र

(Capital and Machinery)

पूंजी का अर्थ केवल नकदी नहीं है

१ **प्रस्तावना** (Introduction)—उत्पादन के पहले दो साधनों का अध्ययन हम पिछले अध्यायों मे कर चुके है, यानी भूमि और श्रम का इस पाठ मे हम तीसरे साधन—पूंजी—पर विचार करेंगे जिसको पहला या बुनियादी साधन नही माना जा सकता। पहले दोनो साधनो के कारण यह साधन अस्तित्व मे आया है। यह भूमि और श्रम की उपज है।

२ **पूंजी का स्वरूप** (Nature of Capital)—सबसे पहले हमे यह बात साफ-साफ जान लेनी चाहिये कि 'पूंजी' शब्द अर्थशास्त्रियो द्वारा किस अर्थ मे प्रयुक्त होता है। साधारण व्यक्ति के लिए तो पूंजी से नकदी (cash) या बैंक मे जमा रुपयो का ही मतलब है। उसके लिए तो पूंजीपति (capitalist) साहूकार का नाम है। लेकिन एक व्यापारी के मन मे पूंजी का मतलब दूसरा है। वह पूंजी के अर्थ समझता है साधन, औजार, यत्र, आफिस के उपकरण, बैंक मे जमा रुपया आदि अनेक वस्तुएँ।

अर्थशास्त्र के अनुसार पूंजी की परिभाषा इस प्रकार की जाती है—"भूमि को छोडकर यह मनुष्य के धन (wealth) के उस भाग को कहते हैं जिसे अधिक धन कमाने के कार्य मे लगाया जाता है या जिससे आय की प्राप्ति होती है। आप जरा अपने मन मे किसी धनी व्यक्ति और उसकी पूंजी की कल्पना करे। सम्भव है, उसके पास कुछ भूमि हो, उसके पास रहने के लिये एक सुन्दर भवन है, कारखाना या दुकान चलती है, और आमोद-प्रमोद के लिये मोटरगाडी है। इनमे से भवन और उसको सजाने वाला फर्नीचर और मोटरगाडी से उसे प्रत्यक्ष सतुष्टि मिलती है। इनको पूंजी मे नही गिना जाता है, क्योकि ये साधन उसके अधिक उत्पादन मे सहायक नही होते। परन्तु उसकी भूमि, कारखाने और दुकान से उत्पादन मे सहायता मिलती है। भूमि मे कुछ खास विलक्षणतायें होती हैं, इसलिए इसे पूंजी मे नही गिना जाता। परन्तु कारखाना और दुकान पूंजी मे शामिल है। इनकी सहायता से इनके स्वामी को

धन की ओर आय की प्राप्ति होती है। इन्हीं कारणों से निर्माता (manufacturer) के औजार और यन्त्र और किसान के लिये बीज और बैल पूँजी माने जाते है।

पूँजी को हम व्यक्तिगत या सामाजिक दोनों दृष्टिकोणों से देख सकते हैं। व्यक्तिगत दृष्टि से पूँजी धन का वह भाग है जिससे आय की प्राप्ति होती है। दूसरी ओर सामाजिक दृष्टि से पूँजी धन का वह भाग माना जाता है जिससे धन का और अधिक उत्पादन होता है। पूँजी के कुछ ऐसे रूप भी होते है, जो दोनों प्रकार का कार्य सिद्ध करते है, जैसे कारखाना। उनमे (कारखाने आदि से) उत्पादन और आय दोनों प्राप्त होते है। कुछ माल (goods) ऐसे होते है जो व्यक्तिगत दृष्टि मे तो पूँजी ठहरते है परन्तु सामाजिक दृष्टि में नही। युद्ध-काल मे सरकार द्वारा प्रचलित 'वार बॉड' व्यक्तिगत दृष्टि मे, क्योंकि यह व्यक्ति को आय के साधन है, पूँजी होते है। परन्तु सरकार उस जुटाये गये धन से बम आदि युद्ध-सामग्री तैयार करती है, जो नष्ट हो जाती है। ये उत्पादन की बजाय विनाश करती है और इन्हे किसी भी तरह पूँजी नही माना जा सकता। इसी श्रेणी में खर्चीले व्यक्ति द्वारा उधार लिये गये रुपये-पैसे को भी गिना जाता है। महाजन को तो इससे आय होती है परन्तु इस प्रकार ऋण लिया गया धन आय स्वयं ही चला जाता है। इसलिये यह सदैव हितकर होता है कि व्यक्ति और सामाजिक दृष्टिकोणों को अलग रखा जाय और उनका अलग-अलग अध्ययन भी किया जाय।

जब भूमि और श्रम (अर्थात् मनुष्य और प्रकृति) सहयोग स्थापित करते है और मिलकर कार्य करते है तो धन (wealth) का उपार्जन होता है। धन का एक भाग मानव आवश्यकताओं (human wants) की तात्कालिक और प्रत्यक्ष सन्तुष्टि मे व्यय हो जाता है। और उसका दूसरा भाग स्थायी वस्तुओं के उत्पादन मे लगा दिया जाता है जो आगे चलकर परोक्ष (indirect) रूप मे मानव अभावों (human wants) की तृप्ति करता है। यह बीच की चीजें जिनका उपयोग अधिक धन उत्पन्न करने मे होता है पूंजी अथवा पूंजीगत माल (capital goods) के नाम से जाने जाते है। पैसन (Penson) के अनुसार हम इस विचार को निम्नलिखित प्रकार से व्यक्त कर सकते है—

उत्पादक प्रयास का परिणाम होता है धन।
धन का या तो उपभोग होता है या बचत।
बचाया गया धन पूंजी के रूप मे काम आता है।
पूंजी नवीन उत्पादक प्रयास मे सहायक होती है।

धन और पूंजी (Wealth and Capital)—पूँजी की उपर्युक्त परिभाषा से यह तो साफ हो जाता है कि पूँजी उन मूल्यवान् आर्थिक वस्तुओं से निर्मित होती है जो दुर्लभ है। अर्थशास्त्र के अनुसार इन वस्तुओं का नाम धन (wealth) है। इस प्रकार सारी पूँजी धन है, लेकिन सारा धन पूंजी नहीं। धन का केवल वही भाग जिसका उत्पादक उपयोग (productive use) होता है, पूँजी कहलाता है। ऐसी मोटरगाडी जिसका निजी आमोद-प्रमोद के लिये प्रयोग होता है धन तो

है, पर पूँजी नही कहलाती। इसलिए दोनो शब्द, धन और पूँजी, परस्पर पर्यायवाची (एक अर्थ वाले) नही है।

पूँजी और द्रव्य (Capital and Money)—बैंक मे जमा करने पर पूँजी द्रव्य का रूप धारण कर लेती है। परन्तु पूँजी मे सारा कारखाना, जैसे औजार, यन्त्र, बीज आदि आते है जो द्रव्य द्वारा खरीदे जा सकते है। इस तरह धन पूँजी हो भी सकता है और नही भी। जब द्रव्य का, और द्रव्य कमाने के लिए प्रयोग होता है तो इसे पूँजी का नाम दे देते है, परन्तु जब इस द्रव्य को गाड़-दाब (hoard) कर रखा जाता है, तो इसका नाम पूँजी नही होता। इस प्रकार द्रव्य पूँजी हो भी सकता है और नही भी।

पूँजी और आय (Capital and Income)—पूँजी और आय मे भेद करना अत्यन्त आवश्यक है। कारखाना स्वामी की सम्पत्ति है, परन्तु उससे उसे प्रतिवर्ष जो लाभ (profit) होता है वह उसकी आय (income) मानी जाती है। पूँजी तो निधि है और आय एक प्रवाह। आय अपने नियमित समय पर मिलती है। इसका हिसाब प्रति मास या प्रति वर्ष होता है।

उपभोग की जाने वाली वस्तुएँ क्या पूँजी मानी जा सकती हैं? (Are Consumer Goods Capital ?)—पूँजी मे उत्पादक वस्तुएँ शामिल है यानी ऐसी वस्तुएँ जो उत्पादन के काम आती है। परन्तु जब तक माल उत्पादक के पास होता है वह पूँजी ही माना जाता है। यदि किसी कारखाने के मालिक के पास गेहूँ का गोदाम भरा हो, जिसे वह मजदूरो को खिलाने के काम मे लाता हो, तो यह गेहूँ, उत्पादन मे सहायक होने के नाते पूँजी ही माना जायेगा। इसी तरह खाद्य (food) को हम सहज ही दोनो अर्थों मे समझ सकते है, अर्थात् उत्पादक सामग्री या खाद्य-सामग्री। ऐसी मोटरगाड़ी जिसका उपयोग एक डाक्टर अपने सैर-सपाटे के लिये करता है पूँजी नही कही जा सकती, परन्तु जब वही कार किसी समय रोगी को देखने जाने के काम आती है तो वही डाक्टर की पूँजी बन जाती है। बैनहम (Benham) जैसे कुछ अर्थशास्त्रियो ने कई उपभोग्य वस्तुओ (consumer goods) को पूँजी मान लिया है, क्योंकि उनसे उपभोक्ताओ को जो सतुष्टि मिलती है उससे वे और अधिक धन का उत्पादन करने मे सफल होते है।

क्या भूमि पूँजी के अन्तर्गत आती है? (Is Land Capital ?)—उपर्युक्त तर्क के अनुसार तो भूमि को भी पूँजी ही मानना चाहिए क्योकि यह भी एक प्रकार का धन है जिससे आय मिलती है। परन्तु भूमि इतना महत्त्वपूर्ण और विलक्षण साधन है कि इसको पृथक् रखना ही ज्यादा अच्छा है। भूमि मानव को प्रकृति का एक निर्मूल्य उपहार है, यह क्षेत्र मे सीमित है, और उसके विविध रूप और गुण है। दूसरी ओर, पूँजी मनुष्य निर्मित है, और इच्छा होने पर उसको बढ़ाया भी जा सकता है। भूमि मे गतिशीलता नही होती, जबकि पूँजी गतिमान होती है। भूमि की कोई सप्लाई कीमत नही होती और इसकी सप्लाई इसके प्रयोग की कीमत यानी लगान (rent) पर निर्भर नही होती, यदि इसका लगान कम हो जाय तो भी इसकी सप्लाई कम नही की जा सकती। परन्तु पूँजी की पूर्ति तो

उसकी कीमत यानी ब्याज के साथ बदलती है। इसलिए भूमि को पूंजी में नहीं गिना जाता।

३. पूंजी का महत्त्व (Importance of Capital)—पूंजी के महत्त्व के बारे में दो राय नहीं हो सकती। सभ्यता के प्राचीनतम काल में भी मनुष्य को किसी न किसी प्रकार के औजारों की आवश्यकता होती थी। शिकारी को धनुष और बाण की, मछुए को मछली पकड़ने वाले जाल की। पशु-पालन काल में ढोर ही उसकी सम्पत्ति थे। और इसके बाद कृषि-काल में खेती के वे उपकरण जैसे हल, बैल आदि जिन्होंने उसे आत्म-निर्भर बनाया, महत्त्वपूर्ण हो गये। गहरी जुताई के बिना बीज बोना सम्भव नहीं था, और इस काम के लिए हल की आवश्यकता पड़ती थी। बीज डालने के लिए जिससे वे एक पंक्ति में ठीक-ठीक बोये जा सकें किसी न किसी तरह के औजार की आवश्यकता पड़ती थी। सिंचाई के लिए यह नितान्त आवश्यक था कि कोई न कोई सहायक औजार हो।

आधुनिक काल में जिसे हम औद्योगिक काल भी कह सकते हैं पूंजी का महत्त्व और भी अधिक बढ़ गया है। आजकल कलों शक्तिशाली इन्जनों और तरह-तरह की नाजुक और सूक्ष्म मशीनों का उपयोग होता है। इसके अलावा रेलगाड़ी, जहाज कारखानों और फैक्टरियों का उपयोग भी बढ़ा है। इन सबको पूंजी माना जाता है। आज के युग में क्या इन सब यन्त्रों की सहायता के बिना उत्पादन सम्भव है? शायद इनकी सहायता के बिना कुछ ही वस्तुओं का निर्माण हो पाए। परन्तु यह विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि इनके बिना संसार की जनसंख्या के लिए आवश्यक मात्रा में किसी भी वस्तु का उत्पादन नहीं हो सकता।

कुछ कामों के लिए तो यन्त्रों का प्रयोग अनिवार्य है। काफी कामों में ये मनुष्य की कार्य करने की क्षमता को बहुत बढ़ा देते हैं। सच तो यह है कि मानव ने प्रकृति पर जो विजय पाई है वह उसे इन यन्त्रों ही से (जिन्हें हम पूंजी का नाम देते हैं) सम्भव हुई है।

किसी भी राष्ट्र की आर्थिक उन्नति उसकी पूंजी के अनुपात से होती है। जिस राष्ट्र के पास इन साधनों का अभाव होगा वह सदैव पिछड़ा रहेगा। आज के युग में पूंजी उत्पादक साधनों में बहुत महत्त्वपूर्ण साधन है। श्रम की बारी इसके बाद आती है।

४. पूंजी की उत्पत्ति और वृद्धि (Origin and Growth of Capital)—यदि प्राचीन काल में मानव को जाल की आवश्यकता होती तो उसे उस (जाल) के बुनने के समय पेट भर भोजन की जरूरत होती थी। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि पूंजी जुटाने के लिए उसे अपने उपभोग में से कुछ बचाना जरूरी था। इस प्रकार कुछ अंशों में पूंजी उसकी प्रतीक्षा और संयम का परिणाम होती थी और कुछ अंशों में उसकी मेहनत और लगन का। सिर्फ हाथ पर हाथ धर कर बैठे रहने से पूंजी उत्पन्न नहीं होती।

एक बार बन जाने पर, पूंजी मानव की उत्पादन-शक्ति को बढ़ाती है और अधिक पूंजी इकट्ठी करने में सहायक होती है। इस तरह पूंजी बढ़ती जाती है। अब शुरू में प्राचीन

मनुष्य ने मछली पकड़ने का जाल बनाया तो कम मेहनत से उसको ज्यादा मछली हाथ आने लगी और थोड़े कष्ट से उसका निर्वाह पहिले से अच्छा होने लगा। अब वह अधिक और कहीं अच्छे जाल बना सकने लगा।

किसी देश में पूँजी की वृद्धि दो बातों पर निर्भर है—(१) बचत करने की शक्ति (the power to save) और बचत करने की इच्छा (the will to save)। आइए, अब हम इन दोनों बातों का विस्तार से अध्ययन करें।

बचत करने की शक्ति किसी देश में कई बातों पर निर्भर होती है —

(i) उनमें एक तो यह है कि उपभोग की अपेक्षा उत्पादन अधिक हो। यदि किसी देश में उत्पादन की मात्रा उसकी खपत या उपभोग से अधिक हो तो, पूँजी इकट्ठी होती रहेगी। इसलिए उत्पादन जितना अधिक होगा उतनी ही अधिक पूँजी के जमा होने की सम्भावना बढ़ जाएगी। परन्तु उत्पादन में वृद्धि की सम्भावना तभी हो सकती है जब खेती, व्यापार और उद्योगों को ठीक-ठीक चलाया जाय। यदि खेती-बाड़ी का काम वैज्ञानिक ढंग पर किया गया और उद्योग-धन्धों का पूरी तरह मशीनीकरण न किया गया तो उत्पादन कार्यक्षमता अपेक्षाकृत कम रह जायगी। इसके अलावा यह भी जरूरी है कि संचार और परिवहन के दूसरे साधन भी पूरी तरह विकसित हों। उत्पादन की मात्रा इस बात पर भी निर्भर करती है कि किसी देश की जलवायु और भौगोलिक स्थिति कैसी है, वहाँ की जनसंख्या कितनी है और उसका चरित्र कैसा है। जब ये चीजें अनुकूल होती हैं तब आय बहुत होती है और पूँजी इकट्ठी होती जाती है।

(ii) **पैसा लगाने के मार्ग** (Channels of Investment)—यदि देश में बैंक, बीमा कम्पनियों और पैसा लगाने के दूसरे सुरक्षित मार्ग खुले हों तो व्यक्ति की पैसा लगाने की क्षमता बढ़ जाती है। निपुण महाजनी व्यवस्था से पूँजी स्रोतों के इकट्ठा होने में बड़ी सहायता मिलती है। यदि ये स्रोत नहीं तो पूँजी बिखरी पड़ी रहेगी और बेकार हो जाएगी।

(iii) **द्रव्य की अच्छी व्यवस्था बचत को बढ़ावा देती है** (A good system of money stimulates saving)—यदि चल-द्रव्य (currency) बेचपेन्दा, अप्रचलित या खराब हो तो लोग उसे जमा करने के प्रति उदासीन रहेंगे।

(iv) कराधान की सुयोजित व्यवस्था (A well-planned system of taxation) होने से सरकार को पैसा जमा करने में सहायता मिल जाती है। दूसरी ओर उद्योग और व्यापार के क्षेत्र के लिए भी काफी बच रहता है। भारी करों से तो व्यापार और उद्योग नष्ट हो जाते हैं। कुछ उद्योगपतियों का विचार है कि १९३९-४५ के युद्ध-काल में अतिरिक्त लाभ कर (Excess Profit Tax) लगने से भारतीय उद्योग को बाधा पड़ी और इसका विकास रुक गया। यह सच है कि भारी करों से पूँजी के संचय में निश्चित बाधा पड़ती है।

ऊपर बताये गये कारणों से बचत पर काफी असर पड़ता है। जैसे भारी कर आदि लगने से बचत करने के लिए उत्साह कम हो जाता है, परन्तु एक अच्छा बैंक बचत को बढ़ावा देता है।

बाहरी साधनो के अलावा बचाने की इच्छा को प्रेरणा किसी अभिप्राय (motive) से मिलती है। वे अभिप्राय यह है—

(v) बुढापे और अदृष्ट आपत्ति के लिए प्रबन्ध (Provision against old age and unforeseen emergencies)—लोग पैसा इसलिए जोडते है कि वे यह भली भाँति जानते है कि एक समय ऐसा भी आता है जब बुढापे के कारण काम करके पैसा कमाना कठिन होता है। उस समय बचत पर ही निर्भर रहना पडता है। किसी आपत्ति काल के लिए भी बचाना जरूरी होता है। कुछ आकस्मिक खर्च और मुसीबते आ ही जाती हैं, इसलिए उन्हे पूरा करने के लिए बचाना नितान्त आवश्यक है। हो सकता है बीमारी आ जाय या किसी सगे-सम्बन्धी की सहायता करनी पडे, या किसी मित्र को जरूरत पड जाय इन सभी बातों के लिए बचाना जरूरी है।

(vi) पारिवारिक मोह (Family Affection)—मनुष्य इसलिए पैसा जोडता है कि उसके परिवार को ठीक तरह का जीवन व्यतीत करने के लिए पर्याप्त आय हो।

(vii) व्यापार में सफलता पाने की इच्छा (Desire for success in business)—मनुष्य को यह इच्छा कि वह व्यापार में सफल हो बचत को बहुत प्रेरणा देती है।

(viii) सामाजिक और राजनैतिक प्रभाव पैदा करने की इच्छा (Desire to win social and political influence)—आज के युग में सामाजिक प्रभाव और राजनैतिक शक्ति पैसे ही से सम्भव है। मनुष्य पैसे से समाज में न सिर्फ मान और आदर ही पाता है बल्कि उससे वह विधान सभा में भी स्थान प्राप्त कर सकता है। जिन लोगो का मस्तिष्क इस दिशा में काम करता है वे पैसा कमाते भी है और जोडते भी है।

(ix) व्यक्तिगत स्वभाव (Force of Habit)—कुछ लोग तो लाचारी में बचाते है क्योंकि उनका स्वभाव ही ऐसा होता है। ऐसा अक्सर कजूसो के साथ होता है। व्यय करना उनकी प्रकृति के विरुद्ध होता है और जोडना स्वाभाविक।

(x) सूद की दर (Rate of Interest)—सूद की दर जितनी अधिक होगी बचत की प्रवृत्ति उतनी ही सहज और स्वाभाविक होगी। जब सूद की दर बढती है तब बहुत से लोग जो पहले जोडने की ओर ध्यान नहीं देते वे इस ओर आकृष्ट हो जाते है।

परन्तु इस प्रकार हम सूद की दर के महत्त्व को अधिक नहीं बढा सकते। धनिक इसलिए नहीं बचाता कि उसको बचत से सूद मिलेगा वरन् इसलिए कि उसमे बचाने की क्षमता होती है। सूद से उस पर अधिक प्रभाव नहीं पडता। गरीब आदमी भी, जो थोडी-सी राशि बचाता है (मान लीजिए १०० रुपये प्रति वर्ष) वह आपातकाल के लिए उससे यदि वह १, २ रुपया ब्याज भी पा जाय तो हम उस (ब्याज को) उसकी बचत के लिए कोई आकर्षण नहीं मान सकते।

कभी-कभी तो सूद की दर का प्रभाव उलटा पडता है। यदि कोई व्यक्ति अपने लिए कोई निश्चित आय पाने के लिए बचाता है तो सूद की दर जितनी

ज्यादा होगी, उतना ही उस आय को प्राप्त करने के लिए उसे अपेक्षाकृत कम राशि बचाने की आवश्यकता होगी। इसलिए वह उतना ही कम बचाएगा। इसी तरह इसके उलट भी होगा।

(x1) देश मे शान्ति और व्यवस्था (Law and Order in the Country)—यदि किसी देश की सरकार वहां के लोगो के जीवन और सम्पत्ति की सुरक्षा (security) की गारंटी लेती है तो इसका प्रभाव भी लोगो की पैसा जमा करने की इच्छा और प्रवृत्ति पर बड़ा अच्छा पड़ता है। ऐसी शान्तिपूर्ण अवस्था मे यह स्वाभाविक है कि जो कुछ भी पूंजी लगाई जाएगी उसका फल अच्छा होगा। पूंजी सचय के लिए अरक्षा ही सबसे घातक शत्रु है।

हम अपने देश मे देखते हैं कि इस प्रकार के शान्तिपूर्ण साधन जिनसे बचत की प्रवृत्ति को बढावा मिलता है प्रचुर मात्रा मे मौजूद हैं। इन साधनों का प्रभाव यहां काफी है। परन्तु इसके बावजूद भी बचत करने की शक्ति और प्रवृत्ति दोनों का प्रभाव सा है। बचत करने की इच्छा तो है परन्तु बचत करने का नितान्त अभाव-सा दीख पड़ता है। पश्चिमी देशो की अपेक्षा यहां कम बचत होती है और नतीजा यह है कि कम पूंजी इकट्ठी हो पाती है। यूरोप और अमरीका मे औद्योगिक कार्यक्षमता (efficiency) काफी ऊंचे स्तर पर पहुंच गई है। लोगो की अधिक आय होती है जिससे उनके लिए बचत करना सरल है। वहां बचत के लिए हालात भी अच्छे हैं। इसमे आश्चर्य नही कि वहां के लोग ज्यादा धन इकट्ठा कर लेते हैं और इस बची हुई पूंजी को आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए देशो के उत्पादन की वृद्धि के लिए भी लगाते है।

भारत म आजकल पूंजी इकट्ठा करने के लिए हालात खास अनुकूल नहीं हैं। दीर्घ काल की मुद्रा स्फीति (inflation) के बुरे असर से अभी तक मध्यवर्गीय लोग संभल नहीं पाए हैं, इसलिए वे लोग जो प्राय बचत करते थे, अब इस स्थिति मे नहीं रहे। राष्ट्रीयकरण (nationalisation) के भय से पूंजीपति अपना पैसा उद्योग मे फँसाने से डरते है। उद्योगपतियो का विचार है कि भारी कराधान (heavy taxation) और सरकार की उदार श्रम नीति ने व्यापारी की बचत क्षमता (saving capacity) को बहुत ठेस पहुंचाई है। आर्थिक प्रगति की रफ्तार बढाने के लिए सरकार ने पिछले दिनो पूंजी निर्माण की उन्नति देने के हेतु से कुछ पग उठाए हैं। उनमे टैक्स कम करना, राष्ट्रीयकरण किए जाने पर उचित क्षति-पूर्ति (मुआवजा) का आश्वासन आदि शामिल है। स्वय अपनी ओर से अधिक पूंजी लगाकर भी सरकार ने इसमे काफी योग दिया है।

५ पूंजी के रूप (Forms of Capital)—पूंजी के सिर्फ दो ही रूप नहीं होते—यानी द्रव्य (money) और यन्त्र (machines)। इसके कई रूप होते है जिनका विवरण इस प्रकार है—

स्थिर पूंजी (Fixed Capital)—इस नाम ही से यह साफ है कि इस प्रकार की पूंजी स्थिर किस्म की होती है जैसे यन्त्र-तन्त्र (plant and machinery)। एक बार जमा दने के बाद यह बराबर बरसो तक काम देते है और टिकाऊ होते है।

परिचल पूंजी (Circulating Capital)—दूसरी ओर इस प्रकार की पूंजी टिकाऊ नहीं होती। यह अपना काम सिर्फ एक बार ही करती है। एक ही बार के उपयोग में यह नष्ट हो जाती है और इसका प्रयोग पूंजी के रूप से दोबारा नहीं हो सकता। जैसे इस श्रेणी में हम रूई और जूट का नाम गिना सकते है। ये वस्तुएं निर्माण-काल में ही खतम हो जाती है। परिचल पूंजी से हमारा मतलब तैयार माल या उपभोग्य माल (consumer goods) के कोठों (stocks) से भी है।

यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि एक ही वस्तु एक वर्ग के लिए स्थिर पूंजी (fixed capital) और दूसरे लिए परिचल पूंजी (circulating capital) हो सकती है। एक ओर डेरी के लिए पशु धन (livestock) स्थिर पूंजी है तो दूसरी ओर पशुपालक (breeder) के लिए यही पशु-धन परिचल पूंजी बन जाता है। ठीक इसी तरह मशीन निर्माता के लिए स्थिर पूंजी होती है, पर मशीन बनाने वाले कारखाने के लिए परिचल पूंजी।

उपयोजित पूंजी (Sunk Capital)—जब पूंजी का उपयोग ऐसा होता है कि उसको एक काम में लगा देने पर फिर वह उसमें से उखाडी या निकाली नहीं जा सकती तो ऐसी पूंजी को हम उपयोजित पूंजी (sunk capital) का नाम देते है। उदाहरण के लिए, मान लीजिए कोई खेतिहर नल-कूप पर २५,००० रुपया लगाए। यह व्यय किया हुआ धन एक बार में ही डूब जाता है। इसका उपयोग दुबारा नहीं किया जा सकता।

प्लवमान पूंजी (Floating Capital)—इसका नाम प्लवमान पूंजी इस लिए पड गया है क्योंकि इसका उपयोग किसी भी काम में बार-बार हो सकता है। द्रव्य (money) के रूप में पूंजी को किसी भी उद्योग में लगाया जा सकता है। इसी को प्लवमान पूंजी कहते है।

कार्यकारी पूंजी (Working Capital)—जो पूंजी कारोबार को चलाने और बनाए रखने के काम आती है उसे कार्यकारी पूंजी (working capital) कहते है, जैसे कच्चे माल का स्टॉक, अर्द्ध-निर्मित माल (semi-manufactured) और तैयार माल जिसको व्यापारी के लिए वह सदैव अपने गोदामों में बनाए रखता है। जो द्रव्य मजदूरों की मजदूरी आदि पर व्यय किया जाता है उसे भी इसी प्रकार की पूंजी में शामिल किया जाता है।

पूंजी के कार्य (Functions of Capital)—पूंजी धनोपार्जन में उपयोगी होने के कारण ही मूल्यवान समझी जाती है। वास्तव में उत्पादन का कार्य बिना उचित और पर्याप्त पूंजी के बिलकुल ही चौपट हो जाता है।

पूंजी द्वारा होने वाले बडे-बडे कार्य ये है—

(1) **कच्चे माल की सप्लाई (Supply of Raw Material)**—पूंजी की सहायता से कच्चे माल की प्राप्ति होती है। प्रत्येक उद्योगपति के पास अच्छे किस्म की कच्चे माल की रसद ठीक समय पर आती रहनी चाहिए। रूई के कारखाने में कच्ची रूई उसके गोदामों में रहनी चाहिए, कागज बनाने के कारखाने में बॉस की खोलन और भूसा होना चाहिए, और चीनी के कारखाने में काफी मात्रा में गन्ना

और दूसरे प्रकार के कारखानों में भी इसी प्रकार का और माल—यह सब कुछ निहायत जरूरी है वरना उत्पादन का कार्य नहीं चल सकता।

(ii) *यन्त्र या उपकरणों की सप्लाई* (Supply of Appliances or Machinery)—दूसरा कार्य जो पूँजी द्वारा होता है, वह है औजारों, उपकरणों और दूसरे यन्त्रों की प्राप्ति। यह तो जाहिर है कि ये साधन उत्पादन के लिए अनिवार्य हैं। इनकी सहायता के बिना बड़े पैमाने पर (large scale) उत्पादन असम्भव है। औजारों की आवश्यकता तो वैसे आर्थिक विकास के प्रारम्भिक काल में भी थी। परन्तु आज तो उनकी जरूरत और भी बढ़ गई है क्योंकि उत्पादन पूँजीवादी (capitalistic) हो गया है। पश्चिमी देशों में आधुनिक उद्योग ज्यादा से ज्यादा यन्त्र-चालित हो गया है यहाँ तक कि खेती के कामों में भी हर प्रकार के औजारों और मशीनों जैसे ट्रैक्टरों, बुलडोजरों आदि से काम लिया जाता है।

हमारे देश भारत में जहाँ श्रम सस्ता और काफी मात्रा में उपलब्ध है खेती के कामों में मशीन और दूसरे श्रम की बचत करने वाले उपकरणों की आवश्यकता नहीं है परन्तु फिर भी यहां बहुत सी मशीनों का कई प्रकार के कार्यों के लिए प्रयोग प्रारम्भ हो गया है। आधुनिक ढंग की मशीनों से सुसज्जित हुई का कारखाना अधिक माल बनाता है और उसमें प्रति इकाई लागत (cost) भी कम आती है। इसलिए मशीनों की सप्लाई पूँजी का एक बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य है।

(iii) *गुजारे का सहारा* (Provision of Subsistence)—पूँजी उत्पादन के काम में लगे मजदूरों को निर्वाह-योग्य पैसा देती है। उनको भोजन, कपड़ा और घर मिलना चाहिए। आजकल उत्पादन का स्वरूप बहुत जटिल हो गया है और काम पूरा होने तक उसे कई मार्गों से गुजरना पड़ता है। कभी-कभी तो माल निर्माण के बरसों बाद बाजार में पहुँचता है और उसके बाद निर्माता को उसका एवज मिल पाता है। इस खाई को भरने के लिए एक साधन की आवश्यकता होती है, और यह कार्य पूँजी के द्वारा सम्पन्न होता है। यह (पूँजी) उत्पादन के कार्य में लगे हुए मजदूरों के निर्वाह में सहायक होती है।

(iv) *यातायात के साधनों का प्रबन्ध* (Provision of Means of Transport)—माल को सिर्फ तैयार करना ही एक काम नहीं है। उसे तैयार करने के बाद बाहर भेजना और मण्डियों में उपभोक्ता तक पहुँचाना भी है। इस काम के लिए मालगाड़ियों और मोटर ट्रकों जैसे माल ढोने के साधनों की जरूरत होती है। पूँजी का एक भाग इस कार्य के लिए अलग रहना बहुत जरूरी है।

७ **पूँजी की कार्यक्षमता** (Efficiency of Capital)—उत्पादन की मात्रा सिर्फ इस बात पर ही निर्भर नहीं रहती कि उत्पादक के पास पूँजी की कितनी मात्रा है, वरन् इस पर भी कि उस पूँजी में कितनी कार्यक्षमता और गुण मौजूद है। एक अच्छी मशीन दो पुरानी और टूटी-फूटी मशीनों की अपेक्षा अधिक माल तैयार कर सकती है।

पूँजी की उत्पादक शक्ति निम्नलिखित कारणों पर निर्भर होती है—

(i) गुण (Quality)—पूँजी अच्छे किस्म की होनी चाहिए। अव्वल दर्जे

का माल तीसरे दर्जे की मशीन पर नहीं बनाया जा सकता। मशीन आधुनिक और नवीनतम होनी चाहिए। वह पुरानी और टूटी-फूटी न हो।

(ii) उपयुक्तता (Suitability)—यह बहुत जरूरी है कि उस कार्य-विशेष के लिए, जिसके लिए मशीन लगाई गई है मशीन ठीक-ठीक काम करे। मान लीजिए कि कागज की मिल में जो मशीन लगी है वह बिना नुकसान के बाँस की लुग्दी पर काम नहीं कर सकती, तो इससे उसके काम की कार्यक्षमता जरूर ही घटेगी। ठीक इसी तरह कताई के कारखाने में अगर एक मशीन पर इतनी ज्यादा तकलियाँ लगी हों जिनकी एक मजदूर देख-भाल नहीं कर सकता तो यह जाहिर है कि वह मशीन अनुपयुक्त है।

(iii) सही सन्तुलन (Proper Balance)—कारखाने के विभिन्न भाग भलीभाँति सन्तुलित होने चाहिएँ। भारतीय टैरिफ बोर्ड (The Indian Tariff Board) ने यह अनुभव किया कि भारत में चलने वाली चीनी और कागज मिलें ठीक तरह से सन्तुलित नहीं है। कागज मिलों में कागज बनाने वाले विभाग की अपेक्षा लुग्दी (pulp) बनाने वाला विभाग ज्यादा बड़ा है। इसी तरह चीनी मिलों में साफ करने वाले विभाग की अपेक्षा गन्ना पेरने (crushing) का विभाग ज्यादा बड़ा है। इस असन्तुलन का प्रभाव यह होता है कि लागत अधिक और उत्पादन कम होता है।

(iv) प्रयोग का ढंग (The Manner of Application)—अलग अलग उपकरणों का किस तरह उपयोग किया जाय, इसी पर पूँजी का महत्त्व और कार्यक्षमता निर्भर रहती है। मशीन का गलत प्रयोग और गलत काम के लिए प्रयोग दोनों ही उसे हानि पहुँचाते है।

(v) मजदूर की निपुणता (Labour Efficiency)—कीमती और नाजुक मशीनों को चलाने के लिए अनुभव और कुशलता की जरूरत होती है। अच्छी मशीनें अनुभवहीन और अशिक्षित हाथों में ठीक काम न करेंगी और खराब होने का डर हमेशा बना रहेगा। श्रम और पूँजी साथ साथ काम करते हैं (labour and capital work together)। जाहिर है कि एक की कार्यक्षमता दूसरे की निपुणता पर निर्भर है।

(vi) कच्चे माल की नियमित और पर्याप्त सप्लाई (Regular and adequate supply of the raw materials)—अच्छे किस्म का माल बनाने के लिए यह जरूरी है कि कच्चे माल की सप्लाई नियमित रूप से और ठीक ठीक हो। अच्छी मशीन पर यदि खराब कच्चा माल लगाया जाय तो तैयार माल बढ़िया नहीं बन सकता।

(vii) प्रबन्ध-सम्बन्धी कार्यक्षमता (Managerial Efficiency)—उत्पादन एक सगठित प्रयास है। अगर प्रबन्ध ठीक न हो तो सब काम चौपट हो जायेगा। वास्तव में सब कुछ कर्णधार की कार्य-कुशलता और व्यक्तित्व पर ही निर्भर है। अकुशल प्रबन्धक पूँजी से पूरा काम नहीं ले सकता।

८. पूँजी की गतिशीलता (Mobility of Capital)—पूँजी की गति-

शीलता का अर्थ है पूंजी का एक स्थान से दूसरे स्थान या एक देश से दूसरे देश को तबादले की सम्भावना। इसका अर्थ यह भी होता है कि पूंजी को कितने वैकल्पिक (alternative) भिन्न-भिन्न कार्यों में लगाया जा सकता है।

यह सच है कि मजदूर की अपेक्षा पूंजी सरलता से आ-जा सकती है परन्तु यह सोचना भ्रमपूर्ण होगा कि पूंजी पूर्ण रूप से गतिशील है। वास्तव में पूंजी की गतिशीलता इस बात पर निर्भर है कि पूंजी ने क्या रूप धारण कर लिया है। कार्यकारी पूंजी (working capital) पर्याप्त रूप से गतिशील होती है। द्रव्य के रूप में पूंजी पूर्णतया प्लवमान (floating) होती है और किसी भी काम में लगाई जा सकती है। इसे कहीं भी ले जाया जा सकता है। लन्दन और न्यूयार्क के बीच ब्याज की दर का जरा-सा भी अन्तर, थोड़े समय के लिए लगने वाली पूंजी को एक केन्द्र से दूसरे केन्द्र की ओर ढकेल देगा। कच्चे अर्ध-निर्मित (semi manufactured) माल में गतिशीलता इससे कुछ कम होती है। औजार और दूसरे उपकरण और सादी मशीनें जिनकी प्रत्येक उद्योग में जरूरत पड़ती है काफी गतिशील होते हैं। परन्तु पूंजी का सबसे महत्त्वपूर्ण और सबसे महंगा भाग स्थिर तथा उपयोजित पूंजी (fixed or the sunk capital) में निहित होता है जैसे भारी मशीनें, कारखाने, और कारखानों की इमारतें आदि। इस प्रकार की पूंजी में भौगोलिक गतिशीलता होती ही नहीं, और न ही उनको एक काम विशेष में लग जाने पर आसानी से हटा-कर दूसरे काम में बदला जा सकता है। यदि इससे अधिक लाभ न भी हो तो भी इसको (इस प्रकार की मशीनों का) उसी काम में चलाना पड़ता है।

इतने पर भी यह मानना एक बड़ी भूल होगी कि पूंजी पूर्ण रूप से गतिहीन है। पूंजी व्यक्ति से अलहदा चीज है इसलिए इसे गतिशील माना गया है। अब तो इसे (पूंजी) एक प्रकार से सार्वभौमिक मान लिया गया है। मशीनों में थोड़ी-बहुत हेर फेर करने से उनके उपयोग की क्षमता को बढ़ाया जा सकता है और उनसे कई प्रकार का काम लिया जा सकता है। परन्तु यदि मशीन ऐसी हो कि उसमें एक ही तरह का माल तैयार हो सकता हो, तो भी उससे कई प्रकार के डिजाइन (design) बनाने सम्भव होते हैं। इसके अलावा पूंजी को और भी एक ढंग से लोचदार बनाया जा सकता है। नई बचत को नये कामों में लगाया जा सकता है और इसी प्रकार पुराने कारखानों को टूटने पर दोबारा उसी तरह का बनाने की बजाय बदलकर खड़ा किया जा सकता है। इसलिए हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि व्यावहारिक दृष्टि से पूंजी में काफी मात्रा में गतिशीलता पाई जाती है, जितनी साधारणतया दिखाई पड़ती है उससे तो अधिक ही होती है।

इन बातों के बाद भी इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि पूंजी को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने में कई बाधाएँ आती हैं। एक मुख्य कारण तो यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनैतिक सुरक्षा (International political security) का अभी तक अभाव-सा ही है। राज्य (state) द्वारा धन लगाने (investments) पर नियन्त्रण होने से भी पूंजी की गतिशीलता में अड़चन पड़ती है। इसके अलावा स्वदेशी पूंजी की पसन्दगी, और दूसरे देशों में भारी कराधान (heavy taxation)

की सम्भावना, दूसरे देश में लाभ कमा कर अपने देश को लाने की अनिश्चितता और कुछ अन्य कारणों से पूंजी स्वदेश के उद्योग-धंधों में लगी रहती है, ये बातें इसकी गतिशीलता में बाधक बन जाती है। पूंजी का अपेक्षाकृत गतिहीन होना इसी से स्पष्ट है कि अर्थशास्त्र में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार (international trade) का सिद्धान्त (theory) बिलकुल भिन्न है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि यदि श्रम और पूंजी (labour and capital) स्वतन्त्रतापूर्वक गतिशील होते तो किसी पृथक् सिद्धान्त की आवश्यकता ही न होती।

भारत में गतिशीलता और भी कम है। हमारे देश का क्षेत्रफल बहुत है और यहाँ तरह तरह के लोग बसते हैं। इनकी भाषाएँ भिन्न हैं और एक दूसरे के रीति-रिवाज भी बहुत भिन्न हैं। विभिन्न राज्यों में कर-व्यवस्था भी समान नहीं है। पैसे वाले लोग अपने पैसे को जमीन, जायदाद में लगाना चाहते हैं और इसके अलावा ब्याज पर कर्ज देते हैं। हम में औद्योगिक और वाणिज्यिक (industrial and commercial) भावना का अभाव है। इसके अलावा पैसे को गाड़-दाब कर रखने (hoarding) और जेवर-पत्ते की प्रवृत्ति प्रबल है। कम्पनियों का अक्सर दिवाला निकलने और जाली कम्पनियां सुनने से भी पूंजी भयभीत हो जाती है। पर्याप्त महाजनी और साख (banking and credit) व्यवस्था का भी प्रचलन नहीं है। व्यापारिक सदाचार (business morality) का स्तर भी ऊँचा नहीं है। इन बातों से यह पता लगता है कि हमारी पूंजी एक स्थान से दूसरे स्थान तक क्यों नहीं जाती और उसमें गतिशीलता का अभाव क्यों है। हमारे लिए विदेशों में पूंजी लगाने का तो प्रश्न ही नहीं उठता यद्यपि एक बार सर अखिल ब्लैकेट ने ऐसी आशा प्रकट की थी कि जल्दी ही भारतीय पूंजी राष्ट्रीय सीमा को पार कर लेगी और विदेशों में उद्योगों को स्थापित करने में लगाई जायगी।

६ पूंजीवादी उत्पादन (Capitalistic Production)—आधुनिक युग में उत्पादन पूंजीवादी हो गया है, क्योंकि इसका मुख्य स्वरूप पूंजी का बड़े पैमाने (large scale) पर उपयोग है। पूंजी का एक बड़ा भाग उत्पादक माल (producer goods) बनाने पर ही व्यय हो जाता है। सादी से सादी चीज को बनाने के लिए भी कीमती मशीनों का उपयोग होता है। किसी उद्योग के एक कारखाने को ले लें, रुई का कारखाना, चीनी मिल, सीमेंट उद्योग या लोहा और इस्पात का कारखाना (iron and steel works), इन सभी में आप देखेंगे कि सारा काम कीमती यन्त्रों की सहायता से किया जाता है।

मानव सभ्यता के आदि काल में भी पूंजी का उपयोग होता था परन्तु उस समय पूंजी का अर्थ कुछ एक औज़ार ही था जिनको बनाने में अधिक खर्च नहीं करना पड़ता था। आज तो पूंजी सिर्फ अनिवार्य ही नहीं, कीमती भी है। यह हम अच्छी तरह जानते हैं कि व्यापार आरम्भ करना हर एक के बूते की बात नहीं रही। इसके लिए बहुत पूंजी की ज़रूरत पड़ती है। कोई भी व्यापारी बिना पर्याप्त निधि (funds) के मण्डी में लाभ से काम नहीं कर सकता। आज तो पूंजी ही पूर्ण रूप से उत्पादन पर छाई हुई है। इसलिए उत्पादन का नाम ही पूंजीवादी पड़ गया है।

पूँजीवादी उत्पादन घुमावदार उत्पादन होता है (*Capitalistic Production is Roundabout Production*)—इसका अर्थ यह है कि ज्यादा प्रयास आज उत्पादन मे सहायक औजारो को बनाने मे किया जाता है और प्रत्यक्ष काम आने वाले पदार्थो पर कम। उद्योग मे जितनी अधिक पूंजी लगी होगी उत्पादन की पद्धति उतनी ही चक्करदार होगी। समुद्र या नदियो के किनारे रहने वाला जगली अपने हाथ से ही एक-दो मछली पकड सकता है। इस अवस्था मे उत्पादन सीधा और सरल है। परन्तु और अधिक मछली पकड़ने के लिए उसे जाल और नाव बनानी पडेगी, चाहे वह कितनी ही प्राचीन ढग की क्यो न हो। इसका अर्थ यह है कि उत्पादन ने अब परोक्ष (indirect) रूप धारण कर लिया है। आधुनिक युग मे मछली उद्योग (fishing industry) *तक इतना जटिल हो गया है कि उसमे यन्त्र-चालित नौका, कीमती जाल* और विस्फोटको (explosives) को भी जरूरत पड गई है। कारखानो को काफी पैसा लगाकर ये उपकरण जुटाने पड़ते है जिनसे अच्छे ढग का मछली उद्योग सम्भव हो सके। दूसरे शब्दो मे उत्पादन अधिकाधिक परोक्ष और जटिल होता जा रहा है। उत्पादन के क्षेत्र मे साधनो की कड़ियाँ बढती जा रही है।

इन परोक्ष और जटिल उपायो को इसलिए काम मे लाया जाता है कि ये तरीके अधिक निपुण और उत्पादक हैं। इन उपायो मे निश्चित रूप से समुदाय की *उत्पादन-क्षमता बढती है। सच है "यह लम्बा दीखने वाला मार्ग वास्तव मे कार्य-सिद्धि का सहज मार्ग निकला।"*

मशीनरी का उपयोग
(Use of Machinery)

१० **प्रस्तावना** (Introduction)—आधुनिक युग मशीन का युग है। जिस ओर भी हम नजर डालें हमे किसी न किसी रूप मे मशीन का उपयोग दीख पड़ेगा। यन्त्र आधुनिक सभ्यता का प्रतीक बन गया है। प्रगतिशील देशो मे तो आदमी का *स्थान मशीने अधिकाधिक लेती जा रही है। पाश्चात्य देशो मे बिजली की चीजो ने* साधारण घरो मे घरेलू नौकरो की जगह ले ली है। जुताई बुआई, कटाई, खेती को पानी देने आदि का काम भी यन्त्रो से होता है। इन मशीनो पर काम करने के लिए सिर्फ कुछ एक मजदूरो की जरूरत होती है। कोयले के खनन करते और उतारते समय उसे हाथ से छूने का अवसर नही पडती। कई तरह के डिब्बे-बन्द खाद्य-पदार्थ भी मशीनो द्वारा बन्द होकर आते है जिससे उसके निर्माता गर्व से यह विज्ञापन कर सकते है कि यह सारा कार्य बिना हाथ से छुए हुआ है। उत्पादन के क्षेत्रो मे मानव-*श्रम बड़ी तेजी के साथ घटता जा रहा है।*

११. **मशीन से फायदे** (Benefits of Machinery)—कुछ सुविधाओ के कारण मशीन का उपयोग नित्य-प्रति बढता जा रहा है। हमे मशीन के उपयोग से निम्नलिखित मुख्य लाभ प्राप्त होते है—

(१) **प्राकृतिक शक्तियो का उपयोग** (Use of Natural Forces)—यन्त्रो द्वारा प्रकृति की शक्तियो को मनुष्य ने अपने फायदे के लिए अपने वश मे कर लिया है। हम हवा मे उड सकते हैं, हजारो मील दूर सदेश भेज सकते है, भरनो

में जल-विद्युत उत्पन्न कर सकते हैं। यह सब मनुष्य ने मशीनों की सहायता से ही पाया है।

(२) **भारी और सूक्ष्म काम** (Heavy and Delicate Work)—जो कार्य मानव स्नायुओं द्वारा, भारी या सूक्ष्म होने के कारण, करना मुश्किल है, वह भी मशीनों की सहायता से होता है। क्रेन की मदद से भारी से भारी बोझा उठाया जा सकता है जो पहले कभी सम्भव न था। कोई भी व्यक्ति मकड़ी के जाले से बारीक रेशम का सूत नहीं कात सकता, लेकिन मशीन के द्वारा यह आसानी से सम्भव है।

(३) **तीव्र गति के कार्य** (Faster Work)—जब एक व्यक्ति हाथ से केवल कुछ एक दर्जन पिन ही बना सकता है मशीनों की सहायता से वह हजारों पिन बना सकता है। वर्षों में जितना काम एक वर्ष में सम्भव है उतना ही मशीन की सहायता से एक दिन में। इसी कारण हम मशीन को अधिक महत्त्व देते हैं।

(४) **अधिक सही कार्य** (More Accurate Work)—कोई भी चित्रकार एक चित्र की दो प्रतिलिपियाँ एक दम एक-सी नहीं बना सकता। परन्तु मशीन द्वारा हजारों पदार्थ एक से बनाना आसान काम है। इसलिए उत्पादन का एक निश्चित स्तर बन जाता है।

(५) **व्यक्ति का श्रम-भार कम हो गया है** (Strain on human muscles relieved)—अब मजदूर का काम अधिक सहज हो गया है। अब तो उसे सिर्फ बटन या घुण्डी दबाने भर की देर है। बस ! मशीन धड़ा धड़ अपना काम शुरू कर देती है।

(६) **सस्ता माल** (Cheap Goods)—मशीन के उपयोग से बड़े पैमाने का उत्पादन आरम्भ हो गया है और फलस्वरूप वस्तुओं की कीमतें इतनी कम हो गई हैं कि जिनका हम पहले कभी अनुमान भी नहीं लगा सकते थे। और उपभोक्ताओं को कई प्रकार का सस्ता माल मिलने लगा है। आज एक साधारण वेतन पाने वाला व्यक्ति भी कई तरह की चीजें और सेवायें पा सकता है जो प्राचीन काल में एक धनिक को भी सहज में प्राप्त न थी। फलस्वरूप रहन सहन का स्तर ऊँचा उठ गया है।

(७) **श्रम की गतिशीलता** (Mobility of Labour)—कई उद्योगों में मशीनों का ढांचा प्रायः एक जैसा होता है। इसलिए मजदूर एक उद्योग को छोड़कर दूसरे में बड़े आराम से जा सकता है।

(८) **नई नौकरियाँ** (New Employment)—मशीनों का उद्योग बढ़ने से कई प्रकार की नई उपजीविकाओं (occupations) के अवसर मिल गए हैं। इसलिए रोजगार के अवसर बढ़ गए हैं।

(९) **अरुचिकर काम** (Disagreeable Jobs)—अब मशीनों द्वारा मैले कुचैले या गन्दे काम जिन्हें करने को तबियत न होती थी, बड़ी आसानी से कर लिये जा सकते हैं। इसलिए अब लोगों को ऐसे कामों से मुक्ति मिल गई है।

(१२) **यन्त्रों के दुरुपयोग** (Abuses of Machinery)—मशीनों का उपयोग

भी मानव के लिए सर्वथा हितकर या मंगलकारी नहीं है। जहाँ एक ओर इसमे निश्चित रूप से मानव कल्याण के लिए असंख्य हित हुए हैं वहाँ दूसरी ओर इसमे दुर्गुणों का प्रभाव और दुरुपयोग भी दिखाई देता है। इसके दोष निम्नलिखित हैं—

(१) **बेरोजगारी** (*Unemployment*)—एक मशीन से कई व्यक्तियों का काम लिया जा सकता है। जैसे ही मशीन का उदय होता है व्यक्ति की जरूरत खत्म हो जाती है। मशीन को साफ करने, प्रबन्ध करने, निरीक्षण करने और चलाने के लिए मुट्ठी भर व्यक्ति काफी होते हैं। इसलिए मशीनों के प्रयोग से बेरोजगारी फैलती है।

क्या यह वास्तव में सच है कि बेरोजगारी मशीनों से फैलती है ? (Does Machinery Really Create Unemployment ?)—यह तो निश्चित है कि मशीनों के लगने से फौरन मजदूरों की छँटनी शुरू हो जाती है। लेकिन धीरे धीरे मशीनों से नए नए काम उत्पन्न होते हैं। मशीनों को सुधारने और बनाने के लिए लोगों की जरूरत पड़ती है। कीमतें कम होने से चीजों की माँग (demand) बढ़ जाती है और इस तरह रहन सहन का स्तर ऊँचा उठ जाता है। इसलिए उत्पादन बढ़ता है और उसमें विभिन्नता आती है। कई नए धन्धे शुरू हो जाते हैं। इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए हम कह सकते हैं कि मशीनों द्वारा तत्काल तो मजदूरों की छँटनी का सामना करना पड़ता है, परन्तु आखिरकार इससे नये नये धन्धे पनपते हैं।

(२) **नीरसता (Monotony)**—मशीन के उपयोग में आने से मजदूर का कार्य नीरस और उबाने वाला हो गया है। मजदूर को रोज रोज उन्हीं मशीनों में वही एक से काम करने पड़ते हैं। इससे उनके स्नायुओं पर अधिक भार पड़ने लगता है।

(३) **कौशल का ह्रास (Loss of Skill)**—आज कुशलता प्राप्त करने वाले शिल्पिक अब लुप्त से हो गए हैं। इस प्रकार के कौशल की अब जरूरत ही नहीं रही। जिस कौशल की आवश्यकता आज रह गयी है वह है सिर्फ मशीन चलाना। जिस व्यक्ति ने ढाके की बारीक मलमल बुनी थी अब उसे सिर्फ मशीन की देख भाल करना है।

(४) *कलाहीन माल (Goods not Artistic)*—तैल अथवा जल चित्र फोटोग्राफ की अपेक्षा बहुत सुन्दर होता है। चित्र में आकर्षक ढंग ही नहीं, अपनापन भी होता है। परन्तु फोटो तो व्यक्तित्व-रहित एक छाया चित्र मात्र होता है।

(५) निर्भरता (Dependence)—मशीन के उपयोग से हमारी दूसरों पर निर्भर रहने की प्रवृत्ति बढ़ गई है। पानी और बिजली के लिए हमें वाटर-वर्क्स (water works) और पावर हाउस (power house) पर ही निर्भर रहना पड़ता है। इस व्यवस्था में जरा भी खराबी आने से किसी भी समय पानी बिजली में गड़बड़ी हो सकती है। इससे सिर्फ कष्ट ही नहीं होता, वरन् साधारण जीवन में गड़बड़ हो जाती है।

(६) **विनाशकारी (Destructive)**—मानव की विनाश करने और हानि

पहुँचाने की पैशाचिक क्षमता सहस्रों गुना बढ गई है। जरा अणु बम (Atom bomb) का अनुमान कीजिये। जापान का हिरोशिमा नगर पल भर मे नष्ट भ्रष्ट हो गया। युद्ध अब बहुत भयंकर हो गए है।

(७) **अस्वच्छ वातावरण** (Insanitary Surroundings)—बडे बडे कारखाने अपने चारो ओर के वातावरण को दूषित कर देते हैं और उसे गन्दा बना देते है। उनमे स्त्रियो और सुकुमार (tender) अवस्था के बालको को भी काम करना पडता है। मशीनो और कारखानो ने कौटुम्बिक सुख और शान्ति को नष्ट कर दिया है और इसका फल नैतिक पतन और शारीरिक ह्रास हुआ है।

(८) **अत्यधिक विशिष्टीकरण** (Over-specialisation)—मशीनो से अत्यधिक विशिष्टीकरण को बढावा मिलता है। मजदूर का कार्यक्षेत्र बहुत सकुचित होता है और उसे दूसरी बातो का ज्ञान नही होता। इसी विशिष्टीकरण के कारण बेरोजगारी का डर और बढ जाता है।

(९) **वर्ग-संघर्ष** (Class-conflict)—वर्ग सघर्ष का मूल कारण मशीनों का दिन प्रति-दिन बढता हुआ उपयोग ही है—एक ओर तो पूँजीपति होता है और दूसरी ओर मजदूर। इस वर्ग सघर्ष के कारण ही सामाजिक एकता (social harmony) को धक्का लगा है। और यह सघर्ष और आपसी फूट दिन-प्रतिदिन तेजी के साथ बढती जा रही है।

निष्कर्ष (Conclusion)—इस बात से तो इनकार नही किया जा सकता कि मशीनो के उपयोग से सामाजिक और आर्थिक बुराइयो का सूत्रपात होता है। परन्तु साथ-साथ यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि यह दुष्परिणाम विशेषतया मशीनों के दुरुपयोग के कारण उत्पन्न हुए है। वास्तव मे मशीनो मे स्वय कोई दोष नहीं हैं। अपने भाइयो का अहित मनुष्य स्वय करता है। और वह स्वय ही उनको नौकर रखकर उनका शोषण (exploit) करता है। मशीन तो एक उपकरण मात्र है। यदि किसी का शोषण होता है तो इसका उत्तरदायित्व स्वय मनुष्य पर ही है। और इस दुष्प्रभाव का निवारण भी किया जा सकता है।

यह सच है कि मशीन का काम नीरस और उबाने वाला होता है परन्तु यह भी है कि मजदूर को पहले से अधिक अवकाश (leisure) मिल जाता है। काम के घटो को घटाया जा सकता है। कारखाने की दूसरी बुराइयो को रोका जा सकता है और सुधार किये जा सकते है। यह भी जरूरी नही है कि मशीन द्वारा बनाई गई सभी वस्तुएँ निम्न स्तर की हो। उनके गुणो मे सुधार हो रहा है और वे भी अधिकाधिक कलात्मक होती जा रही है। आधुनिक कार आज के युग का एक सुन्दर नमूना है। यदि हमे अपने जीवन को पूर्ण बनाना है और दूसरे देशो के साथ उद्योग और व्यापार के क्षेत्र मे सफल स्पर्द्धा करनी है तो मशीनो का उपयोग नितान्त आवश्यक है।

१३ मशीन के उपयोग की सीमा कैसे निर्धारित होती है (What limits the use of Machinery)—मशीन से तरह तरह के लाभ होते है। लेकिन

उनका सदैव प्रयोग करना सभव नही होता। निम्नलिखित परिस्थितियो मे मशीन के उपयोग का प्रश्न ही नही उठता—

(१) वैयक्तिक रुचि (Individual Taste)—जब उत्पादन के द्वारा व्यक्तिगत रुचियो को पूरा करना होता है तो मशीनो का उपयोग सभव नही हो पाता। मशीन द्वारा सिर्फ एक निश्चित माल का उत्पादन ही हो सकता है। ग्राम का मोची खामदानी जूतियो पर नाना प्रकार की कढाई और नमूने बना सकता है। हथकर्घे पर बुननेवाला जुलाहा साफे और धोती के विभिन्न प्रकार के नमूने और किनारियाँ बुन सकता है। ऐसे कामो मे हथकर्घा, शक्ति-चालक कर्घे से कही अधिक उत्तम होता है। इसलिए जहाँ प्रत्येक ग्राहक की अपनी रुचि होती है, वहाँ सिर्फ जुलाहा ही उसकी पूर्ति कर सकता है। उदाहरण के लिए दर्जी की जगह मशीन कभी नही ला सकती।

(२) कीमती सामान (Costly Materials)—जहाँ सामान बहुत कीमती होता है वहाँ भी मशीन का उपयोग नही किया जा सकता। माणिक, मोती आदि, सोने, चाँदी और जवाहरात का काम भी मशीनो पर नही छोडा जा सकता। मशीन को काम मे लाने मे एक साथ अधिक मजदूरो की जरूरत होती है। इसलिए ऐसे कामो मे जहाँ बच्चे माल को रत्ती-माशो मे तोलना होता है मशीन को नही लगाया जा सकता।

(३) उद्योग का स्वरूप (Nature of Industry)—कुछ उद्योग ऐसे है कि उनका निबटारा कुछ मामूली मशीनी हरकतो (simple mechanical movements) पर नही छोडा जा सकता। जैसे खेती बाडी और बागबानी का काम। इन कामो मे तो मशीन का इस्तेमाल मामूली हद तक ही हो सकता है। इन कामो मे मशीनो की अपेक्षा मनुष्य का काम अधिक होता है। यद्यपि पश्चिमी देशो मे खेती बाडी के कामो मे भी मशीनो का उपयोग होता है, तो भी यह तो मानना पडेगा कि यत्रो का उपयोग खेती की अपेक्षा उद्योगो म अधिक है।

(४) माँग का स्वरूप (Nature of Demand)—जहाँ माँग कम और अस्थिर होती है वहाँ मशीनो का उपयोग कारगर नही होता। मशीन कीमती वस्तु है इसलिए कोई भी निर्माता बिना यह जाने कि, बिक्री अधिक और माँग स्थिर है या नही, मशीन न लगायेगा।

(५) कलात्मक कार्य (Artistic Work)—कला के कार्यो का क्षेत्र तो हमेशा ही कलाकारो और शिल्पिको तक सीमित रहेगा। चित्रकारी मशीन द्वारा कभी उत्पन्न नही हो सकती।

(६) सस्ता श्रम (Cheap Labour)—जहाँ मजदूर सस्ता और मशीन मँहगी होती है, वहाँ भी निर्माता मशीनो पर व्यय करने को तैयार नही होगा। भारत ऐसा ही देश है। यहाँ पाश्चात्य देशो के समान यन्त्रीकरण (Mechanisation) करना सम्भव नही।

विद्यार्थियों के लिए इस पाठ की कुछ ज्ञातव्य बातें

पूँजी का अर्थ (Meaning of Capital)—भूमि को छोड़कर, पूँजी व्यक्ति के धन का वह भाग है जिसका उपयोग अधिकाधिक धनोपार्जन करने में किया जाता है, या जिससे आय की प्राप्ति होती है।

व्यक्तिगत दृष्टि से पूँजी से आय होती है और सामाजिक दृष्टि से यह (पूँजी) अधिकाधिक धनोपार्जन में सहायक है। साधारण रूप से पूँजी के दोनों ही काम हैं। परन्तु कभी-कभी इससे आय तो होती है लेकिन अधिकाधिक धनोपार्जन नहीं होता, जैसा वार बौंड (war bond) आदि से।

धन और पूँजी (Wealth and Capital)—सब पूँजी धन ही गिनी जाती है, परन्तु हर प्रकार का धन पूँजी नहीं होता, सिर्फ धन का वही भाग जिसका उपयोग उत्पादन-कार्यों में होता है, पूँजी कहलाती है।

धन और द्रव्य (Wealth and Money)—पूँजी कभी द्रव्य का रूप भी धारण कर लेती है इसके अलावा यह कुछ दूसरे रूप भी धारण कर सकती है जैसे मशीन, कच्चा माल आदि। ठीक इसी प्रकार द्रव्य, जिसका उपयोग उत्पादन के कार्यों के लिए हो रहा है, पूँजी हो सकती है, और यदि इस (द्रव्य) को गाड़-दाब (hoard) कर रखा जाय तो यह पूँजी न कहलायेगी। इसलिए हर पूँजी द्रव्य नहीं होती, और न ही हर द्रव्य पूँजी।

पूँजी और आय (Capital and Income)—पूँजी को निधि या स्टाक माना गया है। और आय को प्रवाह। आय वह होती है जो पूँजी से प्राप्त हो।

क्या उपभोग पदार्थ पूँजी में गिने जाते हैं (Are Consumer Goods Capital ?) जब तक ये पदार्थ निर्माता के पास रहते हैं इन्हें पूँजी माना जाता है। जब ये उपभोक्ताओं के पास पहुँचते हैं, तब के बारे में अर्थशास्त्रियों में मतभेद है। बेन्हम (Benham) जैसे अर्थशास्त्री इनको फिर भी पूँजी ही मानते हैं।

भूमि को पूँजी क्यों नहीं माना जाता ? (Why is Land not Capital ?)—भूमि बहुत विलक्षण वस्तु है। यह क्षेत्र में सीमित होती है, इसकी कोई पूर्ति-कीमत नहीं होती, यह प्रकृति का एक निःशुल्क उपहार है, इसकी विभिन्न किस्में होती हैं, यह गतिहीन है। दूसरी ओर पूँजी मनुष्य की बनाई हुई है और इसकी सप्लाई (Supply) को बढ़ाया जा सकता है।

पूँजी का महत्त्व (Importance of Capital)—आर्थिक विकास के प्रत्येक काल में पूँजी किसी न किसी रूप में वर्तमान थी। परन्तु आधुनिक युग के आर्थिक ढाँचे में इसने बड़ा महत्त्व पा लिया है। कोई भी उद्योग इसकी सहायता के बिना नहीं चल सकता। किसी देश की आर्थिक उन्नति इस पर ही निर्भर है कि वहाँ कितनी पूँजी है और उसे उपयोग में लाने की कितनी क्षमता है।

पूँजी की उत्पत्ति और वृद्धि (Origin and Growth of Capital)—पूँजी का उदय, बचत, बचाव और संचय से होता है। इसका संचय निम्न बातों पर निर्भर है—

(क) बचाने की शक्ति, और (ख) बचाने की इच्छा।

(क) बचाने की शक्ति इन बातों पर निर्भर है—

(१) उपभोग के मुकाबले अधिक उत्पादन।

(२) धन लगाने के विविध अवसर।

(३) द्रव्य की सुदृढ़ व्यवस्था।

(४) करारोपण की उपयुक्त व्यवस्था।

(ख) बचाने की इच्छा इन बातों पर निर्भर करती है—

(५) बुढ़ापे, मुसीबत और आकस्मिकता के लिए इन्तज़ाम।

(६) पारिवारिक स्नेह।

(७) व्यापार में उन्नति करने की इच्छा।

(८) स्वभाव ।

(९) ब्याज की दर ।

(१०) सामाजिक और राजनैतिक प्रभाव की इच्छा ।

(११) देश में शान्ति और व्यवस्था ।

भारत में आजकल पूँजी के संचय व बचाने के लिए अवस्थाएं पूर्ण रूप से अनुकूल नहीं है ।

पूँजी के रूप (Forms of Capital) ।

स्थिर पूँजी (Fixed Capital) का अर्थ है मशीनें ।

परिचल पूँजी (Circulating Capital)—यानी कच्चा माल ।

उपयोजित पूँजी (Sunk Capital)—जिसे किसी कार्य विशेष में लगा दिया गया हो और जिसका किसी और रूप में उपयोग न हो सके ।

प्लवमान पूँजी (Floating Capital) उसे कहते हैं जिसको किसी भी काम में लगाया जा सके । यह प्राय द्रव्य के रूप में होती ।

कार्यकारी पूँजी (Working Capital)—उस द्रव्य निधि को कहते हैं जो व्यापार-सचालन के लिए रखी जाती है ।

पूँजी के कार्य (Functions of Capital)—

(१) कच्चे माल की सप्लाई ।

(२) उपकरणों की सप्लाई ।

(३) निर्वाह प्रबन्ध ।

(४) परिवहन के साधनों की उपलब्धि ।

पूँजी की कार्यक्षमता (Efficiency of Capital)—इन बातों पर आश्रित है—

(क) पूँजी का गुण ।

(ख) उद्देश्य के लिए उपयुक्तता ।

(ग) विभिन्न भागों का ठीक-ठीक सतुलन ।

(घ) ठीक ठीक उपयोग ।

(ङ) मजदूर की निपुणता ।

(च) कच्चे माल की नियमित और ठीक सप्लाई ।

(छ) प्रबन्धक की निपुणता या सगठन-शक्ति ।

पूँजीवादी उत्पादन (Capitalistic Production) में पूँजी की बड़ी राशि का उपयोग होता है ।

उत्पादन परोक्ष और चक्करदार तरीके से होता है ।

मशीन के उपयोग (Use of Machinery) । इसके लाभ—

(१) मनुष्य के हित के लिए प्राकृतिक शक्तियों का उपयोग ।

(२) इनके द्वारा भारी नाजुक कार्य किये जा सकते हैं ।

(३) ये तेज रफ्तार से कार्य करती है ।

(४) कार्य को बिल्कुल ठीक ठीक करती है ।

(५) मानव स्नायुओं पर पड़ने वाला भार कम हो जाता है ।

(६) बड़े पैमाने पर उत्पादन करना सम्भव होता है ।

(७) मजदूर की गतिशीलता की सम्भावना रहती है ।

(८) नौकरी सुलभ हो जाती है ।

(९) मजदूर को अरुचिकर कार्यों से मुक्ति दिलाती है ।

इसके दुर्गुण (Its evils)—

(१) इससे बेरोजगारी फैलती है । परन्तु यह तो इसका तात्कालिक रूप होता है, अन्त में इसके प्रभाव से अधिक काम मिलना सुलभ हो जाता है ।

(२) इस से कार्य बहुत नीरस हो गया है।
(३) इससे कारीगर के कार्य कौशल में ह्रास हुआ है।
(४) मशीन का कार्य कलात्मक नहीं होता।
(५) इससे दूसरों पर निर्भर रहने की प्रवृत्ति बढ़ गई है।
(६) मनुष्य की विनाशकारी शक्ति बढ़ी है।
(७) कारखाना व्यवस्था (Factory system) के दुर्गुण तो जाहिर ही हैं।
(८) अतिकाधिक विशिष्टीकरण की वजह से मजदूर की बुद्धि मोटी हो गई, और
(९) इससे वर्ग संघर्ष को बढ़ावा मिला है।

मशीन के उपयोग पर नियन्त्रण (Limitations on the Use of Machinery)—निम्नलिखित दिशाओं में मशीन का उपयोग क्षेत्र बहुत विस्तृत नहीं हो सकता।—

(क) जहाँ व्यक्तिगत पसन्द मुख्य होती है।
(ख) जहाँ उपयोग में आने वाला माल कीमती होता है।
(ग) जहाँ कार्य को किसी भी रूप में कुछ गिनी चुनी गतियों में सीमित नहीं किया जा सकता।
(घ) कलामय वस्तुओं के निर्माण में और
(ङ) जहाँ मशीन की अपेक्षा श्रम सस्ता मिल सकता है।

क्या आप निम्न प्रश्नों का उत्तर दे सकते हैं ?

1 State what capital is and what its different forms are

(गोहाटी, १९५३)

देखिये विभाग २ और ५।

2 Are the following capital goods ?

(a) (1) Straw in a barn (2) Straw in a hat factory (3) A straw hat in a hat shop (4) A straw hat in your closet

(b) (1) A fire cracker in a store (2) A fire cracker in your hand (3) A fire cracker in the air

(क) (१) हाँ, (२) हाँ, (३) हाँ, (४) नहीं।

(ख) (१) हाँ (२) नहीं, (३) नहीं।

3 How would you distinguish land from capital ?

(दिल्ली, १९५३)

देखिये विभाग ३

4 What are the factors which influence saving ? Do you think the system of joint family is conducive to saving ?

(बिहार, १९५२)

[संयुक्त परिवार व्यवस्था का एक दोष यह है कि इससे सदस्यों में आलस्य की भावना उत्पन्न हो जाती है और फलस्वरूप बचत कम होती है। प्रत्येक सदस्य कम से कम कमाना और ज्यादा से ज्यादा खर्च करना चाहता है।] देखिए विभाग ४

5 What are the factors which affect the growth of capital ? How do you account for scarcity of capital in India ?

(राजपूताना १९४९, यू० पी० बोर्ड १९५३ नागपुर १९५४)

देखिए विभाग ८

Or

Describe the factors which influence the growth of capital in a country (पंजाब, १९५५)

6 What is capital ? What are its functions ? (नागौर, १९५२)

देखिए विभाग ? और ६

7 If all capital goods were destroyed what would be the effect on (a) workers (b) entrepreneurs (c) consumers and (d) society in general ?

(क) मजदूरों को भारी और अरुचिकर काम करना पड़ेगा। इसलिए उनका कुल उत्पादन स्तर गिर जायगा।

(ख) उद्यमी की आय कम होगी।

(ग) उपभोक्ताओं को कम माल मिलेगा और उन्हें अधिक कीमत देनी पड़ेगी।

(घ) सामान्य रूप से समाज पिछड़ जायगा।

8 What is meant by mobility of capital ? What are the factors which hinder the mobility of capital in India ? Suggest remedies (यू० पी० बोर्ड, १९५३)

देखिये विभाग ८

9 Distinguish between capital and capitalism Are you against any of these two ? What is capitalistic production ?

पूँजी का काम धनोपार्जन में सहायता करना होता है। पूँजीवाद का अर्थ उत्पादन के साधनों की निजी मिलकियत और उनका पूँजीपति के हित के लिए उपयोग करना है। हम पूँजीवाद की अपेक्षा पूँजी के लिए प्रार्थना करते हैं। पूँजीवादी उत्पादन के लिए देखिए विभाग ६

10 What are the effects of the employment of machinery in the process of production on the labouring classes ?

(यू० पी० १९९५)

अच्छे प्रभावों के लिए देखिये विभाग ११, बुरे प्रभावों के लिए देखिये विभाग १२

11 Discuss the economic effects of the introduction and use of machinery (ढाका, १९४३)

Or

Point out the various advantages and disadvantages of machinery (पंजाब १९४७, १९५५)

देखिये विभाग ११ और ६

12 Do you consider the use of machinery in India to be (a) an absolute necessity or superfluous (b) a blessing or a curse ? (यू० पी०, १९४६)

उत्पादन के साधन (क्रमशः)

(Agents of Production—*Contd*)

संगठन या उद्यम

(Organisation or Enterprise)

वह व्यक्ति जो ऐसा लगता है कि कुछ नहीं करता

(The man who appears to be doing nothing)

१ प्रवेश (Introduction)—उत्पादन चारो साधनो के सहयोग का फल है। हमने उनमे से तीन—भूमि, श्रम और पूंजी का अध्ययन कर लिया है। अब हम चौथे साधन का अध्ययन करेंगे जिसे उद्यम (Enterprise) या संगठन (Organisation) कहते है।

२ संगठन या उद्यम क्या है? (What is Organisation or Enterprise?)—संगठन या उद्यम का अर्थ है किसी व्यवसाय को आयोजित (plan) करना, शुरु करना और चलाना। इसका मतलब है उत्पादन के साधनो को इकट्ठा करना, उन में से प्रत्येक को उसका उचित कार्य सौपना और उन्हे काम पूरा हो जाने पर पैसा देना। इसका मतलब सिर्फ किसी व्यवसाय को चलाना ही नही वरन् यदि नुकसान हो तो उसको भी भुगतना है। जो व्यक्ति यह सब कार्य अपने जिम्मे लेता है, वह संगठनकर्त्ता कहलाता है या उसके लिये अधिक प्रचलित शब्द उद्यमी (entrepreneur) है।

एक पूंजीपति (Capitalist) और उद्यमी मे क्या अन्तर है? पूंजीपति पूंजी का मालिक है। वह पूंजी लगाता है और उस पर सूद खाता है। कारबार मे नफा-टोटा कुछ हो, पूंजीपति को अपने ब्याज से मतलब है जो उसे मिल जायगा। उसे कोई जोखिम नही है। यह तो उद्यमी ही है जो सारा खतरा (risk) उठाता है। अगर टोटा हो तो सारा उसके सर पडता है, अगर नफा हो तो वह भी सारा का सारा उसकी जेब मे जाता है। सिद्धान्त मे तो, इस तरह पूंजीपति और उद्यमी दो अलग-अलग व्यक्ति है। किन्तु वास्तव मे वे एक भी हो सकते है। यानी एक ही आदमी उद्यम भी कर सकता है और पूंजी भी लगा सकता है। आम तौर पर उद्यमी कारबार मे कुछ न कुछ अपना रुपया जरूर लगाता है। इस तरह वह उद्यमी होने के अलावा, कुछ हद तक पूंजीपति भी होता है और यदि कोई नफा हो तो उसके अलावा अपने लगाए हुए पैसे पर सूद भी कमाता है।

३. संगठन की महत्ता (Importance of Organisation)—आधुनिक काल

मे, कारबार बड़ा उलझा हुआ है। उस पर सारे राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय प्रभाव भी कार्य करते हैं। दुनिया के किसी दूर के कोने में होने वाली जरा-सी घटना भी व्यवसाय को चौपट कर सकती है। इन जटिलताओ के कारण, सगठन का कार्य बड़ा महत्वपूर्ण हो गया है।

किसी व्यवसाय की सफलता अच्छे सगठन पर निर्भर है। उसकी योजना सावधानी से बननी चाहिए और उस योजना को ठीक प्रकार से कार्यान्वित करना चाहिए। यह पूरे वक्त का काम (whole-time-job) है। किसी न किसी को अपना सारा समय और शक्ति इसमे लगानी पड़ती है। इसलिए सगठनकर्त्ता के कार्य की बड़ी महत्ता है।

भूमि, श्रम और पूंजी—तीनो साधन बिखरे पड़े रहते है। एक व्यक्ति के पास भूमि है पूंजी नही। दूसरे के पास पूंजी है भूमि नही है। मजदूर के पास दोनो मे से कुछ भी नही है। उसके पास देने के लिए केवल उसकी अपनी श्रम-शक्ति (labour power) है। इस तरह तीनों साधन एक दूसरे से अलग पड़े रहते है। उत्पादन करना है तो कोई ऐसा आदमी चाहिए जो उन सबको एक दूसरे के निकट लाए और सगठित करे। यही कार्य सगठनकर्त्ता का है।

इसलिए सगठन उत्पादन का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण साधन है। अर्थशास्त्र मे इस सगठनकर्त्ता को ही उद्यमी (entrepreneur) कहते है।

४. उद्यमी के कार्य (Functions of an Entrepreneur)—*अनेक महत्वपूर्ण कार्य ऐसे हैं जिन्हे उद्यमी करता है। उनमे से कुछ मुख्य कार्य निम्नलिखित है—*

(१) कल्पना और आरम्भ—उद्यमी ही किसी व्यवसाय की कल्पना करता है। उसके बारे मे सोचता और उसकी योजना बनाता है। फिर चाहे अकेले या अन्य मित्रो की सहायता से वह उसे कार्यान्वित करता है। इस तरह वह व्यवसाय को शुरू करता है।

(२) सगठन—यह निश्चय करने के बाद कि उसे किस उद्योग मे हाथ डालना है, कहाँ उसे शुरू करना है क्या और कितना उत्पादन करना है, कहाँ और कैसे माल बेचना है उद्यमी अब समस्या के व्यावहारिक अङ्ग को देखता है। सबसे पहले उसे आवश्यक पैसे का प्रबन्ध करना पड़ता है। फिर उसे मशीनें खरीदनी और बड़ी कारखाने होनी है। फिर उसे मजदूर रखने होगे और उन्हे काम सौपना पड़ेगा। वह कच्चा माल खरीदेगा और निर्माण की प्रत्येक प्रक्रिया को सगठित करेगा और अन्त मे उत्पादन की बिक्री का भी सन्तोषजनक प्रबन्ध वही करेगा।

(३) *निर्देशन और सचालन (Direction and Supervision)*—उद्यमी कारबार को सगठित करके ही नही रुक जाएगा। उसे उत्पादन को सर्वोत्तम और लाभदायक मार्ग पर चलाना भी होगा। अधिकतम उत्पादन करने के लिए उसे हर छोटी से छोटी प्रक्रिया की देखरेख करनी पड़ेगी।

(४) नियन्त्रण (Control)—उद्यमी को अपनी मदद के लिए कुछ सहायक रखने पड़ते हैं, पर कारबार का आखिरी कन्ट्रोल उसे अपने हाथ मे रखना पड़ता है।

कारबार के जन्म के लिये ही उत्तरदायी वह स्वयं है। इसलिए उसका भाग्य वह किसी और के हाथ में नहीं छोड़ सकता।

(५) जोखिम उठाना (Risk Taking)—उद्यमी को अपने उद्यम का परिणाम भुगतना पड़ता है। उसे उत्पादन के अन्य तमाम साधनों को पेशगी अदायगी करनी पड़ती है। सम्भव है कि उसे अच्छा मुनाफा हो जाय। और यह भी हो सकता है कि उसको भारी टोटा हो। जो कुछ भी फल हो उसी के सर पड़ेगा।

संक्षेप में, एक उद्यमी किसी कारबार का आरम्भ संगठन, निर्देशन, सचालन और नियन्त्रण करता है और वही घाटे की जोखिम अपने सर पर लेता है।

५ संयुक्त स्टाक कम्पनी में उद्यमी की स्थिति (Position of an Entrepreneur in a Joint-stock Company)—किसी लिमिटेड संयुक्त स्टाक कम्पनी में आमतौर पर बहुत से वर्गों के हाथ में शेयर होते हैं और ये लोग देश भर में बिखरे रहते हैं। यदि कम्पनी असफल हो जाय तो शेयर होल्डरों का रुपया मारा जायगा। जिस हद तक किसी शेयर होल्डर ने पूंजी में रुपया लगाया है उस हद तक वह एक उद्यमी है। आज के उद्योग में, शेयर होल्डरों की संख्या बहुत ज्यादा होती है। वे अपने में से थोड़ों सी संख्या में कुछ डायरेक्टर या निदेशक चुन लेते हैं जो उनकी ओर से कारबार चलाते है। साधारणतया शेयर होल्डर केवल सुप्त साझीदार (sleeping partners) होते हैं। निर्देशन का काम मैनेजिंग एजेण्ट द्वारा होता है। इस अवस्था में डायरेक्टर मैनेजिंग एजेण्ट द्वारा रखे जाते हैं और वे केवल मैनेजिंग एजेण्ट के पिट्ठू (yes-men) होते हैं। इस प्रकार शेयर होल्डरों का, जो वास्तव में उद्यमी हैं कारबार में कुछ हाथ या कन्ट्रोल नहीं रहता।

६ कौन सफल उद्यमी हो सकता है ? (Who can be a Successful Entrepreneur ?)—हम कह चुके है कि आधुनिक व्यवसाय में बड़ी उलझनें हैं। उन्हें सफलतापूर्वक संगठित करने और चलाने के लिए उद्यमी में बड़े ऊँचे गुण होने चाहिएँ। सारे कारबार के ऊपर रहने वाला आदमी वास्तव में बड़ा योग्य होना चाहिए।

उद्यमी को मनुष्यों का सफल अग्रणी या नेता (leader of men) होना चाहिए। उसके लिए यह जरूरी है कि जिन लोगों के साथ उसे काम करना है वह उनकी सहानुभूति पा सके और उसे बनाए रख सके। उनमें विश्वास जमा लेना बड़ा जरूरी है। उसे मानव स्वभाव का पता होना चाहिए जिससे वह हर एक से अच्छा काम ले सके।

उसे अपने कारबार की समझ होनी चाहिए। उसे मशीनें और कच्चा माल खरीदना पड़ता है। इन दोनों के गुण परखने की विशेष योग्यता उसमें होनी चाहिए। नहीं तो वह धोखा खा जायगा। उसे बिक्री करने के ढंग भी जानने चाहिएँ।

एक सफल उद्यमी को आस-पास की दुनिया के बारे में सामान्य ज्ञान होना चाहिए। यह न सिर्फ मशीनरी और माल खरीदने के लिए जरूरी है बल्कि अपना माल बेचने के लिए भी।

कारबार में उतार चढ़ाव होता ही रहता है। उसमें उनको सहन करने की हिम्मत जरूरी है। अनुकूल अवसर का इसे फायदा उठाना है। इसलिए उसमें कभी-कभी साहसपूर्ण निर्णय करने की क्षमता होनी जरूरी है, किन्तु उसे सावधानी भी बरतनी जरूरी है क्योंकि उसकी एक गलती से सब कुछ चौपट हो सकता है। उसमें 'चौकन्ने साहस' (prudent boldness) की जरूरत है।

संक्षेप में, एक सफल उद्यमी को योग्य और जानकार होना चाहिए। उसमें अग्रणी बने रहने की क्षमता, वस्तुओं के समझने की योग्यता, साहस और सावधानी, निर्णय करने की शक्ति, सब कुछ होनी चाहिए। और इन सबसे ज्यादा उसमें व्यावहारिक सुलभ बुद्धि (Practical Common Sense) जरूरी है। वास्तव में बहुत कम उद्यमी ऐसे मिलते हैं जो इस आदर्श तक पहुँच पाते हों। दुनिया में फोर्ड, नफील्ड, टाटा और बिड़ला बहुत ज्यादा नहीं हैं।

इस अध्याय की ज्ञातव्य बातें

उद्यम का अर्थ (Meaning of Enterprise)—उद्यम का अर्थ है कि कारबार को शुरू और संगठित करना और उसका तमाम खतरा झेलना। जो व्यक्ति यह करता है, वह उद्यमी कहलाता है।

पूँजीपति और उद्यमी में अन्तर

पूँजीपति सिर्फ पूँजी लगाता है और इससे उसे एक निश्चित आय होती है, वह जोखिम नहीं लेता।

उद्यमी कारबार को संगठित करता है और उसका खतरा उठाता है। वास्तविक जीवन में कोई कारबारी उद्यमी और पूँजीपति दोनों हो सकता है।

संगठन का महत्त्व (Importance of Organisation) कारबार बड़ी जटिल चीज है। इसे संगठित करने के लिए एक विशेषज्ञ की जरूरत है। उत्पादन के साधन बिखरे रहते हैं और उन्हें इकट्ठा करने के लिए कोई चाहिए। बिना सफल संगठन के कोई व्यवसाय नहीं चल सकता।

उद्यमी के कार्य (Functions of an Entrepreneur)—

(i) वह कारबार की कल्पना करता है और उसे आरम्भ करता है।

(ii) वह उत्पादन का संगठन करता है।

(iii) वह कार्य का निर्देशन एवं संचालन करता है।

(iv) वह व्यवसाय का नियन्त्रण करता है।

(v) वह जोखिम उठाता है।

संयुक्त स्टाक कम्पनी में उद्यमी (Entrepreneur in a Joint stock Company) निर्देशक या मैनेजिंग एजेण्ट उद्यमी होते हैं। किन्तु वे सारी पूँजी खुद नहीं लगाते, इसलिए सारा खतरा खुद भी नहीं उठाते। जोखिम शेयर होल्डर उठाते हैं जिनका व्यवसाय पर कोई कन्ट्रोल नहीं है। इस तरह मिल्कियत (ownership) और कन्ट्रोल अलग हो जाते हैं।

कौन सफल उद्यमी हो सकता है? (Who can be a Successful Entrepreneur?)—सफल उद्यमी में निम्नलिखित गुण होने चाहिएँ।

(i) नेतृत्व करने की क्षमता।

(ii) कारबार की जानकारी।

(iii) बुरे वक्त का सामना करने का साहस।

(iv) कभी कभी साहसपूर्ण निर्णय करने की सामर्थ्य किन्तु सावधानी से।

(v) व्यावहारिक सुलभ ज्ञान।

संक्षेप में उसे श्रेष्ठ पुरुष (superman) होना चाहिए।

क्या आप निम्न प्रश्नों के उत्तर दे सकते हैं ?

1 What are the functions of an entrepreneur ? Is there any justification for regarding organisation as a separate factor of production ? (जम्मू और काश्मीर १९५३, पंजाब विश्वविद्यालय १९४०, बम्बई १९५३)

कार्यों के लिये देखिये विभाग ४

[उसका काम श्रम में नहीं गिना जाता है, क्योंकि उसकी अपनी महत्ता है और वह अत्यन्त विशिष्ट प्रकार का कार्य है।]

देखिये अध्याय ७, विभाग ६

2 What is the nature of the services performed by the entrepreneur and how is he rewarded ? (कलकत्ता विश्वविद्यालय, १९४३)

देखिये विभाग ४

3 Who is an enterpreneur ? What is his role in modern large scale industry ?

(बम्बई १९५४)

4 Explain the importance of organisation and enterprise in the modern system of production Do you think there is lack of enterprise in this country ? (राजपूताना १९४४)

[देखिये विभाग ३। हाँ यहां उद्यम की कमी है। यह उन गुणों की कमी के कारण है जो व्यवसायी में होने चाहिएँ। देखिये विभाग ६]

5 What qualities go to make a successful entrepreneur ? Can you mention some persons in India who possess such qualities ? Are there any such in the Punjab ? Name them

[देखिये विभाग ६। पंजाब में स्वर्गीय ला० हरकिशन लाल में यह गुण थे।

मैसर्स करमचन्द थापर और गोभराज मल्ला आज पंजाब में सफल व्यवसायियों के उदाहरण हैं। भारत भर में प्रसिद्ध नाम हैं—टाटा, बिड़ला, डालमिया, सिंघानिया आदि।]

उत्पादन का पैमाना

(Scale of Production)

कब अधिक उत्पादन करें और कब कम

१ परिचय (Introduction)—सबसे पहली समस्या जो किसी उद्यमी (entrepreneur) के सम्मुख आती है वह है उत्पादन के पैमाने की। उसका उद्देश्य तो निस्सन्देह अधिकतम लाभ (maximum profit) होता है। यह तय करने के लिए उसे वैज्ञानिक रूप से आदर्श उत्पादन (optimum output) का हिसाब लगाना पड़ता है। अर्थात् वह उत्पादन जिसमे उसे अधिकतम लाभ होगा। यह उत्पादन यह जरूरी नही, कि बड़े पैमाने पर ही हो। उसे तो विभिन्न परिमाणो मे उत्पादन की लागत और जिस कीमत पर वस्तु को मण्डी मे रखा जा सकता है उस कीमत की तुलना करनी पड़ेगी।

२ बड़े पैमाने पर उत्पादन के लाभ—आधुनिक कारखाना पद्धति अपने विस्तृत श्रम विभाजन तथा मशीनरी के उपयोग के कारण बड़े पैमाने पर उत्पादन (large-scale production) करती है। इसके मुख्य लाभ निम्नलिखित है—

(i) विशिष्टीकृत एवं आधुनिकतम मशीनरी की किफायत (Economy of Specialised and Up-to date Machinery)—मशीनरी के उपयोग का बहुत बड़ा क्षेत्र होता है जिसके द्वारा लागतें कम हो जाती है। एक बड़ा उत्पादक कीमती और आधुनिकतम मशीनरी स्थापित कर सकता है। वह उनकी मरम्मत (repairs) कराने का भी अपना अलग प्रबन्ध कर सकता है। विशिष्टीकृत मशीनरी प्रत्येक विभिन्न कार्य के लिए उपयोग मे लाई जा सकती है। जिसका फल यह होता है कि उत्पादन बड़ी किफायत मे होता है। एक छोटा उत्पादक जिसकी बाजार मे थोडी पहुँच है अपनी मशीनरी को लगातार काम मे लगाए नहीं रह सकता। उस अवस्था मे मशीनरी कुछ समय निष्क्रिय अथवा बेकार (idle) पडी रहती है जो आर्थिक दृष्टि से मितव्ययिता नहीं है। बडा उत्पादक उसे बराबर काम मे लगाए रह सकता है। उसका कारखाना चौबीसो घटे चलता रहता है जिससे उसे किफायत (economy) होती है।

(ii) श्रम की मितव्ययिता (Economy of Labour)—एक बड़े कारोबार मे श्रम-विभाजन के लिए काफी सम्भावना रहती है। विशिष्टीकृत श्रम अधिक परिमाण और उत्तम गुण का उत्पादन रहता है। केवल एक बड़े व्यवसाय मे ही प्रत्येक व्यक्ति को वह कार्य दिया जा सकता है जो वह सबसे अच्छा करता है। इस प्रकार बड़े पैमाने का उत्पादक अपने नौकरो मे से हर एक से सर्वोत्तम कार्य ले सकता है।

(iii) क्रय-विक्रय की मितव्ययिता (Economies of Buying and Selling)—कच्चे माल और उपकरणो का क्रय करने मे बडे कारोबारी को अपने बडे सौदे के कारण विशेष अनुकूल शर्तों पर वस्तुएँ मिलती है। अपना माल बेचते समय वह अपने उत्पादन मे विविधता (variety) लाकर और आर्डरो की शीघ्र पूर्ति करके ग्राहको को आकर्षित कर सकता है। लाभ की कम दर लेने से बिक्री बढती है और बडे पैमाने के कारोबार मे शुद्ध लाभ (net profit) अधिक होते है।

(iv) साथ मे होने वाले ऊपर के व्यय मे मितव्ययिता (Economies in Overhead Charges)—बडे कारोबार मे उत्पादन की प्रति इकाई पर प्रबन्ध का कम खर्च आता है। सूद वेतन व्यय और अन्य ऊपर के खर्च तो वही रहते है चाहे उत्पादन कम हो या ज्यादा। इस प्रकार उतना ही व्यय अधिक उत्पादन पर बँट जाता है जिससे प्रति इकाई लागत कम हो जाती है।

(v) किराये मे मितव्ययिता (Economy in Rent)—यदि उसी कारखाने म माल का अधिक परिमाण निकले तो उसका उतना ही किराया अधिक माल पर बँट जाता है। इसका अर्थ होता है प्रति इकाई लागत मे किराये का अश कम बैठता है।

(vi) प्रयोग एव अन्वेषण (Experiments and Research)—एक बडा प्रतिष्ठान (concern) खोज अन्वेषण या प्रयोगो पर अधिक दिल खोलकर व्यय कर सकता है। यह सभी जानते है कि बक्त लेकर ये खर्चे कुछ बढकर वापस मिल जाते है। सफल अन्वेषण से अधिक सस्ता ढग खोजा जा सकता है। इससे अधिक लाभ होगा।

(vii) विज्ञापन व सेल्समैनी—केवल एक बडा कारबार ही विज्ञापन और सेल्समैनी पर बडी राशि व्यय कर सकता है। अन्त मे उत्तम फल प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त जब उत्पादन बडे पैमाने पर होता है, तो प्रति वस्तु विज्ञापन पर किया गया व्यय भी कम हो जाता है। विक्रता प्रत्येक मण्डी का सावधानी से अध्ययन करके नई मण्डियो पर प्रभाव डाल सकता है या पुरानी मण्डियो मे अपनी स्थिति सुदृढ कर सकता है।

(viii) उप वस्तुओ का उपयोग (Utilisation of By-products)—कोई बडा व्यवसायी अपनी उप वस्तुओ या उत्पादन से निकलने वाले शेष पदार्थों (Waste products) को फेंकता नही। वह उनका आर्थिक उपयोग करने की चेष्टा करता है। एक छोटे चीनी कारखाने को अपना शीरा फेंकना पडेगा, जबकि एक बडा कारखाना उसे पावर अलकोहल बनाने के काम म ले आएगा।

(ix) विपत्ति का मुकाबला करना (Meeting Adversity)—बडा व्यवसायी विपत्ति काल का मुकाबला ज्यादा अच्छी तरह कर सकता है, क्योंकि उसके साधन बडे होते है और वह हानि अधिक एव सरलता से सहन कर सकता है।

(x) सस्ता उधार (Cheap Credit)—बडे व्यवसायी को उधार सस्ता और आसानी से मिल जाता है, क्योंकि द्रव्य के बाजार (money market) मे उसकी साख हमेशा ऊँची होती है और बैंक उधार या पेशगी देने को हमेशा तैयार रहते है।

बड़े पैमाने पर उत्पादन की हानियाँ (**Disadvantages of Large-scale Production**)—बड़े पैमाने पर उत्पादन दोष मुक्त नहीं है। इसकी कुछ हानियाँ निम्नलिखित हैं—

(i) **कम देख-रेख** (**Less Supervision**)—बड़े पैमाने का उत्पादन हर बात की तरफ पूरा ध्यान नहीं दे सकता। अक्सर कर्मचारियों की बेईमानी की वजह से या उनके द्वारा माल के नुकसान से लागत बढ़ जाती है। यह उपयुक्त संचालन की कमी से होता है।

(ii) **व्यक्तिगत रुचियों की ओर ध्यान नहीं दिया जा सकता** (**Individual Tastes are Ignored**)—बड़े पैमाने के उत्पादन में एक समान वस्तुओं का बहुल उत्पादन (standardised mass production) होता है। एक ही गुण के (uniform quality) माल का निर्माण हो पाता है और हर ग्राहक की रुचि या अपेक्षा को सन्तुष्ट नहीं किया जा सकता।

(iii) **व्यक्तिगत प्रेरणा नहीं रहती** (*No Personal Element*)—बड़े पैमाने के कारबार को आमतौर पर वेतन पानेवाले कर्मचारी चलाते हैं। मालिक तो अधिकतर अनुपस्थित रहता है। इसलिए मालिक और नौकर में जो परस्पर सहानुभूति या व्यक्तिगत सम्पर्क रहना चाहिए वह नहीं रहता। इसलिए नौकरों की कारबार में कोई निजी दिलचस्पी भी नहीं रहती और मालिक के बारे में उनमें अनेक गलतफहमियाँ पैदा हो जाती हैं *जिनसे हड़तालों और तालाबन्दी (lock-out) की नौबत आती है।*

(iv) **मन्दी की सम्भावना** (*Possibility of Depression*)—उत्पादन कभी कभी माँग से ज्यादा हो सकता है और तब मन्दी और बेकारी आ सकती है।

(v) **विदेशी मण्डियों पर निर्भरता** (Dependence on Foreign Markets)—एक बड़े पैमाने के उत्पादक को प्रायः तौर पर विदेशी मण्डियों पर निर्भर रहना पड़ता है और मण्डियाँ युद्ध या किसी दूसरी उथल पुथल से बन्द हो सकती हैं।

(vi) **घातक प्रतिस्पर्द्धा** (Cut-throat Competition)—बड़े पैमाने के उत्पादक को मण्डियों के लिए लड़ना पड़ता है। इसलिए जबरदस्त प्रतिस्पर्द्धा होती है जिससे समाज या व्यापारियों का कोई लाभ नहीं होता।

(vii) **युद्ध और अन्तर्राष्ट्रीय झगड़े** (*War and International Complications*)—जब बड़े पैमाने पर उत्पादन करनेवाले अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में उतरते हैं तो मण्डियों या कच्चे माल के लिए उनके स्वार्थों में टक्कर होती है। कभी कभी यह पारस्परिक झगड़े युद्ध का रूप धारण कर लेते हैं।

(viii) **बदलने में कठिनाई**—बड़े पैमाने के कारोबार के लिए उत्पादन के एक ढंग को छोड़कर दूसरे को अपनाना बहुत कठिन होता है। मंदी आने पर छोटे कारोबार आसानी से घटने वाले व्यवसायों से निकलकर बढ़ने वाली दिशाओं में चले जाते हैं। इस प्रकार वे हानि से बच जाते हैं। इस तरह को अपने को नए रूप में ढाल लेने की योग्यता बड़े कारोबारों में नहीं होती।

निष्कर्ष—इन सब कमियों के होते हुए भी बड़े पैमाने का उत्पादन बहुत सी

चीजों मे किफायत करता है। निर्माण तथा परिवहन करने वाले उद्योगो मे अपनी बिक्री बढ़ाने की प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार इस प्रणाली के लाभ इसकी हानियों से कहीं बढ़कर है।

४. **कारोबार के आकार की सीमा कैसे निर्धारित होती है? (What limits the size of a business ?)**—हमने यह देखा कि बड़े पैमाने पर उत्पादन के अनेक लाभ है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि किसी कारोबार को जितना चाहे बढ़ाया जा सकता है। देर सवेर, कहीं न कहीं एक ऐसी सीमा (margin) आ जाती है, जहाँ उसके लाभ अधिक नहीं किए जा सकते और उस जगह और विस्तार खत्म करना पड़ता है।

निम्न कुछ कारणो से किसी कारोबार के विस्तार की सीमा निर्धारित होती है—

(i) **श्रम या पूँजी की कमी (Shortage of Labour or Capital)**—यदि प्रशिक्षित श्रम की सप्लाई पर्याप्त उपलब्ध नहीं है तो कारोबार की उन्नति अपने आप ही रुक जाएगी। इसी तरह यदि और पूँजी नहीं जमा की जा सकती तो भी विस्तार रुक जाएगा। किन्तु यह बाधाएँ दूर की जा सकती हैं। यदि व्यवसाय का भविष्य उज्ज्वल दीख पड़ता है और यदि उद्यमी जमी हुई प्रतिष्ठा या ख्याति का आदमी है तो वह इन बाधाओं पर विजय पा सकता है।

(ii) **बाजार का स्वभाव (Nature of the Market)**—यदि माँग परिमित या अस्थिर है तो व्यवसाय का विस्तार बढ़ाना ठीक नहीं होगा। माँग का स्वभाव सबसे बड़ा कारण है जो सीमाएँ निर्धारित करता है। सारे मामले का निपटारा ही लगभग इसी से होता है। यदि व्यक्तिगत रुचियों को सन्तुष्ट करने लग जाएँ तब तो बड़े पैमाने पर उत्पादन का प्रश्न ही नहीं उठता।

(iii) **प्रबन्ध करने की क्षमता (Managerial Capacity)**—एक और महत्त्वपूर्ण सीमा, मैनेजर की योग्यता या क्षमता से पैदा होती है। एक हद तक ही कोई आदमी सफलतापूर्वक प्रबन्ध कर सकता है। विस्तार करते-करते एक बिन्दु ऐसा आ जाता है जिससे आगे मैनेजर के लिए व्यवसाय का ठीक नियन्त्रण करना सम्भव नहीं रहता। इस बिन्दु के आगे देख-भाल कम हो जाएगी, माल खराब जाएगा और मशीनरी का ठीक तरह उपयोग नहीं होगा। लागत (cost) लाभ (profit) को दबा देगी और अन्त में लाभ खत्म हो जाएगा। एक ऐसी सीमा पर हम पहुँच जाते है जहाँ सीमान्त-लाभ सीमान्त-लागत के बराबर है।

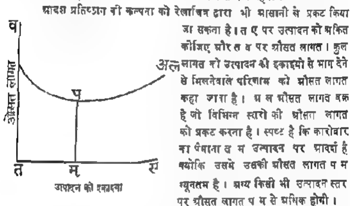
(iv) **उद्योग का स्वरूप (Nature of Industry)**—कुछ उद्योगो में बड़े पैमाने पर उत्पादन असम्भव होता है। उनमें व्यक्तिगत सचालन की अधिक आवश्यकता पड़ती है जैसे दर्जीगीरी या सुनारगीरी मे। या, कुछ उद्योग ऐसे है जिनमें मशीनरी के उपयोग की अधिक गुंजायश नहीं है और न ही श्रम-विभाजन की। जैसे, खेती, फल या सब्जी उपजाने आदि मे। भारी वस्तुएँ, जैसे ईंटें छोटे पैमाने पर ही बनाई जा सकती है, क्योंकि उन्हें अधिक दूर ढोकर ले जाने से मितव्ययिता नहीं होगी।

(v) **घटती हुई उपज के नियम का लागू होना (Operation of the Law**

of Diminishing Returns)—कभी कभी किसी उद्योग के विस्तार से लागत बढ़ने लगती है और उपज का अनुपात कम हो जाता है। ऐसी हालत में उसका विस्तार करना बुद्धिमानी न होगी।

५. आदर्श प्रतिष्ठान—हमने ऊपर बड़े पैमाने के व्यवसाय के लाभ हानि का विचार कर लिया है। एक निश्चित उत्पादन-यन्त्र (*plant*) के होते हुए जब उत्पादन बढ़ाया जाता है तो खर्च में किफायत होती जाती है। इसका कारण बड़े पैमाने के लाभ हैं। परन्तु कुछ काल के बाद एक बिन्दु आता है जिस पर अधिकतम फायदा होता है। वहां उत्पादन की औसत लागत न्यूनतम होती है। यह उस कारोबार का आदर्श स्तर है—इस पैमाने पर उसका खर्च कम से कम रहेगा।

आदर्श प्रतिष्ठान की कल्पना को रेखांकन द्वारा भी आसानी से प्रकट किया जा सकता है। त ए पर उत्पादन को अंकित कीजिए और त व पर औसत लागत। कुल लागत को उत्पादन की इकाइयों से भाग देने से मिलनेवाले परिणाम को औसत लागत कहा जाता है। अ ल औसत लागत वक्र है जो विभिन्न स्तरों की औसत लागत को प्रकट करता है। स्पष्ट है कि कारोबार का पैमाना त म उत्पादन पर आदर्श है क्योंकि उसमें उसकी औसत लागत प म न्यूनतम है। अन्य किसी भी उत्पादन स्तर पर औसत लागत प म से अधिक होगी।



इसलिए आदर्श प्रतिष्ठान वह है, जो किसी विशेष उत्पादन-यन्त्र से न्यूनतम औसत लागत पर उत्पादन करे।

यह भी समझा जा सकता है कि आदर्श इकाई कितनी बड़ी होगी, यह हमेशा के लिए तय नहीं होता। अगर व्यवसायी एक नई मशीन लगा ले तो उसका औसत लागत वक्र अलहदा होगा और न्यूनतम औसत लागत का बिन्दु जगह बदल लेगा। इसलिए आदर्श इकाई मशीनरी तथा अन्य कुछ वस्तुओं पर जिनमें इमारत, जमीन आदि भी हैं और जिनको हम संयुक्त नाम—उत्पादन-यन्त्र (*plant*) से पहचानते हैं—पर निर्भर है, और वह इस उत्पादन यन्त्र के पैमाने के साथ बदलती है।

आदर्श इकाई (optimum unit) अपने आकार में स्थिर नहीं होती। यदि मांग या सप्लाई की दशा बदल जाए तो यह बिन्दु आगे-पीछे जा सकता है। यदि मांग स्थायी रूप से बढ़ जाए तो एक नया आदर्श बिन्दु होगा। यदि ब्याज की दर कम हो गई है या उत्पादन के किसी अन्य साधन की सप्लाई की कीमत नीचे चली जाए तो, या अधिक योग्य मैनेजर आ जाए तो यह आदर्श बदल जायगा।

६. प्रतिनिधि व्यवसाय (Representative Firm)—कुछ अर्थशास्त्रियों के मत में किसी उद्योग के विकास की रूपरेखा समझने के लिए यह जरूरी है कि हम अपनी कल्पना में एक ऐसी फर्म का ध्यान करें जिसे वे प्रतिनिधि व्यवसाय (represen-

tative firm) कहते है। डा० मार्शल ने इसकी परिभाषा एक प्रकार की औसत फर्म की है। यह सर्वोत्तम फर्म नहीं है। यह व्यवसाय काफी लम्बी अवधि से चल रहा होता है, इसे दरम्याने दर्जे की आन्तरिक और बाह्य मितव्ययिताएँ (internal and external economies) प्राप्त होती हैं, और यह एक औसत योग्यतावाले व्यक्ति द्वारा सञ्चालित है। यह प्रतिष्ठान सर्वोत्तम और निकृष्ट के बीच में है।

७. छोटे पैमाने पर उत्पादन के लाभ (Advantages of Small-scale Production)—बड़े उत्पादक की अपेक्षा छोटे उत्पादक के कुछ अपने लाभ है—

(i) अच्छी देखभाल (Close Supervision)—छोटे उत्पादक को स्वयं ही अपने व्यवसाय के हर छोटे से छोटे अंग का सचालन करना पडता है। किसी को भी मशीनरी या सामग्री खराब नहीं करने दिया जाता। कोई बेईमानी या धोखाधडी नहीं हो सकती।

(ii) किफायती प्रबन्ध (Economic Management)—लम्बा-चौडा स्टाफ (staff) रखने की जरूरत नहीं पडती। लिखित आदेशो की जगह, जिन्हे आधा या गलत-सलत समझा या पूरा किया जाता है, जबानी बातचीत हो सकती है। कोई लम्बे चौडे हिसाब के खाते नहीं रखे जाते। इससे बडी किफायत हो जाती है।

(iii) ग्राहको की ओर व्यक्तिगत ध्यान (Personal Attention to Customers)—छोटा व्यवसायी ग्राहको को पूर्ण रूप से सन्तुष्ट कर पाता है। वह उनके आर्डरो का खुद खयाल रखता है और उनकी गलतफहमियाँ या कठिनाइयाँ तुरन्त दूर करता है।

(iv) कर्मचारियो के साथ व्यक्तिगत सम्पर्क (Personal Touch with the Employees)—मालिक अपने कर्मचारियो के साथ हमेशा व्यक्तिगत सम्पर्क रखता है। वह उनकी कठिनाइयो या शिकायतो को जल्दी दूर कर सकता है। इस तरह मालिक और नौकरो मे अच्छे सम्बन्ध बने रहते हैं और हडतालो (strikes) या तालाबन्दी (lock-outs) की नौबत कम आती है। इससे व्यवसाय उन्नति करता है।

(v) अधिक समायोजन की क्षमता (Greater Adaptability)—यदि व्यापार की अवस्था बदलती है तो छोटा उत्पादक अपनी दिशा शीघ्र बदल सकता है। वह अपने निर्णय शीघ्र कर सकता है।

(vi) स्वतन्त्रता (Independence)—छोटे पैमाने का उत्पादक खुश रहता है कि वह स्वतन्त्र है। वह किसी बडे व्यवसाय मे नीचे रहकर काम करना पसन्द नहीं करेगा। यह स्वतन्त्रता की भावना उसे कठिन परिश्रम करने की प्रेरणा देती है।

(vii) माँग का स्वभाव (Nature of Demand)—छोटे उत्पादक को बडे उत्पादक के मुकाबले मे एक बडा फायदा रहता है, अगर माँग छोटी या बार-बार बदलने वाली है।

(viii) उद्योग का स्वरूप (Nature of Industry)—कुछ उद्योगो मे जैसे दर्जीगीरी मे व्यक्तिगत पसन्द (Personal factor) बडी महत्त्वपूर्ण है। ऐसे

व्यवसाय का छोटे पैमाने पर चलना बड़ा लाभदायक है।

८. छोटे पैमाने पर उत्पादन की हानियाँ (Disadvantages of Small-scale Production)—छोटे पैमाने का उत्पादक वे मितव्ययिताएँ नहीं कर सकता जो बड़े व्यवसायों को उपलब्ध हैं। उसकी कठिनाइयां निम्नलिखित हो सकती है—

(i) आधुनिक यंत्र और श्रम-बचत करने वाले उपकरणों के उपयोग की गुंजायश कम होती है।

(ii) श्रम-विभाजन की गुंजायश कम होती है। इसलिए श्रम-विभाजन के लाभ उसे प्राप्त नहीं होते।

(iii) छोटे उत्पादक को कच्चा माल और दूसरे उपकरण खरीदने में कम किफायत होती है।

(iv) वह अन्वेषण (research) और प्रयोग (experiments) पर पैसा खर्च नहीं कर सकता।

(v) किराया, ब्याज, विज्ञापन आदि पर उत्पादन की प्रति इकाई व्यय अधिक आएगा। उसके ऊपरी खर्च उत्पादन के मुकाबले में ज्यादा होते हैं।

(vi) अपने सीमित साधनों से वह बुरे वक्त का सामना नहीं कर सकता।

(vii) वह सस्ता उधार नहीं ले पाता।

(viii) उसके उत्पादन की उपवस्तुएँ (by-products) अक्सर बरबाद जाती हैं।

९. क्या आधुनिक अर्थ-व्यवस्था में छोटे उत्पादक का कोई स्थान है? (Has a small-scale producer any place in the Modern Economic System)—ऊपर कहे गए दोषों के बावजूद भी छोटे पैमाने पर उत्पादन बिल्कुल खत्म नहीं हुआ है। बड़े कारोबार प्रतियोगिता में छोटे कारोबार को बिल्कुल खत्म नहीं कर सके। इंगलैण्ड, जर्मनी, फ्रांस और बेल्जियम जैसे उन्नत औद्योगिक देशों में भी छोटे पैमाने का उत्पादन अब भी जिन्दा है।

छोटे उत्पादक को किस बात ने सहायता दी है?—अनेक कारण हैं जिनसे छोटे पैमाने का उत्पादक अब तक जीवित है।

(i) छोटे पैमाने के उत्पादक को बड़े कारोबार के मुकाबले कुछ लाभ भी हैं जो हम ऊपर बता चुके हैं। वह हर बात की तरफ व्यक्तिगत ध्यान दे सकता है, अपने ग्राहकों और नौकरों की खबर रख सकता है और उसका प्रबन्ध अधिक किफायत से हो जाता है।

(ii) कुछ कामों में, मांग का स्वभाव ऐसा होता है कि बड़े पैमाने के कारोबार मुकाबला नहीं कर सकते, विशेषकर जब मांग सीमित, स्थानीय या अस्थिर है। ऐसी अवस्था में बड़ा उत्पादन पूरा ही नहीं पड़ता, छोटे उत्पादक के लिए क्षेत्र खाली है।

(iii) कुछ उद्योग ऐसे हैं जिनमें उत्पादन केवल छोटे पैमाने पर ही हो सकता है। जहां व्यक्ति की पसन्द (personal factor) अधिक महत्वपूर्ण है बल्कि अनिवार्य है, जैसे दर्जीगीरी और सुनारगीरी में। कहीं-कहीं मशीनरी और

श्रम-विभाजन के उद्योग की गुंजायश नहीं है जैसे, खेती, बागबानी, मुर्गियां पालने, या डेरी आदि में। ये उद्योग छोटे पैमाने के लिए बड़ा क्षेत्र खोल देते हैं।

(iv) कभी-कभी किसी बड़े कारोबार की उपस्थिति ही छोटे कारोबार के लिए काम का रास्ता खोल देती है। जैसे, साईकिलों, मोटर-ट्रकों या कारों की मरम्मत।

(v) कुछ हाल की घटनाओं ने छोटे उत्पादक को बड़ी मदद पहुँचाई है। (क) बिजली की खोज एक ऐसा ही कारण है। सस्ती बिजली अब उपलब्ध हो गई है और उसकी लागत जितनी करेन्ट खर्च होती है उसी के अनुसार है। इसलिए अब कारखाने में शक्ति उत्पन्न करने की आवश्यकता नहीं रही। इसमें अब बड़े कारोबार को कोई विशेष लाभ नहीं रहा। (ख) शिल्पिक पत्रिकाओं (Technical Journals) ने वैज्ञानिक ज्ञान का इतना प्रचार कर दिया है कि अब यह बड़े कारोबार का एकाधिकार नहीं रहा। (ग) सहकारिता भी छोटे कारोबारी की सहायता करती है। एक दल बनाकर सयुक्त कार्य करने से छोटे उत्पादक भी बड़े व्यवसायी को मिलनेवाली सभी मितव्ययिताओं का लाभ उठा सकते हैं।

(vi) कुटीर-उद्योगों में एक और भी लाभ है कि वे घर के रुचिकर वातावरण में किए जा सकते हैं और उनमें कुटुम्ब के सभी सदस्यों की मुफ्त सहायता मिल सकती है।

भारतीय कुटीर-उद्योगों के जीवित रह सकने के और भी कुछ कारण हैं। ये पैतृक धंधे हैं और इनसे लाभ हो या न हो इनको लोग पालन करते हैं। इन उद्योगों में कार्य करने वालों का जीवन-स्तर अत्यन्त नीचा है और इन उद्योगों की थोड़ी कमाई द्वारा भी ये अपना निर्वाह कर सकते हैं।

भारत में छोटे उद्योगों के लिए विस्तृत क्षेत्र है। कभी भी, कुटीर उद्योग लाखों आदमियों का पेट भरते रहे। भारत एक कृषि-प्रधान देश है और किसान साल में कई महीने विवश होकर बेकार और निष्क्रिय पड़ा रहता है। इसलिए खेती को उपयुक्त कुटीर उद्योगों द्वारा सहारा देने की जरूरत है। इसके अलावा श्रम सस्ता है और मशीनरी मँहगी। अखिल भारतीय ग्रामोद्योग सघ ने छोटे उद्योगों को लोकप्रिय बनाने के लिए बहुत कुछ किया है। कांग्रेस, भारत सरकार और राज्य सरकारें भी हर तरह से कुटीर-उद्योगों को अच्छा समर्थन दे रही हैं। दूसरी पचवर्षीय योजना में छोटे और कुटीर-उद्योगों के विकास की ओर विशेष ध्यान दिया गया है। इससे न केवल किसानों और दूसरे देहातियों की आर्थिक दशा सुधरेगी बल्कि बेकार लोगों को काम भी मिलेगा।

१० आन्तरिक और बाह्य मितव्ययिताएँ (Internal and External Economies)—हमने कहा कि कुछ मितव्ययिताएं बड़े कारोबार को उपलब्ध हैं और कुछ अन्य छोटे उद्योगों को। ये मितव्ययिताएँ आन्तरिक और बाह्य इन दो श्रेणियों में आती हैं।

आन्तरिक मितव्ययिताएँ वे हैं जो कि किसी व्यवसाय विशेष की अपनी हैं। वे दूसरे व्यवसायों को नहीं मिल सकतीं। वे एक व्यावसायिक मस्तिष्क की उपज होती

है। प्रत्येक मैनेजर का श्रम शक्ति के संचालन का और उससे काम लेने का अपना-अपना तरीका है। वह जैसे बेहतर समझता है मशीन का उपयोग करता है। कच्चा माल खरीदने में और तैयार माल को बिक्री करने में उसकी अपनी नीति होती है। वह इन उपायों को किसी और को नहीं बताता। अपनी योग्यता और प्रयत्न से प्रति इकाई लागत कम करता है। वह टेक्नीक (*technique*) अर्थात् कार्य विधि को अपने ढंग से सुधारकर कुछ किफायत कर लेता है। यह सब आन्तरिक मितव्ययिताएँ कहलाती हैं। ये किसी व्यवसाय के अन्दर की चीजें हैं और केवल किसी एक उद्यमी की उत्कृष्ट संगठन-शक्ति के ही कारण हैं। ये व्यावसायिक भेद (*business secrets*) हैं। ये मितव्ययिताएँ बड़े कारोबार में ही सम्भव हैं और उन्हीं कार्य प्रणालियों (techniques) तथा उपायों (methods) के उपयोग से सम्भव हैं जो छोटे व्यवसायी को उपलब्ध नहीं हैं। ये मितव्ययिताएँ शिल्पिक प्रबन्ध सम्बन्धी, वित्तीय या वाणिज्य सम्बन्धी हो सकती हैं।

बाह्य मितव्ययिताएँ वे हैं जो किसी कारोबार की आन्तरिक वस्तु नहीं हैं। वे सबको मालूम हैं और सभी उनका लाभ उठाते हैं। वे आम तौर पर तब उठती हैं जब कोई उद्योग स्थानीकृत (localised) हो जाता है जैसे सहायक उद्योगों की उपस्थिति साख और यातायात की सुविधाएँ आदि। उनका सभी फर्में लाभ उठा सकती हैं—दलाल कच्चा माल बेचनेवाले आढ़तिए एजेण्ट वगैरा—ये सभी को उपयोगी सेवाएँ देती हैं। उधार की सुविधाएं मिलने लगती हैं। विशिष्ट-पत्र प्रारम्भ होते हैं। संस्थाएँ बन जाती हैं। हर फर्म इनका लाभ उठा सकती है। ये बाह्य मितव्ययिताएँ सभी को प्राप्त हैं और सभी इनसे फायदा उठाते हैं। ये किसी व्यवसाय विशेष का एकाधिपत्य नहीं है। यह किसी उद्यमी की श्रेष्ठ संगठन क्षमता नहीं है जिसके कारण यह मितव्ययिता प्राप्त हुई हो। यह किसी विशेष कम्पनी की श्रेष्ठ शिल्पिक निपुणता का फल नहीं है। ये उस स्थान की विशेष आर्थिक परिस्थितियों द्वारा उत्पन्न हैं और हर एक उनसे लाभ उठाता है।

इस अध्याय की ज्ञातव्य बातें

बड़े उत्पादन की मितव्ययिताएँ (Economies of large-scale production)—

(i) विशिष्टीकृत और आधुनिकतम यन्त्र तन्त्र।

(ii) विशिष्टीकृत श्रम की मितव्ययिता।

(iii) क्रय विक्रय में किफायत।

(iv) प्रति इकाई ऊपरी व्यय में किफायत।

(v) किराए में किफायत।

(vi) वैज्ञानिक प्रयोग एवं अनुसन्धान का फायदा।

(vii) विज्ञापन और सेल्समैनों में किफायत।

(viii) उप वस्तुओं का उपयोग।

(ix) बुरे वक्त का मुकाबला करने की ताकत।

(x) सस्ते उधार की सुविधा।

बड़े पैमाने के कारोबार की कठिनाइयां (*Disadvantages of a large scale business*)—

(i) अधूरी देखरेख
(ii) ग्राहकों की व्यक्तिगत रुचि को ध्यान में नहीं रखा जा सकता।
(iii) मालिक और नौकरों में व्यक्तिगत सम्पर्क नहीं रहता।
(iv) अधिक उत्पादन से मंदी आ सकती है।
(v) विदेशी मण्डियों पर निर्भरता खतरनाक है।
(vi) गला काटू प्रतिस्पर्द्धा।
(vii) अन्तर्राष्ट्रीय प्रतियोगिता युद्ध का कारण बनती है।

किसी कारोबार का आकार किन बातों से निर्धारित होता है (What limits the size of a Business)—
(i) श्रम और पूँजी की दुर्बलता।
(ii) मण्डी का स्वरूप।
(iii) प्रबन्ध सम्बन्धी क्षमता।
(iv) उद्योग का स्वरूप।
(v) घटती हुई उपज के नियम का लागू होना।

आप्टीमम फर्म (Optimum firm)—आदर्श इकाई वह उचित आकार है, जिसमें प्रति इकाई निम्नतम लागत होती है। आदर्श फर्म हमेशा के लिए स्थिर नहीं, वह उत्पादन-यन्त्र (जिसमें मशीनरी आदि साधन शामिल हैं) के बदलने के साथ बदलती है।

प्रतिनिधि व्यवसाय (Representative firm) वह औसत फर्म है जो काफी दिनों से चल रही है, जिसको औसत दर्जे की आन्तरिक व बाह्य मितव्ययितायें उपलब्ध हैं और जो लाभ की ठीक-ठीक दर कमा रही है।

छोटे उत्पादन के लाभ (Advantages of small-scale production)—
(i) नजदीकी देखभाल (close supervision)।
(ii) प्रबन्ध में किफायत (Economical Management)।
(iii) ग्राहक की ओर निजी ध्यान देना।
(iv) मालिक और नौकरों के बीच में व्यक्तिगत सम्पर्क।
(v) समायोजन की अधिक क्षमता।
(vi) आर्थिक स्वतन्त्रता।

छोटे उत्पादन के दोष (Disadvantages of Small scale production)—
(i) मशीनरी के उपयोग की कम गुंजाइश होती है।
(ii) श्रम-विभाजन की कम गुंजाइश होती है।
(iii) क्रय-विक्रय में किफायत नहीं होती।
(iv) खर्चीले प्रयोग या अन्वेषण नहीं किए जा सकते।
(v) प्रति इकाई ऊपरी (overhead) खर्चे, किराए, प्रतिष्ठान-व्यय (establishment expenses) आदि अधिक होते हैं।
(vi) बुरे वक्त का सामना करना कठिन होता है।
(vii) सस्ता ऋण नहीं मिल पाता।
(viii) उप-वस्तुएँ बरबाद जाती हैं।

छोटे उद्योग के जीवित रहने के कारण (Causes of survival of Cottage Industries)—
(i) अच्छी देख-रेख और नौकरों और ग्राहकों से अधिक व्यक्तिगत सम्पर्क द्वारा मिलने वाले फायदे।
(ii) कुछ वस्तुओं के लिए माँग परिमित, स्थानीय तथा अस्थिर होती है।

(iii) उद्योगों में व्यक्तिगत पसन्द (personal factor) का कम महत्त्व होता है और मशीन के उपयोग का क्षेत्र बड़ा सीमित होता है।

(iv) कुछ बड़े उद्योग ही छोटे धन्धे पैदा करते हैं।

(v) कुछ नई प्रगति भी छोटे उत्पादक के लिए सहायक है, जैसे
   (क) बिजली,
   (ख) शिल्पिक यन्त्र और राष्ट्रीय प्रयोगशालाओं में अन्वेषण,
   (ग) सहकारिता आन्दोलन,

(vi) कुटीर उद्योगों का सरल और रुचिकर वातावरण, भारत में कुटीर उद्योगों के विकास का बड़ा क्षेत्र है। मशीनरी महँगी है, श्रम सस्ता। दूरी ज्यादा है और परिवहन तथा प्रचार के साधन पूर्ण विकसित नहीं हैं। छोटे उद्योगों का कृषि के साथ मेल बिठाया जा सकता है।

आन्तरिक एवं बाह्य मितव्ययिताएं (Internal and External Economies)—आन्तरिक मितव्ययिताएँ किसी व्यवसाय विशेष की अपनी हैं और दूसरों को मालूम नहीं। ये किसी विशेष उद्यमी के श्रेष्ठ संगठन, योग्यता और शिल्पिक निपुणता के फलस्वरूप हैं।

बाह्य मितव्ययिताएँ सभी उद्योगों के लिए समान हैं। यह स्थानीकृत उद्योग से उत्पन्न होती हैं। इनका सब फायदा उठाते हैं। यह किसी विशेष व्यवसायी का रहस्य नहीं है।

क्या तुम निम्न प्रश्नों का उत्तर दे सकते हो ?

1 What do you understand by large scale production ? Give examples to show the class of industries in which the advantages of large scale production are most marked　　(दिल्ली, १९४९)

[देखिए विभाग २, परिवहन तथा निर्माणकारी उद्योग ऐसे ही उद्योग हैं।]

2 Indicate the advantages and disadvantages of large scale production　　(मद्रास, १९३७)

देखिए विभाग २, ३

3 What are the limits to the growth of a business ?

(जम्मू और काश्मीर १९५३, यू० पी० १९२८)

देखिए विभाग ४

4 What factors are responsible for the survival of small scale industries ?　　(जम्मू और काश्मीर १९५३, यू० पी० १९४०)

देखिए विभाग ६

5 Where and why is small scale production more profitable than large scale production ?　　(अजमेर, १९५५)

Or

Has a small scale producer any place in modern Indian economy ? Can you mention some industries which can be successfully run on a small scale in the Punjab ?

[पंजाब में बहुत से स्थानीकृत उद्योग हैं। अनेक जिले अपनी अपनी विशेष वस्तुएँ बनाते हैं। इन सबका और विकास किया जा सकता है और इन्हें वैज्ञानिक ढंग से चलाया जा सकता है। फिर कुछ उद्योग कृषि पर आधारित हैं, जैसे, गुड़ बनाना छोटे कोल्हुओं द्वारा भी चीनी बहुत कम लागत पर बनाई जा सकती है। फल का संरक्षण (Fruit Preservation) और डब्बों में बन्द करना (Canning) भी ऐसे उपयुक्त उद्योग हैं जो छोटे पैमाने पर सफलता से चलाए जा सकते हैं।]

6 Examine briefly the advantages of large scale and small scale industries Which of them in your opinion are suitable to India and why ? (बम्बई, १९५३)

[देखिए विभाग ७, ७। क्योंकि भारत में पूँजी दुर्लभ है, मशीनरी मँहगी है और श्रम सस्ता है, इसलिए छोटे उद्योग इस समय अधिक उपयुक्त हैं। कुछ समय बाद हम काफी संख्या में बड़े उद्योग खोल सकते हैं।]

7 What do you understand by 'scale of production ? Why does this scale differ from country to country ? Give illustrations from India (पंजाब विश्वविद्यालय, १९५३)

[उत्पादन के पैमाने से हमारा मतलब है वह पैमाना, जिस पर वस्तुओं का उत्पादन होता है। वे बड़े पैमाने पर उत्पादन की जाती है या छोटे पर।]

कारोबार का पैमाना किसी देश की जन संख्या और उसके चरित्र पर निर्भर है। साथ ही कच्चे माल और मण्डियों की उपलब्धि, शिल्पिक ज्ञान की अवस्था, प्रबन्ध सम्बन्धी योग्यता का स्तर, पूँजी की उपलब्धि और राज्य की नीति पर भी। भारत में आम तौर पर उत्पादन छोटे पैमाने पर है। कृषि जो सबसे बड़ा उद्योग है छोटे पैमाने पर है, क्योंकि खेत छोटे हैं। कारोबार में छोटे सौदे बहुत है। पूँजी की कमी, उद्यम सम्बन्धी योग्यता, प्रबन्ध तथा कार्य सम्बन्धी कुशलता और शिल्पिक ज्ञान की कमी के कारण हैं जिनसे भारत में अब तक छोटे पैमाने का उत्पादन महत्वशाली है।]

8 Indicate the chief economies that an entrepreneur can obtain from internal resources in an industry To what extent is he dependent upon external economies for the conduct of his enterprise ? (राजपूताना, १९४९)

Or

Distinguish between internal economies and external economies (पंजाब विश्वविद्यालय, १९४४)

देखिए विभाग १०

व्यावसायिक संगठन के रूप

(Forms of Business Organisation)

आप क्या बनाना पसन्द करते हैं—मालिक, साझी, शेयरहोल्डर या सहकारी?

१. प्रवेशिका—(Introduction)—पिछले अध्यायों में हमने उत्पादन के चारों साधनों—भूमि (land) श्रम (labour) पूँजी (capital) और संगठन (organisation)—का अध्ययन पूरा किया। उत्पादन के क्षेत्र में विभिन्न समस्याएँ उत्पन्न होती हैं उन पर भी काफी प्रकाश डाला गया। इस अध्याय में हम उन विधियों का *अध्ययन करेंगे जिनसे व्यापार का संगठन होता है और उसको चलाया जाता है।*

यदि आप कोई व्यापार शुरू करने का विचार करें तो आपके सम्मुख क्या-क्या समस्याएँ होंगी? आप इस तरह के काम को अकेले भी आरम्भ कर सकते हैं, या आप अपने किसी सम्बन्धी अथवा मित्र के साथ साझे (partnership) में कार्य शुरू कर सकते हैं। इसके अलावा आप किसी सीमित कम्पनी (limited company) में शेयरहोल्डर बन सकते हैं या किसी उत्पादक सहयोगी संस्था (producers co-operative society) के सदस्य बन सकते हैं। *इसके अलावा और भी कई तरीकों* से आप काम शुरू कर सकते हैं।

व्यावसायिक संगठन के मुख्य रूप ये हैं—व्यक्तिगत उद्यम संयुक्त पूंजी की कम्पनी (joint stock limited company) एकाधिपत्य (monopoly) सहयोगी व्यापार राज्य-उद्योग (state) और राज्य पालिका उपक्रम (municipal undertakings)। अब हम उपर्युक्त हर एक हिस्से पर अलग-अलग विचार करेंगे।

२ व्यक्तिगत स्वामित्व *(Individual Proprietorship)*—हमारे देश में प्रायः व्यक्तिगत व्यापार का अधिक प्रचार है। खेती और फुटकर (retail) धन्धों में तो व्यापार का यही रूप प्रचलित है।

इस प्रकार के उद्यम में उद्यमी को अकेले ही समस्त पूंजी जुटानी पड़ती है (चाहे इस काम के लिए उसे उधार ही क्यों न लेना पड़े) वही अपने व्यापार को *संगठित करता है और निरीक्षण करता है और परिणाम के लिए भी वह खुद ही* उत्तरदायी होता है। कभी कभी जरूरत पड़ने पर वह अपनी सहायता के लिए कुछ सहायकों की भी भर्ती कर लेता है।

इस प्रकार के काम में कुछ लाभ होते हैं—व्यापार छोटे स्तर (small-scale) पर होता है और छोटे स्तर के उत्पादन की सभी आर्थिक सुविधाएँ उसे प्राप्त होती हैं। मुख्य लाभों का संक्षिप्त परिचय यह है—

(क) चूँकि जोखिम पूरी तौर पर उसी का होता है, इसलिए उद्यमी को कठिन परिश्रम करने की प्रेरणा बनी रहती है। वह काफी समय तक परिश्रम करता है।

(ख) चूँकि प्रत्येक काम पर उसका कड़ा निरीक्षण होता है, इसलिए माल बढ़िया किस्म का होता है और कीमत भी कम होती है।

(ग) वह सदैव इस बात का प्रयत्न करता है कि हर एक ग्राहक की पूरी-पूरी सन्तुष्टि हो जाए। यह इसलिए सम्भव हो पाता है कि मालिक को अपने काम में पूरी-पूरी रुचि होती है।

(घ) नौकरों को भी पूरी तौर से प्रसन्न और शान्त रखा जा सकता है, क्योंकि मालिक और नौकर के बीच में निजी सम्बन्ध होता है। वह उनके प्रति उदारता और दया का भाव रखता है।

(ङ) ऊपर के खर्चे कम होते हैं, क्योंकि कर्मचारियों (staff) की संख्या अपेक्षाकृत कम होती है।

(च) उद्यमी स्वयं ही अपना 'मालिक' (boss) होता है। उसे किसी दूसरे की इच्छा पर चलना नहीं होता, और

(छ) इस प्रकार के व्यापार को खोलना और बन्द करना सरल होता है क्योंकि उसमें एक मालिक के सिवाय किसी का कोई सम्बन्ध नहीं होता।

परन्तु इसके विपरीत अकेले उद्यमी को कई प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। इस प्रकार के व्यापार-संगठनों के निम्नलिखित दोष भी होते हैं—

(क) **साधन सीमित होते हैं** (The resources are limited)—उद्यमी माँग बढ़ती हुई देखकर भी सरलता के साथ अपना उत्पादन नहीं बढ़ा सकता। निधि (fund) की कमी के कारण कई लाभदायक अवसरों का फायदा नहीं उठा सकता। प्रायः उसका काम-धन्धा छोटे स्तर पर ही चलता रहता है।

(ख) **श्रम-विभाजन सम्भव नहीं होता** (No division of labour is Possible)—चूँकि उसको सारी देखभाल अकेले ही करनी पड़ती है इसलिए कई बार ज़िम्मेदारी को निपुणता के साथ नहीं निभा सकता।

(ग) सारे प्रयत्नों के बाद भी इस प्रकार के काम से आमदनी थोड़ी होती है।

(घ) एक व्यक्ति का व्यापार (One man business) बड़े व्यापार की तुलना में टिक नहीं सकता। इसीलिए इसका भविष्य हमेशा आशंकित रहता है।

(ङ) इसलिए कोई भी देश यदि छोटे-छोटे व्यापारों में ही फँसा रहे तो आर्थिक रूप से पिछड़ा हो रहेगा। इस प्रकार के छोटे और प्राचीन संगठनों के रहते से देश कभी भी औद्योगिक नेतृत्व (industrial leadership) प्राप्त नहीं कर सकता।

परिणाम—इन सभी कठिनाइयों के बावजूद भी इस तरह के उद्यम के लुप्त होने की सम्भावना नहीं है। योग्य उद्यमी साझेदारी (partnership) पसन्द नहीं

करते और न हो सार्वजनिक कम्पनियो (Public Companies) में नौकरी करना चाहते हैं। वे अपना काम स्वतन्त्र रूप से चलाना चाहते हैं। खेती और फुटकर स्टोर निजी उद्योग के मुख्य क्षेत्र है।

२. साझेदारी (Partnership)—कभी-कभी छोटा काम भी ऐसे स्तर पर पहुँच जाता है कि उसे चलाना एक व्यक्ति के लिए कठिन हो जाता है और एक मालिक भी सब काम करने में असमर्थ हो जाता है। इसलिए यह नितांत आवश्यक हो जाता है कि व्यापार को बन्द होने से बचाने के लिए किसी दूसरे साझी को मिला लिया जाए। इसी प्रकार का व्यापार कुदरती तौर पर साझेदारी में विकसित हो जाता है।

कई बार नया काम प्रारम्भ करते समय ही साझा शुरू होता है। किसी कार्य को करने के लिए दो या तीन साझी मिल जाते हैं। उनके पारस्परिक सम्बन्ध, उनके अधिकार और कर्तव्य, प्रत्येक की पूँजी और लाभ-हानि आपस में बाँटने का अनुपात आदि, इन सब बातों का साझेदारी-पत्र (partnership deed) में स्पष्टतया उल्लेख कर दिया जाता है। करार (agreement) में साझेदारी के लक्ष्य और उसे तोड़ने (dissolve) करने की रीति भी उल्लेख कर दी जाती है। करार मौखिक या लिखित किसी भी रूप में हो सकता है।

प्रत्येक साझी कानूनी तौर पर साझेदारी का अधिकार-युक्त प्रतिनिधि (authorised agent) होता है, और प्रत्येक साझी दूसरे साझियों को किसी करार में बाँधने का हकदार होता है जो वे दूसरों के साथ करें। प्रत्येक साझी फर्म (firm) के ऋण के लिए न सिर्फ उसी भाग के लिए जो कि व्यापार में लगा है, बल्कि अपनी निजी सम्पत्ति आदि तक के लिए भी उत्तरदायी होता है। दूसरे शब्दों में दायित्व (liability) अपरिमित होता है।

सीमित साझेदारी (Limited Partnership)—एक दूसरी तरह की साझेदारी भी होती है जिसके अनुसार एक या एक से अधिक साझी साझेदारी के ऋण के लिए अपना उत्तरदायित्व, व्यापार में लगी पूँजी आदि को एक निश्चित अनुपात (fixed proportion) तक सीमित करा सकते हैं। इसी का नाम सीमित साझेदारी है। परन्तु सभी साझियों का उत्तरदायित्व, (liability) सीमित नहीं हो सकता। कुछ ऐसे साझी भी होने चाहिएँ जिनका दायित्व असीमित हो। सीमित दायित्व वाले साझी व्यापार में सक्रिय भाग नहीं ले सकते। इन्हीं को गुप्त या निष्क्रिय (sleeping or dormant) साझी कहते हैं।

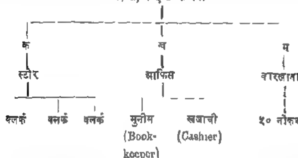
४ साझेदारी के गुण दोष (Merits and Demerits of Partnership)—निजी स्वामित्व की बजाय साझेदारी में अधिक लाभ होते हैं। इस तरह का काम छोटा होता है परन्तु बहुत छोटा नहीं। ऐसे काम में छोटे और बड़े स्तर के व्यापार की सभी किफायतें मिलती हैं। वे इस तरह हैं—

(1) अधिक पूँजी (More Capital)—इसके अधीन पूँजी के बड़े स्रोत होते हैं। चूँकि प्रत्येक साझी का दायित्व असीम होता है और सारे साझी इकट्ठे और अलहदा अलहदा दोनों तरह ऋण का भुगतान करने के उत्तरदायी होते हैं इसलिए

पैसा लगाने वाले अपने पैसे के बारे में अधिक निश्चिन्त रहते हैं। ऐसे व्यापार के लिए अधिकाधिक निधि संचित करना सरल कार्य होता है। इसलिए ऐसे व्यापार को बड़े स्तर पर चलाया जा सकता है और उसके लाभ भी उठाए जा सकते हैं।

(ii) **बहुमुखी प्रतिभा (Diverse Talent)**—साझेदारी के जरिए विविध गुणों और योग्यताओं को एक स्थान पर इकट्ठा होने का अवसर मिलता है। साझेदारी को प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्तियों की सेवा का सुअवसर प्राप्त होता है और साझियों में किसी सीमा तक विशिष्टीकरण भी सम्भव होता है। इन विशेषताओं के कारण कार्यक्षमता में वृद्धि होती है। इसको हम चित्र द्वारा इस प्रकार प्रदर्शित कर सकते हैं -

क, ख, ग एण्ड कम्पनी[1]



उपर्युक्त चित्र से यह स्पष्ट है कि क स्टोर आदि की देखरेख करता है, ख दफ्तर की जिम्मेदारी लेता है और ग कारखाना चलाता है। यह श्रम विभाजन बहुत लाभदायक सिद्ध होता है।

साझे में गलत निर्णय की सम्भावना कम होती है। एक समस्या पर कई पहलुओं से विचार कर लिया जाता है, इसलिए यह निर्णय एक व्यापारी के निर्णय की अपेक्षा अधिक सही होता है।

(iii) **शक्ति और उत्साह**—साझी काफी उत्साह और लगन से काम करते हैं। प्रत्येक साझी से यह आशा की जा सकती है कि उसकी काम में पूरी-पूरी रुचि होगी और वह पूरे मन से कार्य करेगा।

(iv) **तात्कालिक निर्णय (Prompt Decisions)**—साझी एक-दूसरे से बराबर मिलते रहते हैं। इसलिए निर्णय तुरन्त हो जाता है। व्यापार में समय का बड़ा महत्त्व होता है। साझे में व्यापार की गतिविधि समझकर इत्तफाक व्यापारिक अवसर का पूरा-पूरा लाभ उठाया जा सकता है और तुरन्त निर्णय भी लिए जा सकते हैं।

(v) **निजी सम्बन्ध**—साझे में नौकरों और ग्राहकों के साथ निजी सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है। अच्छे कारोबार के लिए यह बहुत जरूरी है।

दोष (Demerits)—साझेदारी में निम्नलिखित दोष होते हैं—

(i) **अपरिमित दायित्व (Unlimited Liability)**—चूंकि साझी का

1 Fay—Elements of Economics 1926, p 104.

उत्तरदायित्व अपरिमित होता है वह फर्म (firm) के सारे ऋण के लिए उत्तरदायी ठहराया जा सकता है, न कि सिर्फ व्यापार में लगे अपने भाग के लिए। यह शर्त धनियों को डरा देती है। इसलिए वे उनका साझा करते हुए डरते हैं जिनमें योग्यता तो है, पर जिनके पास पूंजी नहीं है।

इस अपरिमित दायित्व के कारण ये साझेदारी में कमजोर नीति अपनायी जाती है। क्योंकि हर साझी को इस बात की फिक्र रहती है कि साझे में कोई भारी दायित्व (heavy liability) या खतरा (risk) न हो। ऐसा होने पर किसी एक पर फर्म का सारा कर्जा चुकाने का बोझा पड सकता है।

(ii) कम काम और अधिक क्षय (Less work and more waste)—अक्सर ऐसा देखने में आता है कि हर साझी काम से जी चुराता है और दूसरे पर ही काम थोपना चाहता है। इसके विपरीत वह अधिकाधिक लाभ प्राप्त करना चाहता है। चूंकि साझेदारी निधि (partnership fund) सब की होती है, इसलिए हर साझी पैसा बरबाद करता है। दूकान के सहारे प्रत्येक साझी धन बटोरने की फिक्र में रहता है।

(iii) आपसी फूट (Mutual Dissentions)—अक्सर आपस में फूट पड जाती है और काम का नुकसान होता है। साझियों का आपसी झगडा और मनमुटाव तो मामूली बात है।

(iv) अस्थायित्व (No Permanency)—किसी साझी के रिटायर होने (Retirement), मृत्यु, दिवालियापन (Insolvency) या पागलपन आदि कोई आकस्मिक घटना होने पर साझा खत्म (dissolve) करना पडता है। इस तरह साझे में कोई स्थायी क्रम नहीं चल पाता।

(v) पैसा फँस जाता है (Money locked up)—साझेदारी में साझी पूरी तौर से बँधा होता है। बिना दूसरे साझियों की मर्जी के कोई एक साझी अपने हिस्से का तबादला नहीं कर सकता।

(vi) अपर्याप्त निधि (Insufficient funds)—साधारणतया साझे में इतने साधन (resources) नहीं रहते कि जिनसे निर्माण या व्यापार कार्य बडे पैमाने पर किया जाए। इसलिए इसे छोटे पैमाने के उत्पादन में होने वाली सभी हानियों का सामना करना पडता है और बडे पैमाने की आर्थिक किफायतों (economies) से वंचित रहना पडता है।

५. संयुक्त पूंजी की कम्पनी (Joint-stock Company)—आजकल संयुक्त पूंजी की कम्पनी या ज्वाइंट स्टाक कम्पनी नामक व्यापार-संगठनों का बडा प्रचार है। वास्तव में, अच्छी किस्म का और प्रथम श्रेणी का व्यापार इसी तरह संगठित हो सकता है।

सीमित कम्पनी (Limited Company) का इस प्रकार संगठन किया जाता है। योजना बनानेवाला उद्यमी (entrepreneur) कम से कम छ अन्य व्यक्तियों का सहयोग प्राप्त करना चाहता है, चूंकि कम्पनी बनाने के लिए कम से कम संख्या ■ होती है। वे मिलकर कम्पनी बनाने के लिए कदम उठाते

है। वे संस्था के ज्ञापन (Memorandum of Association) का प्रारूप या ड्राफ्ट (draft) तैयार करते हैं जिसमें कम्पनी का नाम लिखा होता है। इसके अलावा इसमें मुख्य कार्यालय (Head office) प्रयोजन और उद्देश्य (aims and objects), शेयर पूंजी की राशि, शेयरों की किस्म और मूल्य (value) दिया होता है और अन्त में यह स्पष्ट किया जाता है कि दायित्व परिमित है (liability is limited)। संस्था के अनुच्छेदों (Articles of Association) के अनुसार कम्पनी के नियमों और विनियमों (Rules and Regulations) का प्रारूप (draft) भी तैयार किया जाता है। इन दोनों दस्तावेजों (documents) को संयुक्त पूंजी कम्पनियों के रजिस्ट्रार के सामने पेश किया जाता है। रजिस्ट्रार सन्तुष्ट हो जाए कि ये (प्रारूप) सभी नियमों और विधि-विधानों की दृष्टि से ठीक हैं तो वह एक प्रमाण पत्र या सर्टिफिकेट (Certificate) दे देता है और कम्पनी का जन्म होता है।

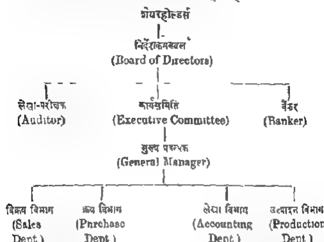
इसके बाद सदस्य शेयर बेचते हैं। शेयर कई तरह के होते हैं, जैसे—अधिमान (Preference) साधारण (General) और आस्थगित (Deferred)। अधिमान शेयरहोल्डर्स को कम्पनी के मुनाफे में से सबसे पहले अपना भाग लेने का अधिकार होता है। अधिमान शेयर संचित अधिमान शेयर (Cumulative Preference shares) हो सकते हैं, उस दशा में शेयरहोल्डर (Shareholder) को किसी वर्ष मुनाफा न होने पर भी एक निश्चित लाभांश (dividend) मिल जाता है। इनका लाभांश संचित होता है। दूसरी किस्म के शेयर असंचित अधिमान शेयर (non cumulative shares) कहलाते हैं। इस तरह के शेयरहोल्डरों को सिर्फ उसी वर्ष का लाभांश मिल सकता है जिस वर्ष काफी लाभ (profit) हुआ हो। अधिमान शेयरहोल्डरों के बाद साधारण शेयरहोल्डर्स की बारी आती है और उसके बाद में आस्थगित शेयरहोल्डर्स की। ये शेयर आम तौर पर व्यवसाय-संचालकों के पास होते हैं। किन्तु इनकी संख्या बहुत कम होती है। बाकी हिस्सेदारों में बाँट देने के बाद जो लाभ बचता है वह इनमें आपस में बँट जाता है। यह राशि बड़ी मात्रा में भी हो सकती है। मुनाफे का बड़ा भाग अपने लिए बचाने के लिए कम्पनी के संचालक (Promoters) इस तरीके को अपनाते हैं।

शेयर बेचने के अलावा कम्पनी बॉण्ड (bond) और ऋण-पत्र (debentures) आदि बेचकर भी पैसा जमा करती है। ऋण-पत्र, जैसा कि नाम से जाहिर है, वह दस्तावेज है जिसमें कम्पनी द्वारा लिया गया ऋण दिखाया जाता है। शेयरहोल्डर्स की तरह डिबेंचर होल्डर्स कोई जोखिम उठाने के लिए तैयार नहीं होते। लाभ हो या हानि, उन्हें सूद मिलना ही चाहिए। वे अपनी कम्पनी के साहूकार होते हैं।

इसके पश्चात् शेयरहोल्डर्स अपने नाम पर काम चलाने के लिए निर्देशकों (directors) का चुनाव (election) करते हैं। वार्षिक अधिवेशनों में डायरेक्टरों को शेयरहोल्डरों के सामने अपनी नीति की सफाई देनी होती है। अगर शेयर-होल्डर्स को तसल्ली न हो, तो वे उनके स्थान पर दूसरे निर्देशक भी चुन सकते हैं। निर्देशकमण्डल (board of directors) सिर्फ साधारण नीति बनाता और सारा

मसलों पर विचार-विमर्श करता है। दैनिक कार्य के लिए वेतनप्राप्त सेक्रेटरी, मैनेजर, मैनेजिंग डायरेक्टर या मैनेजिंग एजेंट होते हैं।

कम्पनी के संगठन का ढांचा निम्न प्रकार का होता है—



सार्वजनिक परिमित कम्पनी (Public Limited Company)—संयुक्त पूंजी कम्पनी सार्वजनिक परिमित समवाय का रूप भी धारण कर सकती है। ऐसी कम्पनियों को कुछ विशेष विवरण (statements) और बैलेन्स शीट (balance-sheet) आदि संयुक्त स्टाक कम्पनियों के रजिस्ट्रार के सामने एक निश्चित अरसे के बाद पेश करने होते हैं। प्रोस्पैक्टस (prospectus) के द्वारा ये अपने शेयर पब्लिक (public) में भी बेच सकते हैं। शेयरहोल्डर बनाने की अधिकतम संख्या नियत नहीं होती, कम से कम संख्या ७ होती है। व्यापार तब तक आरम्भ नहीं किया जा सकता जब तक पूंजी की एक न्यूनतम राशि जमा न हो जाए।

निजी परिमित कम्पनी (Private Limited Company)—इसके अधीन रजिस्ट्रार के सामने कोई विशेष विवरणी (Returns) पेश करने की ज़रूरत नहीं होती। परन्तु इस पर कुछ निर्बन्धन (restrictions) या मनाहियां होती हैं। ये कम्पनी प्रोस्पैक्टस जारी नहीं कर सकती। शेयरहोल्डरों की अधिकतम संख्या ५० होती है।

संयुक्त पूंजी-कम्पनी और साझेदारी की तुलना (Comparison between Joint-stock Company and Partnership)—संयुक्त स्टाक कम्पनी के ऊपर के विवरण से हम आसानी से इसकी वे विशेषताएँ देख सकते हैं, जिनके कारण यह साझेदारी से भिन्न है।

(१) इस प्रकार की कम्पनी में शेयरहोल्डरों की संख्या साझेदारों की संख्या से अधिक होती है। इसमें संख्या हजारों तक हो सकती है। कभी-कभी तो वे (शेयरहोल्डर्स) देश के कोने कोने में फैले होते हैं और कभी-कभी सारे संसार में।

लेकिन साझियो की सख्या बहुत कम होती है और उनमे आपसी सम्बन्ध घनिष्ठ और हर वक्त का होता है।

(ii) सयुक्त-स्टाक कम्पनी के वित्तीय साधन (financial resources) बहुत विशाल होते है। किसी भी साझे (partnership) द्वारा इतनी पूँजी जमा नही की जा सकती।

(iii) कम्पनी में दायित्व परिमित (limited) होता है। परन्तु साझे में अपरिमित।

(iv) कम्पनी काल्पनिक (fictitious) किन्तु वैध (legal) व्यक्ति होता है। इसलिए यह दावा कर सकता है और इस पर दावा किया भी जा सकता है। इसके विपरीत साझे में एक साझी दावा कर सकता है या एक साझी पर दावा किया जा सकता है न कि कम्पनी के नाम पर।

(v) लिमिटिड कम्पनी का अस्तित्व कानूनसम्मत होता है। इसका जन्म राज्य (state) के कानूनो के अधीन होता है और यह हर वक्त कानून के मातहत और उसके निरीक्षण में अपना काम करती है। इसके विपरीत साझेदारी आजाद है। वह कानून के पजे में तब फँसती है जब कानून का इसके विरुद्ध उपयोग किया जाता है। साझे में कोई भी वैध-व्यापार किया जा सकता है किन्तु कम्पनी अपने ज्ञापन (memorandum of association) के नियमो के विरुद्ध नही जा सकती जिसमें उसके उद्देश्य तथा कार्य निश्चित होते है।

(vi) कम्पनी का अस्तित्व हमेशा रहता है (A company has a perpetual existence)—किसी शेयरहोल्डर या डायरेक्टर की निवृत्ति (retirement) या मृत्यु के बाद भी कम्पनी को विघटित (dissolve) नही किया जा सकता। जब कि साझेदारी किसी साझी की निवृत्ति, मृत्यु उन्माद या दिवालिए होने की अवस्था में भग हो जाती है।

(vii) कम्पनी में निजी सम्बन्ध का कोई महत्त्व नहीं होता, परन्तु साझेदारी में यही बात सबसे खास होती है। इस बात का प्रमाण इससे मिलता है कि शेयर-होल्डर बिना कम्पनी की मर्जी के शेयर बेच सकता है। परन्तु साझे में कोई साझी बिना दूसरे साझियो की अनुमति के अपने भाग का तबादला नही कर सकता।

(viii) साझे म मालिक स्वय कार्य सचालन करते हैं। परन्तु कम्पनी में शेयरहोल्डर्स जो कम्पनी के मालिक होते है, प्रबन्ध (management) को निर्देशक-मण्डल (*board of directors*) के जिम्मे सौंप देते हैं। *इसलिए स्वामित्व* (ownership) नियन्त्रण (control) से बाहर हो जाता है।

७ सयुक्त-पूँजी-कम्पनी से लाभ (Advantages of Joint stock Organisation)—अब हम सयुक्त पूँजी के सगठन के गुणो को देखेंगे।

(i) बड़े स्तर की किफायतें (Economies of Large-scale)—कम्पनी अपने विस्तृत साधनो (large financial resources) के कारण उत्पादन की भीतरी और बाहरी किफायतो (external and internal economies) को पाने के लिए जितने बड़े पैमाने पर आवश्यक है, उतने बड़े स्तर पर काम करने में समर्थ होती है। जैसे,

आधुनिक यन्त्रो का उपयोग, श्रम विभाजन क्रय और विक्रय मे किफायत, वितरण (distribution), विज्ञापन और प्रशासन (publicity and administration) के ऊपरी खर्चों में कमी, शोध और प्रयोग (research and experiments) इत्यादि मे।

(ii) **परिमित दायित्व (Limited Liability)**—परिमित दायित्व से बड़ा लाभ होता है। शेयर कई किस्म के होते है और हर शेयर का मूल्य (value) थोड़ा होता है। इससे सभी तरह के व्यक्ति धनी या निर्धन, जल्दबाज या सोचने वाले, पूँजी लगाने के लिए आकर्षित होते है। इस तरह एक बड़ी राशि आसानी से जमा हो जाती है जो साझे में सम्भव नही होती क्योंकि उसमे दायित्व अपरिमित होता है।

(iii) **शेयर हस्तान्तरणीय होते हैं (Shares Transferable)**—शेयरहोल्डर जब भी चाहे अपने शेयर बेच सकता है। वह जीवन भर के लिए कम्पनी में नही बँधता जब भी उसे पैसे की जरूरत हो, वह शेयर बेचकर पैसा पा सकता है।

(iv) **मितव्ययी प्रशासन (Economical Administration)**—डायरेक्टरो को वेतन नही दिया जाता, बल्कि बोर्ड की मीटिंग मे उपस्थित होने की फीस दी जाती है। इसलिए कम्पनी को कुशल और अनुभवी व्यक्तियो की राय कम खर्चे पर मिल जाती है। इससे प्रशासन का कार्य सस्ता और कम खर्चीला होता है।

(v) **लोकतन्त्रात्मक (Democratic)**—यदि डायरेक्टरो का काम सन्तोषजनक न हो तो शेयरहोल्डर उन्हें हटा सकते हैं। इसलिए कम्पनी लोकतन्त्रात्मक ढग की होती है। शेयरहोल्डरो की साधारण सभा (general body) की इच्छा (will) सर्वोच्च होती है।

(vi) **स्थायी अस्तित्व (Permanent Existence)**—कम्पनी का अस्तित्व शाश्वत होता है। कितने ही शेयरहोल्डर इससे सम्बन्ध त्याग दें परन्तु कम्पनी का काम चलता रहता है। इसलिए कम्पनी ऐसे काम भी हाथ में ले सकती है जो काफी अर्से के बाद लाभ दें।

(vii) **मितव्ययिता को प्रोत्साहन (Thrift Encouraged)**—थोड़ी आमदनी वाले लोगो को भी इसमे पैसा लगाने की सुविधा होने के कारण लोगों में पैसा बचाने की भावना जोर पकड़ती है और लोग पैसे की बचत करते हैं।

(viii) **कानूनी नियन्त्रण (Legal Control)**—कम्पनी के काम की देख-रेख सरकार करती है। इसे कुछ कानूनी तरीको के मुताबिक चलना पड़ता है जिनका उद्देश्य धोखा धड़ी से बचाव करके जनसाधारण और शेयरहोल्डरो के हितों की रक्षा करना है।

(ix) **खतरा बँट जाता है (Risk Spreads Out)**—इस तरह के काम में निजी जोखिम बँट जाती है। अपना कारोबार प्रलग शुरू करने की बजाय कोई व्यक्ति कितनी ही कम्पनियो के शेयर खरीद सकता है। उसे सारा पैसा एक ही काम मे लगाने की जरूरत नही रहती।

८. **संयुक्त-पूँजी संगठन की हानियाँ (Disadvantages of a Joint-Stock Organisation)**—ऊपर वर्णन किए गए लाभो के विरुद्ध इसमें कुछ

हानियाँ भी होती है। वे इस प्रकार है—

(i) चूँकि दायित्व परिमित होता है इसलिए उद्यम मे जल्दबाजी होना स्वाभाविक है।

(ii) चूँकि शेयर आदि का तबादला किया जा सकता है, इसलिए शेयर-होल्डर कम्पनी के हित का ध्यान नही रखता, और शेयरहोल्डरो की इस उदासीनता के कारण डायरेक्टर ही सर्वेसर्वा बन बैठते है।

(iii) कम्पनी सिर्फ नाममात्र के लिए ही लोकतन्त्रात्मक (Democratic) सिद्धान्त पर चलनेवाली होती है। डायरेक्टर्स पहली बार तो स्वयं ही अपने को चुनते है और इसके बाद वे प्राक्सी (proxy) आदि की तिकड़मो से अपने को हर बार निर्वाचित करा लेते है।

(iv) बेईमान डायरेक्टरो द्वारा शेयरहोल्डरो का शोषण होता है। इस तरह की गड़बड़ और धोखेबाजी तो इसमे मामूली बात है।

(v) साझे मे जो लच और समायोजन की शक्ति (adaptability) पाई जाती है, उसका इसमे सदैव अभाव रहता है। यह एक सुस्त चलने वाले यन्त्र की भाँति होती है। जल्दी निर्णय नही हो पाते। इस तरह का व्यावसायिक संगठन उस व्यापार के लिए अधिक उपयुक्त होता है जिसमे केवल एक सा (routine) काम होता हो

(vi) शेयरहोल्डरो का कम्पनी के नौकरो से कोई सीधा सम्पर्क नही होता। इस अव्यक्तिगत (impersonal) और सहानुभूति रहित व्यवहार का परिणाम यह होता है कि शेयरहोल्डरो के नाम पर कर्मचारियो का शोषण किया जाता है।

६ एकाधिपति संगठन (Monopolistic Organisation)—कभी-कभी संयुक्त स्टाक कम्पनी इतनी बढ जाती है कि यह एकाधिपत्य (monopoly) का रूप धारण कर लेती है और सारी मण्डी इसके प्रभाव या कब्जे मे आ जाती है। कई बार उत्पादक परस्पर स्पर्द्धा खत्म करने के ख्याल से एकाधिपत्य बना लेते है।

एकाधिपत्य क्या होता है (What is Monopoly ?)—एकाधिपत्य का अर्थ स्पर्द्धा (competition) का न होना है। कभी यह पूरी तरह से खत्म हो जाती है और कभी आंशिक (partial) रूप मे, कभी-कभी कोई व्यापारी, अकेला या दूसरो के साथ मिलकर किसी वस्तु विशेष की सप्लाई पर नियन्त्रण (control) पा लेता है। वह कीमत पर असर डालने की हालत मे पहुँच जाता है। तब कहते है कि उसका एकाधिपत्य हो गया है। जब किसी फर्म की स्पर्द्धा करने के लिए कोई मैदान मे नही होता, तब एकाधिपत्य कहलाता है।

१०. एकाधिपत्य की किस्मे (Kinds of Monopolies)—इसके मुख्य रूप ये होते है—

(क) कानूनी एकाधिपत्य (Legal Monopoly)—एकस्व (patent) या कापीराइट (copy right) जैसी चीजो मे एकाधिपत्य का रूप कानूनी होता है। निर्माता अपनी वस्तुओ पर लेबल (label) चिपका देता है और उसे रजिस्टर भी करा लेता है। कोई और उसी नाम से माल नही बेच सकता।

(ख) प्राकृतिक एकाधिपत्य (Natural Monopoly)—किसी विशेष प्रकार के प्राकृतिक साधनों पर नियन्त्रण होने से और किसी वस्तु के संसार के एक भाग में ही पाये जाने के कारण इस प्रकार के एकाधिपत्य का प्रारम्भ होता है। भारत और पाकिस्तान का जूट और अफ्रीका का हीरों के क्षेत्र में एकाधिपत्य है।

(ग) सामाजिक एकाधिपत्य (Social Monopoly)—इस शब्द का प्रयोग *सार्वजनिक उपयोगिता की सेवाओं (public utility services) जैसे गैस बिजली,* रेलवे और ट्राम आदि के लिए होता है। इनकी सामाजिक उपयोगिताओं को ध्यान में रखकर एकाधिपत्य मिलता है। उदाहरण के लिए यह जाहिर है कि अगर दिल्ली और अमृतसर के बीच में दो कम्पनियों की रेलें चलें तो यह हानिकारक होगा।

(घ) स्वेच्छा से निर्मित एकाधिपत्य (Voluntary Monopolies)—इस प्रकार के एकाधिपत्य व्यापारियों द्वारा स्वेच्छा से बनाए जाते हैं। स्पर्द्धा का अन्त करने के ख़याल से वे अपने कारोबारों को मिला लेते हैं जिनमें एकाधिपत्य द्वारा प्राप्त होने वाला लाभ होता है। सन् १९३६ में ए० सी० सी० (Associated Cement Companies) *का निर्माण उस समय स्थापित सीमेण्ट कम्पनियों को मिला (combine) कर हुआ था। अर्थशास्त्र में प्राय इसी प्रकार* [redacted] *एकाधिपत्य का उल्लेख मिलता है* और प्राय इसी से हमारा काम भी पड़ता है। ऐसे एकाधिपत्य गुट (combines) कहलाते हैं इस प्रकार के गुट निम्नलिखित शर्तों पर बनते हैं—

(क) ये कम से कम कीमत निश्चित कर सकते हैं और दूसरी शर्तों को नियमित करते हैं।

(ख) ये सदस्य कम्पनियों की उपज को कम अथवा नियमित कर सकते हैं।

(ग) ये मण्डी को परस्पर सुविधानुसार बाँट सकते हैं।

११ गुटों के विभिन्न रूप (*Different Forms of Combinations*)—पाठकों को निम्नलिखित मुख्य मुख्य गुटों को ध्यान में रखना चाहिए।

(क) ट्रस्ट (Trusts)—इस व्यवस्था के अनुसार सब कम्पनियों का एक में विलयन (merger) हो जाता है। गुट बनाने वाली कम्पनियों का अस्तित्व ख़त्म हो जाता है और एक बिल्कुल नई और नए नाम की कम्पनी बन जाती है।

(ख) कार्टेल (Cartel)—इस व्यवस्था के अनुसार कम्पनियाँ परस्पर *एकत्रित हो जाती हैं, जो फ़र्मे आपस में मिलती हैं और गुट का रूप धारण करती हैं, वे अपना निजी अस्तित्व भी बनाये रखती हैं।* ऊपर के विभाग में बताई गई दो एक शर्तों को मानने का वे आपस में करार कर लेती हैं। परन्तु यह गुट अस्थायी होता है और तब तक चलता है, जब तक प्रत्येक फर्म इस सुविधाजनक मानती है। ट्रस्ट (trust) की भाँति यह व्यवस्था स्थायी नहीं होती।

(ग) होल्डिङ्ग कम्पनी (Holding Company)—जब एक कम्पनी दूसरी कम्पनी के आधे से ज्यादा (majority) शेयर ख़रीद लेती है, *जिससे उस कम्पनी का नियन्त्रण (कन्ट्रोल) उसके हाथ में आ जाए तो उस व्यवस्था को 'होल्डिङ्ग कम्पनी' व्यवस्था कहते हैं।* जिस कम्पनी पर नियन्त्रण होता है उसे सहायक कम्पनी (subsidiary company) कहते हैं। एक 'होल्डिङ्ग कम्पनी' कई

सहायक कम्पनियों की नीति और उत्पादन के नियन्त्रण का भार ले सकती है।

इसके अलावा व्यापारी परस्पर मिलकर छोटे-छोटे मंघ या दूसरे किस्म के गुट्ट बना लेते हैं जिससे उनको माल की काफी कीमतें मिल सकें। कभी-कभी सप्लाई रोककर कृत्रिम कमी (artificial scarcity) भी पैदा कर दी जाती है जिससे अधिक मुनाफा मिल सके।

१२. गुट्ट बनाने के लाभ (Advantages of Combinations)—ये गुट्ट आम तौर पर संयुक्त पूंजी के संगठन होते हैं और अपना व्यापार बहुत बड़े स्तर पर करते हैं। इस तरह उन्हें संगठन और बड़े स्तर पर उत्पादन करने के सभी लाभ प्राप्त हो जाते हैं। उन्हें निम्नलिखित लाभ होते हैं—

(१) उत्पादन का कार्य आधुनिकतम कारखानों में होता है। पुरानी मशीनें हटा दी जाती हैं। इसलिए उत्पादन में कम लागत आती है।

(२) विशिष्ट श्रम (specialized labour), बड़े स्तर पर क्रय विक्रय, किराये में कमी और ऊपर से होनेवाले खर्चों में कमी, आदि बातों का भी लाभ होता है।

(३) विज्ञापन पर अधिक पैसा खर्च करने की जरूरत नहीं होती चूंकि स्पर्द्धा (competition) समाप्त हो जाती है।

(४) चूंकि उत्पादन बड़े स्तर पर होता है, इसलिए माल की नियमित सप्लाई निश्चित हो जाती है।

(५) शोध और प्रयोग (research and experiments) आदि पर भी काफी पैसा खर्च किया जा सकता है।

(६) वे उप-वस्तुओं (by-products) आदि का भी व्यापारिक उपयोग कर सकते हैं।

(७) मण्डी के हालात के अनुसार माल की किस्म को बदला जा सकता है।

(८) विपत्ति का सामना करने के साधन भी गुट्टों के पास अधिक होते हैं।

(९) सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से अहितकर और विनाशकारी स्पर्द्धा प्रायः समाप्त हो जाती है।

१३. गुटबन्दी के दोष (Evils of Combinations)—एकाधिपति गुट्टों (monopolistic combinations) को बनाने में निम्नलिखित दोष होते—

(१) उद्योग बहुत बड़ा और सभालने के लिए कठिन हो जाता है।

(२) स्पर्द्धा का अन्त होने से उत्पादक लापरवाह हो जाते हैं और अपने माल की किस्म को सुधारने की चिन्ता नहीं करते।

(३) विरोधियों (rivals) को कुचल दिया जाता है। उन्हें खत्म करने और भगाने के लिए अनुचित तरीके अपनाए जाते हैं।

(४) उस क्षेत्र-विशेष में नये उद्यमियों को प्रवेश नहीं करने दिया जाता।

(५) मालिक पुरानी के स्थान पर नई मशीन लगाने के लिए तैयार नहीं होते।

(६) कुछ ग्राहकों को बाकियों के मुकाबले में विशेष सुविधाएँ प्रदान की जाती हैं।

(७) ग्राहकों से ऊँची कीमतें वसूल की जाती हैं।

(८) उत्पादन के साधनों (जैसे श्रम) को कम वेतन दिए जाते हैं, क्योंकि उस क्षेत्र में उन्हीं का निरंकुश प्रभाव होता है।

(९) भ्रष्टाचार और घूसखोरी का भी डर बना रहता है। विधान-सभा के सदस्यों (legislators) को घूस आदि देकर कानूनों को अपने पक्ष में बनवाया या उनमें सुधार कराया जा सकता है।

(१०) इनमें (गुट्टों में) पूँजी जरूरत से ज्यादा लगी होती है। इस पूँजी के मुकाबले में ठोस सम्पत्ति (tangible assets) कम होती है।

१४ एकाधिपत्य बनाम स्पर्द्धा (Monopoly *versus* Competition)—हम एकाधिपत्य के गुण-दोषों पर विचार कर चुके। एकाधिपत्य *स्पर्द्धा का उल्टा है।* दोनों में से कौन अच्छा है, इस बात का निर्णय करने के लिए स्पर्द्धा के गुण-दोषों को समझ लेना भी जरूरी है।

स्पर्द्धा के गुण (Merits of Competition)—(१) उत्पादक सदैव सचेत रहते हैं। उत्पादन के नए-नए तरीकों का इस्तेमाल होता है। शिल्पिक (technical) उन्नति का मार्ग सदैव खुला रहता है।

(२) स्पर्द्धा के कारण कीमतें गिरने से उपभोक्ता को लाभ होता है।

(३) सस्ते और अच्छे माल की उपज होती है।

(४) विरोधियों के कुचले जाने का डर नहीं होता, कोई दूषित उपाय नहीं बरते जाते और कोई अनधिकार चेष्टा सफल नहीं हो पाती।

(५) बड़े बड़े व्यवसायियों द्वारा विधान सभा के सदस्यों (legislators) को भ्रष्ट किए जाने का डर भी नहीं रहता।

(६) चमत्कार (प्रचार) धन्धे समाप्त हो जाते हैं। उद्योग संघर्ष के इस वातावरण में सिर्फ अच्छे कारोबार ही टिक पाते हैं और इस तरह मण्डी में माल अच्छा आता है।

(७) स्पर्द्धा द्वारा आर्थिक क्षेत्र में भी समायोजन (adjustment) सम्भव होता है। पूँजीवादी अर्थ व्यवस्था (capitalistic economy) स्पर्द्धा द्वारा ही ठीक-ठीक काम कर पाती है। ऐसा मानते हैं कि यदि मजदूरी (wage) कम हो तो मालिकों के बीच होने वाली स्पर्द्धा के कारण वह ठीक हो जाती है। यदि कीमतें *ऊँची हों तो वे स्पर्द्धा के कारण गिरने लगती हैं। यही बात सभी आर्थिक कार्यवाहियों* के क्षेत्र में ठीक उतरती है। सारे आर्थिक सिद्धान्त स्वतन्त्र स्पर्द्धा की मान्यता (assumption) पर आधारित हैं।

स्पर्द्धा के दोष (Demerits of Competition)—

(१) यह बेकार की फिजूलखर्ची है।

(२) विज्ञापन आदि का खर्च समाज पर एक व्यर्थ का बोझ है।

(३) योग्यतम के जीवित रहने (survival of the fittest) का सिद्धान्त मनुष्य को पशुत्व के स्तर तक गिरा देता है। इस जीवन-संघर्ष (struggle for existence) में प्रपन्ची और चालाक आदमी सीधे-सादे और ईमानदार

व्यक्तियों का गला घोटते है। इस संघर्ष में जीतने वाले सामाजिक दृष्टि से अवांछनीय भी हो सकते है।

(४) स्पर्द्धा से अत्यधिक उत्पादन (overproduction) और बेरोजगारी फैलती है।

(५) एक-दूसरे का गला काटनेवाली स्पर्द्धा उद्योग को नुकसान पहुँचाती है और समाज को कोई स्थायी लाभ नहीं पहुँचाती।

निष्कर्ष (Conclusion)—बेरोक स्पर्द्धा के दोष एकाधिपत्य (monopoly) अथवा गुटबन्दी (combination) की ओर ले जाते है। यह बात सब मानते हैं कि स्पर्द्धा आर्थिक दृष्टि से अहितकर है। औद्योगिक जगत् का झुकाव तो अब गुटबन्दी की तरफ है। अब गुटबन्दी बुरी नहीं समझी जाती, क्योंकि उसका नियन्त्रण (कन्ट्रोल) करने की प्रवृत्ति भी आ गई है। इससे होने वाली आर्थिक किफायत से समाज का फायदा होता है। यह याद रखना नितान्त आवश्यक है कि स्पर्द्धा से लाभ उसी समय अधिक होता है जब स्पर्द्धा मुक्त होती है और विक्रेता (sellers) और खरीदार (buyers) दोनो पक्षो की हालत को पूरी तरह से पहिचानते हैं।

१५ सहकारी उद्यम (Co operative Enterprise)—हमने अब तक व्यक्तिगत मिल्कियत (individual proprietorship), साझे (partnership), संयुक्त-पूँजी कम्पनी और एकाधिपत्य संगठन (monopoly organisation) आदि के विभिन्न रूपो और गुण-दोषो का अध्ययन किया है। अब हम उद्योग-संगठन के एक और दूसरे रूप सहकारी उद्यम (Co-operative enterprise) का वर्णन करेंगे। यह दो प्रकार का होता है—(१) उत्पादकों की सहकारिता और (२) उपभोक्ताओं की सहकारिता।

उत्पादकों की सहकारिता (Producers' Co operation)—सहकारिता की इस व्यवस्था मे मजदूर स्वयं अपना स्वामित्व चाहते है। उद्योग उन्ही के द्वारा चलाया जाता है। व्यवस्थापक (manager) और फोरमैन (foreman) आदि वे ही चुनते हैं। ये उनके नौकर होते है। मुनाफा परस्पर बाँट लिया जाता है।

यह योजना बडी आकर्षक है। उसमी से थोडा छूट जाता है और लाभ बजाय कुछ व्यक्तियो की जेबो मे जाने के वास्तविक मजदूरो को मिलता है। इससे अच्छा और क्या हो सकता है? आशा की जाती है कि इससे मजदूर कठिन परिश्रम करेंगे, हड़ताल और तालाबन्दी का प्रश्न ही नही उठेगा। सहयोग, शिक्षा और सदाचार की दृष्टि से भी उपयोगी है। इससे मजदूरो मे बचत की भावना पैदा होती है और वे शोषण से बच जाते है।

परन्तु सहकारी (co operative) उद्यम अव्यावहारिक सिद्ध हुआ है। आम तौर पर यह विफल ही रहा है। सदस्यों को पर्याप्त पूंजी और अच्छे प्रबन्धक मिलना कठिन हो जाता है। मजदूरों मे अनुशासन (discipline) की कमी पाई जाती है। आपस की कलह बढ जाती है। मजदूरो को शक्ति तो मिल जाती है, परन्तु उनमे उत्तरदायित्व की भावना का नितान्त अभाव रहता है।

उपभोक्ताओं की सहकारिता (Consumers' Co-operation)—किसी स्थान विशेष में रहने अथवा किसी एक कारखाने में काम करनेवाले उपभोक्ता मिल जाते हैं। हर एक थोड़ी-थोड़ी पूँजी देता है। इसे इकट्ठा करके आम जरूरियात की चीजों का स्टोर खोल दिया जाता है। इस तरह के स्टोर हमारे देश के विभिन्न कालेजों में खुले हैं। आमतौर से माल बाजार-भाव पर बेचा जाता है और लाभ को शेयरहोल्डरों में बाँट दिया जाता है।

सहकारिता का यह रूप बहुत सफल रहा है। उपभोक्ताओं को अपने स्टोर से बड़ा लगाव होता है और वे अधिकतर माल इसी में लेते हैं। इसमें अधिक पूँजी की भी जरूरत नहीं होती। व्यवस्था सरल और अवैतनिक (honorary) होती है। सरकारी नियन्त्रण और निरीक्षण के कारण सब काम ठीक-ठीक चलता है।

परन्तु ये सहकारी स्टोर अपना काम बढ़ा नहीं सकते, क्योंकि पूँजी का अभाव रहता है। इसके अलावा इनमें कई तरह का माल भी नहीं होता। अवैतनिक कार्यकर्ता मेहनत नहीं करते। कई बार वे अकुशल ही नहीं, बेईमान भी हो जाते हैं।

सहकारिता के दूसरे रूप (Other Forms of Co-operation)—सहकारिता के सिद्धान्त को अनेक रूपों में लागू किया गया है। इसका उपयोग कई प्रकार के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किया जाता है।

गाँवों में प्राथमिक सहकारी उधार-संस्थाएं (Primary Co-operative Credit Societies) बनाई गई हैं। उनका काम गाँववालों को खेतों पर काम में लगाने के लिए उधार रुपया-पैसा देना होता है। इन संस्थाओं का उद्देश्य सिर्फ किसान की पैसे की जरूरत को पूरा करना ही नहीं है, उन्हें बचत और स्वावलम्बन सिखाना भी है। जब इन ग्राम-संस्थाओं को पैसे की जरूरत होती है तो उन्हें जिला या नगरों में स्थापित केन्द्रीय सहकारिता बैंकों से उधार मिल जाता है और इन बैंकों को प्रान्तीय सहकारी बैंकों से।

इन सहकारी उधार संस्थाओं के अलावा गाँव में दूसरे सभी कामों के लिए सहकारी संस्थाएँ भी होती हैं। इनका काम स्कूलों और पुस्तकालयों को चलाना, मच्छर मारना, बीज और ढोर खरीदना, घी और फल बेचना, चकबन्दी करना (consolidation of holdings) आदि अन्य काम करना भी होता है। इस तरह की संस्थाएँ शहरों में भी होती हैं। शहरों में इन संस्थाओं की सदस्यता काफी अधिक होती है और लाभ परस्पर बँट जाता है।

कृषि-प्रधान देश में सहकारिता बड़े काम की चीज है और विशेषकर जहाँ लोग गरीब हों और ग्रामों में रहते हों, सहकारी संस्थाओं द्वारा बचत और स्वावलम्बन का पाठ ग्राम-जीवन में क्रान्ति ला सकता है। सहयोग में बल होता है। सहकारी संस्थाओं के कारण मध्यस्थ, जो तमाम लाभ को हड़प कर जाया करता था अब खत्म होता जा रहा है।

१६. राज्य और नगरपालिका उद्यम (State and Municipal Enter-

prise)—अन्त में हम राज्य या नगरपालिका के उद्यम का वर्णन करेंगे। इसके अधीन सरकार, या म्युनिसिपल कमेटी जैसी स्थानीय संस्था (local body), किसी कोई उद्योग चलाता है। इसके मुख्य काम गैस, बिजली या पानी, रेल या बस चलाना होते हैं। राज्य उद्यम (state enterprise) के निम्नलिखित लाभ होते हैं—

(१) लाभ सरकार के कोष में जाता है और समाज के हित में काम आता है।

(२) माल के खरे होने की गारंटी (guarantee) होती है।

(३) सरकार के पास निधि (fund) काफी होती है और जरूरत पड़ने पर वह ब्याज की सस्ती दर पर उधार भी ले सकती है।

(४) सरकारी सेवाओं की ओर देश के उच्चतम योग्यता-प्राप्त व्यक्ति जाते हैं। इसलिए सरकार अच्छे और सुयोग्य व्यक्ति रख सकती है।

(५) सरकारी उद्यम पर सार्वजनिक नियन्त्रण अधिक हो सकता है।

(६) उद्यम से होने वाले मुनाफे में देर होने पर सरकार अधिक समय तक प्रतीक्षा कर सकती है। निजी उद्यम उन हालतों में नहीं चलाया जा सकता।

(७) उपभोक्ताओं के हित पूरी तौर पर सुरक्षित रहते हैं।

हानियाँ (Disadvantages)—

(१) सरकारी काम में नौकरशाही की भावना बड़ी प्रबल होती है। छोटे-छोटे नौकर भी अपने को अफसर समझने लगते हैं और नागरिकों के मान-सम्मान की उपेक्षा करते हैं।

(२) सरकारी नौकरी में काम की लगन निजी उद्योग में लगे व्यक्ति से कम होती है। सरकारी नौकरी में तरक्की पुराने या नए (promotion by seniority) के हिसाब से होती है।

(३) अनिपुणता (inefficiency) और खर्चीलेपन पर कोई नियन्त्रण नहीं होता। सरकारी कोष बड़ा होता है और खर्चे की पूर्ति के लिए टैक्स बढ़ाए जा सकते हैं।

(४) सरकारी नौकरी का अधिक तबादला सफल उद्यम के लिए हानिकारक होता है।

(५) सरकारी काम में लकीर पीटी जाती है और नवीनता का नितान्त अभाव रहता है।

इस अध्याय की ज्ञातव्य बातें

व्यापार संगठन के विविध रूप (Different Forms of Business Organisation)—

(1) व्यक्तिगत स्वामित्व (Individual Proprietorship)।

(2) साझेदारी (Partnership)।

(3) संयुक्त पूँजी की कम्पनियाँ (Joint-Stock Companies)।

(4) एकाधिपत्य (Monopolies),

(5) सहकारी उद्यम (Co-operative enterprise)।

(6) सरकारी (Government) और नगरपालिका (Municipal) उद्यम।

व्यक्तिगत मल्कियत (Individual Proprietorship)—इसे एक व्यक्ति का कारोबार (one man business) भी कहते हैं। वही पूँजी लगाता है और सारा जोखिम उठाता है।

इसके गुण (Merits)—

(i) कठिन परिश्रम की प्रेरणा।

(ii) अच्छे निरीक्षण से अच्छी किस्म का सस्ता माल पैदा होता है।

(iii) नौकर सन्तुष्ट रहते हैं।

(iv) ऊपर के खर्चे कम होते हैं।

(v) ग्राहकों को सन्तुष्टि रहती है।

(vi) वह अपना मालिक खुद होता है।

(vii) उद्योग शुरू करना और बन्द करना सरल होता है।

इसके दोष (Demerits)—

(i) पैसा कम।

(ii) विशिष्टीकरण के लिए सीमित क्षेत्र।

(iii) कम लाभ।

(iv) बड़े उद्योगों के साथ स्पर्धा होने पर टिकना कठिन हो जाता है।

(v) छोटे उद्योग का मतलब आर्थिक रूप से पिछड़े रहना होता है।

निष्कर्ष—परन्तु फिर भी इस प्रकार का व्यवसाय समाप्त नहीं हो सकता। खेती और फुटकर (retail) के कामों में इसका होना अनिवार्य है। आदमी स्वयं स्वामी होना पसन्द करता है।

साझेदारी (Partnership)—इस प्रकार मिल कर काम करने में दो या दो से अधिक व्यक्ति अपनी पूँजी और गुणों को एक साथ मिला लेते हैं। साझेदारी पत्र (Partnership deed) में उनके अधिकारों और कर्त्तव्यों का उल्लेख होता है। दायित्व (liability) अपरिमित होता है।

परिमित साझेदारी (Limited Partnership)—वह होती है जिसमें साझी अपने दायित्व को सीमित करा लेता है। परन्तु प्रत्येक साझी ऐसा नहीं कर सकता। उनमें से कुछ का दायित्व असीम होना ही चाहिए। सीमित दायित्व वाले साझी का नाम सुप्त साझी (sleeping partner) होता है। वह उस व्यवसाय में सक्रिय (active) भाग नहीं ले सकता।

साझेदारी के गुण (Merits of Partnership)—

(i) व्यक्तिगत उद्यम की अपेक्षा अधिक पूँजी का होना।

(ii) विभिन्न प्रकार की योग्यता की उपलब्धि।

(iii) शक्ति और साहस।

(iv) तुरन्त निर्णय।

(v) ग्राहकों और नौकरों के साथ व्यक्तिगत सम्बन्ध।

साझे के दोष (Demerits of Partnership)—

(i) अपरिमित दायित्व (Unlimited liability)।

(ii) अधिक खर्चे और कम उत्पादन।

(iii) आपसी झगड़े।

(iv) साझेदारी का व्यावसायिक जीवन थोड़ा होता है। साझी के रिटायर होने अथवा दिवाला निकलने (bankruptcy) पर यह समाप्त हो जाती है।

(v) कोई साझी दूसरे की मर्जी के बिना अलग नहीं हो सकता।

(vi) अपर्याप्त पूँजी।

संयुक्त पूँजी कम्पनी (Joint Stock Company)—

सात आदमी मिलकर ज्वाइंट स्टाक कम्पनी को रजिस्टर कराने के लिए अर्जी देते हैं। वे

शेयर बेचते हैं, जो कई प्रकार के होते हैं। जैसे, साधारण, संचित या असंचित अधिमान शेयर (cumulative preference or non cumulative preference shares), आस्थगित शेयर (deferred share) इत्यादि। वे ऋण-पत्र (Debentures) भी बेचते हैं। डायरेक्टर काम चलाते हैं।

सार्वजनिक सीमित कम्पनी (Public Limited Company)—शेयरहोल्डरों की कोई अधिकतम सीमा नहीं होती, कम से कम सात होने चाहिए। कुछ विवरण (statements) को रजिस्ट्रार के सम्मुख पेश करना होता है। जब तक न्यूनतम (minimum) पूँजी जमा न हो जाए, व्यापार शुरू नहीं किया जा सकता।

निजी सीमित कम्पनी (Private Limited Company)—इसमें सदस्यों की संख्या २ से ५० तक हो सकती है। इसको अपनी विवरणी (Returns) रजिस्ट्रार के सम्मुख पेश नहीं करनी होती है। व्यापार आरम्भ करने पर कोई रोक नहीं होती, परन्तु यह कोई प्रॉस्पेक्टस (prospectus) जारी नहीं कर सकती और न ही शेयर खरीदने के लिए किसी को निमन्त्रण दे सकती है।

संयुक्त पूँजी कम्पनी और साझेदारी में भेद (Contrast between Joint Stock Company and Partnership)—

(i) कम्पनी के व्यापार में भाग लेनेवालों की संख्या अधिक होती है।
(ii) कम्पनी में पूँजी अधिक होती है।
(iii) कम्पनी में दायित्व (liability) सीमित होता है, साझेदारी में असीमित।
(iv) शेयरहोल्डरों के अलावा कम्पनी का एक कानूनी अस्तित्व (legal person) होता है। साझियों को छोड़कर साझेदारी का अस्तित्व नहीं होता।
(v) कम्पनी को मैमोरेंडम (memorandum) में दिए उद्देश्यों की पूर्ति करनी होती है। साझेदार वह हर कार्य, जो अवैध (illegal) न हो, कर सकता है।
(vi) कम्पनी का अस्तित्व स्थायी और निरन्तर होता है, साझेदारी थोड़े काल के लिए होती है।
(vii) साझी बिना दूसरों की मर्जी के साझेदारी से अलग नहीं हो सकता, शेयरहोल्डर अपनी मर्जी से कभी भी शेयर बेच सकता है।
(viii) साझेदारी की व्यवस्था साझियों द्वारा होती है। कम्पनी की व्यवस्था वैतनिक नौकरों (salaried employees) द्वारा।

संयुक्त-पूँजी संगठन के लाभ (Advantages of Joint-stock Organisation)—

(i) इससे बड़े स्तर की आन्तरिक और बाह्य सभी किफायतें मिल जाती हैं।
(ii) दायित्व (liability) सीमित होने के कारण बड़ी निधि (fund) जमा की जा सकती है। शेयर कई प्रकार के होते हैं और उनकी बदली हो सकती है।
(iii) शेयरहोल्डर सदैव के लिए उनसे नहीं बँधता।
(iv) चूँकि समिति की बैठक के लिए डायरेक्टर थोड़ी फीस लेते हैं इसलिए व्यवस्था पर कम खर्च होता है।
(v) चूँकि डायरेक्टरों को हटाया जा सकता है, इसलिए इसका रूप लोकतन्त्रात्मक (democratic) होता है।
(vi) जिन कामों में देर से लाभ होता है, उनमें भी कम्पनी पैसा लगा सकती है।
(vii) पैसा लगाने के साधन खोलकर कम्पनी पैसे की बचत करना सिखाती है।
(viii) कानूनी नियन्त्रण (legal control) होने से गबन आदि की गुंजायश कम हो जाती है।
(ix) शेयर लेनेवाले अपनी जोखिम को बाँट सकते हैं।

संयुक्त पूँजी कम्पनी की हानियां (Disadvantages of Joint Stock Company)—

(i) दायित्व (liability) सीमित होने के कारण अव्यावहारिक योजनाएँ बना ली जाती है।

(ii) शेयर को बेचा जा सकने के कारण शेयरहोल्डर उदासीन हो जाते है।

(iii) इसका लोकतन्त्रात्मक स्वरूप तो सिर्फ नाम-मात्र का ही है। डायरेक्टरों को हटाना शेयरहोल्डरों के बूते के बाहर की बात है।

(iv) वर्तमान डायरेक्टर शेयरहोल्डरों का शोषण करते है।

(v) कम्पनी में समायोजन (adaptation) का अभाव होता है।

(vi) नौकरों के साथ कोई व्यक्तिगत सम्बन्ध नहीं रहता।

एकाधिपत्य (Monopolies)—स्पर्द्धा का आंशिक या पूर्ण, किसी भी रूप में, अभाव होने का नाम एकाधिपत्य है।

एकाधिपत्य की किस्में (Kinds of Monopolies)—

(क) कानूनी एकाधिपत्य (Legal) जैसे पेटेन्ट और कापीराइट (patent and copy right)।

(ख) प्राकृतिक (Natural) एकाधिपत्य जैसे बंगाल में जूट की पैदा।

(ग) सामाजिक (Social) एकाधिपत्य जैसे गैस, बिजली रेलवे आदि।

(घ) स्वेच्छा से निर्मित (Voluntary) एकाधिपत्य जैसे ट्रस्ट और कर्टेल (trust and cartels)।

गुटबन्दी की रीतियां (Methods of Combinations)—

(i) बिक्री की शर्तें और कीमत निश्चित करना।

(ii) पैदावार को घटाना अथवा नियमित करना।

(iii) मंडियों का विभाजन।

गुटों के विभिन्न प्रकार (Different Forms of Combinations)—

न्यास (Trust)—कुछ फर्मों को पूर्ण रूप से एक में मिलाकर एक नाम के मध में शामिल करने को ट्रस्ट (Trust) कहते हैं।

कर्टेल (Cartel)—विशेष कार्य के लिए करार, किन्तु पूर्ण विलयन नहीं।

छिपाव (Cornet)—सारे उपलब्ध स्टाक पर नियन्त्रण।

रिंग (Ring)—नौवहन कम्पनियों (shipping companies) का गुट।

मध (Pool)—मौजूदा माल को ऊँचे भाव पर बेचने का करार।

होल्डिंग कम्पनी (Holding Company)—जब एक कम्पनी दूसरी कम्पनी के बहु-शेयर खरीदकर उस पर अपना नियन्त्रण जमा लेती है।

गुटों के लाभ (Advantages of Combinations)—

(i) जिस निर्माणशाला में सबसे अच्छे उपकरण हों, उसी में उत्पादन केन्द्रित हो जाता है।

(ii) बड़े स्तर के उत्पादन में किफायतें।

(iii) विज्ञापन आदि से छुट।

(iv) माल की नियमित सप्लाई।

(v) इस कारण शोध और प्रयोग आदि पर पैसा खर्च किया जा सकता है।

(vi) उप-वस्तुओं की उपयोगिता (By-products utilized)।

(vii) मांग के अनुसार पैदावार।

(viii) गुट विदेशियों का मुकाबला कर सकता है।

(ix) स्पर्द्धा आदि से बचा सकता है।

गुटों के दोष (Evils of Combinations)—

(i) व्यापार चक्र और व्यवस्था के लिए कठिन हो जाता है।

(ii) स्पर्द्धा की अनुपस्थिति में उत्पादक सुस्त हो जाते हैं।
(iii) विरोधियों को कुचलने के लिए अनुचित तरीके अपनाये जाते हैं।
(iv) नए उपक्रमी व्यवसाय में प्रवेश नहीं कर सकते।
(v) आविष्कार और शिल्पिक (technical) उन्नति रुक जाती है।
(vi) कुछ ग्राहकों को दूसरों की अपेक्षा अधिक कृपा प्राप्त होती है।
(vii) उपभोक्ताओं का शोषण होता है।
(viii) उत्पादन के साधनों (factors) को कम पारिश्रमिक (remuneration) प्राप्त होता है।
(ix) भ्रष्टाचार का भय।
(x) अधिक-पूँजीकरण (Over Capitalization)।

स्पर्द्धा के गुण (Merits of Competition)—
(i) उत्पादक सचेष्ट रहते हैं, शिल्पिक (technical) उन्नति को बढ़ावा मिलता है।
(ii) चूँकि स्पर्द्धा के कारण कीमतें गिर जाती हैं, इससे उपभोक्ताओं को लाभ होता है।
(iii) विरोधी उत्पादकों द्वारा मण्डी में उत्तम वस्तुएँ आती हैं।
(iv) अनुचित व्यवहार का भय नहीं रहता।
(v) भ्रष्टाचार का भय नहीं रहता।
(vi) दुर्बल व्यवसाय समाप्त हो जाते हैं।
(vii) स्पर्द्धा आर्थिक समायोजन (adjustment) का साधन है।

स्पर्द्धा के दोष (Demerits of Competition)—
(i) यह क्षयकारी है।
(ii) विज्ञापन आदि पर होने वाला खर्च समाज के लिए अहितकर है।
(iii) सामाजिक दृष्टि से योग्यतम के जीवित रहने (survival of the fittest) का सिद्धान्त अवाञ्छनीय है।
(iv) अधिक उत्पादन और मन्दी (depression) की वृत्ति।
(v) बिना समाज के हित के स्पर्द्धा उद्योग के लिए हानिकारक सिद्ध हो सकती है।

सहकारी उद्यम (Co operative Enterprise)—यह दो प्रकार का होता है—
(i) उत्पादकों का सहयोग, और
(ii) उपभोक्ताओं का सहयोग।

उत्पादकों का सहयोग (Producers' Co operation)—
कारखाने के मालिक मजदूर होते हैं। वे ही अपने व्यवस्थापक और मिस्त्री (Foreman) आदि चुनते हैं।

लाभ (Advantages)—
(i) मजदूरों में कठिन परिश्रम का उत्साह बना रहता है।
(ii) हड़ताल और तालाबन्दी की गुंजाइश नहीं रहती।
(iii) शिक्षा देने तथा सदाचार की दृष्टि से हितकर होता है।
(iv) बचत की भावना को बढ़ावा देता है।
(v) मजदूरों का शोषण समाप्त हो जाता है।

इसके दोष (Shortcomings)—
(i) कम पूँजी।
(ii) अनिपुण व्यवस्था।
(iii) अनुशासन (discipline) का अभाव।
(iv) आपसी झगड़े और मनमुटाव।
(v) शक्ति और उत्तरदायित्व अलग अलग व्यक्तियों के हाथ में हो जाते हैं।

उपभोक्ताओं की सहकारिता (consumers' co operative)—इसके अन्तर्गत सहकारी स्टोर अथवा भण्डार संस्थाएँ खोली जाती हैं।

गुण (Its Merits)—

(i) सदस्यों का निश्चित संरक्षण।

(ii) बड़ी पूँजी की ज़रूरत नहीं पड़ती।

(iii) व्यवस्था सरल और अवैतनिक (honorary) होती है।

(iv) कानूनी (legal) नियन्त्रण और निरीक्षण (inspection)।

दोष (Its Shortcomings)—

(i) शक्ति का एक स्थान पर केन्द्रित होना।

(ii) *व्यापार बढ़ाने के लिए पूँजी की कमी।*

(iii) उपभोक्ताओं को कम चीजों में से चुनना पड़ता है।

(iv) अवैतनिक होने के कारण व्यवस्था कार्य-कुशल नहीं रहती।

(v) व्यवस्था में बेईमानी और अनिपुणता की गुंजायश।

सहयोग के दूसरे रूप (Other Forms of Co operation)—

(i) ग्रामों में कृषिकार और उधार संस्थाएँ (Agricultural Credit Societies) और अ ऋण संस्थाएँ (non credit), और

(ii) वैसे ही शहरों में खोलने का आयोजन।

राज्य और नगरपालिका उद्यम (State and Municipal Enterprise)—

इन उद्योगों को सरकार अथवा नगरपालिका शुरू करती है।

लाभ (Advantages)—

(i) लाभ को समाज के हित के लिए व्यय किया जाता है।

(ii) माल खरा (शुद्ध) होने की गारंटी रहती है।

(iii) धन अधिक होता है।

(iv) सरकार को बुद्धिमान व्यक्ति मिल जाते हैं।

(v) सार्वजनिक नियन्त्रण अधिक हो सकता है।

(vi) लाभ के लिए सरकार अधिक समय तक प्रतीक्षा कर सकती है।

(vii) उपभोक्ताओं के हितों की रक्षा होती है।

हानियाँ (*Disadvantages*)—

(i) नौकरशाही (bureaucracy) का दोष रहता है।

(ii) सरकारी नौकरी में अच्छा से अच्छा काम करने की भावना नहीं रहती।

(iii) अनिपुणता और अधिक खर्च पर कोई नियन्त्रण नहीं रहता। सरकार को शेयर-होल्डरों का डर नहीं होता।

(iv) जल्दी जल्दी बदलते सफल व्यापार के लिए हानिकारक होते हैं।

(v) नवीनता का अभाव रहता है, सारा काम एक ही परिपाटी या रूढ़ि पर चलता है।

क्या तुम निम्न प्रश्नों का उत्तर दे सकते हो ?

1 Describe the different types of business enterprises prevailing in India Which type of enterprise is the most prominent in your State ? (गोहाटी १९५३, पंजाब १९५४)

(अध्याय में दिए गए सभी प्रकारों को बताइए)

2 Consider the advantages and disadvantages of the following types of business organisation—

(*a*) Private firm, (*b*) private partnership, (*c*) joint stock company, and (*d*) *co operative producers' society* (दिल्ली, १९५४)

(संक्षेप में प्रत्येक प्रकार के लाभ और हानियों को लगभग एक-एक पैरे में बताए)

3 Name the different forms of business organisation Point out the source of strength and of weakness in a joint-stock company.

(कलकत्ता १६५५)

4 What is partnership ? Distinguish it carefully from a joint-stock company How is a joint stock company formed ?

(दिल्ली १६४६)

देखिए विभाग ३, ५, ६

5 How does a joint stock company raise its capital ? Indicate the advantages of this type of organisation (दिल्ली, १६५५)

6 What is partnership ? Distinguish it clearly from a joint stock company How is a joint stock company formed ? What are the merits and drawbacks of such a form of business organisation ?

(जम्मू कश्मीर १६५५)

7 Describe the various forms of combinations among producers (कलकत्ता विश्वविद्यालय १६२७)

देखिए विभाग ११

8 Briefly mention the advantages and disadvantages of monopolies or combinations

देखिए विभाग १२, १६

9 Discuss the merits and demerits of competition in the economic sphere (कलकत्ता विश्वविद्यालय १६३८)

10 What are the principles of co operative credit ?

(पंजाब विश्वविद्यालय १६४०)

[यह लोकतान्त्रिक है। प्रबन्ध अवैतनिक (honorary) होता है। यह परस्पर सहायता और आत्म निर्भरता के सिद्धान्तों पर आश्रित है। "हर एक सब के लिए और सब हर एक के लिए" (each for all and all for each) कार्य करें, यह इसका आदर्श है। इसका मूल्य इसके नैतिक और शिक्षा सम्बन्धी फायदों के कारण और बढ़ जाता है।]

देखिए विभाग १५

11 Briefly describe the system of co operative production and account for its poor progress

देखिए विभाग १५

12 What do you know about a co operative store ? What are the types of advantages that accrue to its members ? Illustrate your answer from the working of any store that you know

(पंजाब विश्वविद्यालय १६४८)

देखिए विभाग १५

13 Account for the increasing scope of State undertakings, and indicate their advantages and drawbacks

देखिए विभाग १६

उत्पादन के नीयम

(Laws of Production)

लागत और उपज

(Costs and Returns)

१ **प्रवेशिका** (*Introduction*)—उद्योग के विकास के साथ-साथ कई बार श्रम (labour) और पूंजी से प्रति इकाई उपज (return) घट जाती है कई बार बढ जाती है और कई बार समान रहती है। इन तीनों अवस्थाओं के लिए क्रमश उपज के तीन नियम होते हैं—उपज के क्रमश घटने का नियम (The Law of Diminishing Returns) उपज के क्रमश बढ़ने का नियम (The Law of Increasing Returns) और उपज के क्रमश स्थिर रहने का नियम (The Law Constant Returns)। अब हम एक एक करके तीनों पर विचार करेंगे।

२ **घटती हुई उपज का नियम** (The Law of Diminishing Returns)—हर एक किसान अपने अनुभव से इतना जानता है कि यदि ज़मीन के एक हिस्से पर बार-बार खेती की जाय तो क्रमश पैदावार अनुपात में घटती जाती है। यदि हर साल श्रम और पूंजी की इकाई क्रमश बढ़ाई जाए तो भी प्रति इकाई उपज (return) नहीं बढ़ती बल्कि वास्तव में घटती है।

डा० मार्शल ने इस नियम की व्याख्या इस प्रकार की है—

'यदि खेती के तरीकों में साथ साथ उन्नति न हो तो भूमि पर लगाई गई पूंजी और श्रम की मात्रा में वृद्धि होने से कुल उपज में साधारणतया अनुपात से कम वृद्धि होती है। मान लीजिए कि एक किसान एक छोटे से खेत में खेती करता है। वह एक निश्चित मिकदार (मात्रा) में अपने खेत पर कुछ पूंजी और श्रम व्यय करता है जिसको हम खुराक या मात्रा (dose) कहते है।[1] मान लीजिए कि श्रम और पूंजी की प्रत्येक खुराक (मिकदार मात्रा) का मूल्य उसे २५ रुपया पड़ता है तो फी खुराक उसे निम्न प्रकार से उपज वसूल होगी—

---

१ अंग्रेजी के 'unit' शब्द के लिए हम हिन्दी में 'इकाई' शब्द का प्रयोग करते हैं। 'Dose of Labour and Capital' अर्थात् 'श्रम और पूंजी की खुराक' इस वाक्यांश का सर्व प्रथम James Mill ने उपयोग किया था। आर्थिक साहित्य में यह शब्द बहुत प्रचलित हो गया है और एक स्थायी स्थान प्राप्त कर चुका है इसलिए इसे हिन्दी में 'खुराक' ही रखा गया है। खुराक का यहां मतलब इकाई से ही है।

' An increase in the capital and labour applied in the cultivation of land causes *in general* a less than proportionate increase in the amount of the produce raised unless it happens to coincide with an improvement in the art of agriculture "—Dr Marshall

(१) लगाई गई खुराक (Dose Applied)	(२) सीमान्त वसूली मनों में (Marginal Return)	(३) कुल वसूली मनों में (Total Return)
१	१२	१२
२	१०	२२
३	८	३०
४	५	३५
५	५	४०
६		४०
७	–५	३५

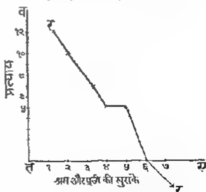
इस यह स्पष्ट है कि जैसे-जैसे अधिक खुराकें (मात्राएँ) लगाई जाती हैं, सीमान्त उपज (marginal return) अर्थात् अतिरिक्त उपज (additional return) घटती जाती है। दूसरी खुराक से १० मन की वृद्धि होती है, तीसरे से ८ मन की, चौथी से ५ मन की, आदि आदि (देखिए कालम २)।

कुल उपज बढ़ती जाती है, किन्तु यह बात ध्यान में समझ लेनी चाहिए कि यह वृद्धि अनुपात में नहीं होती। उदाहरण के लिए २५) रुपये की पहली खुराक दी जाती है तो पैदावार १२ मन होती है और जब दो खुराकें दी जाती हैं, तो कुल उपज २२ मन होती है। यह उपज दुगनी नहीं होती क्योंकि दूसरी खुराक की उपज पहली के बराबर नहीं है। इसलिए वृद्धि अनुपात में कम होती है। तो हम कह सकते हैं कि कुल उपज बढ़ती तो है किन्तु घटती हुई दर पर।

हम यह भी देखते हैं कि कुल उपज भी एक सीमा पर पहुँचकर घटनी शुरू हो जाती है, यद्यपि कुल उपज का घटना बहुत बाद में शुरू होता है। और अगर किसान समझदार हो तो ऐसी अवस्था कभी आएगी ही नहीं। छठी खुराक कुल योग में वृद्धि नहीं करती और ७वीं इसे घटाती है। ऐसा लगता है कि उस अवस्था में इतने अधिक मजदूर या खाद आदि लगाई गई है कि लाभ के स्थान पर उल्टा नुकसान होता है।

उपर्युक्त उदाहरण को रेखाचित्र (diagram) द्वारा इस प्रकार दिखाया जा सकता है—

त ए रेखा के साथ साथ खुराकें दिखाई गई है और त व रेखा के साथ हर खुराक से होने वाली सीमान्त उपज (marginal returns)। जैसे-जैसे ज्यादा खुराकें लगाई जाती है, सीमान्त उपज गिरती जाती है। इसलिए



घटती हुई उपज का रेखाचित्र द्वारा निरूपण
(Diagrammatic Representation of Diminishing Returns)

वक्र (Curve) नीचे की ओर बाएँ से दाएँ गिरता जाता है। ५वीं खुराक पर पहुँचकर सीमान्त उपज स्थिर हो जाती है, छठी पर शून्य (ज़ीरो) और ७वीं पर ऋणात्मक (Negative)।

३ **घटती हुई उपज के नियम की सीमाएँ** (Limitations of the Law of Diminishing Returns)—ऊपर दिए गए डा० मार्शल के नियम में 'साधारणतया' (in general) वाक्यांश बहुत महत्वपूर्ण है। इसका अर्थ यह है कि नियम आम तौर पर लागू होता है न कि हमेशा। निम्न अपवादों (exceptions) को ध्यान से देख लेना चाहिए—

(१) नई ज़मीन पर श्रम और पूंजी लगाने से उन्नति होती जाएगी। इसलिए शुरू के वर्षों में उपज अनुपात से अधिक होगी। (बढ़ती हुई उपज का नियम लागू होगा)

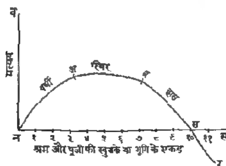
(२) कभी-कभी भूमि पर लगाई गई पूंजी पहले से ही नाकाफी होती है। इसलिए कुछ समय तक पूंजी की अधिक मात्रा लगाने से अनुपात से अधिक उपज होती है।

(३) यदि खेती में वैज्ञानिक साधनों का प्रयोग किया जाए तो भी उपज घटने के स्थान पर बढ़ेगी।

परन्तु ये विरोध (रुकावटें) अस्थायी हैं। आगे चलकर नियम ज़रूर लागू होने लगेगा।

जब विभिन्न समय पर उपज के विभिन्न नियम काम करते हैं तो रेखाचित्र दूसरी तरह का होता है जो आगे दिया गया है।

४ **गहन अथवा विस्तृत उत्पादन की अवस्थाओं में घटती हुई उपज का नियम** (Law of Diminishing Returns in the Intensive and Extensive Forms)—गहन और विस्तृत खेती का अर्थ हम पहले बता चुके हैं। घटती हुई उपज का नियम दोनों अवस्थाओं में लागू होता है। यदि किसी विशेष



(Doses of Capital and Labour of Acres of land)

भूमि-खण्ड पर अधिक श्रम और पूँजी लगाई जाए तो कुछ काल बाद फी खुराक उपज (return per dose) घट जाती है। इसलिए नियम गहन खेती (intensive cultivation) पर लागू होता है।

परन्तु यदि किसान जमीन का विस्तार बढ़ाता जाएगा तो भी उपज घटेगी। इसकी वजह यह है कि नई भूमि पहली की अपेक्षा खराब होगी (वरना पहले उस पर ही खेती की गयी होती), या फिर अगला खेत पहले से दूरी पर होगा, जिससे परिवहन (transport) पर अधिक लागत आएगी और उपज की कीमत बढ़ जाएगी। इस तरह जहाँ विस्तृत खेती (extensive cultivation) होती है वहाँ भी यह नियम लागू होता है।

पिछले पृष्ठ पर दिया गया रेखाचित्र गहन खेती की अवस्था प्रदर्शित करता है। परन्तु वही रेखाचित्र विस्तृत खेती को भी प्रदर्शित कर सकता है, यदि द ए रेखा पर खुराक के स्थान पर एकड़ भूमि मापी जाय।

५ घटती हुई उपज के नियम का प्रयोग (Application of the Law of Diminishing Returns)—हमने घटती हुई उपज के नियम को खेती के बारे में समझा है। परन्तु यह नियम सिर्फ खेती तक ही सीमित नहीं है। यह नियम दूसरे निष्कर्षक उद्योगों (extractive industries), जैसे मछली पकड़ने, खान खोदने और पत्थर निकालने आदि मे भी समान रूप से लागू होता है। निर्माण-क्षेत्र (manufacturing) मे भी यदि उन्हें आदर्श या आप्टीमम बिन्दु (optimum point) से ज्यादा विस्तृत कर दिया तो यह नियम लागू होने लगता है।

कभी-कभी यह कहा जाता है कि जहाँ प्रकृति अपना काम करती है, वहाँ घटती हुई उपज का नियम और जहाँ मनुष्य कुछ कार्य करता है, उतने मे बढ़ती हुई उपज का नियम लागू होता है। दलील यह दी जाती है कि खेती के मामले मे प्रकृति सर्वोच्च है और निर्माण (manufacture) आदि मे मनुष्य। इससे यह परिणाम निकाला जाता है कि खेती के मामले मे इन्सान की सूझ बूझ पर प्रकृति रोक लगा देती है और वह मजबूर रहता है। परन्तु निर्माण के क्षेत्र मे यह व्यापार सगठन मे स्वतन्त्र है और नित नई किफायतें ईजाद कर सकता है, जिन पर प्रकृति का कुत्सित प्रभाव नहीं पड सकता। इसलिए उद्योग मे बढती हुई उपज मिलती है।

मोटे तौर पर यह बात सच है। आम तौर पर घटती उपज का नियम खेती मे और बढ़ती उपज का नियम निर्माण मे लागू होता है। परन्तु घटती उपज के नियम की सीमाओं में हमने देखा कि कुछ परिस्थितियों में खेती में भी बढ़ती उपज का नियम लागू होता है। ठीक इसी प्रकार से निर्माण मे भी बढ़ती उपज का नियम हमेशा लागू नहीं होता। यदि इसे आदर्श (आप्टीमम) बिन्दु से ज्यादा बढ़ा दिया जाए तो उपज बढ़ने की बजाय घटती है।

सच बात तो यह है कि घटती या बढ़ती हुई उपज एक ही नियम के दो रूप है। ये खेती और उद्योग दोनों पर लागू होते हैं। किन्तु विभिन्न स्तरों पर।[1]

1 Correctly speaking increasing and diminishing returns are two aspects of one and the same law They apply both to agriculture and industry, only at different stages

६. घटती हुई उपज का नियम खेती पर क्यों लागू होता है ? (Why the Law of Diminishing Returns operates in Agriculture ?)—इस बात के कई कारण हैं कि घटती हुई उपज का नियम प्रायः खेती में अधिक क्यों लागू होता है। कारण ये है—

(१) खेती प्रायः जलवायु, वर्षा और मौसम आदि जैसे प्राकृतिक साधनों पर आश्रित रहती है। इसलिए इन्सान का अच्छे से अच्छा प्रयत्न भी प्रकृति के विपरीत होने से बिगड़ सकता है।

(२) खेती के कामों में मशीन के उपयोग का क्षेत्र बड़ा सीमित है। इसलिए मशीन आदि से प्राप्त होने वाली किफायतें खेती में नहीं मिल पातीं।

(३) श्रम विभाजन (division of labour) का क्षेत्र भी सीमित होता है। इसलिए श्रम-विभाजन के लाभ भी नहीं मिल पाते।

(४) खेती का काम खेतों पर दूर-दूर तक फैला हुआ होता है और देख-भाल कठिन होती है।

(५) खेतिहर मजदूर साल के कुछ भाग के लिए खाली रहता है। क्योंकि खेती का काम रुक-रुक कर (फसलों के हिसाब से) होता है इसलिए भी लागत बढ़ जाती है।

(६) कुछ समय बाद भूमि की उत्पादन शक्ति कम हो जाती है और उपज कम होती है।

(७) सभी जमीनें समान रूप से उपजाऊ नहीं होतीं। यदि कम उपजाऊ भूमि पर खेती की जाए तो प्रति एकड़ उपज अवश्य ही कम होगी। वर्षा की अनिश्चितता के कारण भारत में और देशों की अपेक्षा कम उपज होती है। खेती के साधन पिछड़े हुए हैं और किसान पूँजी लगाने में असमर्थ हैं। सिंचाई की सुविधाएँ भी थोड़ी हैं।

जब तक इन दोषों को दूर नहीं किया जाता, दूसरे देशों की अपेक्षा भारत में खेती से उपज अपेक्षाकृत कम ही होगी।

७. घटती हुई उपज के नियम का व्यापक रूप (The Law of Diminishing Returns in a General Form)—हमने पिछले विभाग में घटती हुई उपज के नियम को खेती से सम्बन्धित कामों में देखा है। परन्तु यह नियम सिर्फ खेती के लिए नहीं है। विशेष वातावरण में यह उद्योग के क्षेत्र में भी लागू होता है। डा० मार्शल की परिभाषा के अनुसार (देखिए विभाग २) तो यह नियम सिर्फ खेती पर ही लागू होता है। परन्तु आजकल अर्थशास्त्री इस नियम के क्षेत्र को बहुत विस्तृत मानते हैं।

जहाँ भी उत्पादन के किसी मुख्य साधन (essential factor) की सप्लाई सीमित होती है, वहीं पर यह नियम लागू होने लगता है। यदि कोई मुख्य साधन इतना दुर्लभ (scarce) हो, कि या तो उसकी आगे की सप्लाई बिल्कुल बन्द ही हो जाए, या घटिया किस्म ही मिलने लगे तो यह नियम जरूरी तौर पर लागू होगा। हम हर प्रकार के उत्पादन के साधनों की जरूरत पड़ती है। यदि हमें इनमें

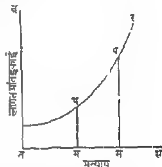
से कुछ मिल सकें और कुछ न मिले तो जिस अनुपात (proportion) में हम इन साधनों को मिलाते (combine) हैं, वह बिगड़ जाता है और उपज घटनी शुरू हो जाती है।

इस नियम को दूसरे शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है—यदि अस्थिर साधनों को किसी एक स्थिर साधन के साथ मिलाया जाए तो बढ़े हुए साधनों से प्राप्त उपज घट जाएगी। बैनहम ने इस नियम की परिभाषा इस प्रकार की है—

"साधनों के योग में एक साधन का अनुपात एक विशेष बिन्दु से जैसे ही बढ़ता है, उस साधन की सीमान्त और औसत उत्पाद घटती है।"[1]

इन परिभाषाओं से स्पष्ट है कि यह नियम सिर्फ खेती में ही नहीं वरन् जहाँ कहीं भी उपर्युक्त अवस्थाएँ पाई जाती हैं लागू होता है।

निम्न रेखाचित्र में घटती हुई उपज अथवा बढ़ती हुई लागत का नियम दिखाया गया है। त प रेखा पर उपज (returns) और त व रेखा पर प्रति इकाई लागत (cost) दिखाई गई है।



जैसे-जैसे उत्पादन बढ़ाये जाते हैं, लागत बढ़ती है। उदाहरण के लिए जब उत्पादन त म होता है तो लागत प म आती है और जब उत्पादन अधिक होता है (अर्थात् त म′) तो लागत प′ म′ हो जाती है।

द अर्थशास्त्र में घटती हुई उपज के नियम का महत्त्व (Importance of the Law of Diminishing Returns in Economic Theory)—यह नियम अर्थशास्त्र के आधारभूत नियमों में से है। अर्थशास्त्र की हर एक बहस की जड़ में यह नियम निहित है।

खास तौर पर माल्थस का जनसंख्या का सिद्धान्त तो इसी पर आश्रित है। खाद्य-पदार्थों की सप्लाई बढ़ती हुई जनसंख्या के साथ इसीलिए मेल नहीं खाती क्योंकि खेती का काम घटती हुई उपज के अधीन होता है।

रिकार्डो का किराए का सिद्धान्त (theory of rent) भी इसी पर आश्रित है। न केवल सिर्फ ज्यादा अच्छी जमीन पर अतिरिक्त उपज होती है, वरन् जमीन को दी गई श्रम और पूँजी की पहली खुराकों से, बाद में दी गई की अपेक्षा, अधिक उपज होती है। यही अतिरिक्त उपज (surplus yield) आर्थिक किराया (economic rent) कहलाता है और यह घटती हुई उपज का नियम लागू होने के कारण है।

1 "If variable factors are combined with a fixed factor, the returns for the factors increased will diminish."

"As the proportion of one factor in a combination of factors is increased *after a point*, the marginal and average product of that factor will diminish."

वितरण का सीमान्त उत्पादन सिद्धान्त (marginal productivity theory of distribution) भी यही मानता है कि उत्पादन के साधन की इकाइयों को बढ़ाने से घटती हुई उपज का नियम लागू होने लगता है।

६ बढ़ती हुई उपज का नियम (The Law of Increasing Returns)—बढ़ती हुई उपज का नियम घटती हुई उपज के नियम का विरोधी है। उद्योग में जहाँ कहीं भी घटती हुई उपज का नियम लागू होता है वहाँ पूंजी और श्रम की प्रत्येक वृद्धि के अनुपात से कम उत्पादन होता है, परन्तु बढ़ती हुई उपज के नियम के अनुसार उत्पादन अनुपात से अधिक होना है।

इस नियम को हम लागत (cost) के रूप में भी रख सकते हैं। बढ़ती हुई उपज का अर्थ होता है प्रति इकाई कम लागत, ठीक इसी प्रकार घटती हुई उपज का अर्थ होता है अधिक लागत। इसलिए बढ़ती हुई उपज का नियम यह बताता है कि बढ़ते हुए उद्योग में प्रति इकाई सीमान्त या अतिरिक्त उपज की लागत गिर जाती है। जैसे-जैसे किसी वस्तु की अधिक इकाई पैदा की जाती है प्रति इकाई कीमत कम होती जाती है।

घटती हुई उपज के नियम को समझाते हुए यह बताया गया था कि उत्पादन के किसी एक या एक से अधिक साधन की कमी या दुर्लभता के कारण यह नियम लागू हो जाता है। जब साधनों को बढ़ाया जाता है तो प्रत्येक साधन को बढ़ाना सम्भव नहीं होता। तब घटती हुई उपज साधनों के मिश्रण में बिगाड़ के कारण उत्पन्न होती है। परन्तु कुछ उद्योग ऐसे हैं जहाँ कोई भी साधन, जिसकी माँग हो, प्राप्त हो जाते है। इसलिए जहाँ साधन प्राप्त हो जाते है वहाँ उनका सतुलन ठीक किया जा सकता है। इसलिए इन मामलों में घटती हुई उपज के स्थान पर बढ़ती हुई उपज का नियम लागू होने लगता है।

बढ़ती हुई उपज का नियम सिर्फ आदर्श (optimum) बिन्दु तक ही काम करता है अर्थात् अधिकतम उपज के बिन्दु तक। जैसे-जैसे व्यापार बढ़ता है और आप्टिमम की ओर चलता है वैसे ही प्रति इकाई उपज बढ़ती जाती है अर्थात् उत्पादन की लागत कम होती जाती है। किन्तु यदि व्यापार को बिन्दु से आगे बढ़ाया जाए तो मुनाफे में गिरावट शुरू हो जाएगी, और घटती उपज का नियम लागू होने लगेगा। बढ़ती हुई उपज के नियम की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है—

"एक बिन्दु तक, जैसे जैसे साधनों के योग में एक साधन का अनुपात बढ़ता है वैसे ही उस साधन का सीमान्त उत्पादन बढ़ जाता है।"[1]

मान लीजिए कि एक होजरी के कारखाने वाला १,००० रुपये की उत्तरोत्तर (successive) खुराकें स्वेटरों के बनाने में लगाता है, तो फल आगे दी हुई तालिका के समान होगा—

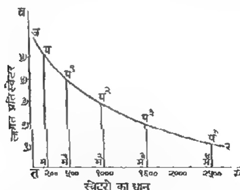
---

1 As the proportion of one factor in a combination of factors is increased, *up to a point, the marginal product of the factor will increase*

१	२	३	४
लगाई गई खुराकें (१,००० रुपये प्रति) (Doses applied) (Rs 1,000 each)	बनियानों या स्वेटर कुल (Total output of Pullovers)	प्रति स्वेटर के हिसाब से उत्पादन की लागत (Cost of Production Per Pullover)	स्वेटर का सीमान्त उत्पादन (Marginal output Pullovers)
		रु० आ० पा०	
१	२००	५ ० ०	२००
२	५००	४ ० ०	३००
३	१,०००	३ ० ०	५००
४	१,६००	२ ० ०	८००
५	२,५००	२ ० ०	९००

उपर्युक्त तालिका से यह स्पष्ट है कि जैसे-जैसे व्यापारी अपने व्यापार को उत्तरोत्तर खुराकों द्वारा (१,००० रुपये प्रति खुराक से) बढ़ाता जाता है वैसे-वैसे कुल पैदावार बढ़ती जाती है (देखिए कालम २), और फी स्वेटर लागत भी घटती जाती है (देखिए कालम ३), और सीमान्त अथवा अतिरिक्त उत्पादन जो प्रत्येक अतिरिक्त १,००० रुपये की खुराक से प्राप्त होता है, बढ़ता जाता है (देखिए कालम ४)।

उपर्युक्त परिणाम को हम रेखाचित्र द्वारा भी समझ सकते हैं। रेखाचित्र में घटती हुई लागत दिखाई गई है जो ऊपर कालम ३ में है। त ए रेखा पर स्वेटरों का



कुछ परिमाण दिखाया गया है, और त व पर प्रति स्वेटर के हिसाब से उत्पादन की लागत, ज र वक्ररेखा लागत दिखाती है। यह जाहिर है कि जैसे-जैसे उत्पादन का स्तर (scale) बढ़ता है, लागत प्रति इकाई गिरती जाती है।

१० बढती हुई उपज का नियम कहाँ लागू होता है और क्यो ? (Where does the Law of Increasing Returns Operate and Why ?)— बढती हुई उपज का नियम निर्माण आदि के कारखानो मे व्यापक रूप से लागू होता है क्योंकि इनमे ही मनुष्य किसी हद तक प्रकृति के कोप और अड़चनो से बचा रहता है। वह आगे बढ सकता है और हर प्रकार की आन्तरिक व बाह्य किफायतो से लाभ उठा सकता है। बड़े स्तर पर होनेवाली किफायतो को हम पहिले ही बता चुके हैं। वे सब बड़े निर्माताओ को प्राप्त होती है। जैसे-जैसे वह स्तर बढ़ाता है उत्पादन आर्थिक दृष्टि से लाभप्रद हो जाता है। यह नियम बड़े निर्माण-उद्योगो (manufacturing industries) में ही क्यो लागू होता है ?

(१) इनमे मशीने लगाने का अवसर अधिक होता है। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि मशीनो को सदैव काम मे लगाया रखा जा सकता है। उन्हे खाली नही रहने दिया जाता। इसलिए प्रति इकाई उत्पादन पर लागत पूँजी (capital costs) कम होती है।

(२) शिक्षित मजदूर को भी काम पर लगाने का अवसर रहता है, जिससे उत्पादन अधिक होता है और लागत घट जाती है।

(३) चूँकि निर्माण-उद्योग साधारणतया बड़े स्तर पर होते हैं, इसीलिए वे सभी आन्तरिक और बाह्य मितव्ययिताओ (internal and external economies) से लाभ उठा सकते हैं, अर्थात् खरीदने और बेचने, प्रशासन (administration), विज्ञापन और बिक्री, शोध और प्रयोग आदि सभी कामो पर किफायत कर लेते है।

(४) निर्माण-कार्य मे खेती आदि जैसे कामो की अपेक्षा मौसम आदि के परिवर्तन का प्रभाव बहुत कम होता है।

(५) चूँकि काम छोटी जगह (बन्द कमरो) मे होता है इसीलिए निरीक्षण आदि सहज और कारगर (effective) होते हैं। कच्चा माल कम खराब जाता है और मशीन आदि भी कम खराब होती है। इसके अलावा विशेष जानकारो की राय और मदद उन्हें आसानी से मिल जाती है।

११. उपज के स्थिर रहने का नियम (The Law of Constant Returns)— उपज के स्थिर रहने का नियम उस समय अपना काम शुरू करता है जब उद्योग का विस्तार करने पर भी प्रति इकाई उपज उतनी ही रहती है। श्रम और पूँजी की प्रत्येक वृद्धि उतनी ही उपज देती है जितनी पहली इकाइयो मे थी। या, दूसरे शब्दो मे कह सकते हैं, उत्पादन का स्तर चाहे जो भी हो, किन्तु उत्पादन की प्रति इकाई लागत समान रहती है (whatever the scale of production the cost of production per unit remains the same)।

यह हम पहले ही बता चुके है कि जब व्यापार आदर्श बिन्दु (optimum point) की ओर चलता है तो बढती हुई उपज प्राप्त होती है और जब आप्टीमम बिन्दु से अधिक की ओर चलता है तो घटती हुई उपज प्राप्त होती है। परन्तु जब आप्टीमम बिन्दु पर पहुँचकर उपज वही बनी रहती है, तो कहा जाता है कि उपज स्थिर है।

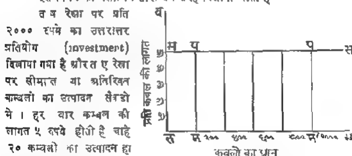
नीचे की तालिका में यह नियम स्पष्ट रूप से दिखाया गया है—

एक कम्बल बनाने वाला १ ००० रुपये की खुराक के हिसाब से अपने कारखाने में लगाता है तो उन्नति इस प्रकार होती है—

१	२	३			४
खुराक (प्रति १,०००रुपये) (Doses) (Rs 1000 each)	कुल कम्बलों का उत्पादन (Total number of blankets produced)	लागत प्रति कम्बल (Cost per blanket)			कम्बलों का सीमान्त उत्पादन (Marginal output of blankets)
		रु०	आ०	पा०	
१	२००	[illegible]	०	०	२००
२	४००	५	०	०	२००
३	६००	५	०	०	२००
४	८००	५	०	०	२००
५	१ ०००	५	०	०	२००

जब वह १,००० रुपये लगाता है तो उत्पादन किए गए कम्बलों की संख्या २०० होती है और जब वह २ ००० रुपये लगाता है तो ४०० कम्बलों का उत्पादन होता है (देखिए कालम २)। उपज समानुपातिक (proportionate) होती है। उत्पादन की प्रति कम्बल लागत वही रहती है अर्थात ५ रुपये। चाहे उत्पादन का स्तर कुछ भी हो (देखिए कालम ३)। सीमान्त उपज स्थिर रहती है अर्थात २०० (देखिए कालम ४)। हर अतिरिक्त १ ००० रुपये लगाने पर २०० कम्बल का उत्पादन होता है।

इस नियम को रेखाचित्र द्वारा इस तरह दिखाया जाता है—



त म रेखा पर प्रति २००० रुपये का उत्तरोत्तर प्रतियोग (investment) दिखाया गया है और त ए रेखा पर सीमान्त या अतिरिक्त कम्बलों का उत्पादन सैकड़ों में। हर बार कम्बल की लागत ५ रुपये होती है चाहे २० कम्बलों का उत्पादन हो या १००० का। यह स म रेखा से दिखाया गया है जो त ए रेखा के समानान्तर (parallel) खिंची हुई है।

स्थिर लागत अथवा स्थिर उपज का नियम
(The Law of Constants Costs or Constant Returns)

१२ स्थिर उपज का नियम किस समय लागू होता है ? (When does the Law of Constant Returns Operate ?)—यह तो हम पहले ही समझा चुके हैं, ऐसे व्यवसाय में जहाँ प्रकृति का प्रभाव मुख्य होता है जैसे खेती में, घटती हुई

उपज का नियम फौरन लागू हो जाता है। परन्तु जहाँ इसान मुख्य होता है, वहाँ बढती हुई उपज का नियम काम करता है। परन्तु जहाँ न प्रकृति और न इसान मुख्य होता है अर्थात् जहाँ दोनों का प्रभाव सन्तुलित (balanced या बराबर) होते है वहाँ न तो घटती और न बढती हुई उपज का नियम लागू होगा। इन दोनो से अलग, वहाँ तीसरा नियम जिसका वर्णन हम अभी कर चुके हैं, स्थिर उपज का नियम (The Law of Constant Returns) लागू होगा।

हम हर एक उद्योग मे इसान और प्रकृति दोनो का ही प्रभाव पाते हैं। प्रकृति कच्चे माल पर नियन्त्रण रखती है और इसान निर्माण-कार्य चलाता है। अब यदि कोई ऐसा उद्योग है जिसमें कच्चे माल और दूसरी लागतो पर आधा-आधा खर्चा आता है तो हम निश्चित रूप से यह कह सकते है कि इसान और प्रकृति दोनो ही का प्रभाव समान है। ऐसे उद्योग मे स्थिर उपज का नियम लागू होगा। इस उद्योग का सबसे साधारण उदाहरण ऊनी कम्बल बुनने का कारखाना है। ऐसे उद्योग में कच्चे माल (ऊन) की लागत और दूसरे कुल खर्च बराबर होते है।

यदि निष्कर्षक और निर्माण-उद्योगो (extractive and manufacturing) मे साम्य (integration) हो, उदाहरण के लिए खांड बनाने और गन्ना बोने मे, इस्पात (steel) बनाने और खान से लोहा निकालने मे, डेरी प्रबन्ध और खेती आदि मे यह स्थिर उपज का नियम लागू होगा। इस तरह उद्योग के दोनो पक्षो का मेल हो जाता है, यानी कृषि (या खान) पक्ष जिस पर घटती हुई उपज का नियम लागू होता है और निर्माण पक्ष जिस पर बढती हुई उपज का नियम लागू होता है। इन दोनों प्रवृत्तियो (tendencies) के लिए यह असम्भव है कि वे आपस मे मिलकर एक दूसरे का प्रभाव खत्म कर दे (counter balance) जिससे स्थिर उपज का नियम लागू होने लगेगा।

इस तरह हम देखते है कि प्रत्येक उद्योग मे दो प्रवृत्तियाँ (tendencies) सदैव काम करती है, यानी घटती हुई उपज और बढती हुई उपज की। जब उत्पादन का स्तर बढ जाता है तो बढती हुई माग के कारण कच्चे माल और दूसरी चीजो की कीमत बढ जाती है। इससे उत्पादन की लागत प्रति इकाई बढने की सम्भावना रहती है यानी घटती हुई उपज के नियम के लागू होने की सम्भावना रहती है। परन्तु साथ ही साथ उत्पादन का स्तर जितना बढा होता है, मशीन श्रम-विभाजन, क्रय विक्रय, शोध और विज्ञापन आदि पर उतनी ही बचत भी होती है। इन किफायतो (economies) की वजह से उत्पादन की लागत प्रति इकाई कम हो जाती है और बढती हुई उपज का नियम काम करने लगता है। जब इन दोनो प्रवृत्तियो का समान सतुलन हो जाता है, अर्थात् यदि एक से दूसरे का प्रभाव खत्म हो जाता है तो स्थिर उपज का नियम लागू होने लगता है।

किन्तु वास्तविक जीवन मे हम देखते है कि या तो घटती हुई उपज का नियम प्रबल (strong) होता है, जैसे खेती या दूसरे निष्कर्षक उद्योगो मे, या बढती हुई उपज का नियम प्रबल होता है जैसे निर्माणकारी उद्योग मे, इसलिए स्थिर उपज का नियम बहुत मुश्किल से पाया जाता है और थोडे ही समय के लिए टिक पाता है।

आपने इस अध्याय से क्या सीखा ?

उत्पादन के नियम (Law of Production)—ये तीन नियम होते हैं।

(i) घटती हुई उपज अथवा बढ़ती हुई लागत के नियम।

(ii) बढ़ती हुई उपज अथवा घटती हुई लागत का नियम।

(iii) स्थिर उपज अथवा स्थिर लागत का नियम।

घटती हुई उपज अथवा बढ़ती हुई लागत का नियम (The Law of Diminishing Returns or Increasing Costs)—"यदि खेती के तरीकों में साथ-साथ उन्नति न हो, तो भूमि पर लगाई गई पूँजी और श्रम की मात्रा में वृद्धि होने से कुल उपज में, साधारणतया अनुपात से कम वृद्धि होती है।"—(मार्शल)।

नियम की कुछ सीमाएँ (Limitations of the Law)—नीचे लिखी अवस्थाओं में यह लागू नहीं होगा—

(क) जहाँ खेती के लिए नई भूमि मिलाई गई हो।

(ख) जब खर्च की गई पूँजी अब तक अपर्याप्त हो, और

(ग) जब खेती में वैज्ञानिक तरीकों का उपयोग किया जा रहा हो।

घटती हुई उपज के नियम के गहन और विस्तृत रूप (Intensive and Extensive Forms of the Law of Diminishing Returns)—

गहन (Intensive)—जब जमीन के एक ही टुकड़े को अच्छी तरह जोता-बोया गया हो।

विस्तृत (Extensive)—जब खराब या दूर की जमीन को जोतने के काम में लाया गया हो।

घटती हुई उपज के नियम का प्रयोग (Application of the Law of Diminishing Returns)—यह नियम सभी प्रकृति से निकालनेवाले (extractive) उद्योगों, जैसे खेती, मछली पकड़ना, खान खोदना, मकान बनाना आदि पर लागू होता है।

क्या यह सच है कि घटती हुई उपज का नियम खेती के कामों में और बढ़ती हुई उपज का नियम निर्माण-उद्योगों पर लागू होता है। यह जरूरी नहीं है साधारण तौर से ऐसा ही होता है, परन्तु दोनों नियम खेती और उद्योग दोनों ही पर लागू हो सकते हैं—

घटती हुई उपज का नियम खेती पर इन कारणों से लागू होता है—

(क) प्राकृतिक शक्तियों के कारण,

(ख) श्रम विभाजन का क्षेत्र और मशीन का उपयोग सीमित होने के कारण,

(ग) निरीक्षण की कठिनाई के कारण (चूँकि क्षेत्र विस्तृत होता है),

(घ) खेती का काम मौसम पर आश्रित होने के कारण,

(ङ) भूमि की उपजाऊ शक्ति के कम हो जाने के कारण, और

(च) खराब जमीन से कम उपज के कारण।

हमारे देश में यह नियम अनिश्चित वर्षा, खेती के दूषित तरीकों और किसान की अज्ञानता के कारण विशेष रूप से लागू होता है।

घटती हुई उपज के नियम का व्यापक रूप (The Law of Diminishing Returns in a General Form)—"जैसे-जैसे साधनों (factors) के योग (combination) में एक साधन का अनुपात एक बिन्दु तक बढ़ता है, वैसे-वैसे साधन का सीमान्त उत्पादन घट जाता है।" (बेनहम)। यह नियम वहीं लागू होता है, जहाँ उत्पादन के किसी विशेष साधन का अभाव या कमी हो, जिसके कारण उनका सन्तुलन बिगड़ जाए।

घटती हुई उपज के नियम का महत्त्व (Importance of the Law of Diminishing Returns)—यह नियम माल्थस के जनसंख्या के, रिकार्डो के किराए (rent) के, और वितरण के सीमान्त उत्पादन सिद्धान्तों का आधार है।

बढ़ती हुई उपज अथवा कम लागत का नियम (The Law of Increasing Returns or Decreasing Cost)—जहाँ उत्पादन के साधनों का अभाव अथवा कमी नहीं होगी, वहाँ बढ़ती हुई उपज का नियम लागू होगा, चूँकि इस दशा में दूषित सन्तुलन के उन साधनों को जिनकी कमी थी, साधनों द्वारा ठीक किया जा सकता है। यह नियम तब लागू होता है, जब व्यापार लगभग आदिमम (optimum) आकार का होता है। इस नियम की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है—

"जैसे जैसे एक साधन का अनुपात साधनों के योग में एक सीमा तक बढ़ाया जाता है, वैसे-वैसे उस साधन का सीमान्त उत्पादन बढ़ता है।"

बढ़ती हुई उपज का नियम कहाँ लागू होता है और क्यों? (Where does the Law of Increasing Returns operate and why)? यह नियम बड़े स्तर के उत्पादन की किफायतों और मनुष्य द्वारा प्रकृति के दुष्प्रभावों पर विजय पाने की शक्ति के कारण सारे निर्माण धंधों पर लागू होता है।

स्थिर उपज का नियम (The Law of Constant Returns)—यदि व्यापार का आकार आदिमम (optimum) ही बना रहे तो उपज (returns) वैसी ही बनी रहेगी। यह नियम वहाँ भी लागू होगा जहाँ घटती हुई उपज और बढ़ती हुई उपज दोनों की प्रवृत्तियाँ (tendencies) बराबर सन्तुलित होती हैं, जैसे निष्कर्षक और निर्माणकारी धंधों के बराबर बराबर योग (combination) में।

जब स्थिर उपज का नियम लागू होता है, तो उत्पादन का चाहे जो भी स्तर हो, लागत प्रति इकाई वही रहती है।

क्या तुम निम्न प्रश्नों का उत्तर दे सकते हो?

1 *What are the laws of production? Describe the working of* any one of them in the production of at least one main commodity in your province (पंजाब विश्वविद्यालय १९५१)

[उत्पादन के नियमों से हमें उन सिद्धान्तों का पता लगता है जो उद्योग के विस्तार का सञ्चालन करते हैं। उत्पादन के तीन नियम हैं, जैसे घटती हुई उपज का नियम आदि, देखिए विभाग १।

गेहूँ का उत्पादन, जो हमारे राज्य की एक मुख्य उपज है, घटती हुई उपज के नियम से शासित है। कपड़ा उत्पादन बढ़ती हुई उपज से शासित है और कम्बलों का उत्पादन समान उपज के नियम से। अब आगे विभाग २ देखिए।]

2 State and explain the Law of Diminishing Returns Why do diminishing returns occur?

(दिल्ली १९५०, सागर १९५२, जम्मू और कश्मीर १९५३)
देखिए विभाग २, ३ और ६

3 Explain the working of the Diminising Returns with the help of a diagram To what types of production does it apply and why? (राजपूताना विश्वविद्यालय १९५३ दिल्ली, १९५३)
देखिए विभाग २ और ३

4 *State and explain the Law of Diminishing Returns with* its limitations Use diagrams

(अजमेर १९५३, बम्बई १९५३, नागपुर १९५१)
देखिए विभाग २ और ३

Or

Explain and illustrate the Law of Diminishing Returns in production What is the practical importance of this law? (पटना १९५४)

5 Explain, why it is not possible to feed all the people in your State by devoting sufficient labour and capital to the cultivation of one best farm

[यह घटती हुई उपज के नियम लागू होने के कारण है]

देखिए विभाग २

6 'Broadly speaking while the part which Nature plays in production conforms to the Law of Diminishing Returns the part which man plays conforms to the Law of Increasing Returns Discuss

(जम्मू कश्मीर १९५३, कलकत्ता १६३४)

देखिए विभाग ६

7 Discuss the importance of the Law of Diminishing Returns in economic theory

देखिए विभाग ८

8 Enunciate the law of Increasing Returns Does it apply to secondary industries only ? Suppose the production of steel in India obeys this law how will consumers be affected if its production is encouraged ?

(पंजाब विश्वविद्यालय, १६३२)

[नियम के विवरण के लिए देखिए विभाग ६ । इस्पात के बड़े पैमाने पर उत्पादन का मतलब होगा कम लागत । उपभोक्ताओं को फायदा होगा ।]

9 Why is the law of increasing returns supposed to operate in manufactures ? Does it apply to manufactures at all stages ?

[देखिए विभाग १० । यह सभी अवस्थाओं में लागू नहीं होता । यदि उत्पादन का विस्तार उपयुक्त आदिम सीमाओं से अधिक किया जाए तो घटती हुई उपज का नियम लागू होने लगेगा ।]

10 State the Law of Constant Returns and mention the circumstances in which it may possibly operate

देखिए विभाग ११ और १२

पूर्ति

(Supply)

पूर्ति किसी कीमत पर ही होती है

(Supply is at a Price)

१ प्रवेशिका (Introduction)—हम उत्पादन का अध्ययन समाप्त कर रहे है, परन्तु इस सम्बन्ध मे हमारा ज्ञान तब तक पूरा नही होगा जब तक हम सप्लाई के स्वभाव और उसके पीछे की शक्तियो को न समझ लें। उपभोग (Consumption) मे तो सिर्फ मनुष्य की इच्छाओ के स्वभाव और उनकी सतुष्टि का ही अध्ययन होता है। उपभोग माग से और उत्पादन पूर्ति से सम्बन्ध रखता है। इस अध्याय को पढते समय विद्यार्थियो को माग पर लिखा गया अध्याय ६ भी देख लेना चाहिए।

२. पूर्ति का अर्थ (Meaning of Supply)—पूर्ति किसी वस्तु की उन मात्राओ (quantities) को कहते है जिन्हे विक्रेता विभिन्न कीमतो पर बेचने के लिए तत्पर और समर्थ होता है। जाहिर है कि यदि कीमत बढ जाए तो वह ज्यादा बेचना चाहेगा। लेकिन अगर कीमत गिर जाए तो उसे बेचने मे कम रुचि होगी। सप्लाई कीमत के साथ-साथ घटती-बढती रहती है। *जिस तरह कीमत और समय के बिना माँग का उल्लेख नही किया जा सकता ठीक उसी तरह कीमत और समय के बिना पूर्ति का उल्लेख नही किया जा सकता।* पूर्ति हमेशा कीमत पर निर्भर है। हम किसी माल की पूर्ति की परिभाषा इस तरह कर सकते है 'पूर्ति माल की क्रमश मात्राओं की उस तालिका (schedule) को कहते है जिन्हें विक्रेता विभिन्न सम्भव कीमतों पर बेचने को तैयार हों।"

जिस तरह 'माँग' कहने मे पैसा देने की तत्परता और क्षमता आ जाती है, ठीक उसी तरह उपर्युक्त परिभाषा म बेचने के लिए तैयार का अर्थ होता है माल देने की सामर्थ्य और इच्छा।

माँग की भाँति पूर्ति भी व्यक्ति, स्थान और समय से सम्बन्धित है। यह (पूर्ति) *अलग-अलग जगह, समय और व्यक्ति के साथ अलग-अलग होगी।* जब हम कहते है कि अमुक व्यक्ति १९० मन गेहूँ १० रुपये प्रति मन के हिसाब से सप्लाई करने को तैयार है तो इससे हमारा मतलब होता है कि वह व्यक्ति ऐसा कुछ विशेष हालतो मे ही करेगा। इन हालतो मे कुछ भी अन्तर पडने से पूर्ति मे परिवर्तन हो जाएगा।

३ पूर्ति और भण्डार मे भेद (Distinction between Supply and Stock)—कई बार पूर्ति (सप्लाई) और भण्डार (स्टाक) शब्दो मे बडा भ्रम होता है। दोनो को ठीक ठीक समझ लेना बहुत जरूरी है। सप्लाई के लिए स्टाक का होना जरूरी है। स्टाक ही सम्भावित (Potential) सप्लाई है। पूर्ति का अर्थ है एक विशेष

कीमत पर बेचने के लिए पेश किया जाने वाला परिमाण, लेकिन स्टाक का अर्थ वह कुल परिमाण या भण्डार है जो किसी समय में मौजूद है और जिसे अनुकूल हालात में बेचने के लिए दिया जा सकता है। किसी समय मण्डी में गेहूँ के गोदाम भरे हुए हों तो उन्हें स्टाक या भण्डार कहेंगे। अगर कीमत कम है तो माल गोदामों में ही पड़ा रहेगा और बहुत थोड़ा-सा परिमाण बिकने आएगा। गोदामों से निकलकर जितनी मात्रा मण्डी में बिकने आएगी, वह उस विशेष कीमत पर गेहूँ की सप्लाई होगी। मण्डी में कीमतों के उतार-चढ़ाव के साथ-साथ सप्लाई और स्टाक के परिमाण में तबदीली होती रहती है। कीमत बढ़ने पर कुछ स्टाक गोदामों से निकलकर सप्लाई बन जाता है और कीमत गिरने पर कुछ सप्लाई मण्डी से खिंचकर गोदामों के स्टाक में चली जाती है।

४ पूर्ति की अनुसूची (Supply Schedule)—जैसी कि अध्याय ६ के विभाग ३ में दूध की माँग की अनुसूची दिखायी गयी है, वैसी ही दूध की पूर्ति की अनुसूची भी होगी।

कीमत प्रति सेर			बेचने के लिए पेश की जानेवाली
रु०	आ०	पा०	मात्रा
१	०	०	१०
०	१२	०	८
०	१०	०	५
०	८	०	३
०	६	०	२
०	४	०	१
०	२	०	..

उपर्युक्त तालिका से जाहिर है कि जैसे-जैसे दूध की कीमत गिरती जाती है, उसकी सप्लाई या बिक्री भी कम होती जाती है। परन्तु कीमत के बढ़ने के साथ-साथ ग्वाला ज्यादा बेचने को तैयार हो जाता है।

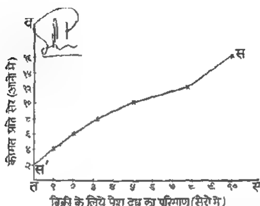
५ पूर्ति वक्र (Supply Curve)—उपर्युक्त अनुसूची को आगे रेखाचित्र के रूप में दिखाया गया है—

त ए रेखा पर दूध की सप्लाई की मात्रा दिखाई गई और कीमतें त व रेखा पर। बाएँ से दाएँ को चलते हुए पूर्ति वक्र स स' ऊपर की ओर जाता है, यानी जैसे-जैसे कीमत बढ़ती है बिक्री के लिए अधिक माल मण्डी में आ जाता है, और जैसे-जैसे कम होती है, इसके उलट होता है।

पूर्ति का नियम (The Law of Supply)—उपर्युक्त पूर्ति वक्र और अनुसूची से जो परिणाम निकलता है वह इस प्रकार है—

"किसी मण्डी में, किसी समय पर, माल की वह मात्रा जिसे बेचने के लिए

लोग तैयार रहते हैं, साधारणतया कीमत के साथ उसी दिशा में (directly) घटती-बढ़ती है।"



बेचने के लिए दी जाने वाली दूध की मात्रा 'सीधे या उसी दिशा में घटती-बढ़ती है' यानी कीमत के बढ़ने पर बिक्री की मात्रा बढ़ जाती है और कीमत के घटने पर घट जाती है। यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि माँग के समय माल की मात्रा में हेर फेर कीमत के मुकाबले में उल्टा होता है, यानी कीमत बढ़ने पर माँग घट जाती है और घटने पर बढ़ जाती है।

पूर्ति के नियम की परिभाषा इस तरह भी हो सकती है—दूसरी बातें यदि समान रहें, तो पदार्थों की कीमत बढ़ने पर उनकी सप्लाई बढ़ जाती है और कीमत गिरने पर सप्लाई घट जाती है।"

पूर्ति का नियम घटती हुई उपज अथवा बढ़ती हुई लागत के नियम पर टिका हुआ है। जब बाज़ार मंदा होता है तो बहुत से व्यापारी और दूकानदार माल बेचना नहीं चाहते चूँकि लागत के मुकाबले में मुनाफा कम होता है। लेकिन कीमतें बढ़ने पर वे मुनाफे पर उत्पादन करने और अधिक बेचने में समर्थ होते हैं। ऊँची कीमतों का मतलब अधिक मुनाफा है। मुनाफे की खातिर अधिक-से-अधिक उत्पादन होता है और कुछ मुनाफा बढ़ जाता है।

पूर्ति के कुछ अपवादात्मक उदाहरण (Some exceptional cases of supply)—(क) नीलाम के समय माल को आखिरी बोली पर छोड़ देते हैं। कभी ऐसा भी हो सकता है कि बेचनेवाले को पैसे की जरूरत है और वह एक निश्चित राशि चाहता है। जैसे ही उसे अपनी जरूरत के लायक पैसा मिल जाएगा, वह बेचना बन्द कर देगा। बोली जितनी ऊँची लगेगी, माल की वह उतनी ही कम मात्रा बेचेगा, क्योंकि उतनी ही कम मात्रा में उसे अपनी जरूरत का पैसा मिल जाएगा। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि मालिक सारा सामान बेचना चाहता है, जैसे विदेश

आदि जानेवाले व्यक्ति। ऐसा व्यक्ति बिना बोली की परवाह किये हुए अपना सारा माल बेच देगा।

(ख) अगर बाजार में बहुत मन्दी आने का डर हो तो भी व्यापारी घटती हुई कीमतों पर बेचते जाते हैं।

परन्तु इन अपवादों से उपर्युक्त पूर्ति का नियम गलत सिद्ध नहीं होता। आम तौर पर नियम ठीक ही ठहरता है।

६ पूर्ति का विस्तार एवं सकुचन और वृद्धि एवं कमी (Extension and Contraction of Supply and Increase and Decrease of Supply)—जैसा माँग के सम्बन्ध में होता है वैसा ही पूर्ति के सम्बन्ध में भी होता है। इसलिए हमें एक ओर विस्तार और सकुचन तथा दूसरी ओर वृद्धि और कमी में भेद करना चाहिए।

विस्तार एवं सकुचन (Extension and Contraction)—जब सिर्फ कीमत चढ़ने और उतरने से ही माल की सप्लाई घट-बढ़ जाती है तो हम विस्तार एवं सकुचन शब्दों का प्रयोग करते हैं। पूर्ति की अनुसूची भी वैसी ही होती है और हम उसी पूर्ति वक्र पर ऊपर-नीचे चलते हैं।

वृद्धि एवं कमी (Increase and Decrease)—यदि, दूसरी ओर, बिक्री के माल की मात्रा में फर्क कीमत में परिवर्तन के कारण नहीं परन्तु पूर्ति की अवस्था में परिवर्तन के कारण हो जाए तो हम कहते हैं कि पूर्ति बढ़ गई या घट गई। पूर्ति में फर्क होने का मतलब है शिल्पिक अवस्थाओं (technical conditions) में परिवर्तन। शायद कोई नई उत्पादन-प्रणाली निकल आई हो, किसी नए कच्चे माल की खोज हो गई हो, किसी दूसरे नई श्रम बचत के उपाय (labour saving device) की खोज हो गई हो या दूसरे साधन और कच्चा माल सस्ता हो गया हो। इन सुधारों के कारण से चाहे कीमत स्थिर रहे या गिरे, निर्माता बेचने के लिए अधिकाधिक माल बाजार में ला सकता है। परन्तु यदि अवस्था प्रतिकूल हो गई हो तो वह उतनी मात्रा भी पुरानी कीमतों पर बेचने के लिए तैयार न होगा।

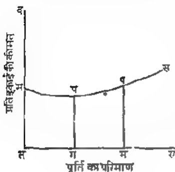
पूर्ति के विस्तार (फैलाव) का मतलब है अधिक माल तेज कीमत पर पेश किया जा रहा है लेकिन पूर्ति की वृद्धि का मतलब है कि या तो अधिक माल उसी कीमत पर पेश किया जा रहा है, या उतना ही माल कम कीमत पर।

पूर्ति का सकुचन (सिकुड़न) और कमी क्रमश पूर्ति के विस्तार तथा वृद्धि के उलटे शब्द हैं।

पूर्ति के सकुचन का मतलब है, कम कीमत पर कम माल दिया जा रहा है, परन्तु पूर्ति की कमी का मतलब है उसी कीमत पर कम मात्रा अथवा वही मात्रा अधिक कीमत पर पेश की जा रही है। इस सिद्धान्त का रेखा चित्र द्वारा निरूपण किया जा सकता है।

रेखाचित्र द्वारा पूर्ति की वृद्धि और कमी का निरूपण (Diagrammatic Representation of Increase and Decrease in Supply)—त व रेखा

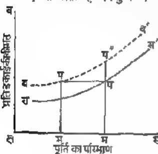
कीमत बताती है और त ए रेखा बिक्री के लिए आनेवाले माल की मात्रा। स स' पुराना पूर्ति वक्र है और ब ब' (बिन्दु वक्र) नया पूर्ति वक्र है। चित्र १ में



चित्र १
विस्तार तथा संकुचन
(Extension and Contraction)

चित्र २
पूर्ति में वृद्धि
(Increase in Supply)

पूर्ति का विस्तार और संकुचन दिखाया गया है। प म कीमत पर त ग राशि बेचने के लिए दी जाती है परन्तु प' म' कीमत पर (जो कि प म से अधिक है) त म' राशि बेचने के लिए दी जाती है। चित्र २ में पूर्ति की वृद्धि दिखाई गई है क्योंकि त म के स्थान पर त म' उसी कीमत पर दिया जाता है (प म' = प' म')। साथ-ही साथ माल की त म मात्रा भी क म कीमत पर दी जाती है अर्थात् ल म, चित्र २ में ल म के स्थान पर, यद्यपि कीमत वही है त म' (यानी कम) पेश किया जाता है (प' म' = प म) वही त म राशि ऊँची कीमत ल म पर दी जाती है। इसका मतलब है सप्लाई की कमी।



चित्र ३
पूर्ति में कमी
(Decrease in Supply)

७ पूर्ति की लोच (Elasticity of Supply)—पूर्ति के नियम के अन्तर्गत पूर्ति कीमत के अनुसार घटती बढ़ती है। अगर कीमत बढ़ जाए तो पूर्ति की मात्रा बढ़ जाएगी, और अगर कीमत घट जाए तो माल की मात्रा घटेगी। पूर्ति का यह गुण, जिसकी वजह से यह कीमत के अनुसार फैलती या सिकुड़ती है, पूर्ति की लोच कहलाता है। यह बताती है कि कीमत के प्रति पूर्ति संवेदनशील (sensitive) या प्रत्यावर्ती (responsive) है।

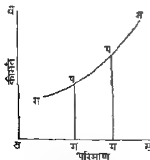
परन्तु पूर्ति कीमत में होने वाले हेर-फेर के साथ एक ही दर (rate) पर

नहीं घटती-बढ़ती। अगर पदार्थ जल्दी सड़ने वाले है, जैसे ताजा दूध, पके फल, तरकारी आदि, तो पूर्ति को रोका नहीं जा सकता और जो भी कीमत मिले उस पर बेचना जरूरी हो जाता है। ऐसी अवस्था में पूर्ति और स्टाक में कोई अन्तर नहीं रहता। दूसरे शब्दों में पूर्ति बेलोच (inelastic) होती है। यानी यह कीमत में होने वाले परिवर्तन से शीघ्र ही प्रभावित नहीं होती। कीमत चाहे घटे लेकिन माल फिर भी बेचना ही होगा।

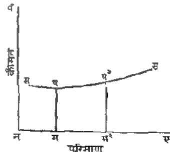
इसी तरह से यदि किसी वस्तु के उत्पादन के लिए बड़ी स्थिर पूँजी (large fixed capital) की जरूरत है, जैसे लोहे-इस्पात, सीमेंट, हवाई जहाज या मोटरकार के कारखानों में, तो इन चीजों की सप्लाई जल्दी घटाई-बढ़ाई नहीं जा सकती, चाहे कीमतें घटें या बढ़ें। ऐसा ही उन पदार्थों के साथ भी होता है, जिन्हें बाजार में भेजने में काफी समय लगता है। उदाहरण के लिए गेहूँ या रुई की पूर्ति दूसरी फसल पर बढ़ाई जा सकती है। इसलिए यहाँ भी पूर्ति और माँग में समायोजन (adjustment) कठिन होता है। ऐसी चीजों की पूर्ति बेलोच कहलाती है।

अगर किसी माल का बड़ा स्टाक है और उसे स्टाक करना आसान है तो मण्डी में होने वाली पूर्ति कीमत के मुताबिक होगी। जब कीमत ऊँची होगी तो पूर्ति बढ़ जाएगी और कीमत कम होगी तो घट जाएगी। ऐसे पदार्थ की पूर्ति लोचदार कहलाती है।

मतलब यह है कि अगर कीमत में थोड़ा-सा अन्तर (वृद्धि या कमी) पूर्ति में बड़ा फर्क लाता है (विस्तार या संकुचन) तो पूर्ति लोचदार कहलाती है, दूसरी ओर यदि कीमत में अधिक परिवर्तन (वृद्धि या कमी) पूर्ति में कम फर्क डालता है (विस्तार या संकुचन) तो पूर्ति बेलोच कहलाती है। यह ध्यान रखने योग्य है कि किसी भी पदार्थ की पूर्ति बेलोच नहीं होती, इसीलिए मार्शल (Marshall) ने इसे अपेक्षाकृत बेलोच (comparatively inelastic) कहा है।



चित्र १
कम लोचदार अथवा बेलोच पूर्ति
(Less Elastic or Inelastic)



चित्र २.
लोचदार पूर्ति
(Elastic Supply)

लोचदार और बेलोच पूर्ति का रेखाचित्र द्वारा निरूपण (Diagrammatic Representation of Elastic and Inelastic Supply)—चित्र १ में बेलोच सप्लाई दिखाई गई है और चित्र २ में लोचदार। कीमत को ग ख पर मापा गया है और माल की मात्रा त ए पर। पहली आकृति में जब कीमत प म से बढ़कर प म' होती है (जो कि काफी मँहगी है) तो (माल की) मात्रा भी त म से बढ़कर त म होती है जो अधिक नहीं है।

चित्र २ में प म से प' म' तक कीमत का बढ़ना ज्यादा नहीं है, लेकिन त म से त म तक पूर्ति की वृद्धि काफी मात्रा में है।

८ **पूर्ति की वृद्धि या कमी क्यों होती है ?** (Why Supply Increases or Decreases)—पूर्ति में परिवर्तन का कारण कीमत में हेर फेर नहीं माना जा सकता क्योंकि जब कीमत में फर्क होने में पूर्ति में परिवर्तन होता है तो इसको विस्तार या सकुचन कहते हैं न कि वृद्धि या कमी। पूर्ति में वृद्धि और कमी का कारण जानने के लिए हमें उन साधनों और कारणों को खोजना पड़ेगा जो सप्लाई की अवस्था में ही परिवर्तन पैदा करते हैं। दूसरे शब्दों में हमें यह मालूम करना चाहिये कि कीमतों में हेर फेर के अलावा (कीमतें वही रहने पर भी) पूर्ति क्यों घटती-बढ़ती है। इसका जवाब उत्पादन की पद्धति में होने वाला परिवर्तन है। निम्नलिखित कारण पूर्ति पर प्रभाव डालते हैं—

(१) प्राकृतिक अवस्थाएँ (Natural Conditions)—यदि वर्षा काफी समय पर और सब तरफ ठीक प्रभाव डाले तो फसल अच्छी होगी। इसके विपरीत सूखा, जलवृष्टि, भूकम्प या दूसरे किसी प्राकृतिक विप्लव आदि का उत्पादन पर स्वभावत प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

(२) टेकनीक (technique) की उन्नति के साथ ही उत्पादन की मात्रा में भी वृद्धि होती है। निर्माण उद्योगों में तो यह बात बहुत ही महत्वपूर्ण है। हो सकता है कि उप वस्तुओं (by-products) के लिए किसी नई मशीन का आविष्कार हो गया हो, किसी नए कच्चे माल का पता लगा हो या उप-वस्तुओं का नया उपयोग निकल आया हो। रासायनिक रंग, कृत्रिम रबड़ और ऊन आदि इसी प्रकार की वस्तुएँ हैं जिनकी इधर खोज हुई है।

(३) उत्पादन के साधनों की कीमत में फर्क होने से पदार्थ की पूर्ति में अन्तर हो जाता है। यदि वे (साधन) सस्ते दामों पर मिलने लगें तो पूर्ति बढ़ जाएगी, और महगे होने पर इसके ठीक विपरीत भी होगा।

(४) परिवहन (transport) के तरीकों में उन्नति होने से भी लागत कम हो जाती है और पूर्ति बढ़ जाती है।

(५) युद्ध अथवा अकाल जैसी आपदाओं से भी माल की पूर्ति पर असर पड़ता है। युद्ध-काल में तो माल की कमी से हम सब भली भाँति परिचित हैं ही। ऐसा ही अकाल के समय भी होता है। मँहगे मोल पर भी काफी पूर्ति नहीं आती।

(६) एकाधिपति (monopolists) भी मनमानी करते हैं और माल की पूर्ति अपनी सहूलियत के मुताबिक घटा-बढ़ा देते हैं।

(७) सरकार की वित्तीय (Fiscal) या कराधान (taxation) नीति का भी प्रभाव पूर्ति पर पड़ता है। किसी वस्तु पर आयात-कर के बढ़ने से उसकी पूर्ति कम हो जाती है, घटने से उत्तेजना पाकर बढ़ जाती है।

९. पूर्ति के पीछे की शक्ति—उत्पादन की लागत (The Force behind Supply—The Cost of Production)—मांग के अध्ययन से हमें यह मालूम हुआ कि उपभोक्ता को पदार्थ द्वारा प्राप्त होने वाली सीमान्त उपयोगिता (marginal utility) ही इसके पीछे की शक्ति है। हर उपभोक्ता जाने या अनजाने मन में किसी वस्तु की कीमत और उससे प्राप्त होने वाली सतुष्टि में तुलना करता है। जब तक उसको सतुष्टि कीमत से ज्यादा होती है वह खरीदता रहता है परन्तु वह उस बिन्दु पर पहुँचकर खरीदना बन्द कर देता है जहाँ सतुष्टि और कीमत समान हो जाती है। यही बिन्दु सीमान्त उपयोगिता का बिन्दु कहलाता है। हम देखते हैं कि कीमत सीमान्त उपयोगिता को मापती है।

इसी तरह पूर्ति की परीक्षा में भी यही मालूम होगा कि किसी पदार्थ की पूर्ति उसके उत्पादन की लागत से प्रभावित होती है। यही शक्ति पूर्ति के पीछे काम करती है। अब हम उत्पादन की लागत (cost of Production) का अध्ययन करेंगे।

उत्पादन की लागत और उत्पादन का व्यय (Cost of Production and Expenses of Production)—साधारण भाषा में 'उत्पादन की लागत' वाक्यांश का अर्थ द्रव्य लागत (money costs) अथवा उत्पादन का खर्चा है। अर्थशास्त्र में 'लागत' का मतलब उस श्रम, प्रयास, त्याग और मेहनत से है जो किसी पदार्थ के उत्पादन में लगता है, परन्तु उत्पादन व्यय से सिर्फ द्रव्य-लागत या द्रव्य-व्यय (money costs or money expenditure) से मतलब है।

१०. उत्पादन की लागत की परीक्षा (Analysis of Cost of Production)—किसी पदार्थ के उत्पादन की लागत में दो किस्म की लागत शामिल है—मुख्य लागत और अनुपूरक लागत (Prime Costs and Supplementary Costs)।

(क) मुख्य लागत (Prime Costs)—मुख्य लागत विशिष्ट (special) अथवा प्रत्यक्ष (direct) लागत होती है। इसमें पदार्थ के निर्माण में उपयुक्त कच्चे माल की द्रव्य-लागत (money costs), मजदूरों की तनख्वाह और मशीन आदि की टूट-फूट (wear and tear) शामिल होती है। उदाहरण के लिए यदि आप किसी बढ़ई से कुर्सी की कीमत पूछें तो वह पहले लकड़ी और बेंत की कीमत और फिर जो समय उसके बनाने में लगा है, उसको सोचेगा।

जाहिर है कि किसी वस्तु की मुख्य लागत उत्पादन की मात्रा के अनुसार बदलती है। अगर ज्यादा कुर्सियां बनाई जाएँ तो बढ़ई की मजदूरी और लकड़ी पर ज्यादा पैसा खर्च होगा। यदि उत्पादन न करे तो एक पैसा न लगेगा। यानी यदि

उत्पादन रुक जाए तो मुख्य लागत खत्म हो जाएगी। इसलिए मुख्य लागत को अस्थिर लागत (variable costs) उत्पादन की मात्रा के साथ बदलनेवाली लागत भी कहते हैं।

(ख) अनुपूरक लागत (Supplementary Costs)—कुर्सी बनाने वाला क्या सिर्फ लकड़ी और मजदूरी के ही दाम मांगेगा ? यद्यपि इन चीज़ों का ध्यान उसको पहले आएगा, परन्तु इसके लिए वह सिर्फ इतने ही पैसे नहीं लेगा, और यदि वह ऐसा करता है तो यह उसकी मूर्खता है। इसके अलावा किराए (rent) का अंश, पूंजी का ब्याज और म्युनिसिपल कर आदि भी वह इसमें जोड़ लेगा। बड़ी कम्पनियां मैनेजर, क्लर्क और चपरासी के वेतन का एक भाग और विज्ञापन आदि का खर्चा भी इसमें जोड़ लेती हैं। इन खर्चों को भी जोड़ लेना जरूरी है। इन्हें अनुपूरक लागत (supplementary costs), चालू व्यय (on costs) या ऊपरी खर्चे (overhead expenses) कहते हैं।

अनुपूरक लागत उत्पादन की मात्रा के साथ नहीं घटती-बढ़ती। उत्पादित माल की मात्रा चाहे जो हो, अधिक या थोड़ी, लेकिन किराया, कर, ब्याज, वेतन आदि का भुगतान करना तो जरूरी है। अगर माल की बिक्री बन्द हो जाय और कारखाना थोड़े दिनों के लिए बन्द भी हो जाए तो भी यह खर्चे तो चलते ही रहेंगे। इसलिए इन्हें स्थिर (fixed) लागत कहते हैं।

आम तौर पर, समय लेकर उत्पादक मुख्य और अनुपूरक दोनों किस्म की लागतों को पूरा कर लेगा। कच्चे माल, मज़दूरी और अनुपूरक लागत के एक अंश से मिलकर जो कुल खर्चा होता है, हर बेची गई वस्तु से मालिक को उतना कुछ तो मिलना चाहिए।

परन्तु असाधारण काल में यदि व्यापार मन्दा (depression) है, या विदेशी प्रतियोगी (competitors) अपने माल को (dump)[1] कर रहे हैं तो ऐसे समय में मुख्य और अनुपूरक दोनों लागतें वसूल नहीं की जा सकतीं। कारखाना बन्द करने की अपेक्षा निर्माता सिर्फ मुख्य लागत पूरी और अनुपूरक लागत के थोड़े से अंश को वसूल करके ही सन्तुष्ट हो जाता है।

११ उत्पादन की सीमान्त लागत (Marginal Cost of Production)—उस अतिरिक्त या सीमान्त उत्पादन की लागत जिसे निर्माता उत्पादन करना ठीक समझता है, सीमान्त लागत कहलाती है। यदि बनियानों का उत्पादक बनियानों का उत्पादन १०० से २०० कर दे और इससे अधिक स्तर बढ़ाना न चाहे तो इस अतिरिक्त १०० बनियानों के उत्पादन को सीमान्त उत्पादन कहेंगे और इस पर आने वाली लागत, उत्पादन की सीमान्त लागत (marginal cost of production) कहलाएगी। निर्माता तब तक उत्पादन करता रहेगा, जब तक उसकी बनियानों की बाजार-कीमत (market price) उत्पादन की लागत से अधिक है। लेकिन जैसे-जैसे वह उत्पादन बढ़ाता जाएगा, इसकी लागत बढ़ती जाएगी और एक बिन्दु पर

१ डम्प (Dump) करने का मतलब होता है मण्डी में बहुत से माल की पूर्ति एकदम भेज देना जिससे कम कीमत पर स्पर्द्धा के प्रतियोगी को हराकर भगा दिया जाए।

पहुँचकर लागत और कीमत समान हो जाएगी। उस बिन्दु पर वह अपना उत्पादन बन्द कर देगा, क्योंकि वह एक ऐसी सीमा पर पहुँच गया है, जहाँ और अधिक उत्पादन से हानि होगी। इस बिन्दु से ठीक पहले बढ़ाई गई उत्पादन की इकाई को सीमान्त कहेंगे और उसकी लागत को सीमान्त लागत। इसलिए सीमान्त लागत का अर्थ होता है सीमान्त उत्पादन की प्रति इकाई लागत, यानी उस उत्पादन की जिसे करना ठीक समझा गया है।

उत्पादन की सीमान्त लागत का अर्थ सीमान्त उत्पादक (marginal producer) की प्रति इकाई लागत भी होता है। अलग-अलग कामों में लगे हुए उत्पादकों की योग्यताएँ भिन्न होती है। निपुणता के अनुसार लागत भी भिन्न होती है। जो उत्पादक सबसे कम निपुण है उसी को सीमान्त उत्पादक कहते है। उसके माल की लागत सबसे अधिक होगी और जिस लागत पर वह अपना माल बाजार में लाता है, वह सीमान्त लागत कहलाती है।

सीमान्त लागत मण्डी की कीमत के बराबर होती है। अगर मण्डी मे कीमत ऊँची होगी, तो कोई दूसरा कम निपुण उत्पादक माल तैयार करना शुरू कर देगा। उसके माल पर लागत ज्यादा आएगी और बाजार की कीमत के बराबर होगी। इस तरह वह सीमान्त उत्पादक बन जाएगा। अगर बाजार में कीमत उसकी लागत से कम होगी तो वह बनाना बन्द कर देगा। इससे पूर्ति कम हो जाएगी और कीमतें बढ़ेंगी, जब तक कि वे (कीमतें) सीमान्त उत्पादक की लागत के बराबर न हो जाएँ।

इसलिए उत्पादन की सीमान्त लागत का अर्थ इनमें से कोई भी हो सकता है—

(१) सीमान्त उत्पादन की प्रति इकाई लागत, अथवा

(२) सीमान्त उत्पादक की प्रति इकाई लागत।

१२ सीमान्त लागत और औसत लागत (Marginal Cost and Average Cost)—सीमान्त लागत और औसत लागत एक ही चीज नहीं है। निम्नलिखित तालिका को देखिए—

बनाए गए बनियानों की संख्या	कुल लागत	सीमान्त लागत प्रति बनियान	औसत लागत प्रति बनियान
	रुपये	रु० आ० पा०	रु० आ० पा०
१००	२००	२ ० ०	२ ० ०
२००	५००	३ ० ०	२ ८ ०

पहले उत्पादन १०० बनियान बनाता है, फिर २०० बनाता है यानी १०० अधिक। उसकी लागत में ३०० रुपये की वृद्धि हुई यानी दूसरे १०० के लिए ३ रुपया प्रति बनियान। सीमान्त लागत ३ रुपये है। परन्तु २०० बनियानों पर वह खर्च ३०० रुपये ही करता है इसलिए औसत लागत २-८-० ही है। औसत लागत निकालने के लिए कुल लागत को चीजों की संख्या से भाग देते है। परन्तु सीमान्त लागत का अर्थ है अतिरिक्त मात्रा के उत्पादन में कुल लागत में हुई वृद्धि।

१३ परस्पर-सम्बन्धित पूर्ति (Inter-connected Supply)—जिस तरह

मांग (demand) के परस्पर सम्बन्धित होने के उदाहरण मिलते है (जैसे संयुक्त मांग और मिश्रित मांग), वैसे परस्पर-सम्बन्धित पूर्ति के उदाहरण भी है, जैसे संयुक्त पूर्ति और मिश्रित या यौगिक पूर्ति।

(क) संयुक्त पूर्ति (Joint Supply)—संयुक्त पूर्ति का मतलब है संयुक्त रूप से उत्पादित या सप्लाई किया गया माल। ऐसे पदार्थो की उत्पत्ति (*origin*) एक स्रोत से होती है और एक ही तरीके से बनाए जाते है। उदाहरण, गेहूं और भूसा, रूई और बिनौला, ऊन और मांस इत्यादि। जब एक को बनाया जाता है तो दूसरा स्वय ही बन जाता है। जैसे गेहूं को निकालने समय भूसा अपने आप अलग होता है। एक को प्रधान उत्पादन (main product) कहते है जैसे गेहूं, और दूसरे को उपोत्पादन (by-product) जैसे भूसा।



संयुक्त पूर्ति

कई बार संयुक्त उत्पादन (joint product) एक निश्चित अनुपात मे ही मिलता है, जैसे रूई और बिनौला। इस अनुपात मे कोई अदल-बदल नहीं हो सकती। कई बार अनुपात मे हेर फेर हो सकता है। उदाहरण के लिए नस्लों को मिलाने (cross breeding) से यह सम्भव पाया गया है कि ऊन या मांस जिसके लिए चाहे भेड़े पालें। एक का परिमाण दूसरे को कम करके बढ़ाया जा सकता है।

(ख) मिश्रित या यौगिक (Composite Supply)—जब कोई पदार्थ अथवा सेवा प्राप्त करने के विभिन्न स्रोत होते है तो उसे मिश्रित या यौगिक पूर्ति कहते हैं, क्योंकि पूर्ति इन स्रोतों से मिलकर बनी है। आपको बिजली गैस, मिट्टी के तेल, मोमबत्ती आदि से रोशनी मिल सकती है इन सब चीजो से रोशनी की पूर्ति (सप्लाई) होती है। इसी का नाम मिश्रित या यौगिक पूर्ति है। जहाँ जहाँ पूर्ति के विकल्प (substitutes) अथवा प्रतियोगी स्रोत है वही पूर्ति (supply) मिश्रित कहलाती है। इन सब मे होड लगती है इसलिए पहले सबसे किफायती (economical) स्रोत को काम मे लाया जाता है। परन्तु दूसरे स्रोत भी साथ-साथ और सहयोग से उसी जरूरत की पूर्ति करते है।



मिश्रित या यौगिक पूर्ति

विद्यार्थियो के लिए इस पाठ की मुख्य ज्ञातव्य बातें

पूर्ति का अर्थ (Meaning of Supply)—पूर्ति का अर्थ उस मात्रा से होता है जो किसी विशेष कीमत और किसी समय पर बेचने के लिए पेश की जाती है।

पूर्ति और भण्डार (Supply and Stock)—भण्डार सम्भावित (potential) सप्लाई है, अर्थात् हालात अनुकूल होने पर जितना सप्लाई किया जा सके। लेकिन पूर्ति (Supply) उस मात्रा को कहते है जो वास्तव में बेचने के लिए पेश की जाती है।

पूर्ति अनुसूची (Supply Schedule) वह तालिका होती है जिसमें माल की वह मात्रा दिखाई जाती है, जो विभिन्न कीमतों पर बेचने के लिए पेश होती है।

पूर्ति का नियम (Law of Supply)—यदि और अवस्थाएं समान रहें, तो जैसे जैसे किसी पदार्थ की कीमत बढ़ती है उसकी पूर्ति विस्तृत हो जाती है और जैसे जैसे कीमत घटती जाती है, पूर्ति संकुचित हो जाती है।

अपवाद (Exceptions)—पूर्ति इन अवस्थाओं में न बढ़ती है न घटती है—

(१) ऐसे नीलाम में जहां बिक्री की सिर्फ एक ही वस्तु हो,

(२) यदि विक्रेता को पैसे की बहुत जरूरत हो, और

(३) यदि कीमतों में और ज्यादा मंदी तेजी का डर हो।

पूर्ति के विस्तार और संकुचन और पूर्ति की वृद्धि अथवा कमी में क्या अन्तर है (Distinguish between Extension and Contraction of Supply on the one hand and Increase or Decrease of Supply on the other)—विस्तार या संकुचन कीमत में अन्तर पर निर्भर करता है, वृद्धि और कमी इस पर निर्भर नहीं करती।

पूर्ति के विस्तार (Extension) का अर्थ है कि अधिक माल ऊंची कीमत पर बेचा जा रहा है। वृद्धि (Increase) का अर्थ है कि अधिक माल उसी कीमत पर अथवा उतनी ही मात्रा कम कीमत पर। संकुचन (contraction) का अर्थ है कीमत गिरने पर कम माल का निकालना। कमी (decrease) का अर्थ है उसी कम कीमत पर पेश होना अथवा उतनी ही मात्रा ऊँची कीमत पर।

पूर्ति की लोच (Elasticity of Supply)—जब पूर्ति कीमत के हेर फेर के प्रति संवेदनशील (sensitive) है तो वह लोचदार (elastic) कहलाती है, परन्तु पूर्ति को तुरन्त जब माँग के साथ समायोजित (adjust) नहीं किया जा सकता तो उसे (पूर्ति को) बेलोच (inelastic) कहते हैं। जल्दी सड़ने वाला माल अथवा जिसके उत्पादन में ज्यादा समय लगता है उसकी सप्लाई बेलोच होती है।

पूर्ति में परिवर्तन के कारण (Causes of changes of Suppy)—

(i) प्राकृतिक कारण जैसे वर्षा, सूखा, बाढ़ आदि।

(ii) औद्योगिक (technical) उन्नति जैसे नये कच्चे माल की खोज, नई पद्धति, नई मशीनें, वर्तमान उत्पादन के नए उपयोग आदि।

(iii) साधनों की कीमतों में परिवर्तन।

(iv) परिवहन (transport) के साधनों में उन्नति।

(v) युद्ध और अकाल आदि।

(vi) एकाधिपतियों (monopolists) मनमाना काम।

(vii) सरकार की वित्तीय तथा करारोपण (fiscal) नीति।

पूर्ति के पीछे की शक्ति (Forces behind Supply)—पूर्ति उत्पादन की लागत द्वारा निश्चित होती है।

उत्पादन के व्यय और उत्पादन की लागत (Expenses of Production and Cost of Production)—व्यय का मतलब है खर्च होने वाला पैसा। उत्पादन की लागत का अर्थ है त्याग, प्रयास, श्रम आदि।

मुख्य लागत और अनुपूरक लागत (Prime Costs and Supplementary Costs)—मुख्य लागत का अर्थ है कच्चे माल और श्रम पर होने वाला वह खर्चा जो किसी पदार्थ को बनाने में होता है। लागत उत्पादन के हिसाब से बदल जाती है।

अनुपूरक लागत (Supplementary Costs)—यानी स्थिर लागत जैसे वेतन, किराया, ब्याज आदि। उत्पादन का स्तर चाहे जो हो, ये खर्चे स्थिर रहते हैं।

आमतौर पर किसी चीज की कीमत में मुख्य और अनुपूरक दोनों लागतें शामिल हैं। परन्तु

बाजार में मंदी (Depression) अथवा डम्पिंग (dumping) हो तो यह नियम काम नहीं करता। ऐसी अवस्था में सिर्फ मुख्य लागत ही वसूल हो पाती है।

उत्पादन की सीमान्त लागत (Marginal Cost of Production)—इसका अर्थ है सीमान्त पैदावार की प्रति इकाई लागत अथवा सीमान्त फर्म (marginal firm) या सामान्य उत्पादक (producer) यानी जिसकी लागत सबसे अधिक होती है उस उत्पादक की प्रति इकाई लागत सीमान्त लागत और औसत लागत (average) में अन्तर होता है।

संयुक्त पूर्ति (Joint Supply)—जब दो वस्तुओं का संयुक्त उत्पादन होता है, तो उनको संयुक्त पूर्ति का नाम दिया जाता है। इन पर खर्चा सांझा होता है जैसे गेहूं और भूसा।

मिश्रित या यौगिक पूर्ति (Composite Supply)—जहां पदार्थ की सप्लाई के कई स्रोत होते हैं। जैसे मिट्टी का तेल, गैस और बिजली आदि से रोशनी की सप्लाई, तो उसे यौगिक पूर्ति कहते हैं।

क्या आप निम्न प्रश्नों के उत्तर दे सकते हैं ?

1 What do you understand by supply ? Account for changes in supply

देखिये विभाग २, ८

2 State the Law of Supply Can you think of any exceptions to the Law ? देखिए विभाग ४

3 What do you understand by an increase in supply ? What is the effect of an increase in supply on price in the short as well as long period ? Illustrate by diagram (जम्मू-कश्मीर, १९५४)

4 Distinguish between extension of supply and increase of supply Illustrate with a diagram देखिये विभाग ६

5 What do you understand by Elasticity of Supply ? Mention five articles the supply of Which is comparatively inelastic

देखिए विभाग ७

[ताजे फल, सब्जी, अंडे, दूध और कला के प्राचीन नमूनों की सप्लाई बेलोच है।]

6 Distinguish between—

(a) Cost of production and expenses of production

(b) Prime costs and supplementary costs

(c) Marginal costs and average costs

(d) Composite supply and joint supply

(e) Stock and supply

(a) देखिए विभाग ९ (b) देखिए विभाग १०, (c) देखिये विभाग १२ (d) देखिए विभाग १३, (e) देखिए विभाग ३।

7 Explain clearly what do you understand by marginal cost of production

देखिए विभाग ४

भाग ४

विनिमय (EXCHANGE)

अध्याय १८

बाज़ार

(Markets)

बाजार का अर्थ मण्डी नहीं है

(Market is Not a Mandi)

१ प्रवेशिका (Introduction)—अर्थशास्त्र के चार विभागो मे से हम उपभोग (Consumption) तथा उत्पादन (Production) का अध्ययन कर चुके है। अब हम तीसरे विभाग अर्थात् विनिमय (Exchange) का अध्ययन करेंगे। हमे जिस चीज की जरूरत होती है, हम खरीदते हैं और जो फालतू होती है, उसे बेचते हैं। क्रय-विक्रय का काम बाजार मे होता है। इसलिए हम पहले बाजार के बारे मे अध्ययन करेंगे और फिर यह तय करेंगे कि कीमतो का निपटारा किस तरह होता है। इसके पश्चात् विनिमय का अध्ययन करेंगे, अर्थात् द्रव्य (money), साख (credit), बैंकिंग (banking) आदि का। इस अध्याय मे तो सिर्फ बाजार के बारे मे ही विचार होगा।

२. बाजार की परिभाषा (What is market ?)—बाजार शब्द की व्याख्या करनी जरूरी है, क्योंकि अर्थशास्त्र मे इसका अर्थ साधारण अर्थ से बहुत भिन्न होता है। आम तौर से 'बाजार' शब्द का अर्थ कोई विशेष क्षेत्र या स्थान होता है, जहाँ खरीदार और बेचनेवाले जमा होते है और सौदे करते हैं। यहाँ या तो माल का भण्डार (स्टाक) होता है या उन्हें सजाकर रखा जाता है। अंग्रेजी भाषा मे प्रयुक्त होने वाले 'मार्केट' शब्द का सही हिन्दी रूप मण्डी है। प्राय हर कस्बे मे मण्डी होती है और बड़े शहरो मे कई मण्डियां होती है। मण्डी के बीचो-बीच एक लम्बा-चौड़ा अहाता होता है और उसके चारो ओर गोदाम और दूकानें होती है। माल को या तो दुकान के सामने चबूतरो (platforms) पर फैलाया जाता है या गोदामों मे भरा जाता है विक्रेता अपना माल पास के गांवो से गाड़ी या छकड़ो मे भरकर मण्डी मे लाते है। खरीदार और उनके दलाल या बिचौलिये भी वहाँ आ जाते हैं। खरीदार और बेचने वालों के सामने ही सारा सौदा तय होता है। साधारण भाषा मे 'मार्केट' शब्द का यही अर्थ होता है।

परन्तु अर्थशास्त्र के अन्तर्गत 'मार्केट' शब्द के अर्थ बिलकुल भिन्न है। हम इसे बाजार कहेंगे। बाजार मे स्थान-विशेष का कोई महत्त्व नही होता। खरीदार और

बेचने वालो को एक जगह जमा होने की कोई जरूरत नही। वे दूर जगहो मे बसने-वाले भी हो सकते है। व्यापार टेलीफोन, तार या डाक किसी तरह से किया जा सकता है। इन अर्थों मे 'गेहूँ के बाजार' (wheat market) को अनाज मण्डी कहना जरूरी नही है, जहाँ पर व्यापारी गेहूँ खरीदने और बेचने के लिए जमा होते है, वरन् बाजार (मार्केट) का अर्थ गेहूँ को बेचने करनेवालो से और खरीदने वालो से होता है चाहे वह कही भी रहें, किन्तु उनमे परस्पर सम्पर्क हो। फ्रास के विख्यात अर्थशास्त्री कुर्नो (Cournot) ने बाजार (मार्केट) की परिभाषा इस तरह की है—

"अर्थशास्त्री बाजार किसी ऐसे स्थान को नहीं मानते जहाँ कि वस्तुओं का क्रय-विक्रय होता है, बल्कि ऐसे सारे प्रदेश को जहाँ पर क्रेताओं और विक्रेताओं का परस्पर बेरोक-टोक आदान-प्रदान (free intercourse) होता है जिससे कीमत सरलता और शीघ्रता से समान (equalise) हो सके।"

उपर्युक्त परिभाषा से मण्डी के बारे म निम्नलिखित महत्वपूर्ण बातें मालूम होती है—

(क) इनके अन्तर्गत एक प्रदेश (region) आता है चाहे जिला, प्रान्त, देश अथवा समस्त ससार ही क्यो न हो, जहाँ के खरीदार और विक्रेता होते है न कि उनके जमा होने का कोई विशेष स्थल।

(ख) इनके बीच मे वाणिज्यिक समागम या सम्पर्क (commercial intercourse) होना जरूरी है, उनको एक दूसरे की जानकारी होनी चाहिए जिससे उन्हे परस्पर बाजार भाव मालूम होता रहे।

(ग) एक वस्तु के लिए एक समय मे एक ही कीमत होनी चाहिए।

३ **बाजारो का विकास (Evolution of Market)**—सभ्यता के आदि-युग मे मानव प्राकृतिक जीवन व्यतीत करता था। वह जगली फल खाता था और तन ढकने के लिए पशुओ की खाल पहनता था। लेन-देन का क्रम आरम्भ नही हुआ था। इच्छाएँ सीमित और सरल थी और वह उनकी पूर्ति स्वय करने मे समर्थ था। काफी दिनो तक मनुष्य इस प्रकार आत्मनिर्भर था और उसके लिए विनिमय की समस्या ही नही थी।

परन्तु फिर ऐसा समय आया, जब उसे अपनी इच्छाओ की पूर्ति के लिए, अपने साथियो की सहायता की जरूरत हुई। कभी-कभी बीमारी के कारण वह खाद्य (food) नही बटोर पाता था परन्तु ऐसे समय के लिए वह खालो और शिकार के हथियार आदि देकर खाद्य-सामग्री प्राप्त कर लेता था। कई बार ऐसा होता था कि दो व्यक्तियों मे से एक शिकार और दूसरा हथियार बनाने मे कुशल होता था। इस तरह के विशिष्टीकरण से दोनों को ही लाभ था। इस तरह विनिमय का आरम्भ यही से हुआ। शुरू-शुरू मे पैसा जैसी कोई चीज न थी और वे परस्पर वस्तुओं का विनिमय करते थे। इस पद्धति का नाम वस्तु विनिमय (barter) है। परन्तु यह बहुत असुविधाजनक थी। क्योकि इस तरह एक दूसरे की जरूरतो का पता न लगता था और न यही पता लगता था कि किसके पास कितना अधिक माल है।

इसके अलावा जीवित पशुओं को बाँटना मुश्किल होता था और खासकर तब, जब बदले में ली जानेवाली चीज कई गुना कीमती हो।

द्रव्य-व्यवस्था (money economy) के आगमन के साथ-साथ ही बाजारों का आधुनिक रूप में विकास आरम्भ हुआ। हम बाजारों के विकास का दो तरीकों से अध्ययन कर सकते हैं भौगोलिक (geographical) और कार्यात्मक (functional)।

(भौगोलिक विकास) (Geographical Evolution)—भौगोलिक दृष्टिकोण से बाजारों के विकास का अध्ययन करते समय हम उस क्षेत्र को ध्यान में रखते हैं, जिसमें खरीदार फैले होते हैं। इस तरह के विकास के चार चरण (stages) हैं—

(क) पारिवारिक बाजार (Family Market)—विनिमय का कार्य सिर्फ परिवार के सदस्यों तक ही सीमित था। हर परिवार स्वयं आत्मनिर्भर था। दूसरे परिवार के सदस्य को विदेशी की दृष्टि से देखा जाता था और उनमें किसी प्रकार का समागम (intercourse) न था।

(ख) स्थानीय बाजार (Local Market)—एक क्षेत्र में रहनेवाले परस्पर क्रय विक्रय करते थे। क्षेत्र चाहे गाँव हो, चाहे कुछ झोंपड़ियाँ, अब विनिमय सिर्फ परिवार के सदस्यों तक ही सीमित न था। उस क्षेत्र के सब आदमी उसमें भाग ले सकते थे। भारी सामान जिस पर अधिक भाड़ा आने की सम्भावना होती है आज भी स्थानीय बाजारों में बेचा जाता है। इसके अलावा नाशवान् (perishable) वस्तुएँ, जैसे मछली, दूध, तरकारी आदि भी स्थानीय मण्डियों में बेची जाती हैं।

(ग) राष्ट्रीय बाजार (National Market)—एक देश में रहनेवाले या एक जाति के सदस्य, पदार्थ के क्रय-विक्रय में भाग लेते हैं। आजकल बाजार देश-व्यापी होता है। कश्मीर के फल बम्बई, कलकत्ता आदि स्थानों पर भेजे जाते हैं।

(घ) विश्व-बाजार (World Market)—विश्व-बाजार में विभिन्न राष्ट्रों के व्यापारी एक दूसरे से व्यावसायिक समागम (commercial intercourse) करते हैं। आस्ट्रेलिया में काश्त किए जानेवाले गेहूँ के कुछ हिस्से की खपत इंगलैण्ड में होती है। भारतीय मैंगेनीज का विदेशों में निर्यात होता है और अंग्रेजी कपड़ा भारत और अफ्रीका में आयात किया जाता है। विश्व-बाजार में सिर्फ अच्छे और टिकाऊ माल की ही खपत होती है।

ऊपर कही बात से यह नहीं समझ लेना चाहिए कि नए दौर में, नए प्रकार का बाजार बनने से पुराने किस्म की मण्डी लुप्त हो जाती है। उदाहरण के लिए राष्ट्रीय बाजार के मुकाबले स्थानीय बाजार समाप्त नहीं हो जाता। सभी तरह के बाजार साथ-साथ चलते हैं। दूध, फल आदि जैसी वस्तुओं के लिए सिर्फ स्थानीय मण्डी ही होती है और रूई, गेहूँ और धातु आदि के लिए विश्व-बाजार। संचार (Communication) और परिवहन (Transport) के साधनों में उन्नति और

शीतागार (Refrigeration) आदि जैसे वैज्ञानिक तरीकों के कारण ही भौगोलिक विकास हुआ है। एक और रेलो द्वारा होशियारपुर के आम दिल्ली में बिकते है। इससे पहले इन आमो की बिक्री आस-पास की मण्डियो मे होती थी। रेलो द्वारा कोयटा के अगूर दूर-दूर तक भेजे जाते है। परिवहन के साधनो ने निसन्देह बाजार के क्षेत्रो का निश्चित विस्तार किया है।

(ब) कार्यात्मक विकास (Functional Evolution)—बाजार के दूसरे प्रकार के विकास का अध्ययन हम उसके कार्यो के द्वारा कर सकते है। इस दृष्टि से हमें विभिन्न चरणो के विकास मे निम्नलिखित रूप से अन्तर करना होगा—

(क) मिश्रित या सामान्य बाजार (Mixed or General Market)—व्यापारी किसी विशेष किस्म का माल नही बेचते। वे सब तरह का सामान रखते है और सभी वस्तुओ के लिए एक मण्डी होती है। इसी का नाम मिश्रित बाजार है। एक ही व्यापारी कई किस्म की वस्तुएँ बेचता है। गाँव का परचूनिया वहाँ के लोगो की जरूरत का सभी सामान बेचता है जैसे कपड़ा, नमक, तेल, माचिस, चीनी आटा आदि।

(ख) विशिष्टीकृत बाजार (Specialized Market)—पहलेवाले बाजार की अपेक्षा यह बाजार और अधिक उन्नत होता है। प्राय व्यापारी एक ही ब्रांड और मार्के की वस्तुएँ बेचते है। जैसे कुछ लोग कलाई की घड़ी ही बेचते है, कुछ बड़ी घड़ियाँ और घंटे, अनाज, रूई सोना या सर्राफा और स्टाक शेयर आदि के अलग अलग बाजार और मण्डियाँ होती है। इस किस्म के थोक बाजारों और मण्डियो मे थोड़ा सामान नही बेचा जाता। सब्जी के बाजार को सब्जीमण्डी और सोने-चाँदी के बाजार को सर्राफा कहते है। फुटकर वस्तुएँ अलग बाजारो मे मिलती हैं।

मण्डियो का कार्यात्मक विकास व्यापार करने के तरीको पर भी निर्भर करता है। ये चरण इस तरह हैं—

(i) निरीक्षण (Inspection)—खरीदने से पहले माल की जाँच की जाती है। कई वस्तुओ मे यह बहुत जरूरी है जैसे मकान या भैंस खरीदते समय।

(ii) नमूने (Sample)—कई बार सारा पदार्थ देखने की बजाय खरीदार सिर्फ नमूना देखकर ही सन्तुष्ट हो जाता है। इसका अर्थ है कि व्यापारियो मे परस्पर ईमानदारी का स्तर ऊँचा है। इस किस्म का व्यापार धोखेबाजी होने पर चौपट हो जाएगा।

(iii) ग्रेड (Grade)—विकास के इस चरण के अनुसार खरीदार नमूने की भी परवाह नही करता। वस्तुओ के ग्रेड और नम्बर बना दिए जाते है। हर वर्ग या ग्रेड की क्वालिटी का उपभोक्ताओ और व्यापारियो को पता होता है जैसे ५६१ न० की गेहूँ, ३७६ न० की मलमल, डी० आई० लाँग क्लाथ आदि। यदि भारतीय व्यापारी इगलैंड के चाबी (key) ब्रांड कपड़े को खरीदने का आर्डर देता है, तो वह इस बात को भली भाँति जानता है कि वह कैसी है। उसे उसके नमूने को देखने की कोई जरूरत नही होती। सिर्फ माल का अपना ग्रेड और चिह्न

आदि लेना जरूरी है। मशीन के विस्तृत उपयोग से निर्दिष्ट स्टैंडर्ड (standard) माल की उपज होती है।

४ बाजार भाव का नियम (Law of Market Price)—बाजार की उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार क्रेताओं और विक्रेताओं में परस्पर मुक्त समागम (free intercourse) होना जरूरी है जिससे कीमतें सरलता और जल्दी से बराबर हो सकें। इसके अनुसार 'बाजार भाव' का अर्थ मण्डी के उस भाव से है जो एक समय में एक वस्तु के लिए समान हो। इस बात के लिए विभिन्न क्वालिटी की चीजों का ग्रेड होना जरूरी है। इस नियम को उदासीनता का सिद्धान्त (Law of Indifference) कहते हैं। जब मण्डी में एक भाव होता है तो खरीदने वाला इस बात की परवाह नहीं करता कि वह किससे खरीदता है और बेचने वाला इस बात की परवाह नहीं करता कि वह किसे बेच रहा है।

५. आदर्श बाजार (A Perfect Market)—जब बाजार भाव का नियम पूरी तरह लागू होता है यानी जब एक वस्तु के लिए एक समय में एकसी कीमत होती है, तो उसे आदर्श बाजार कहते हैं। इस किस्म के बाजार के लिए कुछ शर्तें जरूरी हैं। वे इस प्रकार हैं—

(i) मुक्त स्पर्द्धा (Free Competition)—स्पर्द्धा, परस्पर क्रेताओं में, परस्पर विक्रेताओं में, और क्रेताओं और विक्रेताओं में बिलकुल मुक्त रूप से होनी चाहिये। क्रेताओं या विक्रेताओं में किसी ओर भी एकाधिपति (monopolists) न होने चाहिएँ। एकाधिपति प्रत्येक से अलग कीमत वसूल कर सकता है। केवल मुक्त स्पर्द्धा की हालत में ही सारी मण्डी में समान कीमत का होना सम्भव है।

(ii) परिवहन और सचार के सस्ते और अच्छे साधन (Cheap and efficient means of transport and communication)—यदि माल एक स्थान से दूसरे स्थान पर सस्ते दामों में और तेजी से नहीं भेजा जाए तो बाजार में कीमतों का भाव एक-सा न रहेगा। इसी प्रकार तार, टेलीफोन आदि के बिना भी बाजार के विभिन्न क्षेत्रों (sectors) में कीमतें भिन्न होंगी। लेकिन अगर सचार और परिवहन के साधन सस्ते हों तो माल को एक मण्डी से दूसरी मण्डी में आसानी से ले जाया जा सकता है और इस तरह कीमतों में बराबरी हो सकती है। कीमत समान होने तक माल का आवागमन चलता रहेगा।

(iii) विस्तृत सीमा (Wide extent)—चीजों की बिक्री दूर-दूर तक की मण्डियों में होनी चाहिए। सीमित मण्डी अपूर्ण मण्डी होती है। माल की दूर-दूर तक खपत उसकी किस्म पर निर्भर करती है, कि वह टिकाऊ है या जल्दी सड़ने वाला है। माँग स्थिर (steady) है या अस्थिर (fluctuating)। इस अवस्था को बनाए रखने के लिए कुछ और साधनों की भी जरूरत होती है जिन पर आगे विचार किया जायगा।

बाजार कुछ वस्तुओं के लिए पूर्ण और कुछ के लिए अपूर्ण हो सकता है। जल्दी सड़ने-गलने वाली वस्तुओं की मण्डी प्राय: अपूर्ण होती है। परन्तु मशीनरी जैसे उत्पादक माल (producer's goods) का बाजार आदर्श (perfect) होता है। थोक (wholesale) का बाजार पूर्ण और फुटकर (retail) का अपूर्ण होता है। चूँकि

मजदूरों की गतिशीलता कम होती है, इसलिए इनका बाज़ार कम पूर्ण में गिना जाता है। सोने, चाँदी और स्टाक और शेयर आदि की मण्डी हमेशा पूर्ण रहती है। *वास्तविक सम्पदा (estate) का बाजार कम पूर्ण होता है।*

६. **विस्तृत बाजार** (Wide market)—कुछ कारण बाजार को विस्तृत अथवा सकुंचित (narrow) बनाते हैं। ये निम्नलिखित हैं—

(क) माँग का विस्तार (Extent of demand)—यदि किसी वस्तु की माँग *स्थायी और देशव्यापी है तो इसका बाजार विस्तृत होगा। परन्तु सीमित अथवा* अस्थिर माँग का क्षेत्र सकुंचित होगा।

(ख) वहनीयता (Portability)—माल ऐसा होना चाहिए जैसे सोना, रेशम आदि जो थोड़े भार में ज्यादा मूल्य का सामान जा सके। परन्तु भारी और सस्ते सामान जैसे ईंट, पत्थर आदि को ढोकर ले जाना कठिन और खर्चीला है। इसकी वहनीयता कम है। इसलिए इसका बाजार विस्तृत नहीं है।

(ग) **टिकाऊपन** (Durability)—जल्दी गलने सड़ने वाली वस्तुओं, जैसे फल, दूध आदि का बाजार विस्तृत नहीं हो सकता। सिर्फ सोना, गेहूँ आदि जैसे टिकाऊ और काफी समय तक सुरक्षित रहने वाले का माल बाजार ही विस्तृत हो सकता है।

(घ) माल की ग्रेड और नमूने बनाये जाने की क्षमता (Possibility of Sampling and Grading) -जिन वस्तुओं के नमूने अथवा ग्रेड आदि सरलता से बनाये *जा सकते हैं उनका बाजार भी विस्तृत होता है। ऐसे माल को विदेशी व्यापारी भी* बिना धोखे के डर के खरीद सकते हैं।

(ङ) शान्ति और सुरक्षा (Peace and Security)—देश में शान्ति और सुरक्षा माल के दूर दूर तक आदान-प्रदान में सहायक होते हैं। इसलिये बाजार की सीमा का आधार किसी देश में व्यापक नियम और व्यवस्था होते हैं।

(च) सरकार की वित्तीय एवं कराधान नीति (Fiscal Policy of the Government)—मण्डी का विस्तार सरकार की नीति पर भी निर्भर करता है। *आयात कर (import duty), आयात नियन्त्रण अथवा कोटा* (**quota**) के रूप में टैरिफ (tariff) की दीवारें बाजार को सीमित कर देती है। सरकार निर्यात (export) पर रोकथाम अथवा नियन्त्रण भी कर सकती है।

७ **विशिष्टीकृत बाजार** (Specialized Markets)—मण्डी के विकास का *उल्लेख करते समय यह बताया जा चुका है कि कई सौदों (transactions) के लिए* विशिष्ट मण्डियाँ होती हैं, जैसे द्रव्य मण्डी (money market) जिसके सदस्य बैंक, महाजन (financiers) और डिस्काउंट गृह आदि है जो रुपया उधार लेते-देते हैं। इस बाजार में रुपये का लेन देन होता है।

विदेशी विनिमय बाजार (Foreign Exchange Market)—इस बाजार में विदेशी चलन मुद्रा (currency) का क्रय विक्रय होता है।

उत्पादन **विनिमय** (Produce Exchange)—इस बाजार में खेती से उत्पादित वस्तुएँ जैसे गेहूँ, रूई, बिनौला आदि का व्यापार होता है। इसमें वायदे और सट्टे भी होते हैं और माल का हाथों हाथ सौदा भी होता है।

स्टाक एक्सचेंज (Stock Exchange)—इस संस्था का काम स्टाक और शेयर को खरीदना बेचना होता है। यह संस्था बड़ी उपयोगी है। इसकी वजह से पुराने और टूटे-फूटे उद्योगों की पूँजी उनमें से निकलकर नये और उन्नत उद्योगों में लगती है। जरूरत के समय शेयर होल्डरों को पैसा मिल जाता है। जिस सरलता के साथ शेयरों का क्रय-विक्रय होता है उससे नये धंधों में पैसा लगाने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है। शेयरों का सही मूल्य (True value) भी पता लगता है।

८. सट्टा—इसका अर्थ (Speculation—Its Meaning)—'स्पेकुलेशन' का अर्थ साधारण प्रचलित भाषा में सट्टा है। वास्तव में यह इस तरह होता है। संयुक्त स्टाक कम्पनियों के शेयर और प्राथमिक पदार्थ (Primary commodities) जैसे गेहूँ और रुई आदि का उस समय के बाजार भाव पर क्रय-विक्रय होता है, लेकिन वास्तव में इनका भुगतान नहीं होता। भविष्य की किसी तिथि के लिये निबटारा (Settlement) छोड़ दिया जाता है, जिसका उद्देश्य सिर्फ चालू और भविष्य की कीमतों के फर्क से लाभ कमाने का होता है। मान लीजिये कि मई में गेहूँ की कीमत १० रुपये मन है और मैं समझता हूँ कि नवम्बर में इसकी कीमत १५ रुपये मन हो जायगी तो मैं एक इकाई[1] (unit) या अधिक गेहूँ १० रुपये मन के हिसाब से मई में खरीदूँगा, जिसका भुगतान नवम्बर मास में होना है। यदि मेरी भविष्यवाणी (forecast) ठीक निकली और नवम्बर में गेहूँ का भाव १५ रुपये मन हो गया तो मुझे ५ रुपये फी मन लाभ होगा। इसका नाम सट्टा (speculation) है।

९. सट्टे की किस्में (Kinds of Speculation)—सट्टे की दो किस्में हैं—उचित (legitimate) और अनुचित (illegitimate)—

(क) उचित सट्टा (Legitimate Speculation)—जब सटोरिये (speculators) वैज्ञानिक ढंग पर काम करते हैं तो सट्टा उचित कहलाता है। वे उस पदार्थ को पैदा करने वाले प्रदेशों की जलवायु का अध्ययन करते हैं। वे फसलों के भविष्य का भी अध्ययन करते हैं। इसी तरह पूर्ति (supply) की स्थिति का भी अध्ययन करते हैं। इसी तरह वे सम्भावित मांग (खपत), युद्ध की सम्भावना, जनसंख्या की वृद्धि आदि का भी अनुमान लगाते हैं। इस तरह सब सोच-विचार के बाद वे उसकी सम्भावित कीमत निकालते हैं। यदि कीमतें बढ़ने वाली हैं तो वे भविष्य के लिए खरीद लेते हैं और यदि इसके विपरीत हो तो बेच देते हैं। सिर्फ अनुभवी व्यक्ति ही ऐसे अन्दाजे लगा सकते हैं। इस तरह के सट्टे को उचित सट्टे का नाम दिया जाता है।

(ख) अनुचित सट्टा (Illegitimate Speculation)—यदि इन सब बातों पर सोच-विचार किये बिना ही सट्टा लगाया जाए तो उसे अनुचित सट्टा कहते हैं। यह एक तरह का जुआ है। यह जुआ तो सिक्के को हवा में उछालने के समान है। इसलिए कुशल व्यक्तियों द्वारा वैज्ञानिक ढंग से किया गया सट्टा उचित है और अंधाधुंध किया गया अनुचित।

१०. सट्टे से क्या कोई लाभप्रद प्रयोजन सिद्ध होता है ? (Does Speculation serve any Useful Purpose ?)—सट्टे को कोई अच्छी नजर

[1] एक इकाई (unit) में १०० मन गेहूँ होता है।

से नहीं देखता। सटोरिये का समाज मे कोई आदर नही होता। उसे सट्टेबाज या जुआरी कहते हैं और हीन मानते है। अनुचित सट्टे को आर्थिक और आचार दोनो तरह से बुरा कहना ठीक है।

लेकिन उचित सट्टा फायदेमन्द है। इस तरह का सट्टा आर्थिक दृष्टि से न्यायुक्त तथा उचित है। इसका एक फायदा यह है कि यह बाजार मे अस्थिरता खत्म करके स्थिरता पैदा करता है। यह कैसे होता है ?

सट्टे द्वारा कीमतें कैसे स्थिर होती हैं ? (*How speculation makes prices steady ?*)—उपर्युक्त उदाहरण को फिर लीजिए। यदि मैं ऐसा सोचूं कि गेहूँ की मई की १० रुपये कीमत नवम्बर में बढ जायगी तो ५०० मन का सौदा कर लूंगा। जब मै खरीदारी शुरू करता हूं तो और भी बहुत से लोग ऐसा ही करते हैं। इस तरह सटोरियो की खरीद का प्रभाव माल पर पडता है और कीमतें ऊँची हो जाती है। सटोरिये निजी उपयोग के लिए तो खरीदते नहीं। उनका धधा सिर्फ पैसा कमाना है। नवम्बर मास मे हम सब बेच देते है। इसके फलस्वरूप कीमतें गिर जाएंगी। बिना ऐसा किये शायद कीमते १८ रुपये की मन तक जाती हैं। किन्तु बाजार मे इसके अलावा और माल भी होता है और चूंकि हम भी बेच रहे है इसीलिए कीमतें ज्यादा नही बढेगी। इस अतिरिक्त सप्लाई के कारण कीमत सिर्फ १४ रुपये तक ही जा सकती है। परन्तु हमने तो मई और नवम्बर की कीमतो मे ज्यादा अन्तर माना था। हमारे इस काम से अन्तर ८ रुपये की जगह ४ रुपये ही रह गया। इस तरह कीमतो को एक दम बढने से रोका गया। परन्तु हम कीमतो को बिलकुल नही रोक सकते। यह तो सिर्फ तेजी को रोका है। सटोरिये इस तरह कीमतें स्थिर करते है और समाज का कल्याण करते है।

(क) स्थिर कीमतें उपभोक्ताओ के लिए बहुत तरह से लाभदायक हैं (Steady prices are useful for Consumers)—यदि कीमतें बढती-घटती रहे तो उपभोग की योजना चपेट मे पड जाती है। उपभोक्ता खर्चे की सूची नही बना पाते, इसलिए उन्हें अपने खर्चे से अधिकतम सतुष्टि प्राप्त नहीं होती। इसीलिए स्थिर कीमतें उपभोक्ताओ के लिए लाभदायक है।

(ख) स्थिर कीमतें निर्माताओ के लिए बहुत फायदेमन्द होती हैं (Steady prices are useful for manufacturers)—निर्माता कच्चे माल की सप्लाई स्थिर कीमतों पर लेना चाहते हैं। वे अपने तैयार माल की कीमतें महीनो पहले बताना चाहते हैं, यह कच्चे माल की कीमत पर निर्भर करता है, यद्यपि कच्चा माल भी काफी समय बाद खरीदा जाता है। इसलिए अगर माल की कीमतें बढ जाएँ तो उन्हें घाटा रहेगा। परन्तु सट्टे के सौदो से इन्हें सरक्षण मिल जाता है। क्योकि ये माल का भाव ताव करके भविष्य मे खरीदने का फैसला करते हैं और इस तरह भाव के उतार-चढाव (fluctuations) के नुकसान से बच जाते हैं। उदाहरण के लिए फ्लोर मिल का मालिक फौज मे निश्चित कीमत पर माल देने का वायदा करता है। इसके लिए वह माल का सौदा सप्लाई किये जाने वाले महीनो में तय करता है। इस तरह सट्टे के द्वारा वह ठेके के काम को पक्का कर लेता है।

(ग) सट्टा समाज के लिए फायदेमन्द है (Speculation is useful for societies at large)—जब सटोरिये गेहूँ खरीदना शुरू कर देते हैं तो यह इस बात का सूचक है कि माल की कमी हो जाएगी। गेहूँ के उपभोग के बारे में सरकार उचित कदम उठा सकती है और इसके जाया होने को रोक सकती है। राशन-व्यवस्था भी शुरू की जा सकती है।

इस तरह कीमतों में स्थिरता लाने के कारण सट्टा उपभोक्ताओं, निर्माताओं और समाज के लिए बहुत फायदेमन्द है।

११. सट्टे से उत्पन्न होने वाले संकट (Dangers of Speculation)— इससे संकट उत्पन्न होने के दो कारण हैं—अधिकता (excess) और सटोरियों की अज्ञानता।

सट्टेबाज़ी बुरी है। कीमतों की गति बढ़ जाती है। उतार-चढ़ाव तीव्र हो जाते हैं। इससे अनेकों व्यापारी बर्बाद हो जाते हैं। बाज़ार अव्यवस्थित हो जाता है और सीधे-सच्चे व्यापारियों को भी ठेस पहुँचती है।

अन्धाधुन्ध सट्टेबाज़ी अथवा अनुचित सट्टा हानिकारक है। कीमतों पर उचित प्रभाव रखने की बजाय उन्हें यह डाँवाडोल करता है। अनुचित सट्टेबाज़ अपनी बर्बादी के साथ साथ समाज का भी अहित करते हैं। अफवाहों के बल पर ये खरीदने के समय बेचते और बेचने के समय खरीद कर डालते हैं, और इस तरह कीमतों में एकदम फर्क पड़ जाता है। इन कार्यवाहियों से सच्चे व्यापार को ठेस पहुँचती है। इस तरह अन्धाधुन्ध सट्टेबाज़ी, उद्योग और व्यापार को अव्यवस्थित करती है और समुदाय (Community) का अहित होता है।

१२. 'तेज़ी' और 'मन्दी' ('Bulls' and 'Bears')—ये शब्द सटोरियों में बड़े प्रचलित हैं। कीमत में हेर-फेर होने से, कुछ को मुनाफा होता है और कुछ को हानि। कीमतें बढ़ने पर जिनको मुनाफा होता है उन्हें 'बुल्स' (Bulls) या साँड कहते हैं। साँड अपने शत्रु को सींगों पर उछाल देता है। जिन्हें भाव गिरने से लाभ होता है उन्हें 'बियर्स' (Bears) या रीछ कहते हैं। रीछ पैरों तले रौंदता है। यदि बाज़ार का रुख ऊँचा हो और कीमत बढ़े तो बाज़ार 'बुलिश' (bullish) कहलाता है यानी तेज़ी का, यदि भाव गिरें तो 'बियरिश' (bearish) यानी मंदी का।

विद्यार्थियों के लिए इस पाठ की कुछ ज्ञातव्य बातें

'बाज़ार' शब्द के अर्थ (The Meaning of the term 'Market') अर्थशास्त्र में 'मार्केट' शब्द हिन्दी के मण्डी का पर्यायवाची है। इसका अर्थ किसी स्थान या जगह विशेष नहीं है जहाँ क्रेता और विक्रेता जमा होते हैं, इसका अर्थ उस समस्त प्रदेश (region) से है जिसमें किसी माल के व्यापारी सम्बन्धित होते हैं।

बाज़ार का विकास (Evolution of Markets)—मानव विकास के आदि काल में विनिमय (exchange) की पद्धति न थी और इसलिए मण्डियों का उदय भी न हुआ था। विनिमय का उदय वस्तु-विनिमय (barter) से आरम्भ होता है, इसके पश्चात् द्रव्य-अर्थ-व्यवस्था (money-economy) का प्रचार हुआ और विनिमय के विभिन्न रूप शुरू हुए। बाज़ार के उदय का अध्ययन दो दृष्टिकोणों से कर सकते हैं।

(क) भौगोलिक विकास (Geographical Evolution)—

पहला चरण—पारिवारिक बाजार ; दूसरा चरण—स्थानीय बाजार ; तीसरा चरण—राष्ट्रीय बाजार ; चौथा चरण—विश्व बाजार।

वर्तमान समय में सभी चरण साथ साथ चल रहे है। कुछ वस्तुओं का स्थानीय, कुछ का राष्ट्रीय, कुछ का विश्व बाजार है। सचार और परिवहन (communication and transport) के तरीकों और वैज्ञानिक उन्नति और शीतागार (cold storage) आदि के कारण भौगोलिक विकास सम्भव हुआ है।

(ख) कार्यात्मक विकास (Functional Evolution)—

प्रथम चरण—सामान्य या मिश्रित बाजार ; दूसरा चरण—विशिष्ट बाजार।

कार्य पद्धति (methods of working) के आधार—इसके तीन भाग हो सकते है—प्रथम चरण—निरीक्षण (inspection), दूसरा चरण—नमूने , तीसरा चरण—ग्रेडिंग।

बाजार के भावों के नियम (Law of Market Price)—जहा एक समय में एक किस्म के माल की एक सी कीमत हो।

पूर्ण मण्डी (Perfect Market)—जहां एक समय मे एक किस्म के माल की एक सी कीमत हो तो उसे पूर्ण मण्डी मानते है।

पूर्ण मण्डी की शर्तें—

(i) मुक्त स्पर्द्धा।

(ii) सचार और परिवहन के सस्ते और कुशल साधन।

(iii) विस्तृत सीमा।

विस्तृत बाजार (Wide Market)—यह इन बातों पर निर्भर है—

(क) माल की माग का दूर-दूर तक होना।

(ख) माल की सहनीयता।

(ग) माल का टिकाऊपन।

(घ) माल के नमूने बनाने और ग्रेडिंग की सम्भावना।

(च) देश में सुरक्षा और शान्ति।

(छ) सरकार की करारोपण (Fiscal) नीति।

विशिष्ट मण्डी (Specialised Markets)—

द्रव्य बाजार (Money Market) में पैसे का लेन-देन होता है।

विदेशी विनिमय बाजार (Foreign Exchange Market)—जहा विदेशी विनिमय अथवा विदेशी मुद्रा (currency) का क्रय विक्रय हो।

उत्पादन बाजार (Produce Market)—जहां कृषि उत्पादन की बिक्री हो।

स्टाक एक्सचेंज (Stock Exchange)—स्टाक शेयर क्रय-विक्रय करने वाली सस्था।

स्टाक ऐक्सचेंज के लाभ (Advantages of Stock Exchange)—

(i) पूँजी एक उद्योग से दूसरे उद्योग में लगती है।

(ii) जरूरत के समय शेयरहोल्डर शेयर बेचकर पैसा पा सकते है।

(iii) नये उद्योगों में पैसा लगाने को प्रोत्साहन मिलता है।

(iv) शेयरों का वास्तविक मूल्य (true value) निश्चित होती है।

सट्टा (Speculation)—चालू कीमतों पर सौदा परन्तु भुगतान भविष्य में किसी निर्धारित तिथि में सट्टा कहलाता है।

सट्टे की किस्में (Kinds of Speculation)—

(क) उचित सट्टा (Legitimate Speculation)—बाजार की स्थिति को पूरी तरह समझकर, निपुण व्यापारियों द्वारा वैज्ञानिक ढग पर व्यापार करना।

(ख) अनुचित सट्टा (Illegitimate Speculation)—वैज्ञानिक ढंग पर सट्टा करने वाले सटोरियों का अंधाधुन्ध अनुकरण। यह कोरा जुआ है।

सट्टे के लाभ (Advantages of Speculation)—

सट्टे से कीमतें ठहरती हैं। इसमें यह (क) उपभोक्ताओं, (ख) उत्पादकों, (ग) सामान्य समाज आदि के लिए हितकर है।

सट्टे से हानियां (Dangers of Speculation)—

(i) सट्टे के अधिक सौदे होने से भाव में उतार चढ़ाव ज्यादा होते हैं।

(ii) अनुचित सट्टे में कुछ सटोरिये बर्बाद हो जाते हैं और यह समाज के लिए भी अहितकर है।

'साँड' और 'रीछ' ('Bulls' and 'Bears')—

साँड ('Bulls')—वे जिन्हें ऊँचे भावों से लाभ होता है।

रीछ ('Bears')—वे जिन्हें मंद भावों से लाभ होता है।

क्या आप निम्न प्रश्नों का उत्तर दे सकते हैं ?

1 Define market What factors lead to the rise and extension of markets ? Has the extension of markets been beneficial to India ?

(पंजाब विश्वविद्यालय, १९३६, जम्मू एण्ड काश्मीर १९५७)

परिभाषा के लिए देखिये विभाग २

[मंडियों के उदय और विस्तार के कारण—जनसंख्या की वृद्धि और श्रम विभाजन के समय बाजारों का उदय हुआ। इसका विस्तार संचार और परिवहन के साधनों की उन्नति के साथ हुआ, जिससे दूर देशों के भिन्न लोग आसानी से आपस में मिल सके। शीतागार (cold storage) जैसे वैज्ञानिक तरीकों और बेचने की कला (marketing technique) के विकास के कारण भी, जिससे श्रेणियाँ और नमूने (grading and sampling) बने, बाजार की स्थापना और विकास में सहायता मिली।

भारत में इसके अच्छे और बुरे दोनों ही प्रभाव हुए हैं। अच्छे प्रभाव तो यह हैं कि उत्पादकों को अपने माल के ठीक दाम मिले, उपभोक्ताओं को दूर देशों में उत्पादित माल मिला और जीवन स्तर में वृद्धि हुई। श्रम के प्रादेशिक (territorial) विभाजन से धन (wealth) की वृद्धि हुई, माल के विनिमय के साथ साथ विचार विनिमय भी हुआ, क्योंकि समान हो गई है और अकाल आदि जैसे अवसर पर सहायता जल्दी भेजी जा सकती है।

बुरे प्रभाव (Bad Effects)—भारत के प्राकृतिक स्रोतों का उपयोग विदेशियों के लिए हुआ। भारत में ज्यादातर कच्चे माल के उत्पादन में विशिष्टता प्राप्त करने लगे जो कि आर्थिक दृष्टि से अहितकर है, इससे हमारे प्राचीन कला कौशल और उद्योग को भी धक्का लगा। देश निर्माताओं और उपभोक्ताओं के लिए माल और कच्चे माल की कीमतें बढ़ीं। इससे विदेशों पर निर्भर रहने की प्रवृत्ति बढ़ी जो युद्ध-काल में हानिकारक है।]

2. Define market. What are the conditions of a wide market ? What is the extent of a market of the following commodities : Mangoes, Books written in Hindi, Government of India Securities

(नागपुर, १९५२)

[देखिये विभाग ३ और ६। चूँकि आम जल्दी सड़ने वाली वस्तु है इसलिए इसे स्थानीय या प्रादेशिक बाजार में ही बेचा जा सकता है। हिन्दी की पुस्तकों और सरकारी सिक्यूरिटी आदि को सारे देश में बेचा जा सकता है।]

3 What do you mean by market in Economics ? What is the nature of the market for the following

(a) Fresh vegetables

(b) Wheat

(c) Brick

(d) Gold (दिल्ली, १९५५)

4 Distinguish between perfect market and imperfect market What are the conditions which help to make the market a perfect ?

(पंजाब विश्वविद्यालय, १९४६, जम्मू एण्ड काश्मीर, १९५३)

देखिये विभाग ५

5 What is a market ? What are the factors that determine the size of a market ? Give illustrations (दिल्ली, १९४३, १९५०)

देखिये विभाग १, ६

6 Write a short note on Stock Exchange

(पंजाब विश्वविद्यालय १९४७)

देखिये विभाग ७

7 What is speculation ? What are its advantages and disadvantages ? (पंजाब, १९५५)

8 Distinguish between legitimate and illegitimate speculation What means would you suggest to prevent illegitimate speculation ?

(आगरा, १९४७)

[देखिये विभाग ९ और ११। अनुचित सट्टे को विधान (legislation) द्वारा नहीं रोका जा सकता। सिर्फ विरोधी जनमत ही इसको रोक सकता है।]

कीमत का निर्धारण

(PRICE FORMATION)

एक कैंची के दो फल

(The Two Blades of a Scissors)

१. प्रवेशिका (Introduction)—विनिमय का विभाग, अर्थशास्त्र के पहले दो विभागों—उपभोग एवं उत्पादन—का समन्वय है। उपभोक्ता कोई चीज़ चाहता है और उत्पादक उसे सप्लाई करने के लिए तैयार है। उपभोग माँग का हल अध्ययन करता है और उत्पादन उसकी सप्लाई का पहलू। विनिमय में हम अध्ययन करते हैं कि मूल्य जिस पर वस्तुएँ खरीदी व बेची जाती हैं, किस प्रकार निर्धारित होता है। मूल्य का निर्णय इन परिस्थितियों में देखा जा सकता है—(क) पूर्ण प्रतिस्पर्द्धा, (ख) एकाधिपत्य और (ग) अपूर्ण अथवा एकाधिपत्यात्मक स्पर्द्धा। यहाँ हम पूर्ण स्पर्द्धा की अवस्था में मूल्य का निर्धारण लेंगे। उससे पहले, पूर्ण स्पर्द्धा क्या है ?

२ पूर्ण स्पर्द्धा—मुक्त अथवा पूर्ण स्पर्द्धा का क्या अर्थ है ? इसके लिए निम्न शर्तें पूर्ण होनी चाहिएँ—

(i) बेचने और खरीदने वालों की बड़ी संख्या—जब बाजार में बेचने और खरीदने वाले बड़ी तादाद में हों तो कोई भी 'अकेला' व्यक्ति माँग अथवा पूर्ति की अवस्था को प्रभावित नहीं कर सकता।

(ii) एकरूपता—बिकने वाली चीज सारी एक समान गुण वाली होनी चाहिए ताकि सारे क्षेत्रों में एक ही भाव रहने की प्रवृत्ति हो।

(iii) आने-जाने का खुला अवसर—खरीदनेवाले और बेचनेवालों के बाजार में प्रवेश करने या छोड़ने में कोई रुकावट नहीं होनी चाहिए। इससे कहीं बहुत लाभ और कहीं बहुत हानि—इस प्रकार के अन्तर आसानी से दूर हो जाएँगे।

(iv) पूर्ण ज्ञान—बाजार की सारी परिस्थिति का सभी बेचने और खरीदने वालों को पूरा ज्ञान होना चाहिए।

(v) उत्पादन के साधनों की गतिशीलता—उत्पादन के साधन गतिशील होने चाहिएँ जिससे आवश्यक अदल बदल शीघ्रता और सरलता से हो सके।

ये चीजें पूर्ण स्पर्द्धा के लिए जरूरी हैं। इनके प्रभाव से पूर्ण स्पर्द्धा की अवस्था में एक बाजार में किसी समय एक ही मूल्य पर वस्तु बिकने की प्रवृत्ति होगी। कोई एक खरीदार या बेचने वाला अपने ही प्रयत्न से मूल्य को बदल नहीं सकता। मूल्य हर एक के लिए पहले से ही तय या दिया हुआ होता है।

३. पूर्ण प्रतिस्पर्द्धा को अवस्था में कीमतें कैसे निर्धारित होती हैं ? (How is Price Determined under Conditions of Perfect Competition ?)—

अर्थशास्त्र की इतनी समस्याएँ मांग और पूर्ति से जुड़ी हुई हैं कि कोई ऐसा आदमी यह कह सकता है कि आप एक तोते को पकड़कर मांग और सप्लाई दो शब्द सिखा दें और वह तोता अर्थशास्त्र के हर प्रश्न का उत्तर सरलता से दे देगा। तो शायद तोते का दिया हुआ उत्तर सही हो किन्तु तोता तो इन शब्दों का अर्थ या महत्व तो नहीं समझता। अर्थशास्त्र के विद्यार्थी को भी इन दो शब्दों को तोते की तरह रटना ही नहीं है, वरन् उन्हें समझना भी है। अर्थशास्त्र के एक विद्यार्थी को इतनी समझ होनी चाहिए कि मांग और पूर्ति के पीछे क्या-क्या शक्तियाँ काम करती है। कैसे उनकी परस्पर प्रतिक्रिया होती है। मुक्त स्पर्द्धा (free competition) में इन्हीं दो शक्तियों की अन्तःक्रिया द्वारा कीमतें निर्धारित होती हैं। आइए, अब मांग और पूर्ति का पहलू अलग-अलग लेकर विचार करें कि कीमत वास्तव में कैसे तय होती है।

मांग का पहलू (The Demand Side)—कारगर मांग (effective demand) सिर्फ किसी माल को पाने की चाह ही नहीं है, बल्कि उसे खरीदने लायक सामर्थ्य और तैयारी सहित इच्छा है, और यह मांग माल किस कीमत पर बिक रहा है और कितनी अवधि में मांग पूरी होनी चाहिए इसे देखकर की जाती है।

तो खरीदार किसी चीज की मांग करते हैं। उनमें जो सबसे ज्यादा दाम लगाएगा वही उस चीज को खरीद सकेगा। अगर और लोग भी वही चीज चाहते हैं तो उन्हें भी वही दाम देने होंगे। खरीदारों के बीच में इस प्रतियोगिता के फलस्वरूप एक कीमत (offer) हो जाती है।

खरीदारों की ओर से मांग का नियम लागू होता है। यदि कीमत बढ़ती है तो मांग घट जाती है, और अधिक गरीब या कम उत्सुक व्यक्तियों की कम जरूरी मांगें अपूर्ण रह जाती है। दूसरी ओर यदि कीमत गिरती है तो मांग का विस्तार होता है।

घटती हुई उपयोगिता के नियम के कारण किसी खरीदार को केवल कीमत घटाकर ही अधिक खरीदने का प्रलोभन दिया जा सकता है। उपभोक्ता तो उसी दाम पर खरीदेगा जिस पर वह समझता है कि कोई वस्तु उतने पैसे में खरीदी जाने लायक है। हम जानते है कि यह सीमा ही सीमान्त उपयोगिता का बिन्दु है। इसलिए जहां तक मांग के पहलू का सम्बन्ध है, हम कहते हैं कि कीमत का अन्दाजा खरीदार की अपनी सीमान्त उपयोगिता से लगता है।

यह कहना ठीक नहीं है कि सीमान्त उपयोगिता ही कीमत निर्धारित करती है क्योंकि सीमान्त उपयोगिता स्वयं कीमत द्वारा शासित होती है। यदि कीमत गिरती है तो सीमान्त उपयोगिता भी गिरती है और इसी तरह इसके विपरीत (*vice versa*)। हम इतना ही कह सकते हैं कि कीमत सीमान्त उपयोगिता की माप (measure) है। या यह कि सीमान्त उपयोगिता और कीमत एक ही स्तर पर रहते है या एक से होते हैं। इस प्रकार, *मांग की दृष्टि से कीमत द्रव्य में सीमान्त* उपयोगिता की माप (measured in money) के बराबर होती है।

पूर्ति का पहलू (Side of Supply)—पूर्ति की ओर जो शक्तियाँ काम करती हैं उनका इसी प्रकार विश्लेषण करना पड़ेगा। कीमत के ऊपर जिस परिमाण

का प्रभाव पडता है वह किसी वस्तु का कुल तैयार भण्डार (स्टॉक) नही है, वरन् वह परिमाण है जो बिक्री के लिए पेश (offer) किया जाता है।

जिस तरह खरीदारो में परस्पर प्रतियोगिता होती है, उसी प्रकार बेचनेवालो में भी परस्पर प्रतिस्पर्द्धा होती है। वही विक्रेता अपना माल बेच सकेगा, जो नीचा से नीचो कीमत स्वीकार करने को तैयार है। जब तक उसकी सप्लाई खत्म न हो जाए, तय की हुई कीमत मण्डी मे चलेगी। यदि कोई और विक्रेता चाहेगा तो उसे भी इसी कीमत पर बेचना होगा। जब उसकी सप्लाई खत्म हो जाएगी, और यदि फिर भी कुछ मॉग बाकी रह जाएगी, तब उससे ऊँची कीमत कारगर हो सकेगी। इस तरह विक्रेताओ की स्पर्द्धा के फलस्वरूप भी एक कीमत निर्धारित हो जाती है।

सप्लाई भी लोचदार (elastic) है। पूर्ति के नियम (law of supply) के अनुसार ऊँची कीमत पर नीची कीमत की अपेक्षा अधिक माल बिक्री के लिए बाजार में आएगा। यदि कीमत काफी नही है तो विक्रेता जिन्हें नकद की तुरन्त आवश्यकता नही है अपना माल रोक लेंगे, बेचेंगे नही।

जैसे खरीदार उस कीमत पर खरीदेगा जिसे वह उस वस्तु की उपयोगिता के बराबर समझता है, अर्थात् उस कीमत पर जो सीमान्त उपयोगिता की माप करती है, उसी प्रकार विक्रेता भी यह सोचता है कि अमुक कीमत पर बेचना उसके लिए लाभदायक है या नही। उसे अपनी कुल लागत की तरफ देखना पडता है। कीमत से उसे पूरा मुआवजा मिल जाना चाहिए, यानी उसकी मूल अथवा प्रथम (prime) तथा अनुपूरक (supplementary) लागतें उस कीमत से निकल आनी चाहिए। थोडी देर के लिए वह सस्ता बेचकर नुकसान भी सह सकता है, किन्तु वह हमेशा ऐसा नही कर सकता। आखिर मे तो उसकी कुल लागत निकल आनी चाहिए। वरना वह टोटे मे रहेगा। इसके लिए सीमात फर्म या सीमात उपज (marginal firm or marginal output) की प्रति इकाई की लागत महत्त्वपूर्ण है जो कम से कम कीमत नियत करती है। यह उत्पादन की सीमान्त लागत (marginal cost of production) कहलाती है।

इसलिए सप्लाई की दृष्टि से कीमत को आखिरकार उत्पादन की सीमान्त लागत के आस पास पहुँचना पडता है।

पर यह कहना गलत है कि उत्पादन की सीमान्त लागत कीमत निर्धारित करती है। क्योंकि सीमान्त बिन्दु (marginal point) स्वय कीमत पर निर्भर है, हम ऐसा भी कह सकते है कि कीमत उत्पादन की सीमान्त लागत के माध्यम से निर्धारित होता है।

सक्षेप मे—"मॉग की दृष्टि से तो साधारण प्रवृत्ति यह है कि किसी वस्तु की कीमत सीमान्त प्रतियोगिता या सीमान्त खरीदार (marginal purchaser) के अन्दाजे के बराबर होगी, और पूर्ति की दृष्टि से यह उत्पादन की सीमान्त लागत या सीमान्त फर्म (firm) द्वारा व्यय की गई लागत के बराबर होगी। सीमान्त उपयोगिता (marginal utility) और सीमान्त लागत (marginal costs) दोनो ही को द्रव्य (money) मे माप कर ले तो जहाँ इनमे परस्पर मेल हो उस बिन्दु (coincidence)

पर कीमत नियत होती है।"—सिल्वर मेन

या और भी सरल शब्दों में यह कह सकते हैं, कि किसी निर्दिष्ट क्षण पर कीमत सीमान्त उपयोगिता के अनुसार होती है; और आखिर में, कालान्तर में, यह उत्पादन की सीमान्त लागत के निकट पहुँचती है। इसे ही हम मूल्य का सिद्धान्त (Theory of Value) कहते हैं।

४ **मांग और पूर्ति का सतुलन (Equilibrium between Demand and Supply)**—पिछले विभाग में हमने मांग और पूर्ति के पीछे कार्यशील शक्तियों का विश्लेषण किया। बाजार में कीमत इन दोनों शक्तियों के परस्पर सतुलन (equilibrium) का फल है। वही कीमत स्थिर होगी जिस पर यह शक्तियां ठीक तरह सतुलित होगी। सतुलन का बिंदु (point of equilibrium) वह बिंदु है जिस पर तराजू के दोनो पलडो में बराबर परिमाण में वस्तुएँ रखी जाती हैं। आइये देखें कि मांग और पूर्ति की शक्तियां किस तरह सक्रिय होती हैं और परस्पर प्रतिक्रिया (interaction) द्वारा सतुलन बिंदु पर कैसी पहुँचती हैं।

हम दूध की मांग-अनुसूची (Demand Schedule) देखें (अध्याय ६, विभाग ३) और उसकी सप्लाई-अनुसूची (Supply Schedule) साथ-साथ देखें (अध्याय १६, विभाग ४) जो नीचे दी हुई है।

दूध की मांग (सेरो मे)	कीमत (प्रति सेर)	दूध की सप्लाई (सेरो मे)
	रु० १ ० ०	१०
	० १२ ०	८
½	० १० ०	५
१	० ८ ०	३
२	० ६ ०	२
३	० ४ ०	½
४	० २ ०	

एक रुपये सेर पर विक्रेता १० सेर बेचने को तैयार है, किन्तु खरीदार बिलकुल खरीदने को तैयार नहीं। यह स्पष्ट है कि इस कीमत पर माग और पूर्ति में कोई मेल नहीं है। मांग से पूर्ति अधिक है। इसलिए कीमत गिरनी चाहिये। और कीमत गिरती जाएगी जब तक कि दूध की मांग और पूर्ति बराबर न हो जाय।

दूसरी ओर लीजिए। दो आने सेर पर खरीदार ४ सेर खरीदना चाहता है किन्तु विक्रेता बिलकुल नहीं बेचना चाहता। फिर असन्तुलन हो जाता है। मांग अधिक है, पूर्ति कम। तो कीमत बढ़ेगी। और कीमत बढ़ती जाएगी जब तक कि मांग और पूर्ति की समानता का बिन्दु न पहुँच जाय।

जिस कीमत पर उतनी ही मात्रा की मांग होती है, जितनी की सप्लाई, वह ६ आने सेर है। यहां दोनो शक्तियों में सन्तुलन (equilibrium) है। जब तक यह सतुलन न हो जाय, कीमत या तो ऊपर जायगी या नीचे। किन्तु इस बिन्दु पर

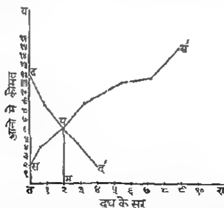
भ्राकर कीमत ठहर जाती है। इस प्रकार माँग और पूर्ति की शक्तियों की अन्त क्रिया (interaction) द्वारा कीमत निर्धारित होती है।

जो खरीदार ६ आने सेर पर खरीदने को तैयार होता है उसे सीमान्त खरीदार (marginal purchaser) कहते हैं। वह न खरीदता, यदि कीमत जरा भी ऊँची होती। यही कीमत तमाम खरीदारों से ली जाती है चाहे उनकी व्यक्तिगत सीमान्त उपयोगिताएँ कुछ भी हों। खरीदारों की परिस्थितियों का अन्तर उनके द्वारा दी गई अलग-अलग कीमतों में नहीं, वरन् उनके द्वारा खरीदी गई अलग-अलग मात्रा में मालूम होता है। उदाहरण के लिए, एक अमीर आदमी एक गरीब की अपेक्षा अधिक खरीदेगा और तब तक खरीदता रहेगा जब तक उसकी अपनी सीमान्त उपयोगिता भी उसी स्तर पर नहीं आ जाती।

जो उत्पादक ६ आने सेर पर बेचने को तैयार है और जो इससे कम कीमत पर बेचने को तैयार नहीं होगा, सीमान्त उत्पादक (marginal producer) कहलाता है। जब कीमत ६ आना थी उस समय उसकी जो लागत थी वह सीमान्त लागत (marginal costs) कहलाती है। ६ आने सेर की कीमत पर सीमान्त उपयोगिता और सीमान्त लागत बराबर है। इसलिए सन्तुलन है।

सन्तुलन का रेखा-चित्र द्वारा निरूपण

दूध का परिमाण त ए पर और कीमत का त य पर मापा जाता है। द द' माँग-वक्र (demand curve) है और स स' पूर्ति-वक्र (supply curve)। यह दोनों वक्र प पर एक दूसरे को काटते हैं। प म (६ आने) सतुलन कीमत (equilibrium-price) है क्योंकि उस कीमत पर उतनी ही मात्रा माँगी जाती है जितनी सप्लाई की जाती है (अर्थात् २ सेर)।



न तो अकेली माँग ही कीमत निर्धारित करती है और न सप्लाई ही। कीमत माँग और पूर्ति दोनों से नियत होती है। माँग और पूर्ति दोनों की शक्तियों के सतुलन द्वारा बाजार में कोई कीमत ठहरती है। कभी कभी माँग का असर ज्यादा होता है

कभी-कभी पूर्ति का। किन्तु कीमत निर्धारण में दोनों का ही हाथ है। डा० मार्शल माँग और पूर्ति की कैंची के दो फलों से तुलना करते हैं। कागज काटने के लिए दोनों की आवश्यकता है। कभी-कभी यह लग सकता है कि सिर्फ एक फल चल रहा है और काट रहा है, किन्तु यह तभी काट पाता है जब दूसरा फल भी वहाँ मौजूद होता है। *इसी तरह कभी-कभी मालूम पड़ता है कि सिर्फ माँग से ही कीमत निर्धारित होती है*, किन्तु पूर्ति भी प्रभावशील होती है।

५ **माँग, पूर्ति और कीमत में सम्बन्ध** (Relation between Demand, Supply and Price)—यदि माँग बढ़े तो कीमत बढ़ेगी और माँग घटे तो कीमत घटेगी। इसलिए कीमत का कारण मालूम पड़ती है। किन्तु यदि कीमत बढ़े तो माँग घटेगी; इसलिए ऐसा भी लगता है कि कीमत माँग के घटने-बढ़ने का कारण है।

इसी प्रकार यदि सप्लाई बढ़े तो कीमत घटती है। इसलिए सप्लाई भी कीमत पर असर डालती है। किन्तु यदि कीमत गिरती है तो विक्रेता कम बेचने को तैयार होते हैं, *इसलिए कीमत भी सप्लाई पर असर डालती है।*

यदि माँग बढ़े, तो कीमत बढ़ती है जिससे सप्लाई अधिक आ जाती है। इसलिए कीमत के द्वारा माँग सप्लाई पर असर डालती है। किन्तु यदि सप्लाई बढ़ती है तो कीमत गिरती है जिससे माँग को प्रोत्साहन मिलता है। इसलिए सप्लाई में कोई भी अन्तर, कीमत के अन्तर द्वारा माँग पर असर डालता है।

उपर्युक्त बातों से यह बहुत साफ है कि माँग, पूर्ति और कीमत का सम्बन्ध कार्य-कारण का नहीं वरन् परस्पर कारण (mutual causation) का है। वे एक दूसरे पर निर्भर हैं। एक दूसरे पर असर डालते हैं और फिर एक दूसरे से प्रभावित भी होते हैं। *वे एक प्याले में पड़ी हुई उन गेंदों के समान हैं जिनमें हम यह नहीं कह* सकते कि कौन किसके सहारे टिकी हुई है।

६ **मूल्य के सिद्धान्त में समय का महत्त्व** (Importance of Time Element in Theory of Value)—हम मूल्य के सिद्धान्त की चर्चा कर रहे थे जो कहता है कि मूल्य-निर्धारण का प्रश्न माँग और पूर्ति का प्रश्न है। कीमत उस स्तर पर आकर ठहरती है जहाँ खरीदार की सीमान्त उपयोगिता उत्पादक की सीमान्त लागत के बराबर होती है। यह माँग और पूर्ति की शक्तियों के सतुलन का बिन्दु है। किन्तु यह सतुलन प्राप्त होने में समय लगता है। समय की दृष्टि से हम मोटी-मोटी *चार प्रकार की सतुलन कीमतें (equilibrium prices) गिना सकते हैं—*

(१) बाजार की कीमत (Market price)।

(२) अल्पकालीन कीमत (Short-period price)।

(३) दीर्घकालीन या सामान्य कीमत (Long-period or normal price)।

(४) लौकिक कीमत (Secular price) जिसम एक पीढ़ी के होने वाले परिवर्तन सम्मिलित है।

समय का महत्त्व इसमें है कि कौनसी कीमत ठहरेगी। यह उस समय पर निर्भर होती है जो माँग और पूर्ति की शक्तियों को परस्पर समायोजित होने के लिए *दिया गया है।*

मान लो किसी विशेष प्रकार के विलायती ब्लेजर की माँग अचानक किसी बाजार में, जैसे दिल्ली में बढ़ जाती है। अब हम इस माँग की वृद्धि का एक दिन, एक महीने, साल, दो साल, या एक पीढ़ी में, कीमत पर क्या असर होगा, इसका अध्ययन करें। जाहिर है कि सतुलन कीमत इन चार हालतो में अलग-अलग होगी।

(i) एक दिन की जरा-सी अवधि मे सप्लाई उतनी है जितना ब्लेजर कपड़े का स्टाक हाथ मे या बाजार मे नजर आता है। इसे इतने थोड़े समय मे बढ़ाया नही जा सकता। कीमत उपभोक्ताओ के लिए इस कपड़े की सीमान्त उपयोगिता के अनुसार नियत हो जाएगी और बहुत ऊँची उठ जाएगी।

(ii) ज्यादा समय बीतने पर दिल्ली के व्यापारी बम्बई, कलकत्ता या और कही से, जहाँ से भी मिलेगा, ब्लेजर कपड़ा मँगवा लेंगे। इससे सप्लाई बढ़ जाएगी और कुछ हद तक कीमते कम हो जाएँगी। किन्तु यदि माँग फिर भी अपूर्ण बनी रही तो कीमतें पहले स्तर पर न गिरेंगी। इस अवधि में भी जिसे हम अल्पकाल कह सकते हैं, कीमत निर्धारण मे सीमान्त उपयोगिता अधिक असर डालेगी क्योंकि सप्लाई अपेक्षाकृत अपरिवर्तनशील (fixed) है।

(iii) दीर्घकाल (जो इस मामले मे साल दो साल हो सकती है) सामान्य अवधि (normal period) कहलाती है। इस अवधि मे सप्लाई का मतलब होगा जो उत्पादन उन करघो से प्राप्त किया जा सकता है, जो मुनाफे पर बनाए और काम में लाए जा सकते हैं। इगलैंड से मँगाया हुआ ब्लेजर कपड़ा नए और बेहतर करघो पर बना होगा। इनमे अनुपूरक लागत (supplementary costs) अधिक उत्पादन पर बँट जाने के कारण प्रति इकाई कुल लागत कम हो जाएगी और दिल्ली मे ब्लेजर कपड़े की कीमत स्थायी रूप मे घट जाएगी।

इस लम्बी अवधि में, सामान्य कीमत उत्पादन की सीमान्त लागत (marginal cost of production) से नियत होगी, न कि माँग से क्योंकि उसका हमे पता है, और हिसाब लगाने मे हम उसका ध्यान रख सकते हैं।

(iv) लौकिक अवधि (secular period) काफी लम्बी होती है, जिसमें ज्ञान, जनसख्या, पूँजी और रहन-सहन के स्तर आदि की वृद्धि के कारण होने वाले परिवर्तनों को भी समायोजित होने का अवसर मिल जाता है। एक से दूसरी पीढ़ी मे माँग और पूर्ति की बदलती हुई अवस्थाओ को स्थिर होने का काफी समय रहता है। सम्भव है कि कीमतें श्रम-बचत के नए उपायो और उत्पादन के तरीको मे सुधार के फलस्वरूप और भी गिर जाएँ।

इस प्रकार यह जाहिर है कि कीमत क्या होगी यह उस अवधि पर निर्भर है जिसका विचार करके हम उसका पता लगाना चाहते हैं। जितनी ही वह अवधि छोटी होगी, कीमत पर माँग का अधिक प्रभाव होगा और जितनी ही यह अवधि लम्बी होगी, सप्लाई का अधिक असर पड़ेगा। यह सम्भव है कि किसी वस्तु की माँग बढ़ने पर कीमतें तुरन्त बढ़ जाएँ किन्तु यदि उद्योग मे बढ़ती हुई उपज का नियम (law of increasing returns) लागू होता है तो दीर्घ काल मे यह गिर सकती है। मूल्य के सिद्धान्त (theory of value) में समय का यही महत्त्व है।

७. अल्पकालीन (उप सामान्य) और दीर्घकालीन (सामान्य) कीमत में अन्तर (Difference between the Short-period (sub normal) Price and the Long-period (Normal) Price—

अल्पकालीन कीमत (Short-period Price) –छोटी अवधि म, उत्पादन के साधनो को पर्याप्त समय नही मिल पाता कि माँग के बदले हुए हालात के अनुसार बदल जाएँ। माँग बढ़ जाने पर उत्पादक चेष्टा करेंगे कि उत्पादन के जो साधन है उनसे अधिक काम लेकर, अतिरिक्त माँग को पूरा करें। वे मजदूरो से ओवर टाइम काम कराएँगे, रद्दी औजारो और मशीनो से दोबारा काम लेंगे और पुरानी मशीनो को फेंकने का इरादा स्थगित कर देंगे। इन सब बातो का मतलब होगा अधिक लागत। यदि इन साधनो को बढ़ाने का काफी समय होता तो बात दूसरी थी। तब उत्पादन की लागत भिन्न होती।

किन्तु दूसरी ओर यदि माँग घटती है तो उत्पादन निष्क्रिय रहते हैं क्योंकि उस उद्योग से उत्पादन के साधन को हटाने का समय नही होता। उत्पादन के साधन जैसे के तैसे रहते हैं परन्तु अल्प-नियोजित (under employed) होते हैं अर्थात् उनमे उनकी पूरी शक्ति भर काम नही लिया जाता। अल्पकाल में जब कि माँग गिर गई हो सप्लाई कम भी नही हो पाती। अल्पकाल समपण (परिवर्तन) काल है। अवस्थाएँ सामान्य नही हो पाई। वे उप-सामान्य (sub-normal) हैं। माँग और पूर्ति के इस अस्थायी सन्तुलन (temporary equilibrium) से जो कीमत निर्धारित होती है वह *अल्पकालीन कीमत* कहलाती है। छोटी अवधि में कीमत पर सप्लाई की अपेक्षा माँग का अधिक प्रभाव पड़ता है।

दीर्घकालीन कीमत (Long period Price)—लम्बी अवधि में परिस्थिति भिन्न होती है। माँग के अनुसार समायोजित होने के लिए सप्लाई के पास काफी समय रहता है। यदि माग बढ़ गई है तो उद्योग में उत्पादन के अधिक साधन लगा दिए जाते है। और यदि माँग स्थायी रूप से घट गई है तो कुछ साधनों को उसमें से हटा लिया जाता है। अत्यधिक-उत्पादन (Over-production) या अल्प उत्पादन (under-production) की अवस्था खत्म हो जाती है। माँग अथवा सप्लाई में हुए अस्थायी परिवर्तन अपना-अपना असर पूरा कर चुकते हैं। माँग और पूर्ति की नई अवस्थाओं में एक बिलकुल नया सन्तुलन बन जाता है। फलस्वरूप जो कीमत नियत होती है उसे सामान्य कीमत (Normal Price) कहते हैं। बाजार भाव, अर्थात् जो कीमत एक वक्त बाजार में चालू है, या उप सामान्य कीमत (sub normal price) अर्थात् अल्पकालीन (short-period) कीमत की अपेक्षा उपर्युक्त सामान्य कीमत (दीर्घकालीन कीमत) अधिक होगी या कम यह इस पर निर्भर है कि उस उद्योग में उत्पादन के कौनसे नियम लागू हैं। सामान्य कीमत पर उपज के नियमो (laws of returns) का प्रभाव हम अभी देखेंगे। दीर्घकाल में कीमत पर माँग की अपेक्षा सप्लाई का अधिक प्रभाव पड़ता है।

कितने-कितने समय को हम अल्पकाल और दीर्घकाल कहें यह उस उद्योग के स्वभाव पर और उत्पादन के साधनो की गतिशीलता (mobility) पर निर्भर है।

\

एक दो वर्ष कुछ उद्योगों के लिए दीर्घकाल हो सकते हैं, और कुछ अन्य उद्योगों के लिए अल्पकाल। एक उद्योग के लिए ५ साल दीर्घकाल हो सकता है, दूसरे के लिए १० साल और किसी अन्य के लिए कुछ और। असली कसौटी यह है कि हम निम्न सवाल का जवाब लें। "पूर्ति की शक्तियों को बदली हुई माग की हालात के अनुसार बदलने में कितनी देर लगेगी ?" अगर इसका जवाब "दस साल" हो तो दस साल या ज्यादा का अरसा दीर्घकाल होगा और कम अल्पकाल।

८. बाजार-कीमत और सामान्य कीमत में अन्तर (Difference between Market Price and Normal Price)—अल्पकालीन और दीर्घकालीन कीमतों के अन्तर के समान, बाजार भाव और सामान्य भाव का अन्तर भी मूल्य के सिद्धान्त में समय का महत्त्व ही बताता है।

बाजार भाव और सामान्य भाव में हम निम्न प्रकार के भेद देख सकते हैं—

(१) बाजार भाव किसी विशेष दिन या विशेष क्षण पर माँग और पूर्ति के अस्थायी संतुलन का फल है। सामान्य भाव दीर्घकाल के सतुलन का फल है।

(२) बाजार भाव माँग से अधिक प्रभावित होता है और सामान्य भाव पूर्ति या उत्पादन की लागत से।

(३) बाजार भाव अस्थायी कारणों और घटनाओं से प्रभावित होता है जबकि सामान्य कीमत स्थायी तथा परिवर्तनशील कारणों से शासित है। लम्बी अवधि में, अस्थायी कारण खत्म हो जाते हैं या एक दूसरे का प्रभाव खत्म कर देते हैं। उदाहरण के लिए, दूध का बाजार भाव अस्थायी कारणों से जैसे त्योहारों और मेलों से प्रभावित होता है। श्राद्ध के दिनों में, दूध की अधिक माँग होती है और उसकी कीमत चढ जाती है। दूसरी ओर कहीं मवेशियों का मेला हो तो उस स्थान में अस्थायी रूप में दूध की सप्लाई बढ जाएगी और उसकी कीमत गिर जाएगी। सप्लाई में कोई भी अन्तर बाजार भाव में परिवर्तन ला देता है।

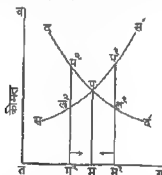
(४) बाजार भाव रोज-रोज बल्कि घण्टे-घण्टे में बदलता है जबकि सामान्य कीमत अधिक स्थिर होती है। बाजार भाव सप्लाई या माँग के अस्थायी उतार-चढाव के खत्म हो जाने पर फिर सामान्य कीमत पर लौट आने का प्रयत्न करता है। सामान्य कीमत वह केन्द्र-बिन्दु है जिसके आस-पास ही बाजार भाव घूमता है।

(५) किसी समय-विशेष पर बाजार में जो वास्तविक कीमत प्रचलित है वह बाजार भाव होता है। यह सच है कि सौदे इसी कीमत पर होते हैं। बाजार की कीमत एक यथार्थ है। इसकी अपेक्षा सामान्य कीमत एक कल्पनागत धारणा है। यह कभी भी प्रचलित नहीं होती। यह तो वह कीमत है जो, यदि अवस्थाएँ सामान्य हों तो, होनी चाहिएँ या हो सकती है। हम यह आशा करते हैं कि जब सामान्य अवस्थाएँ फिर आएँगी तब यही कीमत प्रचलित होगी किन्तु जब वह समय आएगा तब भी प्रचलित कीमत बाजार भाव कहलाएगी और सामान्य कीमत पीछे हटती चली जाएगी। एक मृग-जल की भाँति सामान्य कीमत कभी हाथ नहीं आती। यह तो आशाओं के ससार में है। बाजार भाव सागर के जल के समान है—सदा ज्वार-भाटे में, कभी शान्त नहीं, सदैव उठने-गिरने वाला। और तब भी हम यह

कहते हैं कि जल अपना तल पा लेता है। सामान्य कीमत समुद्र के उस तल के समान हैं जो हमे लहरें न होती तो मिलता।

(६) सामान्य कीमत उत्पादन की लागत से सम्बन्धित है। इसलिए केवल उस माल की जिसका पुन उत्पादन किया जा सकता है, सामान्य कीमत हो सकती है। जिस माल का उत्पादन नही किया जा सकता उसकी कोई सामान्य कीमत नही हो सकती। बाजार भाव दोनो प्रकार के माल का होता है।

सामान्य अथवा दीर्घकालीन कीमत की धारणा को अब हम रेखाचित्र द्वारा दिखाएँगे। परिमाणो को त ए पर और कीमतो को त व पर मापिए। माँग वक्र द द' है और पूर्ति वक्र स स'। प म सामान्य कीमत है। बाजार कीमतें प१, म१, और प२ म२ है। हर बार जब ये कीमतें सामान्य कीमत से दूर जाती है, तब इस सामान्य कीमत की ओर लौटने की उनकी प्रवृत्ति रहती है। त म१ परिमाण के लिए विक्रेता प१ म१ कीमत चाहते हैं जबकि खरीदार अपनी सीमान्त उपयोगिता के अनुसार केवल ल म१ ही देने को तैयार हैं। इसलिए विक्रेताओ को प१, ल१ की हानि होती है और सप्लाई त म१ से त म की ओर संकुचित होने लगती है। इसलिए प१, म१ की प म की ओर लौटने की प्रवृत्ति होती है। त म२, परिमाण के लिए विक्रेता ल२ म२



कीमत स्वीकार करने को तैयार है जबकि खरीदार प२ म२ दे सकते हैं। इससे विक्रेताओ को प२ ल२ का असाधारण नफा होता है और वे बिक्री का परिमाण बढा देते है। इसलिए सप्लाई त म२ से त म की ओर विस्तृत होने लगती है। तब कीमत प म की ओर चलने की प्रेरणा पाती है, जो कि दीर्घकालीन सतुलन कीमत है।

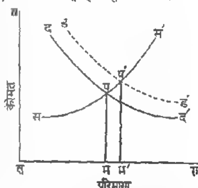
जैसा पहले कहा जा चुका है, बाजार भाव मे सदैव सामान्य कीमत की ओर जाने की प्रवृत्ति मौजूद रहती है। यद्यपि उस सामान्य कीमत तक हम शायद कभी नही पहुँच पाते। और समयानुसार, आदतो, फैशन और आय आदि मे अन्तर के साथ-साथ सामान्य कीमत का स्तर स्वय बदल जाता है।

६. उपज के नियमो का कीमत-निर्धारण पर प्रभाव (Influence of Laws of Returns on Price Formation)—मूल्य के सिद्धान्त में समय के महत्त्व का पता स्पष्ट रूप से उपज के नियमो के प्रभाव से लगता है। किसी वस्तु के

उत्पादन की विधि उसकी उत्पादन की लागत पर प्रभाव डालती है। इससे अल्पकाल में तो पूर्ति पर कोई असर नहीं पडता इसलिए बाज़ार भाव पर भी कोई प्रभाव नहीं होता। किन्तु उपज के नियम कालान्तर में (in the long run) असर डालते हैं। इसलिए वे केवल सामान्य कीमत पर ही प्रभाव डाल पाते हैं।

मान लीजिए कि किसी वस्तु की मांग बढ़ती है तो उसका बाज़ार भाव यानी उस समय बाज़ार में उसकी जो कीमत है, वह भी जरूर चढ़ जाएगी। लेकिन सामान्य कीमत यानी कालान्तर में जो कीमत होगी उसके बारे में हम ऐसा नहीं कह सकते। कालान्तर में कीमत क्या होगी यह जानने के लिए हमें यह जानना पड़ेगा कि उस उद्योग में उपज का कौनसा नियम लागू है।

(1) मान लीजिए कि उस वस्तु का उत्पादन करने वाले उद्योग में घटती हुई उपज (Diminishing Returns) का नियम लागू होता है, जैसे कोयले में। अब जब मांग बढ़ेगी तो कोयले की कीमत भी बढ़ेगी। उत्पादक इस वृद्धि से लाभ उठाने के लिए पूर्ति बढ़ाएगा। उत्पादन का पैमाना भी बढ़ेगा। किन्तु चूँकि उद्योग में घटती हुई उपज का नियम लागू होता है इसलिए जितना अधिक उत्पादन होगा उतनी ही उत्पादन की लागत अधिक होगी। इस प्रकार अतिरिक्त सप्लाई अधिक लागत की बैठेगी। जिसका मतलब यह हुआ कि आगे चलकर कीमतें ऊँची हो जायेंगी। सामान्य कीमत भी ऊपर उठ जायगी। सभी कृषि-पदार्थों जैसे गेहूँ, धान, ईख आदि के मामले में और खानों व मछली पकड़ने जैसे उद्योगों में यही होगा।



इसे हम रेखाचित्र द्वारा दिखा सकते हैं। स म' वक्र घटती हुई उपज दिखाता है, जब अधिक कोयले का उत्पादन किया जाता है। मांग की वृद्धि पुराने द द' के स्थान पर नये वक्र (बिन्दु वाला) ड ह' द्वारा दिखाई गई है।

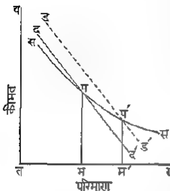
पुरानी सन्तुलन कीमत प म इस बढ़ी हुई मांग के फलस्वरूप नये सन्तुलन प' म' पर पहुँच जाती है।

यदि कोयले की माँग बढ़ती है तो कीमत तुरन्त चढ़ जायगी। आगे चलकर कीमत और भी चढ़ेगी क्योंकि अधिक उत्पादन ऊँची लागत पर होगा। घटती हुई उपज के नियम के कारण जितना आप ज्यादा उत्पादन करेंगे, उतनी ही अधिक लागत होगी और जितना कम उत्पादन करेंगे, उतनी ही कम लागत। उपर्युक्त रेखाचित्र में त ■ परि-माण के लिए पुरानी कीमत प म थी जो त म' की माँग पर प' म' तक चढ़ जाती है।

इसी तरह यह दिखाना भी आसान है कि कोयले की माँग में कमी से मूल्य कहीं अधिक गिर जाएगा। वह इसलिए कि थोड़ा उत्पादन (घटती हुई उपज के

नियम के कारण) कम लागत पर तैयार हो जाएगा।

(ii) किन्तु मान लीजिये कि उद्योग में बढ़ती हुई उपज (increasing returns) का सिद्धान्त लागू है, जैसे कपड़ा उद्योग। मान लीजिये कि कपड़े की माँग जनसंख्या की अथवा जीवन-स्तर की वृद्धि के कारण बढ़ती है। माँग की वृद्धि के अर्थ हुए ऊँची कीमत, और ऊँची कीमत का फल होता है, अधिक विस्तृत पैमाने पर उत्पादन। कपड़े में बढ़ती हुई उपज के नियम के कारण अधिक विस्तृत उत्पादन-पैमाने का अर्थ हुआ कम लागत। इसलिए जब माँग स्थायी रूप से बढ़ जायगी तो सामान्य कीमत कम हो जायगी। यह बात सभी मशीन निर्मित और औद्योगिक माल जैसे मोटरकार, साइकिल, साबुन, बिस्कुट, फाउन्टेनपेन, रेडियो सेट आदि के बारे में होगी।

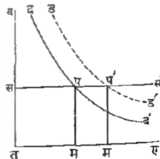


यह परिवर्तन रेखाचित्र द्वारा दिखाया जा सकता है। स स' वक्र दिखाता है कि कपड़ा घटती हुई लागत (decreasing cost) या बढ़ती हुई उपज (increasing returns) के नियम के अनुसार निर्मित होता है। उत्पादन बढ़ाने से लागत कम होती है। माँग की वृद्धि नये (बिन्दु वाले) वक्र ड ड' द्वारा दिखाई गई है।

पुरानी सन्तुलन कीमत प म थी किन्तु ड ड' तक माँग बढ़ जाने से कीमत प' म' तक गिर जाती है जो कि नई सन्तुलन कीमत है।

इसी प्रकार, ज़रा-सा विचार करने से यह समझ में आ जायगा कि जिस वस्तु का उत्पादन बढ़ती हुई उपज के नियम से होता है उसकी माँग यदि गिरती है तो सामान्य कीमत बढ़ जायगी क्योंकि कम उत्पादन प्रति इकाई अधिक लागत से होगा।

(iii) ऐसे उद्योग में जिसमें समान उपज (constant returns) का नियम लागू होता है, उत्पादन की लागत उतनी ही रहती है, उत्पादन का पैमाना चाहे जो हो। माँग में अन्तर अच्छाई में अवश्य परिवर्तन करेगा। उत्पादन का पैमाना भी बदल जायगा। किन्तु प्रति इकाई लागत उतनी ही रहेगी। ऐसी अवस्था अधिक समय तक नहीं रहती और तभी होती है जब बढ़ती और घटती हुई उपज के नियम समान रूप से सन्तुलित हो जाते हैं। इसलिए ऐसे मामलों में, कुछ समय तक सामान्य कीमत उतनी ही रहती है। रेखाचित्र से दिखाने के लिए, मान लीजिये



कि स स' वक्र गेहूँ जैसी किसी वस्तु का उत्पादन समान उपज के नियम के अन्तर्गत दिखाता है, जब कि उपज के घटने की प्रवृत्ति प्रगतिशील उपायों द्वारा रुकी हुई होती है। द द' पुराना वक्र है और माँग की वृद्धि बिन्दु वाले वक्र ड ड' से दिखाई गई है। इस अवस्था में माँग में वृद्धि कीमत पर असर नहीं डालती। पुरानी कीमत प म नई कीमत प म' के बराबर है।

इस तरह हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि यदि माँग बढ़ती है तो कीमत तुरन्त बढ़ेगी, किन्तु कालान्तर में इसका बढ़ना, घटना या समान रहना, इस बात पर निर्भर है कि उद्योग में क्रमशः घटती हुई उपज का सिद्धान्त लागू होता है या बढ़ती हुई या समान उपज का।

माँग के घटने पर सामान्य कीमत पर इससे उल्टा असर पड़ेगा।

१० दोबारा उत्पादन न हो सकने वाले माल का कीमत निर्धारण (Determination of the Price of Non-reproducible Goods)—जिन वस्तुओं का पुनरुत्पादन नहीं हो सकता उन पर उत्पादन की लागत का कोई प्रभाव नहीं पड़ता—न तात्कालिक और न भविष्य में। यहाँ उपभोक्ता की सीमान्त उपयोगिता ही निश्चय कर देगी। खरीदार की सीमान्त उपयोगिता से कीमत की उच्चतम सीमा निश्चित होती है और विक्रेता की अपनी सीमान्त उपयोगिता से उसकी निम्नतम सीमा। वास्तविक कीमत खरीदारों की परस्पर स्पर्द्धा से नियत होगी। प्राचीन महान् कलाकारों के चित्र, शेक्सपियर की पाण्डुलिपि, या इसी प्रकार की अन्य वस्तुएँ इस श्रेणी में आती है।

११ नाशवान वस्तुओं की कीमत (Price of Perishable Articles)—मछली, ताजा दूध, फल और तरकारी जैसी नाशवान् वस्तुओं की सप्लाई को बाजार में भेजने से रोका नहीं जा सकता। जो भी सप्लाई बाजार तक पहुँच गई है उसको निकाल देना जरूरी है। ऐसी चीज की कीमत माँग पर निर्भर होगी। यदि माँग गिर गई है तो कीमत बहुत कम होगी। और बढ़ गई हो तो इसके विपरीत होगा। यहाँ सीमान्त उपयोगिता ही निश्चयात्मक कारण है। कीमत इतनी कम होगी कि सारी सप्लाई बिक जाय।

१२. संयुक्त माँग में कीमत (Price in Joint Demand)—पूर्ण वस्तु बनाने के लिए अनेक वस्तुओं की एक साथ आवश्यकता पड़ती है। एक कार बनाने के लिए बहुत सी सामग्री चाहिए, किन्तु उपभोक्ताओं को कार की जरूरत है जो अन्तिम उत्पादन (final product) है। कार की कीमत उसकी माँग और पूर्ति से नियत होगी। किन्तु कार बनाने के लिए आवश्यक प्रत्येक पदार्थ की कीमत कैसे तय होगी? उपभोक्ताओं को इन वस्तुओं की अलग-अलग कोई आवश्यकता नहीं। इसलिए उपभोक्ताओं के लिए उनकी अपनी कोई उपयोगिता नहीं है। तो उनकी कीमत का उनकी सीमान्त उपयोगिता से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। सिर्फ अन्तिम वस्तु (final product) की सीमान्त उपयोगिता गिनी जायगी। किन्तु हम कह सकते हैं कि अन्तिम वस्तु की कीमत आखिर में इतनी अवश्य होगी कि इन सब वस्तुओं के पूर्ति मूल्य अर्थात् वह कीमतें जिन पर वह सामग्री उपलब्ध है उसमें से निकल आएं। प्रत्येक

पदार्थ उस हद तक प्रयुक्त होगा जहाँ तक कि उसकी कीमत उसके उत्पादन की सीमान्त लागत (marginal cost of production) के बराबर हो जाती है।

इस प्रकार संयुक्त रूप में माँगे जाने वाले पदार्थों की कीमत अन्तिम वस्तु (final product) जैसे मोटरकार की सीमान्त उपयोगिता से निश्चित होती है और यह कालान्तर में इतनी अवश्य होनी चाहिए कि संयुक्त माँग किए गए माल (अर्थात् अन्तिम वस्तु के उत्पादन के लिए अपेक्षित वस्तुओं) की कीमतें उसमें से निकल आएँ।

१३ मिश्रित या यौगिक माँग में कीमत (Price in Composite Demand)—एक वस्तु की माँग मिश्रित या यौगिक कही जाती है जब उसके विभिन्न उपयोग होते हैं। उदाहरण के लिए कोयले का उपयोग खाना बनाने में, कमरा गरम करने में और अन्य कार्यों में भी हो सकता है। कोयले की माँग उसकी विभिन्न उपयोगों के लिए माँग से मिलकर बनती है। अधिकतर वस्तुओं का एक से अधिक उपयोग होता है। इसलिए उनकी माँग मिश्रित होती है।

ऐसे मामलों में कीमत उस वस्तु का क्या उपयोग हो रहा है इस पर निर्भर नहीं होती। कोयला उसी कीमत पर बिकेगा चाहे उसका कोई भी इस्तेमाल किया जाय। किसी एक समय पर उसकी कीमत खरीदार की सीमान्त उपयोगिता पर निर्भर है, और कालान्तर में वह इसकी सीमान्त लागत से ऊपर होनी चाहिए। दूसरे शब्दों में कीमत मूल्य के साधारण सिद्धान्त के अनुसार निश्चित होगी। प्रत्येक खरीदार यह तय करेगा कि इसे किस उपयोग में लाना श्रेयस्कर है। यह उपयोग उस वस्तु की कीमत पर निर्भर होगा। यदि कोयला मँहगा है तो उसका उपयोग केवल खाना बनाने में होगा, कमरा गर्म करने में नहीं। यदि पानी कहीं दुर्लभ है और मँहगा है तो उसका उपयोग छिड़काव से सड़कें तर करने में न होगा।

मिश्रित माँग वाली वस्तु की सीमान्त उपयोगिता उसके प्रत्येक उपयोग में समानता की ओर जाती है। यदि वह समान नहीं है तो वह हटकर उस उपयोग में जाने लगेगी जिसमें उसकी सीमान्त उपयोगिता अधिक है। यह तब तक होता रहेगा जब तक कि सब उपयोगों की सीमान्त उपयोगिताएँ बराबर न हो जायें। प्रतिस्थापना (substitution) तथा सम-सीमान्त उपयोगिता (equi marginal utility) के नियमों के अनुसार, एक वस्तु का मालिक उसके उपयोग से तभी अधिकतम तृप्ति पाता है जब सब कामों में उसे उससे समान सीमान्त उपयोगिताएँ मिलें।

इस प्रकार मिश्रित माँग में आने वाली वस्तु की कीमत सभी विभिन्न उपयोगों की सीमान्त उपयोगिता से नियत होती है और कालान्तर में, यह कीमत उसकी सीमान्त लागत से अधिक होनी चाहिए।

१४. संयुक्त पूर्ति में कीमत (Price in Joint Supply)—कुछ वस्तुएँ सप्लाई में संयुक्त होती हैं। उनकी उत्पादन की लागत इकट्ठी होती है जैसे गेहूँ और भूसे की। किन्तु उनका बाजार स्वतन्त्र होता है। वे बिकती अलग-अलग बाजारों में हैं। हर एक की कीमत खरीदार के लिए उसकी सीमान्त उपयोगिता पर निर्भर है। किन्तु आखिर में दोनों वस्तुओं, जैसे गेहूँ और भूसे, से अलग-अलग प्राप्त कुल कीमत

का योग दोनो वस्तुओं की सम्मिलित उत्पादन-लागत के बराबर होना चाहिए ।

अगर संयुक्त उत्पादन मे से एक वस्तु की माँग बढ जाय तो क्या होगा ? जैसे गेहूँ और भूसे को ले लीजिए । यदि गेहूँ की माँग बढ जाय तो उसकी कीमत बढेगी । ऊँची कीमत का लाभ उठाने के लिए अधिक गेहूँ पैदा किया जाएगा । किन्तु जब गेहूँ पैदा होगा तो भूसा साथ-साथ स्वय ही पैदा होगा । तब भूसे की सप्लाई भी बढ जाएगी, यद्यपि उसकी माँग पहले जितनी ही रहती है । इसलिए भूसे की कीमत गिर जाएगी । किन्तु एक की कीमत मे वृद्धि दूसरे की बिक्री से होने वाले टोटे को पूरा करने लायक होनी चाहिए जिससे कि दोनो की कीमतो का कुल योग उत्पादन की संयुक्त लागत के बराबर हो ।

जब दोनो संयुक्त वस्तुओं के उत्पादन के अनुपात मे परिवर्तन किया जा सकता है तब दोनो की अलग-अलग उत्पादन लागत का अन्दाजा लगाना सम्भव है । नस्लो का मिश्रण करके यह सम्भव हुआ है कि ऐसी भेड उत्पन्न की जायें जो ऊन देती हैं और ऐसी जो मास (मटन) के लिए अधिक उपयुक्त है। तब मेरिनो (Marino) अर्थात् ऊन-उत्पादक भेडो को पालने के लिए अपेक्षित अतिरिक्त व्यय अतिरिक्त ऊन उत्पन्न करने की लागत है । यह उनकी सीमान्त लागत है । इसी प्रकार मास की भी सीमान्त लागत पता लग सकती है । जब अलग-अलग लागत लगा ली जाती है तब संयुक्त उत्पादनो को स्वतन्त्र पदार्थो के रूप में भी गिन सकते है और प्रत्येक की कीमत साधारण मूल्य के सिद्धान्त के अनुसार निर्धारित होगी । इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक की बाजार कीमत किसी विशेष क्षण पर माग और पूर्ति के अनुसार नियत होगी और सामान्य कीमत उत्पादन की सीमान्त लागत के बराबर होगी । इस मामले मे संयुक्त उत्पादन की एक वस्तु की कीमत में अन्तर दूसरे की कीमत पर असर न डालेगा ।

१५ मिश्रित पूर्ति मे कीमत (Price in Composite Supply)—जब अनेक पदार्थ एक ही अभाव की पूर्ति कर सकते हैं तो यह कहा जाता है कि उनकी पूर्ति मिश्रित (composite) है । प्रकाश गैस, बिजली, मिट्टी के तेल आदि किसी से भी मिल सकता है । गरम पेय गरम दूध, या चाय, कॉफी, कोको, कुछ भी हो सकता है । यह मिश्रित पूर्ति (composite supply) के उदाहरण है ।

ऐसी वस्तुएँ कम या ज्यादा एक दूसरे की विकल्प (alternatives) है, चाहे वे बिल्कुल समान न हो । यद्यपि ये एक-दूसरे का स्थान पूर्ण रूप से नही ले सकती, किन्तु यदि आवश्यकता पडे तो किसी हद तक एक-दूसरे के अभाव की पूर्ति कर सकती हैं । इसलिए यद्यपि उनकी सीमान्त उपयोगिताएँ नितान्त समान नही है किन्तु वे अधिक भिन्न भी नही है । इसलिए उनकी कीमतें साथ-साथ बदलती है ।

ऐसी वस्तुओं की कीमत कुल माँग के मुकाबले में उनकी कुल पूर्ति से, अर्थात् सभी समान वस्तुओं की कुल सप्लाई से, निर्धारित होगी । कालान्तर मे, प्रत्येक की कीमत उसकी अपनी सीमान्त लागत के अनुकूल होगी ।

ऐसी किसी एक वस्तु की कीमत मे अन्तर दूसरी की कीमत मे अन्तर कर देता है । यदि चाय की कीमत उठे तो कॉफी की माँग भी बढेगी और उसकी कीमत भी

चढ़ जाएगी। उनकी कीमतें एक-दूसरे की सहानुभूति में चढ़ती-गिरती हैं।

१६ एकाधिपत्य में कीमत (Prices Under Monopoly)—अब तक हमने कीमतों का निर्धारण मुक्त स्पर्द्धा (free competition) की अवस्थाओं में देखा है। किन्तु यदि एकाधिपत्य (monopoly) हो तो क्या होगा ? और जब स्पर्द्धा अपूर्ण (imperfect competition) हो ?

एकाधिपत्य की अवस्था में भी माँग और पूर्ति की शक्तियों में अन्तर्क्रिया होना अवश्यम्भावी है। किन्तु इसमें यह अन्तर अवश्य है कि सप्लाई अपने को माँग के अनुकूल ढालने में मुक्त नहीं है। यह किसी एकाधिपति के नियन्त्रण (control) में है। एकाधिपति अकेला उत्पादक है और पूर्ति बदलकर आसानी से मूल्य में परिवर्तन ला सकता है। पूर्ण स्पर्द्धा में बहुत से उत्पादक होने के कारण किसी एक का उत्पादन कुल का थोड़ा-सा अंश होता है। इसलिए कोई अपनी पूर्ति में फर्क करके कीमत पर असर नहीं डाल सकता।

सप्लाई का नियन्त्रण उसके हाथ में होने के कारण एकाधिपति (monopolist) दो में से एक बात कर सकता है—(क) कीमत पहले ही निश्चित करके माँगी हुई मात्रा को उस कीमत पर सप्लाई कर सकता है, या (ख) वह सप्लाई पहले तय कर दे और मण्डी में जो भी माँग हो उसके द्वारा कीमत को अपने आप निर्धारित होने दे। किन्तु वह कीमत भी स्वयं तय करे और उसी कीमत पर कोई निश्चित परिमाण खरीदने पर लोगों को विवश करे, यह दोनों काम नहीं कर सकता। वह दोनों में से एक ही काम कर सकता है।

एकाधिपति का एक ही उद्देश्य होता है। वह है अधिकतम शुद्ध लाभ की प्राप्ति (maximum monopoly net revenue)। इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए उसे अपनी वस्तु की माँग और पूर्ति की अवस्थाओं का सावधानी से अध्ययन करना पड़ेगा।

माँग की ओर उसे यह देखना पड़ेगा कि माँग लोचदार है या बेलोच। लोचदार (elastic) माँग होने की कीमत की थोड़ी सी कमी भी माँग को प्रोत्साहन देती है। इसलिए यह कीमत कम करेगा और अधिक बेचेगा जिससे अपने उत्पादन पर उसे ज्यादा शुद्ध मुनाफा (net profit) मिले। किन्तु यदि माँग बेलोच (inelastic) है और वह जानता है कि हर कीमत पर लोग खरीदेंगे ही, तो वह माँग पर बिना असर डाले हुए ऊँची कीमत पा सकता है।

पूर्ति की तरफ एकाधिपति को यह जानना पड़ेगा कि उद्योग में कौनसा (घटती हुई, बढ़ती हुई या समान) उपज का नियम लागू होता है। यदि घटती हुई उपज का नियम लागू है तो अधिक उत्पादन पर प्रति इकाई अधिक लागत आएगी। इसलिए वह कम माल बनाएगा। यदि माँग बेलोच है तो वह ऊँची कीमतें वसूल करेगा। किन्तु यदि बढ़ती हुई उपज नियम का लागू है तो अधिक उत्पादन पर फी इकाई लागत कम आएगी। इसलिए वह अधिक उत्पादन करेगा और कम कीमत लेगा जिससे कुल उत्पादन पर अधिक बचा सके।

एकाधिपति कितना उत्पादन करेगा या कहाँ रुकेगा ? जब वह उत्पादन का पैमाना बढ़ाता है तो एक बिन्दु विशेष (optimum point) पर पहुँचकर उसकी

लागत बढ़ने लगती है। तब प्रत्येक अतिरिक्त उत्पादन में फी इकाई अधिक व्यय बैठता है। किन्तु फिर भी मिलने वाली कीमतों के मुकाबले मे उसे मुनाफा होता है। यानी उसे अतिरिक्त (additional) आय होती है। इसलिए वह उत्पादन बढ़ाता जाएगा जब तक कि उसकी सीमान्त प्राप्ति (marginal revenue) अर्थात् अतिरिक्त आय, सीमान्त (अतिरिक्त) लागत से ज्यादा बैठती है। जहाँ सीमान्त लाभ (marginal profit) और सीमान्त लागत (marginal costs) बराबर हो जाएँगे, वहाँ वह उत्पादन बढ़ाना बन्द कर देगा। इस बिन्दु पर उसका कुल मुनाफा (total profit) अधिकतम होगा। किन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि इस बिन्दु तक वह तभी बढ़ पाता है जब उसका कोई प्रतिद्वन्द्वी नही होता। यह जरूरी नही कि एकाधिपत्य की कीमत ऊँची ही हो। कभी-कभी यह कीमत स्पर्द्धा की दशा में निर्धारित कीमत से भी कम हो सकती है। क्योंकि एकाधिपति को विज्ञापन पर व्यय नही करना पड़ता। फिर उसे बड़े पैमाने के उत्पादन की साधारण मितव्ययिताएँ मिल जाती है। यह भी जरूरी नही कि एकाधिपति हमेशा उच्चतम कीमत वसूल करे। उसे जनमत का डर रहता है। सरकारी हस्तक्षेप का और जो भरतु वह पैदा करता है उसके विकल्पो की खोज का भी डर बना रहता है। इसलिए यद्यपि आमतौर पर एकाधिपत्य कीमत (monopoly price) अधिक होती है, किन्तु उसका अधिक होना अनिवार्य नही है,. एकाधिपति इस स्थिति मे भी होता है कि वह विभिन्न व्यक्तियो से विभिन्न क्षेत्रो मे भिन्न-भिन्न कीमते ले ले। यह एकाधिपत्य व्यवस्था (monopoly system) का भारी दोष है। यह अवगुण कीमत-पक्षपात (price discrimination) कहलाता है।

१७. एकाधिपत्यात्मक या अपूर्ण स्पर्द्धा—वास्तविक जगत् में न तो पूर्ण स्पर्द्धा ही मिलती है न पूरा एकाधिपत्य पाया जाता है। ऐसी 'खालिस' अवस्था दुर्लभ है। प्राय. यह दीखता है एक वस्तु का उत्पादन करने वाले प्रतिष्ठान न तो बहुत ज्यादा होते है (जैसा कि पूर्ण स्पर्द्धा मे चाहिए) और न ही केवल एक (जैसा कि एकाधिपत्य मे होता है) फर्मों की काफी सख्या होती है पर अत्यधिक नही।

फिर, जो वस्तु ये फर्में बनाती है वह बिल्कुल समान नही होती। उसमें कुछ पृथक्करण (differentiation) हो जाता है। उदाहरण के लिए सिलाई की मशीनो को ले लीजिए। बहुत सी फर्में है जो भिन्न भिन्न नामो से मशीने बनाती हैं—जैसे सिंगर, उषा, कमला, रजीत, रीटा, कमल, शान्ति आदि आदि। ये सभी वैसे सिलाई की मशीनें है परन्तु एक दूसरे से पृथक् हो चुकी है। इसी तरह भिन्न-भिन्न नामो के टूथ पेस्ट, फाउन्टेन पेन की स्याहियाँ, ब्लेड, क्रीमे, पाउडर होते है।

आज के बाजार की इन दो विशेषताओ के कारण न पूर्ण स्पर्द्धा की शर्तें ही पूरी होती हैं न एकाधिपत्य की। तो भी इन उत्पादको मे आपस मे जोर की स्पर्द्धा रहती है। प्रत्येक व्यक्तियों की मूल्य-उत्पादन नीति का ध्यान रखता है। इस परिस्थिति को 'एकाधिपत्यात्मक स्पर्द्धा' या 'अपूर्ण स्पर्द्धा' कहते हैं। इसमे एकाधिपत्य का अश है क्योंकि प्रत्येक ब्रॅण्ड (brand) एक पृथक् वस्तु है जिसका एक ही उत्पादक है, और स्पर्द्धा का भी क्योंकि दूसरे ब्रॅण्ड इससे इतने मिलते-जुलते है कि उत्पादको मे

जबर्दस्त मुकाबला रहता है। परन्तु वह स्पर्द्धा "अपूर्ण" है क्योंकि अकेला भी मूल्य पर प्रभाव डाल सकता है। विज्ञापनबाजी और "सेल्समैनशिप" की मँजी हुई कला आजकल के इस प्रकार के बाजार की बड़ी विशेषता है। इस तीव्र स्पर्द्धा के कारण अपूर्ण स्पर्द्धा की अवस्था में कीमत का निर्धारण एकाधिपत्य की बजाए मुक्त स्पर्द्धा से अधिक मिलता-जुलता होने की सम्भावना है।

१८ कीमत का कार्य (Function of Price)—आर्थिक ढाँचे में कीमत का कार्य अत्यन्त महत्वपूर्ण है। वास्तव में कीमत ही अर्थतन्त्र की कार्यवाही को इतना सुगम बनाती है। स्पर्द्धात्मक पूंजीवाद (competitive capitalism) में, कोई केन्द्रीय सत्ता नहीं होती जो आर्थिक शक्तियों का निर्देशन करे। कीमत ही निर्देशक शक्ति (directing force) होती है।

हम कीमत के निम्नलिखित कार्य बता सकते हैं—

(१) कीमत उपभोग का नियन्त्रण करती है। यदि कीमत ऊपर चढ़े तो उपभोक्ताओं को चेतावनी मिल जाती है कि वे अपना उपभोग कम करें। तब वस्तु अधिक अनिवार्य कामों में ही ली जाती है।

(२) कीमत उत्पादन का निर्देशन करती है। यदि कीमत कम है तो उत्पादक छँट जाते हैं। यदि अधिक है तो अधिक उत्पादक आकर्षित होते हैं और उत्पादन को बढ़ावा मिलता है।

(३) कीमत मौजूदा सप्लाई को माँग से समायोजित (adjust) करती है। यदि वस्तु की पूर्ति कम है तो कीमतें ऊपर चढ़ जाती हैं। और माँग कम होकर सप्लाई के बराबर आ जाती है। यदि स्टाक जमा हो गए हैं तो कीमतें गिरकर माँग बढ़ा देती हैं और उसे पूर्ति के स्तर पर ले आती है और एकत्रित सप्लाई (स्टाक) निकल जाती है।

(४) उत्पादन के साधनों की कीमतों से यह निश्चित होता है कि उन्हें किस क्षेत्र में ले जाने से उनमें सबसे ज्यादा आय होगी। इस प्रकार कीमतों के कारण उत्पादन के साधन सबसे उपयोगी जगहों पर प्रयुक्त होते हैं।

इस प्रकार कीमत ही पूंजीवादी अर्थतन्त्र में तमाम आर्थिक कार्यवाही का सञ्चालन करने वाली है।

आपने इस अध्याय से क्या सीखा ?

पूर्ण स्पर्द्धा में ये चीजें आवश्यक हैं—

(i) खरीदने और बेचनेवालों की बड़ी संख्या।

(ii) वस्तु में एकरूपता।

(iii) बाजार में प्रवेश करने और छोड़ने का खुला अवसर।

(iv) बाजार की परिस्थिति का पूरा ज्ञान।

(v) उत्पादन के साधनों की गतिशीलता।

प्रतिस्पर्द्धा के अन्तर्गत कीमत निर्धारण (Price Determination under Competition)—कीमत माँग और पूर्ति की शक्तियों की परस्पर अन्तर्क्रिया (interaction) से तय होती है। माँग की दृष्टि से यह खरीदार की सीमान्त उपयोगिता (marginal utility) के बराबर और पूर्ति की दृष्टि से उत्पादन की सीमान्त लागत (marginal cost of

production) के बराबर जाने की कोशिश करती है। किसी समय-विशेष पर कीमत (अर्थात् बाजार भाव) उस समय की माग और पूर्ति के बीच में एक सतुलन होती है। और कालांतर में अर्थात् सामान्य भाव) वह उत्पादन की सामान्त लागत के निकट पहुचती है।

माग, पूर्ति और कीमत मे सम्बन्ध (Relation Between Demand, Supply and price)—इन तीनों में कार्य-कारण (Cause and effect) का नहीं वरन् परस्पर कारण (mutual causation) का सम्बन्ध होता है। वे एक प्याले में पड़ी तीन गेंदों के समान हैं जो तीनों एक दूसरे को सहारा देती हैं।

मूल्य के सिद्धान्त में समय का महत्व (Time Element in the Theory of Vaule)—मूल्य के सिद्धान्त में समय का बड़ा महत्व है। माग और पूर्ति का सतुलन किसी कालावधि को लेकर ही होता है। अलग अलग समय में माग और पूर्ति की शक्तियों का समायोजन होने के लिए जितने काल अवधि के अनुसार भिन्न भिन्न सन्तुलन कीमत होती। जितनी कम अवधि होगी उतना ही माग का अधिक प्रभाव होगा। जितनी अधिक अवधि होगी, सप्लाई का असर उतना ही अधिक होगा। उदाहरण के लिए यदि माग बढ जाए तो तात्कालिक फल (immediate effect) कीमत का बढना होगा, किन्तु अन्त मे कीमत बढे, गिरे या वही रहे, यह इस बात पर निर्भर होगा कि उद्योग में उपज कौनसा (बढती हुई, घटती हुई या समान उपज का) नियम लागू है। भिन्न समय में विभिन्न परिणाम होंगे।

बाजार भाव और सामान्य भाव (Market Price and Normal Price)—

(i) बाजार भाव किसी क्षण पर प्रचलित वास्तविक कीमत है, किन्तु सामान्य कीमत वह कीमत है जिसका कालान्तर मे आशा की जाती है।

(ii) बाजार कीमत समय-समय पर घटती बढती रहती है किन्तु सामान्य कीमत अधिक स्थिर है। सामान्य कीमत वह केन्द्र है जिसके चारों ओर बाजार कीमत घूमती है।

(iii) बाजार कीमत अस्थायी कारणों से प्रभावित होती है। सामान्य कीमत अधिक स्थायी कारणों का परिणाम है।

(iv) बाजार कीमत माग से प्रभावित होती है सामान्य कीमत उत्पादन की व्यय से।

(v) केवल पुन उत्पादन किये जाने वाले माल की सामान्य कीमत हो सकती है।

उपज के नियमों का प्रभाव (Influence of the Laws of the Returns)—उपज के नियमों का उत्पादन व्यय पर असर पड़ता है। इसलिए वे कीमत पर केवल दीर्घकाल में ही प्रभाव डाल सकते हैं। उपज के नियमों के कारण ही अन्त मे कीमत घटती, बढती या समान रहती है, यद्यपि माग की वृद्धि का तात्कालिक फल कीमत में वृद्धि अवश्य होता है।

पुनरुत्पादन न हो सकने वाले माल की कीमत (Price of Non-reproducible goods)—ऐसे मामलों मे, माग सबसे अधिक प्रभाव डालती है। कीमत की अधिकतम सीमा खरीदार के लिए सीमान्त उपयोगिता द्वारा निर्धारित होती है और निम्नतम सीमा विक्रेता की सामान्त उपयोगिता द्वारा।

नाशवान् वस्तुएं (Perishable Articles)—इस मामले में भी सप्लाई अपेक्षाकृत बेलोच (inelastic) है। बाजार मे कीमत उस समय का माग के विस्तार पर निर्भर होगी। कीमत इतनी कम अवश्य होनी चाहिए कि सारी सप्लाई बिक जाए।

संयुक्त माग मे कीमत (Price in Joint Demand)—अन्तिम वस्तु की माग-कीमत (demand price) कालान्तर में, निर्माण-कार्य में उपयुक्त होने वाली सभी वस्तुओं की सामान्त पूर्ति कीमत (marginal supply price) के बराबर होना चाहिए।

मिश्रित माग कीमत (Price in Composite Demand)—कीमत साधारण मूल्य के सिद्धान्त द्वारा निश्चित होता है अर्थात् खरीदार की सामान्त उपयोगिता और उत्पादक के सामान्त उत्पादन-व्यय से। प्रत्येक खरीदार अपने लिए तय करेगा कि वह उस वस्तु को किस काम में लाए। यह कीमत के स्तर पर निर्भर होगा।

संयुक्त उत्पादन या संयुक्त पूर्ति की कीमत (Price of Joint-products or Joint Supply)—यदि अनुपात बदला नहीं जा सकता, और इसलिए अलग अलग सीमान्त लागतें नहीं जानी जा सकतीं तो दोनों की कीमतों का कुल योग कालान्तर में उत्पादक के संयुक्त सीमान्त व्यय के बराबर होना चाहिए। यदि एक की कीमत गिर जाए तो दूसरे की बढ़नी चाहिए, जिससे कमी पूरी हो जाए। यदि अनुपात बदल सके तो संयुक्त उत्पादन में से प्रत्येक की उत्पादन-लागत अलग अलग मालूम करना सम्भव है। तब प्रत्येक की कीमत ऐसे निश्चय होगी मानो वे अलग-अलग वस्तुएँ हों, अर्थात् माँग और पूर्ति से।

मिश्रित पूर्ति में कीमत (Price in Composite Supply)—पूर्ति के तमाम वैकल्पिक उद्गमों (sources) की कुल माँग और कुल पूर्ति के परस्पर सम्बन्ध से कीमतें निश्चित होती हैं। प्रयोग में आने वाली एक वस्तु की कीमत भी कालान्तर में सीमान्त व्यय के बराबर होनी चाहिए। यद्यपि वे पूर्ण विकल्प (alternatives) नहीं हैं, फिर भी उनकी कीमतें साथ-साथ घटती-बढ़ती हैं।

एकाधिपत्य में कीमत (Price under Monopoly)—एकाधिपति या तो कीमत निश्चित कर सकता है या उत्पादन, दोनों नहीं। वह मुनाफा चाहता है। यदि माँग बेलोच है तो वह ऊँची कीमत वसूल करेगा। यदि माँग लोचदार है तो वह कीमतें कम करके लाभ बढ़ायेगा। यदि वस्तु बढ़ती हुई उपज के नियम के अधीन उत्पादित होती है तो वह अधिक परिमाण में उत्पादन करके कीमतें कुछ कम रख सकता है। यदि घटती हुई उपज के नियम से उत्पादन होता है तो वह उत्पादन कम करेगा और ऊँची कीमत लेगा। वही उत्पादन उसे अधिकतम शुद्ध लाभ (maximum net profit) देगा, जिस पर सीमान्त लागत के बराबर होगा।

वास्तविक संसार में फर्मों की संख्या न तो बहुत ज्यादा ही होती है, न बहुत कम। एक वस्तु बनानेवालों की तादाद बहुतेरी होती है पर अत्यधिक नहीं। वस्तु भी बिलकुल एक जैसी नहीं होती। उसमें कुछ पृथक्करण हो जाता है। इस कारण वास्तविक जगत् में न पूर्ण स्पर्द्धा होती है न एकाधिपत्य। प्रायः जो अवस्था मिलती है वह है अपूर्ण या एकाधिपत्यात्मक स्पर्द्धा की।

कीमत के काम (Functions of price)—

(i) यह उपयोग का नियन्त्रण करती है।

(ii) यह उत्पादन का निर्देशन करती है।

(iii) यह पूर्ति को माँग के अनुसार समायोजित करती है।

(iv) साधनों की कीमतें यह बताती हैं कि उनका किस प्रकार नियोजन करने से अधिकतम आय होगी।

क्या आप निम्न प्रश्नों का उत्तर दे सकते हैं?

1 What is market ? How is price determined in markets in India ? Illustrate graphically (ए० वि०, १९५३)

बाजार की परिभाषा के लिए देखिये अध्याय १७, विभाग १

[भारत की मण्डियों में भी कीमतें माँग और पूर्ति की शक्तियों की अन्तर्क्रिया द्वारा निश्चित होती हैं किन्तु स्पर्द्धा, जो माँग और पूर्ति की शक्तियों को कार्यशील बनाती है, यहाँ पूर्ण रूप से मुक्त नहीं है, क्योंकि संचार और परिवहन (communication and transport) के पर्याप्त साधन नहीं हैं और कच्चे माल की पूर्ति करने वाले किसान अनपढ़ और गरीब हैं। बीच के दलाल बहुत हैं। मध्यस्थ व्यक्ति बेईमानी करते हैं। अनुचित काट छाँट होती है। बाजार विनियमित (regulate) नहीं हैं। गलत तोल और बाटों का प्रयोग होता है। दलाल छिपे छिपे कीमतें तय करते हैं। इन सब के कारण किसानों को उचित कीमत नहीं मिल पाती है।]

[देखिए विभाग ६। सामान्य कीमत उत्पादन की सीमान्त लागत से निश्चित होती है। जिसमें मूल्य व्यय (prime cost) और अनुपूरक व्यय (supplementary cost) दोनों शामिल हैं। इसमें औसत फर्म की सामान्य लागत के निकट रहने की प्रवृत्ति होती है।]

2 What is competition ? Show how price is determined under perfect competition (लौहाटी, १९५३, बनारस, १९३८)

देखिये विभाग २

3 Define the concept of perfect competition How is the value of a commodity determined in a short-period market under the conditions of perfect competition ? (पटना १९५४)

4 Distinguish between normal price and market price, and show how price is determined under perfect competition

(आगरा, १९५३ ब० वि०, १९४१)

देखिये विभाग २ और ७

5 What is a normal price ? How is it determined ? Illustrate with the help of a diagram

(ब० वि०, १९५३ ; यू० पार्ट बोर्ड, १९५३ सागर, १९५२)

[देखिये विभाग ६ सामान्य कीमत उत्पादन की सीमान्त लागत से निश्चित होती है। जिसमें मूल व्यय (prime cost) और अनुपूरक व्यय (supplementary) दोनों शामिल हैं। इससे औसत फर्म की सीमान्त लागत और सीमान्त फर्म की औसत लागत के निकट रहने की प्रवृत्ति होती है।]

6 Explain carefully with the help of a diagram how demand, supply and price are mutually dependent

(अजमेर, १९५५ पंजाब, १९३६)

देखिये विभाग ४

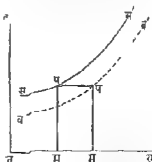
7 Discuss the importance of time element in the theory of value (दिल्ली, १९३६)

देखिये विभाग ५

8 What do you understand by an increase in supply ? What is the effect of an increase in supply on price ? Illustrate by a diagram (पंजाब विश्वविद्यालय, १९४५)

देखिये विभाग ६ अध्याय १६

[पूर्ति में वृद्धि का अर्थ है कि उतनी कीमत में अधिक माल सम्बन्धी में रखा जाता है अथवा (प म = प म) कीमत पर त म के बजाय त म माल। यह रेखाचित्र से स्पष्ट है। सप्लाई में वृद्धि बिन्दु वक्र वाले द्वारा दिखाई गई है। इसका अर्थ यह भी हो सकता है कि वही परिमाण कम कीमत पर भी दिया जा सकता है। पहले त म को प म कीमत पर दिया जा रहा था। किन्तु सप्लाई बढ़ गई है जैसा कि बिन्दु वाले वक्र से बताया गया है, त म को नीची कीमत पर दिया जाता है।]



9 Discuss the influence of the laws of return on the theory of value (कलकत्ता विश्वविद्यालय १९४०)

10 Discuss the effects of a permanent increase of demand for a commodity on its price in the long period Use diagrams to illustrate your answer (अजमेर १९५३)

देखिये विभाग ८

11 How is normal price determined ? Can you account for the paradox that sometimes a rise in the normal demand for a commodity may lead to a fall in price (जम्मू एण्ड काश्मीर, १९५३)

देखिये विभाग ६ और ८ (ii)

12 How is value determined in the following cases— Joint demand, composite demand joint supply and composite supply ?

देखिये विभाग ११ १४

13 What is monopoly ? Explain how price is determined under monopoly (बिहार, १९५३ कलकत्ता विश्वविद्यालय १९५३ इलाहाबाद १९३६)

देखिये विभाग १५

मुद्रा या द्रव्य

(MONEY)

वह छड़ी जो मापती है

(The Rod that Measures)

१ युगों पहले (Ages ago)—पहले यत्नो मे इन्सान की जरूरत बहुत थोडी थी। वह एक सादा जीवन व्यतीत करता था और अधिकतर शिकार और मछली मारने से अपनी सारी आवश्यकताएँ स्वय पूरी कर लेता था। जैसे-जैसे समय बीतता गया और उसकी आवश्यकताएँ बढी उसकी यह आत्म-निर्भरता खत्म हो गई। वह अपनी उत्पादित वस्तुएँ अपने पडोसियो से बदलने (विनिमय करने) लगा। बदले में वह उनसे वे वस्तुएँ लेता जो उसके पास न होतीं। यह सीधा-सादा विनिमय, जिसमे वस्तुओ का परस्पर तबादला होता था और जिसमे मुद्रा (money) का कोई नाम न था, वस्तु-विनिमय या बार्टर (barter) कहलाता है। यह एक प्रकार से किसी वस्तु को दूसरी वस्तु के द्वारा खरीदना था, आज सभ्य समाजो मे बार्टर नही किया जाता। इस प्रकार के विनिमय अब शायद ही कभी देखने मे आते हो। कदाचित् अब भी स्कूल के छोटे बच्चे कभी एक नई पैन्सिल को पुराने कलम से आपस मे बदल लेते हो। या किसी दूर के देहात मे कोई किसान की औरत गाँव के बनिये से कुछ नमक या दियासलाई अनाज देकर खरीदती हो। आस्ट्रेलिया या अफ्रीका के अन्तराल मे भी, बुशमैन (Bushmen) आज भी अपनी थोडी सी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बार्टर के उपाय का प्रयोग करते है। किन्तु बार्टर विनिमय सामान्य रूप मे नही रहा है। सभ्य ससार ने इसे युगो पहले त्याग दिया था।

आज (Today)—आज हम मुद्रा के बिना जिन्दगी का विचार नही कर सकते। हमारी ज़रूरतें बहुत अधिक और जटिल है। वे पदार्थों का सीधे सीधे विनिमय करके पूरी नही की जा सकती। हम अनेक छोटी-छोटी चीजो के लिए कैसे अदायगी (payment) करेंगे, जैसे साबुन, फल, सब्जी, कागज, कलम आदि के लिए, जिनकी हमें हर वक्त जरूरत पडती रहती है। किस रूप में हम कालेज की फीस या बस का किराया देंगे? क्या मक्खन के डब्बे देकर? या खली की बोरियो मे? या घास के टुकडों से? यदि यह करने लगें तो इसमे बडी असुविधा होगी। अनेक स्थितियो मे तो आज यदि मुद्रा के स्थान पर वस्तु विनिमय करने की बात आप सोचें तो कल्पना करते ही हँसते-हँसते लोट पोट हो जायेंगे। आप कहेंगे क्या अजीब दुनिया है वह जिसमे सिक्के और नोट नही; आप सौभाग्यशाली हैं कि

वह समय चला गया और वह दुनिया अब नहीं है।

२. वस्तु विनिमय की असुविधाएँ (Inconveniences of Barter)—हम देखेंगे कि वस्तु-विनिमय (बार्टर) अत्यन्त असुविधाजनक है। यदि आज हमें अपनी तमाम आवश्यकताएँ इसी उपाय से पूरी करनी पड़े तो जिन्दगी एक मुसीबत हो जाय। वस्तु-विनिमय पुराने ज़माने के पुराने हालात में होता था। अब भी यह उपाय कभी-कभी प्रयुक्त होता है जब नियमित द्रव्य प्रणाली (monetary system) किसी वजह से टूट जाती है। रूस में १९१७ की क्रान्ति के बाद कुछ दिनों के लिए ऐसा हुआ था और अपने पास का उदाहरण यह है कि भारतीय रुपयों में पाकिस्तानी रुपये की कीमत तय करने में जब झगड़ा पड़ा था तो दोनों देशों के बीच का सामान्य व्यापार टूट गया। उस अवस्था में भारत पाकिस्तान सीमा पर बार्टर शुरू हो गया था। किन्तु सामान्य अवस्था में आज सारी सभ्य दुनिया में मनुष्य की प्रत्येक कार्यवाही द्रव्य-संलग्न है। मुद्रा सिक्कों के रूप में, या नोटों और बैंकों के रूप में आधुनिक अर्थ-व्यवस्था की सत्ता के लिए अनिवार्य एवं अत्याज्य है। हमारे दिनचर्या के साधारण कार्यों के लिए भी यह अनिवार्य है। इस लिए यदि आज हम बार्टर-व्यवस्था लाने की चेष्टा करें तो अनेक कठिनाइयों में पड़ जाएँगे। उनमें से कुछ निम्नलिखित है—

(१) (वस्तु विनिमय) बार्टर के लिए दोनों ओर की इच्छाओं की संगति आवश्यक है—जब माल का सीधे माल से विनिमय करना हो तब यह आवश्यक है कि दोनों पक्षों को एक दूसरे की वस्तुओं की आवश्यकता हो। एक जूता बनाने वाले को टोपी की जरूरत हो सकती है, पर यदि टोपी बनाने वाले को जूते की जरूरत न हो तो ? तब बहुत सा समय और शक्ति ऐसा व्यक्ति ढूंढने में लगेगी जिसके पास न केवल फालतू टोपी हो वरन् वह उस टोपी को जूते से बदलने के लिए तैयार हो। कोई विनिमय भी तब तक नहीं हो सकता जब तक कि एक पक्ष जो वस्तु चाहता है उसे दूसरा न दे सके और जो वस्तु वह स्वयं दे सकता है उसे दूसरा पक्ष लेना न चाहे। किसी समुदाय को ऐसे सौदे जितने ज्यादा करने पड़ेंगे उतनी ही उसे आवश्यकताओं की यह दोहरी संगति (double coincidence of wants) ढूंढने में कठिनाई होगी।

(२) विभाजन करने में कठिनाई होती है—वस्तु-विनिमय में क्रय-विक्रय की इकाइयों को समायोजित करना होता है। सौदा करने वाले पक्षों से विनिमय की दर तय हो जाने के बाद एक और कठिनाई पार करनी होती है। मान लीजिये 'क' के पास गाय है और बदले में वह थोड़ा-सा नमक चाहता है। अब यह स्पष्ट है कि वह अपनी गाय के दो टुकड़े नहीं कर सकता, क्योंकि ऐसा करने से उसका मूल्य नष्ट हो जायगा। इसलिए यदि उसे गाय के बदले में नमक लेना है तो उसे अपनी आवश्यकता से अधिक नमक लेना पड़ेगा। तब 'क' को कोई ऐसा आदमी ढूंढना पड़ेगा जो उससे नमक लेकर बदले में और कोई वस्तु दे सके जो उसके काम आ सके। इस तरह के व्यक्तियों की खोज करने में बड़ी असुविधा और परेशानी होगी।

(३) वस्तु-विनिमय में मूल्यांकन का कोई सर्वमान्य माप नहीं होता—मान लीजिए कि 'क' ने एक ऐसा व्यक्ति खोज लिया जिसके पास वह वस्तु है जो 'क' चाहता है और जो व्यक्ति वह वस्तु देने को भी तैयार है। फिर एक और कठिनाई उठ खड़ी होती है जिसका कोई हल निकालना पड़ेगा। दोनों वस्तुओं को किस दर पर बदला जाय ? बहुत सा समय और शक्ति सौदा पटाने में लग जाएगी, विशेषकर उन वस्तुओं के लिए जिनका कोई सर्वमान्य स्तर नहीं है और विनिमय के बाद भी दोनों पक्ष असन्तुष्ट ही रह जाएँगे।

(४) वस्तु-विनिमय में 'मूल्य-संचय' का कोई अच्छा उपाय नहीं होता—वस्तुओं को अधिक समय तक संचित नहीं रखा जा सकता। ऐसा करने से वे अपना मूल्य खो देती हैं। उनमें से बहुत सी तो कुछ समय में नष्ट हो जाती हैं। सोचिये कि क्या होगा यदि आप में से हर आदमी अपनी कालेज की फीस देने के लिए एक सूअर, एक बतख, एक बछड़ा या एक बकरी लाये। बेचारे प्रोफेसरों को अपने घर एक अजायबघर ले जाना पड़ेगा जिसको खिलाना-पिलाना और देख-भाल करना भी मुसीबत होगी, और यदि कोई बीमारी आ जाय तो सारा स्टाक ही तुरन्त खत्म हो जायगा।

३ मुद्रा का विकास (Emergence of Money)—क्योंकि बार्टर विनिमय का तरीका असुविधाजनक था, इसलिए लोगों को कोई वस्तु ऐसी चुननी पड़ी जो विनिमय के माध्यम के रूप में सर्वमान्य हो सके। इस प्रकार बहुत किस्म के पदार्थ मुद्रा के रूप में प्रस्तुत होने लगे। गेहूँ, अनाज, तम्बाकू, चमड़ा, मूँगे, कौड़ी, सोना, पशु आदि अनेक वस्तुओं ने दुनिया के विभिन्न भागों में, समय-समय पर विनिमय के माध्यम (medium of exchange) का काम किया है। जिस समय जो वस्तु जहाँ पर मान ली गई वही मुद्रा का कार्य करने लगी। हमारी याद्दाश्त में भी, भारतीय गाँवों में छोटी-छोटी वस्तुएँ खरीदने के लिए अक्सर कौड़ियों का प्रयोग होता था अब उनकी जगह मुद्रा ने ले ली है। किन्तु आज भी प्रत्येक राष्ट्र की अपनी-अपनी मुद्रा-प्रणाली (monetary system) है जो उसकी सीमाओं से बाहर स्वीकृत नहीं होती। वास्तव में यही कारण है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार आन्तरिक व्यापार से भिन्न रहता है।

धीरे-धीरे लगभग हर जगह अधिक आकर्षक धातुएँ, जैसे सोना और चाँदी, मुद्रा के स्थान पर उपयुक्त होने लगीं। सभी देशों में शासकों ने देखा कि सिक्के बनाने का कार्य लाभदायक है और उन्होंने सिक्के ढालने का अधिकार अपने हाथों में ले लिया। कालान्तर में सिक्कों के साथ-साथ, या उसके स्थान पर कागज के नोट चलाये जाने लगे क्योंकि इनमें अधिक सुविधा और किफायत रहती है। और आगे चलकर चैक (cheque), ड्राफ्ट (draft) और प्रोमिसरी नोट (promissory notes) भी प्रयुक्त होने लग गये। अब बैंकों में जमा (bank deposits) जो कि बैंक-खातों में दर्ज राशियों का नाम है, द्रव्य का सबसे प्रमुख रूप हो गया है।

अब हम द्रव्य की उचित परिभाषा करने की स्थिति में हैं। द्रव्य कोई भी वह वस्तु है जिसे हम दूसरी वस्तुओं के बदले में सामान्यतया स्वीकार कर लेते हैं और

जो सभी भूत (past) और वर्तमान (present) के दायित्वों (liabilities) को पूरा कर सकती है।

४. अच्छे द्रव्य के गुण (Qualities of Good Money)—हमने ऊपर यह देखा है कि धीरे-धीरे विनिमय के अन्य कष्टसाध्य माध्यमों की जगह सोने-चाँदी का उपयोग होने लगा। इन दो धातुओं में वे समस्त गुण मौजूद हैं जो अच्छे द्रव्य के रूप में सफल होने के लिए होने चाहिएँ। ये गुण संक्षेप में निम्नलिखित हैं—

(क) पहले तो, प्रमाणित द्रव्य में 'सामान्य स्वीकृति' (general acceptability) का गुण होना चाहिए। कीमती और दुर्लभ धातुओं की लोग वैसे भी इच्छा करते हैं। आभूषण आदि उनके ही बनते हैं। भारतवर्ष में लोग अपना बचा हुआ धन सोने चाँदी के रूप में रखते थे क्योंकि खतरे के समय उन्हें आसानी से छिपाकर रखा जा सकता है। आधुनिक काल में तो जीवन स्थिर और सुरक्षित है। लोगों को सरकारों में पूर्ण विश्वास है। इसलिए यह अब जरूरी नहीं है कि मुद्रा-पदार्थ (money material) अपने आप भी इतना वाञ्छनीय हो। किन्तु यह फिर भी आवश्यक है कि द्रव्य सबको मान्य या स्वीकृत (acceptable) होना चाहिए। सोने-चाँदी में यह गुण है।

(ख) दूसरी बात यह है कि मुद्रा आसानी से ले जाने योग्य यानी वहनीय (portable) होनी चाहिए। सोने-चाँदी की थोड़ी सी मात्रा में बड़ा मूल्य होता है। यह बड़ा महत्त्वपूर्ण है। इस दृष्टि से जरा गेहूँ, कोयले या ईंटों को देखिए। कितनी असुविधा है इनमें। कागज की मुद्रा और भी अधिक वहनीय है। इसलिए भारत और अन्य देशों में भी नोटों और चैकों ने धातु मुद्रा का स्थान ले लिया है।

(ग) तीसरे द्रव्य माध्यम टिकाऊ (durable) होना चाहिए। वरना यह मूल्य-संचय (store of value) का काम करने के लिए अनुपयुक्त होगा। सोना, चाँदी और अन्य धातुओं में यह गुण है। उपयोग, काल आदि का इन पर अधिक प्रभाव नहीं पड़ता। हजारों वर्ष पुराने सिक्के भी आज मौजूद हैं और वे काम में लाये जा सकते हैं।

(घ) अच्छे मुद्रा-पदार्थ में एक और गुण बहुत जरूरी है—एकरूपता (uniformity), यानी वह पदार्थ चाहे जहाँ भी पाया जाय या उसका जो कोई भी टुकड़ा या नमूना (sample) लिया जाय वह वैसा ही हो जैसा दूसरे टुकड़े और नमूने। यदि हमें हर सिक्के के गुण और भार की परीक्षा करनी पड़े तो बड़ी मुश्किल हो जाय। गेहूँ और कपास इसी वजह से अच्छी मुद्रा नहीं हो सके कि अलग अलग पाये जाने वाले उनके विभिन्न नमूने एक से नहीं होते। उनके मूल्यों में अन्तर होता है। मुद्रा के विभिन्न नमूने (samples) इतने समान होने चाहिएँ कि उनमें से किसी एक को स्वीकार करने में भी कोई संकोच या दुविधा न हो। इस मामले में सोना चाँदी आदर्श हैं।

(ङ) मुद्रा-पदार्थ की उपयोगिता और भी बढ़ जाती है यदि वह सरलता से विभाज्य (divisible) हो। सोने-चाँदी को किसी भी आकार या भार के सिक्के बनाने के लिए बाँट सकते हैं (टुकड़े कर सकते हैं)। आपको शायद ताज्जुब हो कि

उनको पीटकर इतना पतला किया जा सकता है कि उनके २०,००० वर्क एक के ऊपर एक रखने पर उनकी ऊँचाई सिर्फ एक इंच हो।

(च) दूसरा महत्वपूर्ण गुण है 'पहचान' (cognizability)। सोना-चाँदी आसानी से पहचान में आ सकता है। अन्य धातुओं से उनकी परख करना सरल है।

(छ) इसके अतिरिक्त सोना-चाँदी पीटकर बढ़ाये जा सकते (malleable) है। इन्हें पीटकर जैसी चाहे शक्ल बना सकते हैं। इन पर जो छापा (impression) चाहे उभार सकते है।

(ज) सभी वस्तुओं के मूल्य में परिवर्तन होता है। सोने-चाँदी के मूल्य में भी होता है। किन्तु अपेक्षाकृत उनके मूल्य में अधिक स्थिरता (stability) है। और यह मुद्रा-माध्यम का बहुत उपयोगी गुण है।

अब यह स्पष्ट हो गया होगा कि विनिमय के माध्यम के रूप में सोने चाँदी ने क्यों अन्य पदार्थों का स्थान ले लिया। आज संसार में बहुत अधिक परिमाण में मुद्रा की आवश्यकता होती है, और इतना सोना नहीं है कि उसका हर जगह प्रयोग हो सके। इसलिए सोने के सिक्के अब कहीं भी प्रचलित नहीं हैं। अधिकतर चाँदी के (या दूसरी घटिया धातो के) सिक्कों और कागज-मुद्रा से ही सब जगह काम चलाया जाता है। जैसे पहले जमाने में सोने-चाँदी ने मुद्रा के अन्य रूपों का स्थान ले लिया था, उसी प्रकार कागज-मुद्रा आज हर जगह सोने-चाँदी का स्थान ले रही है।

४. मुद्रा के कार्य (Functions of Money)—मुद्रा कोई विशेष वस्तु नहीं है, वरन् कोई भी वह वस्तु है जो कुछ विशिष्ट कार्य करती है। और मुद्रा के चार मुख्य कार्य हैं माध्यम, माप, प्रमाण और संचय। अब हम इनकी ब्योरेवार चर्चा करेंगे।

(१) मुद्रा विनिमय का माध्यम (medium of exchange) है और यह हमें माल का माल से विनिमय करने की परेशानी से बचाती है। इस प्रकार यह एक कठिन स्थिति से निकालकर वस्तु-विनिमय (बार्टर) की परेशानियाँ दूर करती है। यह बात हम एक उदाहरण देकर समझा सकते है। मान लीजिये मेरे पास एक किताब है जिसे मैं मक्खन से बदलना चाहता हूँ। किन्तु जिसके पास मक्खन है वह रोटी चाहता है, किताब नहीं। इसलिए मेरे लिए किताब को मक्खन से बदलना सम्भव नहीं। मुद्रा अर्थ तन्त्र (money economy) में जिन वस्तुओं की हमें आवश्यकता नहीं होती उन्हें हम मुद्रा के बदले में बेच देते हैं और जो माल चाहते हैं उसे हम मुद्रा से खरीद लेते हैं। इस प्रकार उपभोक्ता और उत्पादक दोनों को सुविधा रहती है। इसका फल होता है अधिकतम उपयोगिता (maximum utility)। मुद्रा यह कार्य इसलिए कर सकती है क्योंकि वह सर्वमान्य होती है।

(२) मुद्रा मूल्य का माप (measure of value) होती है। मुद्रा मूल्य की उसी तरह माप करती है जैसे गज कपड़ा नापता है या मिनट-घण्टों में समय की माप होती है। जैसे इंगलिस्तान में पाउण्ड और अमरीका में डालर माल का मूल्य मापते हैं, उसी तरह भारत में रुपये। मुद्रा वह प्रमाणित (standard) मूल्य है जिसमें अन्य वस्तुओं के मूल्य की तुलना होती है। सोना-चाँदी की भी, बल्कि हर तरह के धन की प्रमाणित मुद्रा से माप होती है। इसमें हिसाब (accounts) रखने

जा सकते हैं और इससे विभिन्न पदार्थों की तुलना की जा सकती है। सब से अच्छा माप वह होता है जिसमें कभी फर्क न पड़े। उदाहरण के लिये, एक गज हमेशा ३६ इंच का होता है। इसकी लम्बाई में कभी फर्क नहीं पड़ता। दुर्भाग्यवश मुद्रा का मूल्य घटता-बढ़ता है। किन्तु बहुत प्रयत्न करने पर भी हम इसमें अच्छा माप अब तक नहीं ढूंढ पाए है।

(३) मुद्रा मूल्य सचय (store of value) का उत्कृष्ट साधन है। हमने देखा कि गेहूँ, कपास, मवेशी और दूसरी वस्तुओं का भी पुराने जमाने में मुद्रा की तरह उपयोग किया गया, किन्तु इनको छोड़ देना पड़ा क्योंकि वे रखने से खराब हो जाते है। यह एक विशेष कारण है, जिससे कीमती धातुओं ने उन्हें मुद्रा के स्थान से हटा दिया। ये टिकाऊ होती हैं और समय बीतने के साथ खराब नहीं होतीं। मुद्रा अपने मूल्य में भी अधिक स्थिर होती है। इसे उधार दिया जाता है। यह पूंजी का भी काम करती है। जब मुद्रा का मूल्य बदलता है और वस्तुओं की कीमतें अधिक घटती-बढ़ती है, तो लोगों को बड़ी हानि होती है। भारत में आज कीमतें देखिए। यह १६३६ की अपेक्षा चौगुनी हैं। निश्चित आय (fixed income) के और मध्यवर्गीय लोग आज बड़ी कठिनाई में हैं। मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन होने से मुसीबत आती है। किन्तु फिर भी इससे बेहतर कोई उपाय अब तक खोजा नहीं गया है। सौभाग्य से ऐसे बड़े परिवर्तन जल्दी-जल्दी नहीं होते।

(४) मुद्रा बाद में की जाने वाली अदायगी (deferred payment) के लिए भी एक मान का कार्य करती है। यदि 'क' कोई इकरारनामा करे कि वह कोई काम करेगा जिसकी अदायगी बाद में होगी तो उसे इस आश्वासन की आवश्यकता होगी कि जो वस्तु उसे काम के बदले में मिलेगी उसका मूल्य उस समय तक गिर न जायेगा। हर रोज जो सौदे होते है उनमें अधिकतर नकद न होकर उधार होते हैं। बड़ी-बड़ी राशियों का भुगतान बाद में किया जाता है। यदि ऐसे सौदों को ठीक चलना है, जिससे किसी को कष्ट न हो, तो मुद्रा का मूल्य दीर्घकाल तक स्थिर रहना चाहिये। मुद्रा के मूल्य में उतार-चढाव बड़ी हानि पहुँचाता है। जैसा हमने ऊपर कहा, हमारे देश में युद्धोत्तर कीमतों की वृद्धि एक उदाहरण है। किन्तु चाहे मुद्रा बुरी चीज ही हो पर इसकी जगह कोई दूसरी वस्तु भी नहीं है जो काम आ सके।

६. मुद्रा के गुण-दोष (Advantages and Disadvantages of Money) कभी-कभी यह कहा जाता है कि मुद्रा केवल विनिमय का माध्यम है और हमें वस्तु-विनिमय (बार्टर) की कठिनाइयों से बचाती है, जैसे कि उत्पादन का उद्देश्य द्रव्य नहीं, अभावों की तृप्ति है, हम द्रव्य पाने के लिए श्रम नहीं करते वरन् द्रव्य को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन समझकर चाहते हैं। यह बहुत हद तक सही है। किन्तु एक साधारण निर्माता या औसत व्यापारी द्रव्य को इस नजर से नहीं देखता। उदाहरण के लिए कपड़ा बनानेवाला कपड़ा इस समाज-सेवा के आदर्श से नहीं बनाता कि लोगों को तन ढांकने के लिए मिल जाए, वरन् इसलिए कि उसे मुनाफा हो। वह अपने मजदूरों को तनख्वाह इसलिए नहीं देता

कि उनकी जरूरतें पूरी हो सकें, वरन् केवल इसलिए कि उसके अपने नफे के लिए यह भुगतान (payment) भी जरूरी है। उसकी सारी कार्यवाहियों का वास्तविक उद्देश्य द्रव्य है। वह सदैव द्रव्य-लागत (money costs) और द्रव्य-आय (money incomes), द्रव्य-लाभ (money gains) और द्रव्य-हानि (money losses) की ही बात सोचता है। उसका उद्देश्य है पैसा बनाना' न कि कपड़ा बनाना। यही हर एक का उद्देश्य है चाहे वह व्यापारी हो या कारोबारी दुकानदार, सरकारी नौकर हो या मजदूर।

इस तरह आज हमारे समस्त आर्थिक जीवन की धुरी द्रव्य है। द्रव्य और कीमतें यह तय करती हैं कि नौकरी-पेशा आदमी या मजदूरी पाने वाला कितनी कुल वस्तुओं का उपयोग करेगा। आधुनिक आर्थिक पद्धति जिसमें श्रम-विभाजन और बड़े पैमाने का उत्पादन है, बिना द्रव्य के उपयोग के असम्भव है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और परिवहन (transport) उन बड़ी-बड़ी राशियों से सम्भव होता है जो उधार ली-दी जाती हैं और इसी व्यापार से हमें अपने उपयोग की वस्तुएँ मिलती हैं। यह सब द्रव्य के बिना असम्भव है। किन्तु जितनी आसानी से द्रव्य उधार लिया जा सकता है, उतना ही इसमें खतरा है। जिस सट्टे में सैकड़ों आदमी बरबाद हो जाते हैं वह बैंकों द्वारा दिए गए उधार से ही सम्भव होता है। कीमतों में परिवर्तन जो समाज के एक अंग को हानि पहुँचाकर, दूसरे का लाभ करता है, द्रव्य-तन्त्र की ही बदौलत है। द्रव्य ही व्यापार-चक्रों (trade cycles) के लिए जिम्मेदार है जो आर्थिक व्यवस्था के सुचारु रूप से चलने में बाधक है। इसलिए हम राबर्टसन (Robertson) से सहमत हैं कि "द्रव्य, जो मानवता के अनेक वरदानों का स्रोत है, यदि हमारे नियन्त्रण से बाहर हो जाय, तो संकट और अव्यवस्था का भी कारण बन सकता है"।

७ द्रव्य के रूप (Forms of Money)—मुख्यतया दो प्रकार के द्रव्य या मुद्राएँ हैं—

(क) धातु-मुद्रा और (ख) कागज मुद्रा। द्रव्य का वर्गीकरण ऐसे भी करते हैं कि—(१) मान-द्रव्य (Standard money), (२) प्रतिनिधि द्रव्य (Representative money), (३) लेख का द्रव्य (Money of Account), और (४) साख-द्रव्य (Credit money)।

मान द्रव्य (Standard money) द्रव्य का वह रूप है जिसमें द्रव्य के अन्य तमाम रूपों की माप होती है। यह अपरिमित कानूनी ग्राह्य (unlimited legal tender) है। साधारणतया इसका वास्तविक (real) या नैसर्गिक (intrinsic) मूल्य इसके अंकित मूल्य (face value) के बराबर होता है और यह सोने-चाँदी या दोनों का बनता है। भारत में द्रव्य की प्रमाणित इकाई (standard unit) रुपया है। किन्तु इसका अंकित मूल्य इसके वास्तविक मूल्य से आज कम है।

सभी द्रव्य जो मान-द्रव्य (standard money) नहीं है, किन्तु मान-द्रव्य में सरलता से परिवर्तित हो सकता है, प्रतिनिधि द्रव्य (representative money) है, जैसे रिजर्व बैंक के नोट और चैक।

. लेखा-द्रव्य (money of account) वह इकाई है जिसमें देश का लेखा रखा जाता है। आमतौर पर मान-द्रव्य (standard money) और लेखा द्रव्य एक देश में एक ही होता है जैसे भारत में रुपया, इंगलिस्तान में पाउंड स्टर्लिंग और रूस में रूबल ये दोनों कार्य करते हैं।

साख-द्रव्य (Credit money) सरकारी तथा अन्य बैंक नोटों के लिए प्रयुक्त होता है। इनमें निर्गम करने वाले अधिकारी (issuing authority) अर्थात् नोट चलाने वालों की ओर से यह वायदा निहित होता है कि वे नोट के मालिक के मांगने पर उस नोट का जितना पूरा मूल्य है देंगे। कभी-कभी सांकेतिक मुद्रा (token coins) को भी इसी में गिन लेते हैं क्योंकि वह भी सरकार के अदायगी के वायदे पर चलती है। चैक, प्रामिसरी नोट (Promissory note) और विनिमय-पत्र (Bills of exchange), जो व्यापारिक प्रयोजन के लिए प्रयुक्त होते है, साख-द्रव्य के रूप हैं। यह भी कहा जा सकता है कि जनसाधारण सरकारी नोटों को द्रव्य (money) या चलन (currency) के रूप में लेते हैं और चैक आदि को साख-द्रव्य के रूप में। इस दृष्टि से भारतीय रिज़र्व बैंक के नोट और भारत में चलने वाले तमाम बैंक आदि साख-द्रव्य है।

८. धातु-द्रव्य (Metallic Money)—धातु-द्रव्य सोने, चाँदी, गिलट या तांबे के सिक्कों का बनता है। सिक्के में शुद्ध धातु का जितना अनुपात होता है उसे 'इतना शुद्ध' (so much fine) कहते हैं। भारतीय रुपया चाँदी का बना होता है। इसका भार १८० ग्रेन है और वह '५०% शुद्ध' (50% fine) है। नए रुपए के किनारे कुछ खुरदुरे होते हैं जिससे वे कम घिसें। इसके अलावा, किनारों को दानेदार बना दिया जाता है जिससे उनको काटा या भरा न जा सके। सारी दुनिया में राज्य को ही सिक्के चलाने का अधिकार है जो सरकारी टकसालों में बनते हैं। भारत में बम्बई और कलकत्ते में टकसालें (mints) है।

यदि सरकार व्यक्तियों को यह अनुमति देती है कि वे अपना सोना, चाँदी टकसालों में ले जाकर सिक्कों में बदल सकें तो यह "मुक्त ढलाई (free coinage)" कहलाती है। भारत में यह प्रणाली १८६३ तक थी और इंगलिस्तान में १६१४ तक। सिक्के बनाने में स्वभावत कुछ खर्च होता है। कभी-कभी सरकार केवल ढलाई का वास्तविक व्यय ही लेती है, जितने में धातु के सिक्के बन सकें। यह व्यय टकसाली शुल्क (mintage) या टाँका लगाई (brassage) कहलाता है। यदि सरकार असली खर्चे से ज्यादा वसूल करती है, तो यह सिक्का-ढलाई-लाभ (seignorage) कहलाता है। और अगर ढलाई का खर्च भी न लिया जाय और सिक्कों की मुफ्त ढलाई हो जाय तो ढलाई को 'मुक्त' (free) के साथ-साथ 'मुफ्त' या 'उपहारस्वरूप' (gratuitous) भी कहेंगे। खर्च चाहे सीधे-सीधे नकद लिया जाय और चाहे सिक्कों में बदले वक्त खोट मिलाकर लिया जाय, मुक्त ढलाई (free coinage) आदर्श व्यवस्था है, क्योंकि उसमें उपयोग करने वालों के दिल में विश्वास जमा रहता है और किसी हद तक कुल मुद्रा परिचलन (circulation) सीमित रहता है। भारत में ढलाई अब मुक्त नहीं है, यद्यपि १८६३ से पहले थी।

सांकेतिक मुद्रा (Token Coins)—सिक्के का मूल्य इसलिए होता है, क्योंकि वह मूल्यवान धातु का बना होता है। सिक्का पूर्ण (full bodied) कहलाता है यदि उसका अंकन मूल्य (face value) उसके अन्दर की धातु के मूल्य के बराबर हो। लेकिन कभी-कभी सिक्के का मूल्य केवल इसलिए होता है कि सरकार ने उस पर मुहर लगा दी है (और मान्य कर दिया है)। जब सरकार द्वारा अंकित मूल्य उसके यथार्थ मूल्य (real value) से अधिक होता है तब वह 'सांकेतिक मुद्रा" (token coin) कहलाती है। सांकेतिक मुद्रा के लिए मुक्त ढलाई की अनुमति नहीं दी जा सकती क्योंकि उसमे जितनी धातु होती है, उसके मूल्य से कहीं अधिक उसका अंकित मूल्य (face value) होता है। १६४२ तक हमारा चांदी का रुपया भी ऐसी ही सांकेतिक मुद्रा थी। फिर चाँदी की कीमत इतनी बढ़ गई कि रुपये का नैसर्गिक (intrinsic) या यथार्थ मूल्य उसके अंकित मूल्य (face value) से बढ़ गया और वह "अधिक मूल्यवान सिक्का" (over-valued coin) हो गया। तब लोगों को रुपया लगाकर इसमे से चांदी निकालकर बेचने मे मुनाफा होने लगा। पुराने रुपए परिचलन (circulation) से बिलकुल गायब हो गए और सरकार को नए रुपये और नई अठन्नियाँ चलानी पड़ी जो कम शुद्ध (less fine) धातु की बनी है, जिससे कारबार चल सके। आज भारत में चलने वाले सभी सिक्के—प्रमाणित मान (standard) रुपये से लेकर इकन्नी, दुअन्नी, चवन्नी तक—सब सांकेतिक मुद्रा है।

६ विधि-मान्य अंकन (Legal Tender)—अपना ऋण चुकाने के लिए द्रव्य ही दिया जा सकता है। आमतौर पर इसके पीछे सरकारी स्वीकृति होती है। कानून के अनुसार इस द्रव्य के किसी भी परिमाण को लेने से कोई इनकार नहीं कर सकता। रुपये और अठन्नियां भारत मे पूर्ण विधि मान्य अंकन (legal tender) हैं। गौण सिक्के (subsidiary coins) आमतौर पर एक सीमित परिमाण मे ही दिए जा सकते है। इसलिए इन्हे परिमित विधि-मान्य अंकन (limited legal tender) कहते है। इसके मुकाबले में मान द्रव्य (standard money) को अपरिमित विधि-मान्य अंकन (unlimited legal tender) होने का विशेष अधिकार प्राप्त है। हमारे रुपये के सिक्के, रुपये का नोट और अठन्नियां अपरिमित हद तक विधि-मान्य अंकन है जब कि छोटे सिक्के दस रुपए तक के ही दिए जा सकते है। जाहिर है कि यह निर्बन्ध उपयोगी है। क्योंकि वरना आप किसी आदमी को एक लाख रुपये का कर्जा पाइयो मे देकर पागल बना सकते है।

किसी देश के चलन या मुद्रा-चलन (currency) से अभिप्राय होता है वे सब सिक्के और नोट जो द्रव्य के रूप मे विधि-मान्य (legal) है। दूसरी ओर वह कोई भी वस्तु जो विनिमय-माध्यम (medium of exchange) के रूप में साधारणतया स्वीकृत हो जाती है या जो अपना ऋण चुकाने के लिए मान्य होती है, द्रव्य या मुद्रा (money) कहलाती है। द्रव्य बनने के लिए किसी वस्तु की सर्वमान्य स्वीकृति (general acceptance) होना चाहिए। चलन-मुद्रा (currency) बनने के लिये उसको कानूनी मान्यता भी मिलनी चाहिए। इस तरह से भारत मे वे चेक जो खुले आम एक हाथ से दूसरे हाथ मे जाते है किन्तु जो कानून द्वारा

मान्य नहीं है, द्रव्य (money) है पर चलन-मुद्रा (currency) नहीं। रुपये के सिक्के और नोट तथा गौण सिक्के भारतीय चलन-मुद्रा में आते है।

१०. कागजी-मुद्रा (Paper Money)—कागजी मुद्रा कीमती धातुओं के उपयोग में किफायत करती है। इसको ले जाना और संचित करना सरल है इसलिए इसने सिक्कों का स्थान बहुत कुछ ले लिया है। शुरू-शुरू में जब नोट चलाए गए थे तब निर्गम अधिकारी (issuing authority) द्वारा उनके पीछे बिल्कुल उतने ही मूल्य का सोना-चाँदी ध्रुव-कोष (reserve) में रखा जाता था। ऐसे नोटों को जब चाहे सिक्कों मे बदला जा सकता था और वे सिक्कों के प्रतिनिधि होने के अतिरिक्त और कुछ नहीं। वे प्रतिनिधि कागजी द्रव (representative paper money) कहलाते भी थे। अमरीकी गोल्ड सर्टीफिकेट (American Gold Certificates—green backs) भी इसी प्रकार के थे। किन्तु यह तरीका बड़ा खर्चीला था और अब चालू नहीं है। कागजी मुद्रा के पीछे आज उतने ही मूल्य का सोना चाँदी नहीं होता केवल आनुपातिक (proportional) रिजर्व रखे जाते है और कागज द्रव्य बहुत कुछ निर्गम अधिकारी (issuing authority) के वचन पर लोगों के एतबार पर निर्भर है, चाहे यह अधिकारी सरकारी हो या देश का कोई केन्द्रीय बैंक। ऐसी मुद्रा-चलन (currency) को विश्वासनिष्ठ निर्गम (fiduciary issue) अर्थात् विश्वास या एतबार पर कायम निर्गम कहते है। भारत में चलने वाले नोटों का कुल मूल्य २६ मार्च १९५४ को लगभग १,२०३ करोड़ रुपया था, इस राशि के पीछे केवल ४० करोड़ रुपए का सोना और भारत सरकार इंगलिस्तान व अमरीका की सरकारों के वचक (securities) हैं। इसलिए हमारा मुद्रा-चलन (currency) विश्वासनिष्ठ निर्गम (fiduciary issue) है।

कागजी-मुद्रा परिवर्तनीय (convertible) हो सकती है या अपरिवर्तनीय (inconvertible)। यदि निगम अधिकारी यह वायदा करते है कि वह मांगने पर नोटों को मान्य-द्रव्य (standard money) से बदल देंगे तो यह 'परिवर्तनीय कागज-मुद्रा (convertible paper money) कहलाता है। किन्तु कभी कभी जैसे युद्ध के आपत्ति काल में कागज द्रव्य के अत्यधिक निर्गम से, अधिकारी यह महसूस करते है कि वे नोटों को सिक्कों में नहीं बदल सकते तब वे नोटों को सिक्कों मे बदलने का अपना वायदा तोड़ देते है और द्रव्य अपरिवर्तनीय (inconvertible) या आदेश-मुद्रा (fiat-money) हो जाता है। जब सांकेतिक मुद्रा की धातु से यह कड़ी (link) टूट जाती है, तब कागजी मुद्रा के अधिक निर्गम (over-issue) की प्रवृत्ति होती है। तब मुद्रा का मूल्य कम होने लगता है जिससे निश्चित आय (fixed incomes) वाले लोगों को बड़ी मुसीबत होती है। भारतीय नोट देश के मान द्रव्य (standard money) अर्थात् रुपयों में बदले जा सकते है, किन्तु यह भी साफ जान लेना चाहिए कि भारत में रुपये का सिक्का भी स्वयं केवल सांकेतिक मुद्रा (token coin) है। भारतीय रुपए को चाँदी पर छपा हुआ नोट कहा गया है।

११ कागज-चलन का अधिक निर्गम (Over-Issue of Paper Currency)—कागज-चलन (paper currency) की सबसे बड़ी खराबी यह है कि इसका निर्गम

१

(issue) बड़ा आसान है। और जब सरकार आर्थिक कठिनाइयों में हो तब इसके अधिक निगम (over issue) का खतरा बना रहता है। यह प्रलोभन इतना जबरदस्त है कि इसका संवरण कठिन है। और एक बार यह तरीका अपना लिया गया तो इसमें गति आ जाती है। और नोट छपते हैं, फिर और। और यही होता रहता है जब तक कि कागज चलन का मूल्य ही खत्म न हो जाय। हाल में यह हालत अनेक देशों में हो चुकी है, रूस में १९१७ में, जर्मनी में १९१९ में, चीन में १९४४ में, और अन्य जगहों पर भी।

नोटों का अधिक निगम (over issue) जिसे मुद्रा स्फीति (inflation) भी कहते हैं, अपने साथ बहुत सी बुराइयाँ लाता है। इनमें से कुछ यह हैं—

(१) कीमतें जोरों से बढ़ती हैं। निश्चित आय वालों और मजदूरों की बड़ी हानि होती है।

(२) कीमतों के बढ़ने का परोक्ष फल (indirect result) यह होता है कि निर्यात (exports) गिरते और आयात (imports) बढ़ जाते हैं। इससे देश से सोना बाहर जाने लगता है जो अच्छी बात नहीं है।

(३) कीमतों के बढ़ने से देश की करेन्सी का बाह्य (अन्तर्राष्ट्रीय) मूल्य गिर जाता है। इसलिए अपना अधिक द्रव्य विदेशी करेन्सी की इकाइयों को खरीदने में जाता है।

१२ ग्रेशम नियम (Gresham's Law)—यह नियम साम्राज्ञी एलिजाबेथ के वित्तीय सलाहकार सर टामस ग्रेशम का बनाया हुआ कहा जाता है। यद्यपि इस नियम को उससे पहले भी सामने रखा गया था। नियम यह कहता है कि जहाँ अच्छा द्रव्य (good money) और बुरा द्रव्य (bad money) साथ साथ चलन में होते हैं वहाँ बुरा द्रव्य अच्छे द्रव्य को खदेड़ने की और चलन से निकाल फेंकने की (drive out) प्रवृत्ति रखता है। बुरा द्रव्य (bad money) से मतलब है (i) नए सिक्कों के मुकाबले में पुराना घिसा हुआ और खराब सिक्का (ii) धातु-द्रव्य के मुकाबले में कागजी मुद्रा, और (iii) धातु द्रव्य में, यदि दो धातुओं का चलता हो तो मँहगी धातु के मुकाबले सस्ती धातु का सिक्का। यह मानव स्वभाव है कि मनुष्य अपनी खरीदारी खराब सिक्कों से करता है और बेहतर सिक्कों को बचाता है। आप भी क्या खरीदारी करते समय पहले गन्दा नोट देकर अपना नया नोट बचाने की कोशिश नहीं करते? इस प्रकार जो अच्छा द्रव्य लोग बचाते हैं वह परिचलन (circulation) से बाहर चला जाता है। उसका संचय (store) हो जाता है, या उसे गला दिया जाता है या उसका निर्यात (export) हो जाता है।

अपवाद—लेकिन यह नियम कार्यशील नहीं होता जब—(i) बुरा द्रव्य इतना खराब हो कि लोग उसे लेने से ही इनकार कर दें, (ii) यदि अच्छे और बुरे द्रव्य का परिचलन में कुल परिमाण इतना हो कि केवल विनिमय की आवश्यकताओं को ही पूरा कर सके, या (iii) यदि सरकारी आदेश के अनुसार बुरा द्रव्य विधिमान्य मुद्रा (legal tender) न रह जाय।

१३. द्रव्य के मानदण्ड (Monetary Standard)—कागजी-मुद्रा के चलन के साथ साथ मानदण्ड का प्रश्न सामने आ गया है। "मानदण्ड" (standard) से अर्थ होता है वह धातु या कुछ और चीज जिसके आधार पर चलन का मूल्य निश्चित होता है। मानदण्ड के अनेक रूप हो सकते हैं। इनमें सबसे महत्वपूर्ण यह है—

स्वर्णमान (Gold Standard)—जिस देश में अच्छी हालत के पूर्ण सोने के सिक्के (full bodied gold coins) चलते हैं, जिसमें ढलाई मुक्त (free coinage) होती है, जो देश मे स्वर्ण के आने-जाने पर कोई निर्बन्धन (restrictions) या रोक-थाम नहीं लगाता और कभी भी माँगने पर अपने नोटो को सोने के सिक्को में बदलने को तैयार रहता है, ऐसा देश, कहा जाता है, स्वर्ण मान (gold standard) पर है। पहले विश्व युद्ध के छिड़ने तक संयुक्त राज्य (U.K.), अमरीका (U.S.A.) और कुछ अन्य देश स्वर्णमान पर थे।

इनमें से प्रत्येक देश की द्रव्य-इकाई (monetary unit) का स्वर्ण के साथ निश्चित सम्बन्ध था और इसलिए इनका परस्पर सम्बन्ध भी निश्चित था। इस स्वर्ण कड़ी (gold link) से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का बड़ा फायदा था। पहले विश्व-युद्ध के दौरान में इंगलैण्ड ने अपनी चलन-मुद्रा (करेन्सी) को स्वर्ण से अलग कर दिया। इस तरह इंगलैण्ड स्वर्ण-मान से हट गया ("went off" the gold standard)। कुछ अन्य देशों ने भी उसका अनुकरण किया।

रजत-मान (Silver Standard)—चीन और मेक्सिको चाँदी का प्रयोग करते हैं। उनकी द्रव्य-इकाई चाँदी के डालर के रूप मे थी जो मुक्त रूप से (free) ढाली जाती थी और पूर्ण विधिमान्य चलन (full legal tender) थी। इन देशों में चाँदी का मुक्त बाजार (free market) भी था इसलिए हम यह सकते है कि ये देश रजत मान (silver standard) पर थे। भारत भी १८९३ तक रजत मान पर था। रुपये की मुक्त ढलाई होती थी और इसका भार ११/१२ शुद्ध (fine), १८० ग्रेन था। कोई भी व्यक्ति अपनी चाँदी को टकसाल से रुपयो मे ढलवा सकता था, या चाँदी की जरूरत पड़ने पर, रुपये को गलाकर चाँदी निकाल सकता था।

स्वर्ण बुलियन मान (Gold Bullion Standard)—यदि, देश में परिचलित स्वर्ण सिक्को की बजाय यह व्यवस्था मान ली जाय कि जो मुद्रा वास्तव में चलन में है, उसको हम किसी निश्चित दर पर स्वर्ण बुलियन मे बदल सकते है, तो हम इसे स्वर्ण (या रजत) बुलियन मान कहते है। इंगलैण्ड का १९२५ से १९३१ तक यही मान था। सोना सिक्को की शक्ल में परिचलन (circulation) मे नहीं था। किन्तु बैंक ऑफ इंगलैण्ड स्वर्ण के किसी भी परिमाण को £३-१७-९ प्रति औंस, ११/१२ शुद्ध की दर पर खरीदने को तैयार था और £ ३-१७-१०½ की दर पर बेचने को। देश से स्वर्ण के मुक्त आयात-निर्यात (free import export) पर कोई निर्बन्धन (restrictions) न थे।

भारत मे भी १८९७ मे गोल्ड बुलियन स्टैण्डर्ड स्वीकार कर लिया गया था। १९३१ मे विशाल मन्दी (Great Depression) के कारण इंगलैण्ड

यह मान-स्तर कायम न रख सका और उसने उसे उसी वर्ष त्याग दिया। अब उसकी कोई बात नहीं करता।

स्वर्ण-विनिमय मान (Gold Exchange Standard)—जब स्वर्ण का किसी देश में चलन नहीं होता, किन्तु विदेशी भुगतानों (foreign payments) के लिए करेन्सी को सोने में बदला जा सकता है, तो उसे गोल्ड एक्सचेंज स्टैण्डर्ड या स्वर्ण विनिमय मान कहते हैं। भारतीय रुपया पाउण्ड स्टर्लिंग से बदला जा सकता था और पाउण्ड स्टर्लिंग को सोने से। किन्तु भारतीय रुपया सीधे (directly) सोने से नहीं बदला जा सकता था। इस मान को बनाये रखने के लिए दो प्रकार के द्रव्य कोष (reserves) रखने की जरूरत थी। एक तो भारत में चाँदी का और दूसरा इंगलैंड में सोने का। इंगलैंड में सोना भारत के रुपयों में बदला जाता था और इसके विपरीत भी। यह व्यवस्था भी १९१४-१८ के महायुद्ध में टूट गई क्योंकि चाँदी के भाव बहुत बढ़ गये और परिणाम यह हुआ कि रुपये की माँग भी बहुत बढ़ गई। युद्ध के बाद फिर १९२२ में इस व्यवस्था को लाने की कोशिश की गई। किन्तु यह फिर न चल सकी और आखिर में इसे छोड़ ही देना पड़ा।

स्टर्लिंग विनिमय मान (Sterling Exchange Standard)—१९३१ से सितम्बर १९४७ तक भारतीय रुपया स्टर्लिंग (sterling) से जुड़ा हुआ था जिसका स्वर्ण से कोई सम्बन्ध न था। दूसरे देशों को अपने कर्जे हम केवल स्टर्लिंग के जरिये देते थे, जिसे हम १ शिलिंग ६ पैंस फी रुपये की दर से खरीद सकते थे।

१ मार्च १९४७ से अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-निधि (international monetary fund) के स्थापित होने के बाद से, जिसका भारत भी एक सदस्य बना, भारतीय द्रव्य-व्यवस्था को निधि-प्रणाली (fund system) या स्वर्ण-समानता मान (gold parity standard) भी कह सकते हैं। अब रिजर्व बैंक के लिए स्वर्ण के मुकाबले में एक निश्चित विनिमय दर (rate of exchange) रखना जरूरी है। रुपये-पाउण्ड की दर अब भी उतनी ही है, किन्तु रुपये और पाउण्ड का पुराना गठबन्धन अब टूट गया है और हम दूसरी करेंसियों के साथ भी सीधे व्यवहार कर सकते हैं।

१४. द्वि-धातुवाद (Bi-metallism)—द्वि-धातुवाद का मतलब है किसी देश में एक निश्चित अनुपात (ratio) में सोने और चाँदी दोनों धातुओं का परिचलन और दोनों का साथ-साथ अपरिमित विधिमान्य अंकन (unlimited legal tender) माना जाता। लोग दोनों धातुओं में से किसी से भी अपने वायदे पूरे कर सकते हैं क्योंकि दोनों के बीच का अनुपात अधिकारियों द्वारा नियत होता है। १८०३ से लेकर लगभग ७५ वर्ष तक फ्रांस द्वि-धातु मान (bi-metallic standard) पर कायम था, किन्तु उसे इसको छोड़ देना पड़ा क्योंकि चाँदी के मुकाबले में सोने का बाजार-भाव गिरने लगा और ग्रेशम का नियम लागू होने लगा। १९वीं शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश (quarter) में द्वि-धातुवाद को फिर से लागू करने की कोशिश की गई पर बेकार साबित हुई।

एक-धातुवाद का अर्थ है सोने या चाँदी, एक ही धातु के सिक्कों का परिचलन।

१४. स्वस्थ चलन-मुद्रा प्रणाली (Sound Currency System)—हम अब इस पर विचार कर सकने की स्थिति में हैं कि ऊपर चर्चा की गई चलन-प्रणालियों में कौनसी सर्वोत्तम है। हम अलेक्जेण्डर पोप के समान यह आसानी से कह सकते हैं कि "मूर्खों को प्रणालियों के बारे में झगड़ने दो। जिसको सबसे अच्छी तरह चलाया जा सके वही सर्वोत्तम है।" इसमें कोई शक नहीं कि लगभग सभी प्रणालियां किसी न किसी देश में, अलग-अलग समय में प्रचलित रही है और उन्हें विभिन्न मात्राओं में सफलता भी मिली है। किन्तु हमें यह मानना पड़ेगा कि वह प्रणाली अच्छी है जिसमें निम्नलिखित विशेषताएँ हों—

(१) प्रणाली इतनी सादी या सुगम हो कि लोग उसे आसानी से समझ सकें।

(२) इसमें कीमतें यथासम्भव स्थिर रहें और करेन्सी की क्रय-शक्ति (purchasing power) में ज्यादा उतार-चढ़ाव न हो।

(३) प्रणाली देश की करेन्सी का बाह्य मूल्य भी बनाये रखे। यदि विदेशी करेन्सी के साथ रुपये का अनुपात स्थिर-स्तर (stable level) पर रहे तो विदेशी व्यापार (foreign trade) समृद्धिशाली होगा। अर्थशास्त्रियों का अब यह विश्वास हो चला है कि आन्तरिक कीमतों की स्थिरता विदेशी-विनिमय के अनुपात (foreign exchange ratio) की स्थिरता की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है।

(४) प्रणाली सस्ती होनी चाहिए। स्वर्ण-मान बड़ी मँहगी प्रणाली है। इसलिए इसको त्याग देना पड़ा। ऐसी कागज-करेन्सी प्रणाली, जिसको किसी ऐसे मान द्रव्य (standard money) और लेखा-द्रव्य (money of account) का आधार प्राप्त हो जिस पर देश की जनता का पूर्ण विश्वास है, आदर्श प्रणाली है।

(५) प्रणाली स्वयं लोचदार (automatically elastic) होनी चाहिए जिस से जब जरूरत पड़े करेन्सी का विस्तार (expansion) हो सके और जब जरूरत पूरी हो जाय, उसका संकुचन (contraction) हो सके। भारतीय द्रव्य-प्रणाली अधिकतर कागज-करेन्सी २६ मार्च १९५४ को १,२०३ करोड़ रुपया, के रूप में है। करेन्सी नोट रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया निर्गम (issue) करता है। उनके मूल्य १०,०००), ५,०००), १,०००), १००), १०), ५) और २) के हैं। १) के नोट भारत सरकार निर्गम करती है। इसके अलावा रुपये के सिक्के भी हैं। रुपये का सिक्का अधिकांश निकिल (nickel) की बनी हुई सांकेतिक मुद्रा है जिसका मूल्य ३ आने से ज्यादा नहीं है। अठन्नी रुपये की आधी है और रुपये की ही तरह निकिल (nickel) की होती है। *यह भी रुपये की तरह अपरिमित विधिमान्य अर्कन (unlimited legal tender) है।* इसके अलावा, गौण (subsidiary) सिक्के भी हैं जैसे चवन्नी, दुअन्नी, इकन्नी और पैसा। यह परिमित कानूनी अर्कन (limited legal tender) हैं। चालू नोटों के मुकाबले में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया सोना, चाँदी तथा भारत सरकार और कुछ विदेशी सरकारों के बन्धक या सिक्योरिटीज (securities) रखता है।

भारत के विभाजन के बाद से भारतीय रुपया पाउण्ड स्टर्लिंग के बन्धन-सूत्र से मुक्त हो गया है। अब अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-निधि (International Money Fund) के द्वारा यह विदेशी करेन्सियों से सीधे जुड़ा हुआ है और इसका अनुपात निधि के अनुमोदन (approval) से जब और जितनी जरूरत पड़े बदला जा सकता है।

(६) प्रणाली में यह गुण होना चाहिए कि यह अपने में लोगों का विश्वास प्राप्त कर सके। भारतीय करेन्सी प्रणाली को जनता का विश्वास प्राप्त है। इसलिए हम विश्वास से यह कह सकते हैं कि हमारी प्रणाली अच्छी द्रव्य-प्रणाली है।

आपने इस अध्याय से क्या सीखा ?

पुराने जमाने में माल का माल से बदलते थे। यह बारटर (वस्तु-विनिमय) था। आजकल द्रव्य के बिना काम नहीं चलाया जा सकता।

बारटर की असुविधाएँ (Inconveniences of Barter)—

(i) इच्छाओं का दोहरा संयोग (double coincidence) कठिन होता है।

(ii) मूल्य मापने का कोई साधन नहीं होता।

(iii) क्रय विक्रय का इकाइयाँ एक दूसरे से समायोजित (adjust) नहीं हो पातीं।

(vi) मूल्य का संचय (store) नहीं किया जा सकता।

इसलिए ऐसी वस्तु को जिसे सभी लोग चाहते हों हर समाज में चुन लिया गया था जो द्रव्य के रूप में कार्य करती थी। धीरे-धीरे सोना-चाँदी द्रव्य के रूप में हर जगह प्रयोग में आने लगे। द्रव्य "सर्वस्वीकृति से निर्वाचित वह वस्तु है जो विनिमय माध्यम के रूप में और अपने दायित्वों [illegible] पूरा भुगतान करने के लिए काम में आती है।"[1]—सिल्वर मैन। इसका रूप नहीं, कार्य महत्त्वपूर्ण है।

अच्छे द्रव्य पदार्थ की विशेषताएँ (Characteristics of good money material)

सफल उपयोग के लिए द्रव्य में निम्न गुण होने चाहिएँ—

(१) सर्वमान्य स्वीकृति (general acceptability)।

(२) वहनीयता (portability)।

(३) टिकाऊपन (durability)।

(४) विभाज्यता (divisibility)।

(५) एकरूपता (homogeneity or uniformity)

(६) पीटकर बढ़ाए जाने की योग्यता (malleability)।

(७) पहचान परख (cognizability)।

(८) मूल्य की स्थिरता (stability of value)।

द्रव्य के कार्य (Functions of money) द्रव्य के चार कार्य हैं :

(क) साधारण विनिमय माध्यम (general medium of exchange)।

(ख) मूल्य का माप (measure of value)।

(ग) मूल्य का संचय (store of value)।

(घ) भविष्य की अदायगी के लिये प्रमाण (a standard of deferred payments)

द्रव्य के लाभ (Advantages of Money)—

(१) तमाम आर्थिक जीवन का आधार है।

(२) कितने पदार्थों पर हमारा अधिकार हो, यह नियत करता है।

(३) बड़े पैमाने पर उत्पादन सम्भव बनाता है।

(४) परिवहन और व्यापार इस पर निर्भर है।

---

1 Money = "a commodity chosen by common consent to serve as a means of exchange and for full discharge of obligations"—Silverman.

दोष (*Evils*) ।

(१) हानिकारक मांग ।

(२) कीमतों में भारी उतार चढ़ाव ।

(३) व्यापार चक्र (**trade cycles**) ।

द्रव्य के रूप (**Forms of Money**)—कागज द्रव्य (**paper money**), मान द्रव्य (standard money) धातु-द्रव्य (**metallic money**) या सिक्का। लेखा द्रव्य (**money of account**) प्रतिनिधि द्रव्य (**representative money**) साख द्रव्य (**credit money**) ।

सिक्के में शुद्ध धातु के साथ कुछ खोट मिला देते हैं। आम तौर पर सिक्कों के किनारे खुरदुरे रखे जाते हैं जिससे उन्हें किनारों से काटा न जा सके। ढलाई हर जगह सरकारों के हाथ में होती है यदि जनता अपनी धातु ले जाकर जब चाहे सिक्के ढलवा सके तो उसे मुक्त ढलाई (**free coinage**) कहते हैं। यदि ढलाई का कोई व्यय वसूल न किया जाय, तो उसे मुक्त या उपहारस्वरूप (**gratuitous**) ढलाई कहते हैं यदि व्यय लागत के बराबर ही लिया जाय तो उसे टकसाली शुल्क या मिंटेज (**mintage**) या गढ़ाई व्यय या ब्रासेज (**brassage**) कहते हैं, यदि खर्चा लागत से ज्यादा लिया जाय तो उसे सिक्का ढलाई लाभ या सीनियोरेज (**seigniorage**) कहते हैं।

सांकेतिक मुद्रा (**Token Coins**)—जब किसी सिक्के का अंकित मूल्य (**face value**) उसके यथार्थ मूल्य (**real worth**) से ज्यादा होता है तो उसे सांकेतिक मुद्रा कहते हैं। यदि बराबर हो तो मान मुद्रा (**standard coin**) और कम हो तो अधिक मूल्यवान मुद्रा (**over valued coin**) कहते हैं।

विधिमान्य करन्सी (***Legal Tender***)—जब द्रव्य के पीछे कानूनी शक्ति होती है तो उसे विधिमान्य करन्सी (**legal tender**) कहते हैं जैसा कि हमारा रुपया है। पैसे जैसे छोटे सिक्के केवल सीमित परिमाण में ही दिए जा सकते हैं इसलिए उन्हें परिमित (अपरिमित के मुकाबले में) विधिमान्य करन्सी कहते हैं। चलन मुद्रा या करेन्सी (**currency**) का मतलब है कानूनी मान्यता प्राप्त माध्यम (**medium**) जब कि द्रव्य (**money**) का अर्थ है वह माध्यम जिसे जनता मानती और स्वीकार कर लेती है

कागजी द्रव्य (**Paper Money**) प्रतिनिधानक है शुरू में कागज के नोट सरक्षित कोष या रिजर्व (**reserve**) में रखी हुई धातु के समान परिमाण का प्रतिनिधित्व करते थे। किन्तु अब एक बड़ी मात्रा में नोटों का निर्गम रिजर्व में रखी ज्यादा परिमाण में होता है। इसे विश्वास निष्ठ निर्गम या फिड्यूशियरी इश्यू (**fiduciary issue**) कहते हैं। जब तक सरकार कागज के नोटों को सिक्कों में बदलने का दायित्व लेती है कागजी मुद्रा परिवर्तनीय (**convertible**) कहलाती है। जब सरकार इस दायित्व को इन्कार करती है तब कागजी मुद्रा अपरिवर्तनीय (**incovertible**) हो जाती है।

कागजी करेन्सी का अधिक निर्गम (**Over Issue of Paper Currency**)—कागजी करेन्सी में सबसे बड़ा खतरा यह है कि बड़ी मात्रा में निर्गम (**issue**) की जा सकती है और विशेष कठिन दशों के काल में इसका फल आमतौर पर मुद्रा स्फीति (**inflation**) होता है। इससे देश की अर्थ व्यवस्था बिगड़ जाती है।

ग्रेशम का नियम (**Gresham's Law**)—यदि द्रव्य अच्छा और बुरा साथ-साथ परिचलन में हो तो अच्छा द्रव्य बाजार से खदेड़ दिया जाता है। 'बुरे द्रव्य (**bad money**) का अर्थ है नए सिक्कों के मुकाबले में पुराने सिक्के और सोने के मुकाबले में निकिल और चांदी के सिक्के। ऐसी हालत में अच्छा द्रव्य (***good money***) जमा कर लिया जाता है, गला दिया जाता है, या निर्यात (**export**) कर दिया जाता है

द्रव्य मान (**monetary standard**) का मतलब है वह धातु (या द्रव्य) जिसकी तुलना में देश के द्रव्य का मूल्य निश्चित किया जाता है यदि यह निश्चित (**fixed**) कर दिया गया हो

द्रव्य इतने सोने या चालू सोने के सिक्कों के बराबर है तो वह स्वर्ण-मान या गोल्ड स्टैण्डर्ड कहलायेगा। यदि द्रव्य-रचना के रूप में चाँदी के सिक्के चालू हैं तो यह रजत मान (silver standard) कहलायेगा। यदि द्रव्य स्वर्ण धातु की किसी निश्चित राशि के बराबर हो रक्खा जाता है तो वह स्वर्ण बुलियन मान है। यदि करेन्सी स्वर्ण से सम्बन्धित है और विदेशों के भुगतान करने के लिए सोने में बदला जा सकता है तो वह स्वर्ण विनिमय मान या गोल्ड एक्सचेंज स्टैण्डर्ड है। यदि करेन्सी पाउण्ड स्टर्लिंग से जुड़ा हुआ है तो वह स्टर्लिंग एक्सचेंज (विनिमय) स्टैण्डर्ड है।

द्विधातुवाद (Bimetallism)—जब सोना-चाँदी दोनों धातुएँ किसी निश्चित अनुपात में चालू होती हैं।

एक धातुवाद (monometallism)—जब केवल एक धातु ही मान द्रव्य की तरह प्रचलित हो।

स्वस्थ करेन्सी प्रणाली (Sound Currency System)—एक अच्छी चलन प्रणाली में निम्न गुण होने चाहिएँ—

(१) यह सरल हो,
(२) इसमें कीमतें स्थिर रहें,
(३) इसमें करेन्सी का विदेशों में मूल्य बना रहे,
(४) सस्ती हो,
(५) अपने आप लोचदार हो और
(६) इसे जनता का विश्वास प्राप्त हो।

क्या आप निम्न प्रश्नों का उत्तर दे सकते हैं ?

1 What is barter ? Explain how the use of money originated in the inconveniences of barter (अजमेर १९५३ बम्बई १९५३)
देखिए विभाग २ और ३

Or

What difficulties would feel if there were no money ?
(बिहार १९५२ पंजाब विश्वविद्यालय १९४७ Supp)
देखिए विभाग २

2 Define money Why did gold and silver become universally adopted as money ? (पंजाब विश्वविद्यालय १९५७)
देखिए विभाग ३

Or

What is money ? What are its functions ? What are the different kinds of money to be found in modern times ? (पटना १९५४)

3 What do you understand by money ?
(दिल्ली १९३४ १९५३ जम्मू और काश्मीर १९५३ आगरा १९४० पटना १९४५ पंजाब १९४७)
देखिये विभाग ३ और ४

Or

What are the qualities of a good money material ? Are the following suitable as material for the making of money ?

(a) Ice
(b) A piece of paper
(c) Radium (दिल्ली १९४४)

4 'Money is what money does' Discuss

(कलकत्ता विश्वविद्यालय १६४०)
देखिये विभाग ३

5 What would happen if money disappeared overnight? Imagine and describe the state of affairs

देखिये विभाग ७

6 Write notes on

(i) Gold Standard
(ii) Mintage (पंजाब विश्वविद्यालय १६४६ Supp)
(iii) Free coinage (पंजाब विश्वविद्यालय १६४१)

[देखिये विभाग (i) के लिए १३ और (ii) (iii) के लिए ८]।

7 Define (i) Currency (ii) Coinage (iii) Seigniorage (iv) Standard money (v) Bi metallism (vi) Gold Exchange Standard

(पंजाब विश्वविद्यालय १६४४ Supp)

[देखिये विभाग (i) (ii) (iii) और (iv) के लिए विभाग (v) के लिए १४ (vi) के लिए १३]

8 Distinguish between

(i) Legal tender and token money
(कलकत्ता १६४२ पंजाब १६४०)
(ii) Debasement and depreciation of currency
(पंजाब विश्वविद्यालय १६४१)
(iii) Money and Wealth (पंजाब विश्वविद्यालय १६४३)
(iv) Money and Currency (पंजाब विश्वविद्यालय १६४५)
(v) Inconvertible and convertible money
(कलकत्ता विश्वविद्यालय बी० काम० १६३६ और यू० पी० इण्टर बोर्ड १६४६)
(vi) Credit and Metallic money

[(i) देखिये विभाग ८ और ६ (ii) गिरा देने (debasement) का मतलब है धातु सिक्कों की फाइनेन्सी कम कर देना या अधिक लम्बे उपयोग के कारण हो (अर्थात् नये सिक्कों की ढलाई वाले या ... गई हो) या ... इस तरह से हो कि बेईमान लोग इस उपाय से पैसा पैदा करने लग गये। ह्रास (depreciation) का मतलब है द्रव्य की क्रय शक्ति (purchasing power) का गिर जाना। ह्रास के लिए देखिये अगला अध्याय (iii) देखिये द्रव्य के कार्य विभाग ५। (iv) द्रव्य चलन मुद्रा हो या साख मुद्रा। चलन मुद्रा या करेंसी वह है जो कानूनी रूप से चालू अर्पण (tender) है अर्थात् नोट और सिक्के। (v) देखिये विभाग १० (vi) धातु द्रव्य धातु के बने हुए सिक्कों का होना है। साख (credit) के लिए देखिये अध्याय २१]।

9 Which of the following are money in India?—

(1) Notes of the Reserve Bank (2) Cheques drawn on the Imperial Bank of India (3) Postal Cash Certificates (4) The English Sovereign Give reasons for your answer

(१ और २ कलकत्ता विश्वविद्यालय बी० कॉम० १६४२ पंजाब विश्वविद्यालय १६३६
जम्मू और काश्मीर १६५१)

[(१) हाँ (२) नहीं (३) ये द्रव्य का प्रतिनिधित्व करते हैं (४) नहीं]

10 What is money ? Discuss its various functions How far does money in India efficiently perform its functions ?

(पंजाब विश्वविद्यालय १९४८)

[देखिये विभाग ३ और ५। दूसरे भाग के लिए पृ ४ पर अध्याय पढ़िये जो पुस्तक के भाग २ में है।]

11 Explain "Gresham's Law" fully Also give limitations

(अजमेर १९५३, पंजाब विश्वविद्यालय १९४८, कलकत्ता विश्वविद्यालय १९४३, आगरा १९४२, नागपुर १९४१)

देखिये विभाग १२

12 What are the essential characteristics of gold standard ? Define it.

(कलकत्ता १९२८, कलकत्ता बी० काम० १९४१)

देखिये विभाग १३

13 Explain the advantages of a Gold Standard Why has this standard been given up in India and England ?

(नागपुर १९४७)

[स्वर्ण मान के यह लाभ हैं—

(i) इससे प्रतिष्ठा बनती है, (ii) इससे विश्वास जमता है, (iii) यह देश के अन्दर दरों का मूल्य बनाये रखने में मदद करता है, (iv) यह दरें अधिकारियों की दया पर आश्रित नहीं होता, और (v) यह अपने आप — लेन देन सन्तुलन (balance of payments)—को खुद-ब-खुद ठीक कर देता है।

भारत, इंगलैण्ड और अधिकतर देशों ने स्वर्ण मान छोड़ दिया है, क्योंकि यह महंगा और अनावश्यक था। दुनिया ने अब सस्ते विनिमय माध्यम के बिना काम चलाना सीख लिया है। कागजी मुद्रा बड़ी किफायती है और इसका प्रबन्ध अच्छा हो सकता है।]

14 What are the dangers involved in a paper currency system ? How can a Government avoid them ?

देखिये विभाग ११

15 Briefly describe the main requisites of a sound currency system Is Indian currency system also based on such principles ?

देखिये विभाग १५

अध्याय २०

द्रव्य का मूल्य

(THE VALUE OF MONEY)

माप को मापना

(Measuring the Measure)

१ "द्रव्य का मूल्य" पद का अर्थ (Meaning of the Term 'Value of Money')—मास्टर साहब बताते हैं—गज दूरी नापता है। किसी ने प्रश्न पूछा, *किन्तु गज को कौन नापता है?' उत्तर है 'दूरी ही गज को माप करती है।'* इसी प्रकार द्रव्य 'माल' की माप करता है। और द्रव्य की माप क्या है? 'माल', 'पदार्थ'। हम जानते हैं कि मूल्य (value) दो पदार्थों के आपस में विनिमय के अनुपात (ratio of exchange) का नाम है और द्रव्य इस मूल्य को 'कीमत' (price) से मापता है। द्रव्य हमारी इच्छाओं का उद्देश्य है, और उसे पाने को हम अथक कोशिश करते रहते हैं किन्तु द्रव्य स्वयं कुछ नहीं है उससे हम अन्य पदार्थ खरीदने के लिए पाना चाहते हैं। इसलिए द्रव्य का मूल्य (value), पदार्थों का वह साधारण परिमाण है जो द्रव्य की एक इकाई के बदले में हम मिल सकता है। या यूं कह कि द्रव्य का मूल्य उसकी क्रय-शक्ति (purchasing power) है।

द्रव्य से हम क्या खरीद सकते हैं, यह कीमतों के स्तर (level of prices) पर आश्रित है। यदि कीमतों का स्तर बढ़ता है तो द्रव्य की एक इकाई में पहले की अपेक्षा कम पदार्थ खरीदे जा सकते हैं। तब कहा जाता है कि द्रव्य का मूल्य ह्रास (depreciation) हो गया। इसके विपरीत यदि कीमतें गिर जायें तो इसका मतलब होता है द्रव्य की एक इकाई पहले से अधिक वस्तुएँ खरीद सकती है और तब द्रव्य का मूल्य-वृद्धि (appreciation) हो जाती है। इस तरह कीमतों का साधारण स्तर (general level of prices) और द्रव्य मूल्य (value of money) दोनों विभिन्न दृष्टिकोणों से देखी गई एक ही चीज है। द्रव्य के मूल्य में तीव्र (violent) अन्तर आर्थिक जीवन में गड़बड़ी लाकर बड़ा नुकसान पहुँचाता है। इसलिये हम सावधानी से उन कारणों का अध्ययन करना चाहिए जो द्रव्य का मूल्य निश्चित करते हैं।

२ द्रव्य के मूल्य में परिवर्तन—मुद्रा स्फीति, मुद्रा-संकुचन तथा पुन मुद्रा प्रसार (Changes in the Value of Money Inflation, Deflation and Reflation)—मान लीजिए कि हमने नापकर देखा कि एक कमरा ८० फीट लम्बा है। उसे फिर अगले दिन नापने पर हमें अगर यह मालूम पड़े कि वही कमरा

८४ फीट लम्बा है तो हम अवश्य आश्चर्य होगा। रात भर में कमरा ४ फीट कैसे बढ़ गया? क्या कोई दीवार गिरा दी गई या रात भर में इसमें कोई विस्तार कर दिया गया? या हमारा फुट ही दो इंच छोटा हो गया? इनमें से क्या सही है? इसी तरह से यदि एक रुपए में आज १० सेर गेहूँ खरीदा जाता है किन्तु कल ५ सेर तो हम बड़ी मुश्किल में पड़ जाते है। हमें यानी फुट—रुपए—पर बड़ी खीझ होती है कि यह सिकुड़कर आधी लम्बाई का रह गया। हम जानना चाहते है कि क्या हो गया। हमसे कहा जाता है कि द्रव्य का मूल्य बदल गया। बिल्कुल यही भारत में हुआ है। बहुत बार किसी देश म पहले से अधिक मात्रा म नोट चालू हो जाते है, जबकि पदार्थों का परिमाण करीब करीब वही रहता है या जरा सा ही बढ़ता है। इसलिए रुपये से हम कम पदार्थ खरीद पाते हैं।

आज युद्ध म पहले (१९३९) की अपेक्षा रुपया सिकुड़कर एक-चौथाई रह गया है। बहुत ज्यादा नोट—ठीक-ठीक कहें तो २६ मार्च १९५४ को, १२०१ करोड़ रु० के नोट—देश में चालू है, जबकि सितम्बर १९३९ को केवल १७२ करोड़ रु० के ही थे। इस तरह देश मे मुद्रा-स्फीति (inflation) यानी चलन मुद्रा का अधिक प्रसार हो गया है। इसीलिए कीमत ऊपर उठ गई है।

कीमतो के बहुत ऊँचे चले जाने पर भारत सरकार घबडाकर अनेक उपायो से नोट कम करने की कोशिश कर रही है। मुद्रा को घटाना जिससे कि कीमत एक दम कम हो जाएँ मुद्रा सकुचन (deflation) कहलाता है।

यदि पलडा दूसरी ओर बहुत ज्यादा झुक जाय और करेन्सी इतनी घट जाय कि सारा कारबार ही ठप्प हो जाय तो सरकार फिर कारबार सुचारु रूप से चलाने के लिए दोबारा करेन्सी बढाने का यत्न करेगी जिससे 'मुद्रा सकुचन' (deflation) के बुरे नतीजे रुक जाय। इस प्रक्रिया को पुन मुद्रा प्रसार (reflation) कहते।

३ मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन की माप (Measurement of Changes in the Value of Money)—कीमतो म परिवर्तन समान और एक से नहीं होते। कुछ कीमतें बढती है तो कुछ गिरती है। बहुत सी अन्य कीमत स्थिर बनी रहती हैं। ये कीमत तो मधुमक्खियो के समान है जो छत्ते से इकट्ठी निकलती है, कोई कहीं उड जाती है कोई कहीं और कुछ वहीं मँडराती रहती है। किन्तु किसी एक विशेष दिशा मे जाने की उनकी प्रवृत्ति हो सकती है। कीमतो के परिवर्तन करने की तुलना करने मे हमें अभावात्मक चिह्न मिलता है। हम द्रव्य के मूल्य मे कुल (over all) कितना अन्तर पड़ा है इसको जानकर ही कोई दवा बता सकते है। इलाज करने से पहले यह जानना जरूरी है कि मर्ज कितना बढ गया है।

सूचक अक (Index Numbers)—इसमें सूचक अक हमारी मदद करते है। इनके द्वारा हम वस्तुओ की किसी भी सख्या की कीमतो में परिवर्तन का औसत निकालकर किन्ही दो वर्षो का अनुपात (ratio) निकाल लेते हैं। इससे हमे द्रव्य के मूल्य में अन्तर पता लग जाता है। सूचक अक समाज के किसी वर्गविशेष के निर्वाह-व्यय (cost of living) के परिवर्तन देखकर भी बना सकते है। यह अक हमे आयात और निर्यात किए गए माल के परिमाणो अथवा मूल्यो मे परिवर्तन की

भी माप दे सकते हैं। सच तो यह है कि सूचक अंक किसी भी परिमाणात्मक परिवर्तन (quantitative change) की माप करने के लिए प्रयुक्त हो सकते हैं। द्रव्य के मूल्य-परिवर्तन को मापने के लिए हम निम्नलिखित तरीका अपनाते हैं—

सबसे पहले एक आधार वर्ष (base year) चुनना पड़ता है। इसके लिए एक सामान्य वर्ष (normal year), यानी जिसमें कीमतें स्थिर थी और सामान्य कीमतों (normal prices) के निकट थी, चुनना अच्छा है जिससे सूचक-अंकों से बाद के परिवर्तन साफ पता चलें। उदाहरण के लिए आज रुपए का बदलता हुआ मूल्य आँकने के लिए सबसे उपयुक्त आधार-वर्ष युद्ध के पहले का वर्ष १९३८-३९ होगा।

दूसरा कदम है वस्तुओं की एक सूची बनाना। यह सूची जितनी बड़ी और प्रतिनिधि (representative) बन सके उतना अच्छा है।

तीसरे, द्रव्य-मूल्य में परिवर्तन मापने के लिए थोक कीमतें ली जानी चाहिएँ और निर्वाह-व्यय में अन्तर जानने के लिए फुटकर कीमतें।

एक साधारण सूचक अंक कैसे निकाला जाए? (How to construct an ordinary Index Number?)—आधार-वर्ष में हर वस्तु की कीमत १०० रखिए। अब जिस वर्ष की आपको गणना करनी है उसमें प्रत्येक वस्तु की कीमत में प्रतिशत अन्तर देख लीजिए। इस कालम में दी गई संख्याओं का जोड़कर हमें एक संख्या मिलती है और १०० वाले कालम को जोड़कर दूसरी संख्या। अब पहली संख्या को १०० से गुणा और दूसरी संख्या से भाग देकर प्रतिशत अन्तर निकल आएगा।

ऊपर के तरीके को हम एक व्यावहारिक उदाहरण देकर समझा सकते हैं। हमारी तालिका (table) में पाँच कालम हैं—पहला वस्तुओं के लिए, दूसरा कीमतों का, तीसरा आधार-वर्ष (१००) का, चौथा जिस वर्ष की गणना करनी है, उसमें कीमतों का, और पाँचवां उसके प्रतिशत कीमत-अन्तर का।

वस्तुएँ	१९३९ (हमारे आधार वर्ष) में थोक कीमतें	हर कीमत १०० के बराबर मान ली गई	गणना करने वाले वर्ष (१९५४) में कीमतें	१९५४ में १९३९ की अपेक्षा प्रतिशत कीमत अन्तर
गेहूं	२॥) फी मन	१००	१५) फी मन	६००
घी	४०) ,,	१००	२२०) ,,	५५०
दूध	५) ,,	१००	२०) ,,	४००
सूती कपड़ा	॥) फी गज	१००	१॥) फी गज	३००
जूते	६) फी जोड़ा	१००	१५) फी जोड़ा	२५०
कागज	≈) फी दस्ता	१००	॥) फी दस्ता	४००
सिनेमा	॥) फी शो	१००	१।) फी शो	२५०
ईंधन	॥।) फी मन	१००	२।) फी मन	३००
कुल		८००		३०५०

प्रतिशत औसत $\frac{३०५० \times १००}{८००}$ = ३८१। इसका मतलब है, सूचक अंक

(index Number) यह बताता है कि कीमतें, इस अवधि में जिसकी हम गणना कर रहे हैं १०० से ३८१ अर्थात् २८१ प्रतिशत बढ़ गई हैं।

भारत सरकार का आर्थिक सलाहकार (Economic Adviser to the Government of India) वस्तुओं की थोक कीमतों का सूचक (index) रखता है जो ५ खण्डों में होता है— खाद्य पदार्थ, औद्योगिक कच्चा माल, अर्द्ध-निर्मित माल (semimanufactured goods) और विविध पदार्थ। यह हमें भारत में कीमतों के परिवर्तन की ठीक-ठीक औसत बताते हैं। यह सूचक अंक हमें बताते हैं कि १९३९ अगस्त को १०० (आधार-वर्ष) मानकर २१ फरवरी १९५३ को कीमतें ३८२ थी।

४. सूचक अंकों के उपयोग (Uses of the Index Numbers)—लोगों की जीवन-निर्वाह की दशाओं में, विभिन्न वर्षों में, और विशेष वर्षों में विभिन्न करेंसियों की क्रय शक्तियों के परिवर्तनों की तुलना करने में यह बड़े काम आते हैं। उदाहरण के लिये हम पिछले महायुद्धों में भारतीय रुपए के मूल्य में गिरावट की तुलना पाउंड या डालर के मूल्य ह्रास से कर सकते हैं। इस प्रकार सूचक अंक हमें अपनी आर्थिक नीति निर्धारित करने में मदद देते हैं। वे हमें अपने ऋणों को चुकाने का भी समुचित उपाय बताते हैं। मजदूरी और जमीन के किरायों (land rents) के खिसकने पैमाने (sliding scales) भी कीमत के सूचक अंकों के आधार पर बनते हैं। इन तरीकों से द्रव्य-मूल्य के परिवर्तनों से जो मुसीबतें आती हैं उनको किसी कदर कम किया जा सकता है। किन्तु सूचक अंकों की कुछ सीमाएँ होती हैं वे बिल्कुल सही नहीं समझे जा सकते। वे सिर्फ करीब-करीब औसत (approximations) होते हैं। पूरी तुलना इसलिए असम्भव है कि जिन तथ्यों पर वे आधारित होते हैं उनमें परस्पर बड़ा अन्तर होता है। एक ही सूचक अंक सभी वर्गों के ऊपर कीमत परिवर्तन का प्रभाव नहीं बता सकता, क्योंकि सूचक अंक केवल एक ही वर्ग के बनाये जा सकते हैं। अलग-अलग चीजों पर अलग-अलग वजन या जोर (weight या emphasis) डालने से विभिन्न नतीजे निकलते हैं।

५. द्रव्य के मूल्य में परिवर्तनों के प्रभाव (Effects of Changes in the Value of Money)—यदि इसका मूल्य हर वक्त बदलता रहे तो द्रव्य अपना कार्य सुचारु रूप से नहीं कर सकता। आप सोचें कि अगर कपड़े का परिमाण तो वही रहे पर गज की लम्बाई बदलती रहे—घटती-बढ़ती रहे—तो कपड़े का व्यवसाय कितना संकटपूर्ण हो जाएगा।

द्रव्य मूल्य में परिवर्तनों का देश के कुल धन तथा उत्पादन की क्षमता पर दूरगामी प्रभाव पड़ता है।

इन परिवर्तनों से लोगों की क्रय शक्ति में बड़ा फर्क पड़ जाता है। मिसाल के लिए। आज रुपए से १९३९ की अपेक्षा लगभग ¼) का ही माल खरीदा जा सकता है। रुपए के मूल्य में इस परिवर्तन से देनदारों (creditors) का नुकसान और कर्जदारों (debtors) का फायदा हुआ है। जिस आदमी ने १९३८ में १००) उधार लिये थे, जिनसे वह उस समय ५० मन गेहूँ खरीद सकता था, आज वह जब सूद

सहित (१७०) लौटाता है तो सिर्फ १० मन गेहूं ही खरीदी जा सकता है। जिन लोगों की आमदनी निश्चित है उन्होंने व्यापारियों और निर्माताओं (manufacturers) के मुकाबले में नुकसान उठाया है। (१००) माहवार वेतन पाने वाले क्लर्क का २५) रुपय महंगाई भत्ता मिलने पर भी वह असल में सिर्फ पहले के ३०) ही पा रहा है। मुद्रा-स्फीति (inflation) के समय में धन कमाना एक जुआ या सट्टा भर रह जाता है (कीन्स)[1] जैसा कि आज भारत में हो रहा है। इस तरह से यह साफ है कि धन का वितरण बदलकर और अन्याय पूर्ण हो जाता है।

आम तौर पर कीमतें बढ़ने से शुरू शुरू में बाजार में तेजी आती है। आशाएँ बढ़ती हैं और व्यापारी खुश होते हैं। निर्माताओं (manufacturers) को बड़ा मुनाफा होता है क्योंकि उनके माल की लागत इतनी तेजी से नहीं बढ़ती जितनी तेजी से उनके तैयार हुए माल की कीमतें बढ़ती हैं। बड़े बड़े किसान जिनके पास बेचने के लिए काफी अनाज होता है खुशहाल हो जाते हैं। और किसानों तक को फायदा होता है क्योंकि किराये लगान और दूसरे खर्च वही रहते हैं। पर उनकी उपज की कीमत बाजार में बहुत बढ़ जाती है लेकिन कारीगर स्थिति बदल जाती है।

कीमतों में वृद्धि निश्चित आय वाले लोगों (fixed income groups) पर असर डालती है जैसे सरकारी नौकरों किराया खाने वाला आदि पर। मजदूरों की भी मुसीबत होती है क्योंकि उनकी मजदूरी कीमतों से हमेशा पीछे रहती है (lags behind) और कीमतों के अनुपात से नहीं बढ़ती। हड़तालों और तालाबन्दियों (strikes and lock outs) से उत्पादन में गड़बड़ होती है और बेकारी बढ़ती है। इससे मजदूरों का और भी नुकसान होता है। किन्तु सबसे बुरा हाल निश्चित आय वाले लोगों का होता है।

इसके विपरीत कीमतों के गिरने से और भी दुखद और हानिकारक परिणाम होते हैं। द्रव्य मान (money standard) में उतार चढ़ाव एक वक्त तो धन के उत्पादन को रोकता है और दूसरे वक्त उसको अत्यधिक उत्तेजना (overstimulates) देता है। अक्सर इसका फल यह होता है कि उद्योग का विकास असन्तुलित (unbalanced) हो जाता है और उसमें क्षणिक समृद्धि (boom) या मन्दी (depression) आ जाती है। उत्पादन में काम धन्धा को नुकसान होता है और सट्टा ही चलता है।

कीमतों के उतार चढ़ाव भविष्य के बारे में अनिश्चितता पैदा कर देते हैं। भविष्य में सौदे (transactions in future) क्रय विक्रय विश्वास के साथ नहीं किए जा सकते और आर्थिक जीवन का तार तमाम अस्त व्यस्त हो जाता है।

लेनिन ने कहा था कि पूंजीवादी व्यवस्था को नाश करने का सबसे अच्छा उपाय है चलन मुद्रा (करेंसी) को खराब कर देना[2] यानी मुद्रा स्फीति का हालात उत्पन्न कर देना। इस मुद्रा-स्फीति का डर न होता तो अपरिवर्तनीय कागज-द्रव्य

1 Wealth getting degenerates into a gamble and a lottery —Keynes

2 The best way to destroy the capitalist system is to debauch the currency —Lenin

उपयोगी होता। किन्तु कागज द्रव्य से मुद्रा स्फीति का डर और भी बढ़ गया है क्योंकि नोट छापना बड़ा आसान और सस्ता है। जर्मनी और ऑस्ट्रिया जैसे देशों में जिनमें पहले महायुद्ध के दौरान में कीमतें बहुत ऊंची चढ़ गई थी और करेंसी का मूल्य खत्म सा हो गया था हर घर एक स्टोर की तरह लगता था जिसमें हर तरह की चीजें भरी पड़ी थी और एक घर में तो एक किसान ने मरने के वक्त पहनने के लिए कफन भी खरीदकर रख लिया था। आस्ट्रिया के दो भाइयों का किस्सा कम दिलचस्प नहीं है जिनको बराबर बराबर रुपया विरासत में मिला। एक ने तो भले लड़के की तरह अपना रुपया बैंक में जमा कर दिया और दूसरे ने ऐश करना शुरू किया और अपना रुपया आमोद प्रमोद और शराब में उड़ा दिया। करीब एक साल के बाद इस लड़के को अपनी कोठरी में पड़ी हुई खाली बोतलों के ढेर को बेचने से जितना रुपया मिला वह उसके भाई को जितना बैंक से मिला उससे ज्यादा था।[1] यही वजह है ऐसे वक्तों में लोग रुपया बचाकर नहीं रखना चाहते चाहे जितने रुपया बचाइए (save your money) के विज्ञापन कर दीजिए या नारे लगा दीजिए वे अपनी बचत (saving) को वस्तुओं की शक्ल में रखना पसन्द करते हैं और माल जमा कर लेते हैं।

६. द्रव्य के मूल्य की व्याख्या (Change in the Value of Money Explained)—हम अब इस स्थिति में हैं कि इस पर विचार कर सकें कि कौनसी शक्ति द्रव्य का मूल्य तथा सामान्य कीमत स्तर तय करती हैं। किसी समाज में सामान्य कीमत स्तर (general price level) तीन चीजों से प्रभावित होता है। यह हैं—

(क) व्यापार का परिमाण (volume of trade)

(ख) चलन की मात्रा (quantity of currency) और

(ग) मुद्रा के परिचलन की गति या तेजी (the velocity or rapidity of circulation of currency)।

यह तीन कारण स्वतन्त्र रूप से भी और एक दूसरे के सम्बन्ध में भी बदलते रहते हैं।

द्रव्य हमें पदार्थों के विनिमय में मदद करता है। किए जाने वाले विनिमय का परिमाण जितना अधिक होगा उतनी ही द्रव्य की मांग अधिक होगी और द्रव्य की एक इकाई का मूल्य उतना ही अधिक होगा। यही इसके विपरीत होगा। इस तरह व्यापार के परिमाण के साथ द्रव्य का मूल्य सीधे अनुपात (directly) में बदलता है।

यह भी सब जानते हैं कि किसी भी वस्तु का मूल्य उसकी सप्लाई पर निर्भर है। इसीलिए एक निश्चित द्रव्य कार्य (money work) करने के लिए मुद्राओं की संख्या जितनी अधिक होगी उतना ही मुद्रा का मूल्य कम होगा और जितनी कम होगी मूल्य उतना ही अधिक। दूसरे शब्दों में द्रव्य की एक इकाई का मूल्य उसकी मात्रा के साथ उलटे अनुपात में बदलता है (varies inversely)। किन्तु हमने

1 Hartley Withers Money

यह भी पता है कि सभी द्रव्य-कार्य नकद द्रव्य से नहीं होता। बहुत कुछ तो साख द्रव्य (credit money) से ही हो जाता है। इसलिए जब हम किसी देश में कीमतों पर द्रव्य मात्रा का प्रभाव देखना चाहें, तो हमें साख पत्रों (credit instruments) की भी गणना करनी पड़ेगी।

यह भी याद रखना चाहिए कि द्रव्य एक बार के उपयोग से ही नष्ट नहीं हो जाता। द्रव्य की एक इकाई एक विनिमय पूरा करने के बाद तुरन्त ही दूसरा विनिमय करने के लिए तैयार रहती है। और द्रव्य एक हाथ से दूसरे हाथ में जाता रहता है। इसलिए यदि एक रुपया किसी अवधि में ६ बार प्रयुक्त होता है तो वह उन ६ रुपयों का काम करता है जो एक बार ही प्रयुक्त हो सकते हैं। इसलिए एक रुपया, किसी कालविशेष में, मान लीजिए एक साल में, जितने हाथों से गुजरता है, उसे उसके "परिचलन की गति" (velocity of circulation) कहते हैं। इस तरह द्रव्य के परिचलन की गति भी कीमत निर्धारित करने में कुल द्रव्य-परिमाण की सहायता करती है।

७ **द्रव्य का मात्रा सिद्धान्त** (Quantity Theory of Money)—उपर्युक्त निष्कर्ष एक सिद्धान्त के रूप में रखे गए हैं जिसे द्रव्य का मात्रा सिद्धान्त कहते हैं।

उन्नीसवीं सदी में—बल्कि बीसवीं के पहले बीस-तीस सालों तक भी—यह द्रव्य का सबसे प्रचलित सिद्धान्त रहा है। यह कहता है कि द्रव्य का मूल्य परिचलन में उसके परिमाण पर निर्भर है। अपने सकुंचित रूप में यह सिद्धान्त कहता है कि "द्रव्य के परिमाण में किसी भी प्रतिशत वृद्धि या कमी से उतनी ही प्रतिशत कीमतों के सामान्य स्तर में वृद्धि या कमी होगी" (बेनहम)[1]। हम जानते हैं कि द्रव्य केवल विनिमय का माध्यम है। यह केवल एक टिकट या संकेत (टोकन) है जो विनिमय की कड़ी बनता है और इसकी इच्छा स्वयं इसके लिए नहीं की जाती। इसलिए मात्रा सिद्धान्त इस नतीजे पर पहुँचता है कि यदि किसी समाज में द्रव्य की मात्रा दुगुनी हो जाय तो कीमतें दुगुनी हो जाएंगी यदि आधी रह जाय तो कीमतें आधी रह जाएँगी। कुल द्रव्य की कुल क्रय शक्ति तो सदा उतनी ही रहेगी, क्योंकि "धन का केवल उतना ही महत्व है जितना वह बदले में ला सकता है" (कीन्स)।[2]

एक उदाहरण से बात साफ हो जाएगी। यदि एक द्वीप पर समान मूल्य की १०० वस्तुएँ बिकने के लिए आई हैं और द्रव्य की २०० इकाइयां हैं तो औसत कीमत की वस्तु दो इकाई होगी। यदि किसी दिन सुबह सोकर उठने पर लोग यह पाएँ कि उनका द्रव्य दुगुना हो गया है तो औसत कीमत फी वस्तु चार इकाई हो जाएगी और यदि सबका द्रव्य आधा रह जाय तो भी कोई उससे गरीब न होगा क्योंकि हर सिक्का जितना माल पहले खरीदता था उससे दुगुना खरीदने लगेगा। दूसरे शब्दों में उस द्वीप में द्रव्य की माँग का लोच (elasticity) इकाई (unit) है।

हमने विस्तारपूर्वक इस बात की चर्चा की है कि किसी वस्तु का मूल्य कैसे

1 'Any given percentage increase or decrease in the quantity of money will lead to the same percentage of increase or decrease in the general level of prices"—Benham

2 'Money is only important for what it will procure"—Keynes

नियत होता है। मांग और सप्लाई के दो शब्द, जिनसे, हँसी में कहा जाता है कि, एक तोता भी अर्थशास्त्री बन सकता है, ये ही दो शब्द इसकी कुञ्जी हैं। और द्रव्य का मूल्य भी और किसी तरीके से नियत नहीं होता। मूल्य के सामान्य सिद्धान्त को द्रव्य पर लागू करके हम कह सकते हैं कि यदि परिचलन में द्रव्य की मात्रा (सप्लाई) माल के परिमाण में बिना अन्तर हुए (जिसकी मांग के लिए द्रव्य की मांग होती है) बढ़ जाय तो द्रव्य का मूल्य गिर जायगा और कीमतें बढ़ जाएँगी और इसका उलटा भी सही होगा। इसी प्रकार वस्तुओं के परिमाण में वृद्धि होने पर यदि द्रव्य की मात्रा न बढ़े तो द्रव्य का मूल्य बढ़ जाएगा और कीमतें कम हो जाएँगी। मात्रा सिद्धान्त इसी सामान्य प्रवृत्ति को बताता है। इरविंग फिशर (Irving Fisher) जिसने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया, इसे विनिमय के एक बीजगणितीय समीकरण (algebraic equation) की शक्ल में रखता है $क = \frac{द}{स}$ जिसमें क तो कीमतों का स्तर (price level) है, द द्रव्य है और स विनिमय किए गए पदार्थों की या सौदा किए गए माल का परिमाण या संख्या। यह सादा समीकरण (simple equation) दुनिया से अलग केवल एक छोटे समाज में ही सही हो सकता है, जहाँ (क) सौदों (transactions) की संख्या कम है, (ख) वहाँ कोई सौदे बार्टर में नहीं होते, (ग) जहाँ सिक्कों के अलावा किसी और तरह का द्रव्य जैसे नोट, चैक आदि उपयोग में नहीं आता; और (घ) जहाँ द्रव्य-इकाई (money unit) बस एक बार ही प्रयुक्त होती है। किन्तु ऐसा अलग (isolated) समाज कहीं भी नहीं मिलता।

आधुनिक समाज में हम जानते हैं कि सिक्का बहुत बार एक हाथ से दूसरे हाथ में जाता है। कसाई उसे तन्दूर वाले के यहाँ ले जाता है। तन्दूर वाला पंसारी के पास और वह कहीं और। ५ बार परिचलित होने वाले सिक्के से होने वाला द्रव्य-कार्य उन पाँच सिक्कों के बराबर है, जो एक ही बार बदले जा सकते हैं। यह परिचलन की गति (velocity of circulation) कहलाती है। इसलिए किसी देश में द्रव्य की मात्रा जानने के लिए हमें सिक्कों की संख्या को उनकी गति (velocity) से गुणा करना पड़ेगा। तब हमारा समीकरण (equation) हो जाता है— $क = \frac{द\ ग}{स}$ जिसमें ग का अर्थ है द्रव्य की परिचलन गति।

किन्तु धातु द्रव्य (metallic money) के साथ-साथ हर आधुनिक देश में बहुत सारा कागजी द्रव्य (paper money) है जो माल विनिमय में सहायता करता है। साख-पत्र (Instruments of credit) जैसे चैक, ड्राफ्ट, बिल आदि भी यही कार्य करते हैं। और हमें उनके परिचलन की गति भी देखनी पड़ेगी। इसलिए हमारा समीकरण हो जायगा :— $क = \frac{द\ ग + द'\ ग'}{स}$* जिसमें द' का अर्थ है साख द्रव्य, और

*$P = \frac{MV + M'V'}{T}$ where P is level of prices, M is money and V is velocity of circulation, M' is credit money and V' is velocity of circulation, and T is the transactions carried (within a certain time).

ग' मान है साख द्रव्य की गति।

समीकरण (equation) यह बताता है कि कीमत तब बदलती है जब द्रव्य या साख द्रव्य का परिमाण (द या द') बदलता है, या जब उनकी गति (ग या ग') में परिवर्तन होता है। कीमत तब तो बदलेगी ही जब किए जाने वाले सौदों (transactions) का परिमाण बदलेगा।

मात्रा सिद्धान्त की आलोचना (Criticism of Quantity Theory)—(१) जब तक मात्रा सिद्धान्त एक प्रवृत्ति बताता है तब तक तो यह ठीक है, किन्तु जब यह एक गणित का फार्मूला बनाने चलता है, जिससे आप बिल्कुल ठीक-ठीक कुछ पता लगा सकें, तब यह सिद्धान्त गलत साबित हो जाता है। केवल कुछ विशेष परिस्थितियों में ही द्रव्य राशि को दूना कर देने से कीमत बिल्कुल दुगुनी उठगी। आम तौर पर कीमतें दुगुनी से नीचे भी रह सकती हैं या उससे ऊंचे भी जा सकती हैं।

(२) द्रव्य मात्रा (द) में परिवर्तन से यह निश्चित है कि उसके परिचलन की गति (ग) में भी अन्तर आएगा और माल के व्यापार में भी। कीमतों में अन्तर भी ग और म दोनों पर असर डालेगा। क्रिया-प्रतिक्रिया होना लाजमी है इसलिए यह मान्यता कि द, ग, और म में परिवर्तन सिर्फ क में फर्क डालते हैं, और आपस में नहीं, गलत है। यदि यह होता तो आसानी से कीमतों के परिवर्तनों को पहले से बता देते और यह कीमत स्तर का सरकारी नियन्त्रण करने के लिए पथ प्रदर्शक हो जाता।

(३) फिर कीमतें, द्रव्य की कितनी मात्रा वर्तमान है इस पर निर्भर नहीं रहती। उपभोक्ता जितनी आय बाजार में खर्च करते हैं उसका असर उन पर होता है। १९२९-३० की मन्दी में संयुक्त राष्ट्र अमरीका ने कीमतों को उठाने के लिए बड़ी भारी मात्रा में मुद्रा का सृजन किया। लोगों की आय तो बढ़ गई परन्तु उन्होंने खर्च अधिक नहीं किया इसलिए कीमतें नहीं चढ़ी।

निष्कर्ष—यह सिद्धान्त गणित के हिसाब से ठीक नहीं है किन्तु इतिहास से हमें उदाहरण मिलते हैं कि किसी देश में जब कभी द्रव्य की मात्रा ज्यादा बढ़ाई गई है तभी कीमत एक दम बढ़ गई है, जैसे पहली लड़ाई के बाद जर्मनी में या दूसरे महायुद्ध के दौरान में और बाद में भारत में बढ़ गई।

निस्सन्देह, यह सिद्धान्त किसी देश में नोटों के अत्यधिक निर्गम (over issue) के खतरे बताता है। इसी से इसका महत्त्व है।

आपने इस अध्याय में क्या सीखा ?

द्रव्य का मूल्य (Value of Money) उसकी क्रय शक्ति है। यह कीमत स्तर के साथ विपरीत अनुपात में बदलती है। माल और सेवाएं (goods and services) द्रव्य का मूल्य मापती हैं। जब कीमतें चढ़ती हैं, द्रव्य का मूल्य ह्रास (depreciation) होता है, और जब कीमतें गिरती हैं तब द्रव्य की मूल्य-वृद्धि होती है। आकस्मिक और तेज (violent) परिवर्तन आर्थिक जीवन में गड़बड़ पैदा कर देता है।

मुद्रास्फीति, मुद्रासुंकन, और पुनः मुद्राप्रसार (Inflation, Deflation and Reflation) मात्रा सिद्धान्त की सत्यता का पता तब लगता है जब मुद्रा स्फीति अर्थात् करेन्सी या

अधिक विस्तार (over expansion) हो जिसके कारण द्रव्य अपने मूल्य में गिर जाता है। परिचलित (circulating) द्रव्य की मात्रा कम करने को मुद्रा-संकुचन (deflation) कहते हैं। इससे द्रव्य का मूल्य बढ़ता है। जब करेन्सी का फिर विस्तार किया जाता है तब उसे पुनः मुद्रा प्रसार (reflation) कहते हैं।

इन परिवर्तनों की माप कैसे की जाय ? (How to measure these changes ?) द्रव्य में मूल्य परिवर्तन सूचक अंकों के द्वारा मापे जाते हैं। इस तरह हम एक निर्दिष्ट समय में बहुत सी वस्तुओं की कीमतों में प्रतिशत अन्तर पता लगाकर, उनका औसत निकाल लेते हैं। यह सावधानी जरूर बरतनी चाहिए कि (क) रोज के इस्तेमाल की चीजों का बड़ा सावधानी से चुना जाय। (ख) आधार वर्ष या वर्षों (base years) को जहाँ तक सम्भव हो सामान्य वर्षों (normal years) में से चुना जाए। (ग) अपने प्रयोजन के अनुसार कीमतें थोक या फुटकर ली जावें।

सूचक अंकों के जरिये विभिन्न समयों में बदलते हुए मनुष्यों, वर्गों और देशों के जीवन-स्तर की तुलना की जा सकती है।

द्रव्य का मूल्य क्यों बदलता है (Why Value of Money Changes)—द्रव्य मूल्य में परिवर्तन व्यापार के परिमाण (volume of trade), द्रव्य की मात्रा (quantity of money) और उसके परिचलन की गति (velocity of circulation) पर निर्भर है।

द्रव्य का मात्रा सिद्धान्त (Quantity Theory of Money)—द्रव्य का केवल दूसरे माल पर हमारा दावा कायम करने के लिए चाहा जाता है। इसका एक इकाई से कितना खरीदा जा सकता है यह उसकी परिचलित राशि पर निर्भर होगा। यदि राशि दुगुनी कर दी जाय तो एक इकाई पहले की अपेक्षा आधा माल खरीद सकती है, और इसका विपरीत भी। यह तथ्य प्रोफेसर फिशर (Fisher) ने अपने प्रसिद्ध "द्रव्य का मात्रा सिद्धान्त" नामक समीकरण में रक्खा है। इसमें कागज स्तर को सौदों की संख्या (number of transactions) से विभाजित करने पर जो भजनफल (quotient) हो उसका आकार है किन्तु द्रव्य राशि में साख द्रव्य भी आना चाहिए। द्रव्य और साख द्रव्य को उनकी गतियों से यानी उस संख्या से जितनी बार एक सिक्का या नोट माल के विनिमय का काम करता है गुणन करना होगा।

यह सिद्धान्त सही नहीं है, यदि द्रव्य मूल्य में परिवर्तन को हम उसकी परिचलित राशि के अन्तर से बिलकुल आनुपातिक (proportional) मानें, बल्कि यह एक महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति की ओर इशारा करता है।

फिशर ने इसे क $= \frac{द\ ग + द'\ ग'}{स}$ के समीकरण (equation) में रखा है, जहाँ क है कीमत, द द्रव्य, ग उसकी गति, द' साख द्रव्य, ग' साख द्रव्य की गति, और स, एक समय में सौदों की कुल संख्या। $\left(P = \frac{MV+MV'}{T} \right)$

द्रव्य मूल्य में परिवर्तनों का प्रभाव (Effects of Change in the Value of Money)—जब मूल्य का मूल्य घटता बढ़ता है तो यह असन्तुलन को जन्म देता है। समाज में धन शक्ति को फिर यह मनमाना बटवारा कर देता है। यह बढ़-उतार या तो अत्यधिक उत्तेजना (over stimulation) देता है या फिर उसे पीछे ढकेलता है और अनिश्चितता की भावना पैदा हो जाती है। बढ़ती हुई कीमतें कर्जदारों व्यवसायियों, निर्माताओं और उन खेतिहरों को फायदा पहुँचाती हैं जिनके पास बहुत कुछ अतिरिक्त अंश (अतिरेक—surplus) बेचने को है। किन्तु सरकारी नौकर मजदूर, किराया पाने वाले और दूसरे निश्चित आय वाले लोग मरते हैं। कीमतें गिरने का प्रभाव इसका उल्टा होता है।

क्या तुम निम्न प्रश्नों का उत्तर दे सकते हो ?

1 What do you understand by the value of money ? Explain the economic effects of the changes in it. (अगस्त, १९५८)

देखिये विभाग १

2 Give an idea of Fisher's quantity equation (राजपूताना १९५५)

Or

Explain and criticize the 'Quantity Theory' of Money

(प० वि० १९३६)

देखिये विभाग ६ और ७

3 Explain the relation between the quantity of money in circulation and general price level in a country How can we measure changes in the value of money ? (जम्मू काश्मीर १९५५)

4 The price of wheat before the war about Rs 3 per maund it is about Rs 12 now What causes led to this increase ? In this connection explain what you understand by Price control and Rationing ? (प० वि० १९४४)

[एक महत्वपूर्ण कारण था मुद्रा स्फीति। माल की कमी, परिवहन की कठिनाई, बढ़े हुए निर्यात, जनता का भय आदि ने भी वृद्धि में मदद दी। परिणाम में मूल्य की मात्रा लगभग ७०० प्रतिशत बढ़ गई।

कीमत नियन्त्रण (price control) द्वारा सरकार विभिन्न वस्तुओं की अधिकतम कीमत निर्धारित करने की चेष्टा करती है। राशनिंग (rationing) वस्तुओं की माँग (demand) या खरीदारी पर नियन्त्रण है जिससे कि मूल्य नियन्त्रण भी सफल हो सके। और कम से कम कुछ माल हर एक को मिल सके। देखिये इस पुस्तक का विभाग II]।

5 Why has money any value at all ? State the circumstances in which the value of money would tend to fall (देहली, १९५३)

[द्रव्य में मूल्य है क्योंकि कानूनी तौर पर यह विनिमय माध्यम है। सरकार इसकी मात्रा प्रकार विनियमित (regulate) करती है कि माल और सेवाओं के बदले में इसका मूल्य हमेशा बना रहे।

द्रव्य के मूल्य में गिरावट कीमत स्तर की साधारण वृद्धि से पता चलता है यह वृद्धि आमतौर पर मुद्रा स्फीति (inflation) के कारण होता है।]

Or

Indicate the factors that determine the price level in the country (कलकत्ता १९४८)

Or

Why does the value of money fluctuate from time to time ?

(कलकत्ता बा० काम० १९४३)

देखिये विभाग ६ और ७

6 'Money measures the value of all goods' Explain How can we measure the value of money ? (प० वि० १९५२)

[द्रव्य मूल्य की माप है, देखिये विभाग ४ और २। द्रव्य के मूल्य में परिवर्तन की माप के लिये देखिये विभाग ३।]

7 What are index numbers ? What are their uses and limitations ?

(बम्बई १९५३, आगरा १९४१, इलाहा० १९४०, लखनऊ १९४३; देहली १९४०, नागपुर १९४०, पंजाब १९३३)

देखिये विभाग ३ और ४

8 How do you account for changes in the value of money? Explain how changes in the purchasing power of money affect the different sections of the people of a country

(नागपुर और सागर १९५३)
देखिये विभाग ६ और ७

9 What is an index number? Make one to show the change in the cost of living of a city clerk during the recent war

देखिये विभाग ३

10 Would profits be higher when the value of money is rising or when it is falling?

[जब गिर रही हो । तभी माल का मूल्य बढ़ता है । क्योंकि व्यापारी माल में सौदे करते हैं, इसलिए उन्हें ही मुनाफा होता है ।]

11 Show the effect of falling prices on business men, school teachers and small shopkeepers

[देखिये विभाग ५ । व्यवसायियों को अधिक नुकसान होता है, छोटे दुकानदारों को भी कुछ नुकसान होता है । निश्चित आय वाले व्यक्तियों को, जैसे अध्यापकों को लाभ होता है ।]

12 Under what conditions does money cease to perform its proper function? Did such a condition ever arise in India?

[मुद्रा स्फीति के समय में जब लोगों का नोट निर्गम करने वाली सरकार पर से विश्वास उठ जाता है तो द्रव्य अपना कार्य करना बन्द कर देता है । यह १९१८ में जर्मनी में हुआ था, भारत में यह स्थिति कभी नहीं उठी, यद्यपि परिस्थिति १९४४ में बहुत गम्भीर हो गई थी जब निरन्तर मूल्य वृद्धि हो रहा था । आज भी रुपया ४ आना भर है ।]

13 The rupee in India cannot buy today what it did in 1939 Why not? How can you measure the changes in the value of the rupee? (प० वि० १९४८)

(i) देखिये दूसरे का विभाग II
(ii) देखिये विभाग ३, और ६

14 Explain the relation between the quantity of money in circulation and general price level in the country

(क०, १९४३, आगरा १९६०, देहली १९३६, मद्रास १९३७ नागपुर १९४३ पंजाब १९४३)
देखिये विभाग ७

15 Discuss the various economic consequences that follow from changes in the value of money

(क० १९४६, ढाका १९४१, क० वी० ना० १९४१)
देखिये विभाग ५

16 Examine the effect of price changes on different sections of the community (पटना १९५५)

देखिये विभाग ५

साख और इसके उपकरण

(CREDIT- ITS INSTRUMENTS)

अदायगी का वायदा

(Promise to Pay)

१. साख का अर्थ (Meaning of Credit)—पुराने जमाने की अर्थ-व्यवस्था में सभी आत्म-निर्भर थे और अधिकतर जो उत्पादन करते थे उसी का उपभोग भी करते थे, किन्तु उस इस सीधी-सादी अवस्था में भी किसी व्यक्ति के पास किसी चीज की कमी पड़ जाती थी तब उसे अपने पड़ोसी से वह वस्तु बाद में वापस करने का वायदा करके उधार लेनी पड़ती थी। यह साख या उधार का सबसे सादा रूप था। कर्जा तब दिया जाता है जब देने वाले को उधार माँगने वाले की वापिस करने की इच्छा और सामर्थ्य पर भरोसा और एतबार हो। इसी भरोसे पर कर्ज माँगने और लेने की क्षमता निर्भर है। कर्ज लेने की क्षमता को ही साख कहते हैं। दूसरे शब्दों में हम कहते हैं कि उधार लेने वाले की देने वाले के सामने साख अच्छी थी। इस प्रकार साख और उधार दोनों सम्बन्धित हैं और अंग्रेजी का क्रेडिट (credit) शब्द दोनों अर्थों में प्रयुक्त होता है। किन्तु क्रेडिट का सही अर्थ साख ही है।

जैसे-जैसे समय बीतता गया, आबादी बढ़ती गई, क्रय-विक्रय के सौदों की संख्या भी बढ़ी। उत्पादन के भुमावदार तरीके निकल आए। और अन्त में यह महसूस किया गया कि सिक्के विनिमय-माध्यम (medium of exchange) के लिए काफी नहीं हैं। किसी और प्रकार के सहायक माध्यम (subsidiary medium) की भी आवश्यकता है। यह सहायक माध्यम साख के विभिन्न रूपों से प्राप्त हुआ।

कभी कभी आप दुकानों पर 'कृपया उधार न माँगिए' या 'नकद दाम' लिखा हुआ पाते हैं। आपने कभी जरूर सोचा होगा कि इन नोटिसों की क्या जरूरत है? जाहिर है कि इन दुकानों के मालिकों को अपने ग्राहकों में विश्वास (confidence) या एतबार नहीं है। कम-से कम कुछ में तो एतबार नहीं ही है। उनके मामले में 'दूध का जला छाछ को फूँक फूँक कर पीता है' कहावत लागू होती होगी। जिन ग्राहकों की ईमानदारी पर भरोसा न हो उनको उधार बेचने से अच्छा है कि बेचा ही न जाय।

साख शब्द का अर्थ कोष के अनुसार है 'किसी व्यक्ति की अदायगी का

सामर्थ्य, ईमानदारी और इरादे में एतबार"[1] किसी व्यक्ति में यह एतबार और उसके द्वारा प्राप्त उसकी प्रतिष्ठा या नामवरी (reputation) व्यवसाय में बड़ी महत्त्वपूर्ण है। आमतौर पर तो जब एक आदमी को माल मिल जाता है और दूसरे को उसकी कीमत तो विनिमय पूरा हो जाता है। जब खरीदारी छोटी होती है तब यही होता है। किन्तु जब खरीदारी लम्बी-चौड़ी होती है और खरीदार के हाथ में उसकी अदायगी करने को काफी पैसा नहीं होता, तब अदायगी अगर बाद में हो तो उसे सुविधा रहेगी। यदि बेचने वाले को खरीदार में एतबार है तो वह उसे यह सुविधा देगा और उधार या साख पर—'आन क्रेडिट'—बेच देगा। इस तरह 'साख सौदा' (credit transaction) केवल 'लम्बा विनिमय' (protracted exchange) है। यह नकद सौदे (cash transaction) से इस मायने में भिन्न है कि यह एतबार पर कायम है और इसमें समय का अंश भी शामिल है। सभी उधार लेने-देने में, और किराया—खरीद या हायर-परचेज (hire purchase) पद्धतियों में साख जरूरी है।

२. साख के उपकरण (Credit Instruments)—लोग अक्सर बड़े मलाल में कहते हैं, उन अच्छे पहले दिनों को याद करते हैं जब सब ईमानदार थे और एक आदमी की जबान ही लिखित करारनामे से अच्छी थी। वे यह भूल जाते हैं कि अब व्यवहार का क्षेत्र बहुत बढ़ गया है। शायद आदमी स्वार्थी भी अधिक हो गया है, क्योंकि जीवन संघर्ष (struggle for existence) आज तीव्रतर हो गया है। इसलिए लगभग सभी सौदों का कागज पर रिकार्ड (लेखा) रखना पड़ता है। यह रिकार्ड या लेखा चाहे प्रामिसरी नोट (promissory note) हो या विनिमय-पत्र (bill of exchange), चैक हो या ड्राफ्ट हो या हुण्डी हो। पहले बैंक बिना किसी सरकारी रोकथाम के नोटों का निर्गम किया करते थे। इससे नोटों का बिना पर्याप्त सिक्योरिटी के अधिक निर्गम (over issue) हो गया, जिससे अक्सर बैंक फेल हो गये। इसलिए आज देश में केवल एक केन्द्रीय बैंक होता है जिसको नोट चलाने की इजाजत रहती है। इन नोटों को लोग स्वीकार करते हैं क्योंकि लोगों को सरकार के स्थायित्व में विश्वास है। इसलिए अपने अध्ययन में हम करेंसी नोटों को साख पत्रों (credit instruments) की सूची से अलग रखेंगे, यानी उन दस्तावेजों की सूची से जिसके द्वारा साख सौदे होते हैं।

अब हम साख पत्रों को एक-एक करके लेंगे।

(1) प्रामिसरी नोट (Promissory Note)—सबसे सादा साख-पत्र प्रामिसरी नोट है। प्रामिसरी नोट या (रुक्का) में प्रोनोट एक लिखित वायदा है जो कोई खरीदार या उधार माँगने वाला उधार देने वाले को देता है कि वह एक विशेष रकम एक समय बाद देगा। यह एक प्रकार का आई ओ यू (I O U) 'मैं तुम्हारा कर्जदार हूँ' (I owe you) का चिट्ठा अपने ऋण की स्वीकृत और अदायगी का वायदा है।

---

1. Credit is "confidence felt in a person's ability, honesty and intention to pay."

एक प्रामिसरी नोट का नमूना नीचे दिया हुआ है—

प्रामिसरी नोट*

५००) जनवरी २८, १९५६

तिथि से दो महीने बाद में मैसर्स सिंह एंड कम्पनी या आर्डर को, सिर्फ पांच सौ रुपये की रकम, ५% दर के सूद के साथ, उनसे प्राप्त मूल्य के बदले में, देने का वायदा करता हूँ।

एक आने का टिकट

श्यामलाल
मैसर्स एस० चन्द एण्ड कम्पनी की ओर से

'उनसे प्राप्त मूल्य के बदले में' (for value recd) शब्द यह जाहिर करते हैं कि यह दस्तावेज किसी खरीदारी या लिये गए कर्ज (loan) के फलस्वरूप है। सूद बताना जरूरी है परन्तु प्रोनोट कानूनी तौर पर बेकायदा हो जाए। इस तरह का दस्तावेज किसी भी तरह के व्यक्तिगत या व्यापारी सौदे के लिए लिखा और प्रयुक्त किया जा सकता है।

(ii) विनिमय-पत्र (Bill of Exchange) आन्तरिक या विदेशी व्यापार में प्रयुक्त होता है। यह किसी विक्रेता की ओर से खरीदार को आदेश है कि वह एक विशेष रकम स्वयं विक्रेता या बियरर[1] (bearer) को या किसी दूसरे व्यक्ति को जिसका नाम उसमें दिया गया हो, दे दे। जो विक्रेता इस बिल को लिखता है और जिसको रुपया मिलना है, 'ड्राअर' या लेनदार (drawer) कहलाता है। जिस

***Promissory Note**

Rs 500 January 28, 1956.

Two months after date, I promise to pay M/s Singh and Co *or order, the sum of Five Hundred Rupees* only for value received with interest at the rate of 5 per cent

One anna Stamp

Shyam Lal
Per pro M/s S Chand & Co

१. 'बियरर' का अर्थ है जिसके पास भी वह पत्र हो। वह इस बात का प्रमाण होता है कि विक्रेता ने उस व्यक्ति को रुपया लेने का अधिकार दे दिया है।

कर्जदार के नाम बिल लिखा गया है वह ड्राई या देनदार (drawee) है । यदि विक्रेता यह आदेश देता है कि अदायगी किसी तीसरे आदमी को की जाय तो वह आदमी पेई (payee) या प्राप्तकर्ता कहलायेगा । अन्तर्देशीय (inland) व विदेशी (foreign) विनिमय पत्रों के नमूने नीचे दिये गये है—

एक अन्तर्देशीय विनिमय पत्र

२०,०००) जालन्धर
जनवरी २८, १९५८

तिथि के ३० दिन के बाद मैसर्स मित्र एण्ड कम्पनी या बियरर को बीस हजार रुपये की रकम, प्राप्त मूल्य के बदले में अदा करें ।

एम० चन्द एण्ड कम्पनी की ओर से
मैसर्स प्रीमियर बुक डिपो श्यामलाल
चांदनी चौक, दिल्ली (मालिक)

प्राप्तकर्ता (पेई) के स्थान पर निम्नलिखित में से कोई भी बात लिखी जा सकती है—

(१) 'बियरर' को अदा करिये (pay to bearer)

(२) जे० डी० वर्मा या आर्डर[1] को अदा करिये (pay to J. D. Verma or order) ।

(३) मेरे आर्डर को अदा करिये (pay to order)

जब विनिमय-पत्र, बीस दिन के बजाय, 'मांगे जाने पर'' (on demand)

एक विदेशी विनिमय-पत्र

१०००) जनवरी २८, १९५८

विनिमय के इसी प्रथम पत्र (इसी तिथि और राशि के दूसरे और तीसरे पत्र की अदायगी न हो तो) को देखने के साठ दिन के बाद, सेन्ट्रल बैंक ऑफ इण्डिया लि० के आर्डर को, एक हजार रुपये की रकम, प्राप्त मूल्य के बदले में, अदा करें ।

मैसर्स ए० बी० टामस एण्ड सन्स मैसर्स एस० चन्द एण्ड कम्पनी की ओर से
शेफील्ड, इंगलैंड गौरीशंकर
(मैनेजर)

1. आर्डर का अर्थ है जिस किसी को अधिकार दे दिया जाय । 'बियरर' और 'आर्डर' का फर्क जो चैक में होता है वही यहां है । इसके लिए आगे देखिये विभाग (iv) ।

शब्दों से प्रारम्भ हो तो वह माँग पत्र (demand bill) या दृष्टि-पत्र (sight bill) कहलाता है। यानी उसे देखते ही अदायगी करनी होगी।

लेनदार (drawer) बिल को देनदार (drawee) के पास भेज देता है जो उस पर दस्तखत करके और अपने दफ्तर की मुहर उस पर लगाकर उसे 'स्वीकार' कर लेता है। यह पत्र अब विनिमय करने योग्य पत्र (negotiable instrument) हो जाता है और बाजार में खरीदा या बेचा जा सकता है। 'लेनदार' इसे किसी फर्म या बैंक से एक कमीशन देकर, जिसे डिस्काउन्ट या हुण्डी (discount) कहते हैं, भुना सकता है, अर्थात् नकद में बदल सकता है। जब तक इसकी वह तिथि न आये जिस पर देनदार को अपना कर्जा चुकाना और बिल का भुगतान करना है, या दूसरे शब्दों में जब तक यह 'पावना' (mature) न हो उस बीच में यह अनेक हाथों से गुजर सकता है।

यदि देनदार को लाग भली भाँति नहीं जानते तो वह किसी 'स्वीकार करने वाली फर्म' (Accepting House) की सेवाएँ प्राप्त करेगा और वे, बिल पर दस्तखत करके, उसे स्वीकार करेंगी। इस प्रकार की फर्में गारण्टी देने का ही काम करती हैं। वे इस कार्य में विशेषज्ञ होती हैं और अपनी सेवाओं के लिए एक कमीशन वसूल कर लेती हैं। ऐसी सेवाएँ करने के लिए उस फर्म को उन विभिन्न सौदागरों की आर्थिक दशा का पूरा पता रखना पड़ता है, जिनकी ओर से वह पत्र स्वीकार करती है।

एक पत्र कैसे कार्य करता है (How a Bill Functions)— हम एक उदाहरण देकर समझाएँ कि बिल कैसे काम करता है। मान लीजिए कि बम्बई के एक सौदागर क ने फ्रांस में मारसाई के एक सौदागर ख को १५००) के तिलहन भेजे। अब 'क' को 'ख' से १५००) लेने हैं। वह इतनी रकम का एक बिल ख के नाम बनाकर उसके पास भेज देगा। यदि यह दृष्टि-पत्र (sight bill) हो तो देखते ही ख को नकद कीमत चुकानी पड़ेगी। किन्तु यदि यह अवधि-पत्र (time bill) है तो वह उस पर दस्तखत और मुहर लगाकर उसे स्वीकार कर लेगा या किसी स्वीकार करने वाली फर्म (Accepting House) से स्वीकार करा लेगा और फिर उसे क के पास भेज देगा। अब जब तक यह बिल 'पावना' (mature) न हो जाय, तब तक या तो क उतने दिन इन्तजार करे तो उसे पैसा मिले। या अगर उसे रुपये की जल्दी जरूरत है तो वह 'डिस्काउन्ट मार्केट' में उसे डिस्काउन्ट करा सकता है। यानी उसे अपने १५००) में से बैंक या डिस्काउंटिंग कम्पनी का कमीशन काट कर, रुपया तुरन्त मिल जायगा। जो कम्पनी या बैंक बिल खरीदता है, वह चाहे उसे जब तक अदायगी की तारीख न आये अपने पास रक्खे रहे या किसी दूसरी कम्पनी या बैंक को फिर कमीशन पर बेच दे। जब बिल 'पावना' (mature) होगा, तब वह 'ख' को *अदायगी के लिए पेश किया जायगा। लेकिन तब भी मारसाई से बम्बई के* लिए शायद कोई द्रव्य न भेजा जाय। क्योंकि इसी प्रकार का कोई बिल शायद किसी बम्बई के आयातक के नाम हो। एक्सचेंज बैंकों का यही काम है कि वे इस प्रकार के बिलों का एक दूसरे से मिलान करते रहें और सोना-चाँदी बार-बार यहाँ-वहाँ भेजने और लाने के झंझट और खर्चे से बचाएँ।

विनिमय पत्र के लाभ (Advantages of a Bill of Exhange)—इस प्रकार एक विनिमय पत्र बड़ा काम करता है। एक तो न तो आयातक और न निर्यातक को, जिस समय माल यातायात (ट्रांजिट transit) में होता है, अपने पैसे के बिना काम चलाना पड़ता है (सियर्स)। आयातक को तुरन्त नहीं देना पड़ता और निर्यातक को अपना रुपया तुरन्त बैंक से मिल जाता है। आयातक पैसा तब देता है जब वह अपना माल बेचकर पैसा वसूल कर चुका होता है।

दूसरे, जो पैसा बैंकों में बेकार पड़ा रहता है वह विनिमय पत्रों में लग जाता है और उसका अच्छा इस्तेमाल हो जाता है। बैंक इस प्रकार का विनियोग (investment) पसन्द करते हैं, क्योंकि इसमें रुपया लम्बे अरसे तक फँसता (lock-up) नहीं और आसानी से निकाला जा सकता है। तीसरे, सोना-चाँदी अन्य देशों को भेजे जाने से बच जाते हैं। आयात और निर्यात को बिल मार्केट में बिना सोना बाहर भेजे हुए बराबर कर लेते हैं। फिर सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि खरीदार अपनी करेंसी में पैसा देता है और विक्रेता अपनी करेंसी में उसे पाता है। यह सब काम एक्सचेंज बैंक करते हैं। किसी व्यक्ति को उसमें परेशानी नहीं उठानी पड़ती।

(iii) हुण्डी (Hundies)—भारत में हम हुण्डियों से ज्यादा परिचित हैं क्योंकि वे ज्यादा चलती हैं। यह अन्तर्देशीय विनिमय पत्र के समान है जो हमारी अपनी भाषाओं में और सभ्यता के उदय होने में भी कहीं पहले से भारत में चलती आ रही है।

हुण्डियाँ दो तरह की होती हैं। कर्जदार को दिए गए समय के अनुसार दर्शनी हुण्डी यानी दृष्टि-पत्र (sight bill) और मियादी या मुद्दती हुण्डी यानी अवधि पत्र (time bill)। हुण्डियावन वह कमीशन है जो कभी-कभी हुण्डी देने वाला पेशगी दिए मूल्य पर काट लेता है। भारत में प्रयुक्त होने वाली दोनों तरह की हुण्डियों के नमूने नीचे दिए हुए हैं—

मुद्दती या मियादी हुण्डी

संख्या ... ... मैसर्स दीनानाथ कस्तूरीलाल
टिकट फ़रोश

संख्या ४६६ मार्च २८, १६५८

१०००) तारीख जनवरी २८, १६५८

(६०) साठ दिन पीछे इस तारीख के बाद मैं/हम मैसर्स एस० चन्द एण्ड को० वायदा करते हैं कि मैसर्स सिंह एण्ड क० या आर्डर को दिल्ली में सिर्फ एक हजार रुपये की रकम नकद मिले हुए मूल्य के बदले में देंगे।

(दस्तखत) श्यामलाल

मैसर्स एस० चन्द एण्ड क०, दिल्ली की ओर से

किशनचन्द अहलूवालिया (दलाल) के जरिए

लिख दिया जाता है। तब यह अदायगी का अधिक सुरक्षित रूप हो जाता है क्योंकि बैंक की यह जिम्मेदारी है कि वह ठीक आदमी को दे। जो आदमी यह चेक काउंटर पर पेश करता है उसे अपनी शनाख्त करानी पड़ती है तब चेक का रुपया उसे मिल सकता है।

(ग) 'क्रास्ड चैक' (Crossed Cheque)—यह देने का सबसे सुरक्षित उपाय है क्योंकि प्राप्तकर्ता (payee) रुपया नकद नहीं ले सकता। वह रकम को अपने नाम या किसी और के नाम, उसके हिसाब में तबादला (transfer) करवा सकता है। दूसरे के नाम करवाने में लेनदार को उसके पीछे उसका नाम लिखकर अपने दस्तखत करने पड़ते हैं। इसे एन्डोर्समेन्ट (endorsement) कहते हैं। चैक को 'क्रास्ड' करने के लिए एक कोने में दो समानान्तर रेखायें इस पर खींचकर उनके बीच में 'एण्ड को' लिख दिया जाता है। पीछे दिया हुआ नमूना क्रास्ड चैक का है।

(घ) पोस्टडेटेड चैक (Postdated Cheque)—बाद की किसी तारीख का चैक भविष्य में अदायगी करने का एक तरीका है। अगर आपको किसी को १००) महीने भर बाद देने हैं तो आप उसके नाम का चैक काटकर आगे की तारीख लिख दें। वह उसी तारीख के बाद भुनेगा।

(ङ) ब्लैंक चैक (Blank Cheque)—खाली चैक का मतलब है कोई अपरिमित भेंट। क्योंकि दस्तखत कर दिये जाते हैं और रुपया भरने की जगह खाली छोड़ दी जाती है जिसे लेनदार भर सकता है। ऐसे चैक आमतौर पर कोई नहीं देता। किस्मों में या किसी प्रकार का बोझ बढ़ जाने पर भले ही दिया जाता है।

चैकों के लाभ (Advantages of Cheques)—चैक ने द्रव्य के प्रयोग में किफायत की है। अब कोई नकद देने की जरूरत नहीं रही। इसकी बड़ी सुविधा यह है कि अदायगी पाई-पाई तक बिल्कुल ठीक की जा सकती है। चैक को क्रास कर देने पर खोने का भी डर नहीं रहता। यह अदायगी का बड़ा सुरक्षित तरीका है। फिर चैक की काउंटरफाइल एक प्रकार की रसीद का काम करती है और ईमानदारी बनी रहती है। सौदे का हिसाब बैंक के पास रहता है और अगर जरूरत पड़े तो सबूत के लिए तलब किया जा सकता है। किन्तु इसे स्वीकार करने के लिए चैक देने वाले और बैंक दोनों पर एतबार होना जरूरी है। क्योंकि यह विधि-मान्य धन (legal tender) नहीं है। इसको स्वीकार करना जरूरी नहीं है।

(५) ड्राफ्ट (Draft)—चैक से किसी दूसरी जगह भी रुपया भेजा जा सकता है। किन्तु चूंकि हिसाब भिन्न स्थान पर होता है और चैक दूसरी जगह पेश किया जाता है, इसलिए आमतौर पर बैंक चैक का रुपया अदा करने से पहले उस बैंक से पता लेते हैं जहाँ से चैक आया है कि उसके हिसाब में रुपया है या नहीं। यह झंझट बचाने के लिए बैंक का ड्राफ्ट इस्तेमाल किया जाता है। ड्राफ्ट एक चैक है जो कोई बैंक अपनी ही किसी शाखा या किसी दूसरे बैंक के नाम भेजता है और उनको यह आदेश देता है कि ड्राफ्ट में दिए गए नाम के व्यक्ति को एक खास

रकम दे दी जाए। यदि आप अपने मित्र को बम्बई में रुपये की शक्ल में जन्म-दिवस का उपहार भेजना चाहते हैं तो आप रुपया किसी बैंक में, मान लीजिए पंजाब नेशनल बैंक में, जमा कर दीजिए और अपने मित्र के नाम बैंक की बम्बई शाखा के लिए एक ड्राफ्ट ले लीजिए। इस ड्राफ्ट को बम्बई रजिस्ट्री करके भेज दें। आपके मित्र को अपनी शनाख्त देने पर बम्बई के बैंक से रुपया मिल जाएगा। किसी आदमी को अपने सफर में अधिक रुपया नकद ले जाने की जरूरत नहीं, इसमें चोरी होने का खतरा है। वह अपने नाम से एक ड्राफ्ट ले सकता है जिससे वह नकद ले जाने के खतरे और झंझट से बच जाए, कुक या किसी दूसरी ट्रैवल एजेन्सी द्वारा दिया गया यात्री चैक (travellers cheque) भी यही काम करता है। बैंक ड्राफ्ट का नमूना नीचे दिया गया है—

स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया
सिर्फ एक हजार रुपए से नीचे

स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया	
स जे बी ०३७३५	दिल्ली अप्रैल १०,१९५८
१०००)	मांगे जाने पर, अदा करो
मैसर्स डीवेट ब्रादर्स	या आर्डर को
सिर्फ एक हजार रुपया	
	प्राप्त मूल्य के बदले में
नाम	स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया
स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया	एजेंट
होशियारपुर	
	एकाउन्टेंट

बैंक ड्राफ्ट के जरिए पैसा भेजना सबसे सस्ता काम है। बैंक आमतौर पर यदि भेजी जाने वाली रकम १०००) से कम न हो और यदि जहाँ अदायगी होनी हो, वहाँ बैंक की शाखा हो तो ~) फी० १००) से ज्यादा कमीशन लेता।

३ निकासी-गृह (Clearing Houses)—एक बड़ा लाभ जो चैकों से होता है वह यह है कि हमें अपनी खरीदारी के लिए सिक्कों या नोटों से जेबें भर के नहीं चलना पड़ता। जिन देशों में लोगों ने बैंकिंग आदतें सीख ली हैं वहाँ किसी भी खरीदारी के लिए नकद बहुत कम दिया जाता है, जब तक बहुत छोटी सी खरीदारी न हो। जिन लोगों को चैक दिए जाते हैं वे भी उन्हें भुनाते नहीं वरन् अपने बैंक में अपने हिसाब में डलवा देते हैं। इस तरह यदि दोनों के हिसाब एक ही बैंक में हों तब तो खाते में तब्दीली ही से सौदा पूरा हो जाता है। जब दोनों आदमियों के हिसाब अलग-अलग बैंकों में हों तब इतनी सादी प्रक्रिया नहीं होती। हर बैंक दिन

भर में दूसरे बैंकों के बहुत से चैक पाता है जिन्हें उसके अपने ग्राहक ले आते हैं। हर दिन एक बैंक के दूसरे बैंक में रुपया भेजना और मँगाना भी बड़ा मुश्किल होता है। इसीलिए इसके लिए निकासी-गृह (clearing house) का उपाय काम में लाया जाता है। तमाम स्थानीय बैंकों के एजेन्ट एक विशेष स्थान पर कार्य दिवस (working day) खत्म हो जाने पर मिलते हैं और एक दूसरे के प्रति अपने दावों का मिलान कर लेते हैं। जब अधिकतर दायित्व एक दूसरे के बराबर होकर कट जाते हैं, तब एक बैंक को दूसरे बैंक से थोड़ा-सा रुपया लेना रह जाता है। यह आम तौर पर केन्द्रीय बैंक, जो हमारे देश में रिज़र्व बैंक ऑफ इण्डिया है या स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया (भूतपूर्व इम्पीरियल बैंक) की शाखा के लिए चैक देकर साफ कर दिया जाता है। भारत में २५ निकासी गृह (Clearing Houses) हैं, जिनमें बम्बई और कलकत्ता अधिक महत्त्वपूर्ण हैं।

४. साख के उपयोग (Uses of Credit)—साख आज की आर्थिक व्यवस्था और उसके संगठन में बड़ी महत्त्वपूर्ण है। इसके द्वारा की गई सेवाएँ संक्षेप में हम नीचे गिना देते हैं—

(i) यह थोक से फुटकर दुकानदारों और दुकानदारों से उपभोक्ताओं तक माल लगातार पहुँचाने में मदद करती है और तेजी की और मन्दी की भाग दौड़ जो एक दूसरे के बाद आकर देश की अर्थ व्यवस्था को असन्तुलित कर सकती है कम करती है।

(ii) यह सिक्कों और नोटों के प्रयोग में भी किफायत करती है। हस्तांतरित होने वाले द्रव्य का परिमाण कम हो जाता है क्योंकि बहुत सा देना-पावना (debit credit) एक दूसरे से कट (cancel) जाता है। और इस तरह अधिक विनिमय सम्भव होते हैं।

(iii) यह सूद की नीची दर पर बड़े-बड़े कर्जे दिलवाकर व्यापार और उद्योग को वित्त देती है और माल का उत्पादन बढ़ाने में सहायता करती है।

(iv) उत्पादन की सहायता करने के लिए बचत का उपयोग हो जाता है। साख के उपकरण द्वारा बेकार जमा पूंजी वाले आदमी और दिमागदार आदमी में जो उत्पादक रूप में इस पूँजी का उपयोग कर सकता है सम्पर्क स्थापित होता है।

(v) बैंकों में बड़े बड़े जमा कोष (deposits) बन जाते हैं और बहुत थोड़ी प्रतिशत नकदी के आधार उधार दिए जाते हैं। आम तौर पर १०-२० प्रतिशत अनुपात होता है।

(vi) बैंकर्स ड्राफ्ट और विनिमय पत्रों से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को बढ़ावा मिलता है क्योंकि एक स्थान से दूसरे स्थान पर करेन्सी के जाने की जरूरत नहीं पड़ती। इस साख के बिना यह अदायगियाँ बड़ी मुश्किल हो जायें।

५. साख का अनुचित प्रयोग (Abuses of Credit)—साख का अनियंत्रित उपयोग खतरनाक है। इसके कारण कारबार में अस्वस्थ विस्तार भी हो सकता है जो बाद में मन्दी (depression) ले आता है। सुगम उधार से अक्षम (inefficient) व्यापारियों को भी सहारा लग सकता है जो अपने साधनों को

लापरवाही से खराब भी कर सकते है। इसका नतीजा जोरदार सट्टा भी हो सकता है, यदि उधार बिना उचित जाँच के दे दिया जाय। उधार मुद्रा-स्फीति का एक कारण है और इस तरह ऊँची कीमतें और उसके द्वारा आई हुई तमाम मुसीबतों के लिए जिम्मेदार है। किन्तु उचित सीमाओं में उचित आधार पर चलाया गया उधार और साख बड़े काम की चीज है।

साख-उधार की तमाम मशीनरी ही बैंकों के जरिए काम करती है। हम अब अगले अध्याय में बैंकों और उनके कार्यों का अध्ययन करेंगे।

आपने इस अध्याय से क्या सीखा ?

क्रेडिट या साख (credit) से मतलब है वह अदायगी जिसकी कीमत नहीं दी गई। इसके बदले में कर्जदार अपने कर्ज की स्वीकारोक्ति (acknowledgment) करके एक दस्तावेज दे देते हैं। इसलिए एक साख सौदा (credit transaction) एक लम्बा विनिमय है। उधार देने वाले व्यक्ति का ईमानदारी में एतबार होना चाहिए।

साख-पत्र (Instrument of credit)—आजकल कारबार का दौर बहुत बढ़ गया है। बाद में अदायगी करने के लिए लिखित दस्तावेज बहुत आवश्यक हैं। वे भिन्न प्रकार के हो सकते हैं—

(i) प्रामिसरी नोट (Promissory Note)—एक कर्जदार की ओर से लेनदार को भविष्य में अदायगी करने का लिखित वायदा।

(ii) विनिमय पत्र (Bill of Exchange)—लेनदार की ओर से कर्जदार पर भेजा गया एक रकम देने का आदेश जिसको कर्जदार या माल का खरीदार अपने दस्तखत करके स्वीकार कर लेता है। यह दस्तावेज द्रव्य बाजार में अदला-बदला जा सकता है। कुछ फर्में जो स्वीकार करने वाली फर्में (Accepting Houses) कहलाती हैं इस प्रकार के बिल स्वीकार करने का कार्य करती हैं।

लाभ—विनिमय पत्र विक्रेता को उसकी कीमत तुरन्त दिला देता है और खरीदार को उधार या साख पर खरीदने की सहूलियत देता है। बैंकों को अपना खाली रुपया सूद पर चलाने का अवसर मिलता है—

(iii) हुण्डियाँ विनिमय पत्र के भारतीय रूप हैं और यह युगों से चलती रही हैं। यह दो तरह की होती हैं—दर्शनी (दृष्टि पत्र) और मियादी (अवधि पत्र)।

(iv) चैक—यह सबसे प्रचलित और लोकप्रिय साख पत्र है। यह जमा करने वाले (depositor) की ओर से अपने बैंक को लिखित आदेश है कि वह उसमें बताये गये व्यक्ति को या चैक रखने वाले को एक निश्चित रकम दे दे।

(क) बियरर चेक को कोई भी भुना सकता है। (ख) आर्डर चेक को जिसका नाम लिखा है वही अपना शनाख्त देकर भुना सकता है। (ग) क्रास्ड चैक को नकद नहीं भुनाया जा सकता। यह अपने या किसी के खाते में जमा हो जाता है (घ) पोस्टडेटेड चैक में कोई बाद की तारीख दी होती है। उस तारीख पर या उसके बाद भुनाया जा सकता है।

लाभ—बैंक अदायगी का सुरक्षित और सुगम तरीका। इससे हर सौदे में नकद देने की जरूरत नहीं रहती।

(v) बैंकर्स ड्राफ्ट—किसी बैंक द्वारा किसी दूसरे शहर में अपनी ही दूसरी शाखा को या किसी दूसरे बैंक को दिया गया एक चैक है जो उस स्थान में रुपया भेजने के काम में लाया जाता है।

निकासी गृह (clearing house) वह एजेन्सी है जहां विभिन्न बैंकों को दिये गये चेकों का इनके प्रतिनिधियों द्वारा परस्पर मिलान और भुगतान होता है।

साख व्यवहार के उपयोग—(क) धातु द्रव्य में किफायत, (ख) व्यापारियों को सस्ता कर्ज,

(ग) व्यर्थ पड़ी हुई पूँजी का उपयोग, (ङ) बचत से ज्यादा खर्च करने की सम्भावना, (च) अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान करने में सुविधा, और (छ) थोक व्यापारी से उपभोक्ता तक माल पहुँचाने में मदद।

साख के दुरुपयोग—(क) व्यवसाय का अत्यधिक विस्तार, (ख) अनुचित सट्टेबाज़ी को सहायता, (ग) धोखा या लापरवाही में प्रयोग।

यदि इन खतरों से बचा जाय तो साख व्यापार में बड़ा फायदेमन्द है।

क्या तुम निम्न प्रश्नों का उत्तर दे सकते हो ?

1 What do you understand by 'credit'? Name and describe the various instruments of credit bringing out the difference between a 'Bill of Exchange' and a 'Promissory-Note'

(पं० वि० १९४६)

देखिये विभाग १, २

2 You have to pay Rs 497-9-3 to Messrs P N and B Write this out in the form of a crossed cheque, a darshani hundi and a promissory note

देखिये विभाग ३

3 Give specimen forms of, and write note on

(a) Bill of Exchange (पं० वि० १९५३)
(b) Bank Draft (यू० पी० १९५३)
(c) Crossed Cheque (पं० वि० १९४६, पूर्वी पं० वि० १९४८)
(d) Hundi (यू० पी० १९५३, पंजाब वि० वि० १९४७)
(e) Promissory Note (यू० पी० १९५३)

देखिये विभाग २ तथा ३

4 "Credit is a good servent but a bad master" Explain and discuss?

Or

Show the importance and utility of credit What are its dangers

Or

Describe the uses of credit (क० १९४९, क० बी० कॉ० १९३२)

देखिये विभाग ४, ५

5 Discuss the various methods by which a man in Amritsar can send Rs 209 to London, Bombay and Nawanpind (a small village in Jullundur District) quickly and safely (पूर्वी पं० वि० १९४८)

देखिये विभाग २

6 What are credit instruments? Discuss them and indicate their utility (क० १९४९, क० बी० कॉ० १९३२)

देखिये विभाग २

7. Describe the uses of credit Indicate the various ways in which credit saves money and assists industry

(क० १९४९, क० बी० कॉ० १९३२)

देखिये विभाग ८

8 What is a cheque? How does the cheque system benefit both the depositor and the bank? (यू० पी० इण्टर १९४७)

देखिये विभाग २ (iv)

9 What is a bill of exchange? How does it help in the internal or external trade of a country? (यू० पी० इण्टर, १९४८)

देखिये विभाग २ (ii)

10 Explain the Clearing House system and show how it leads to an economy in the use of money (ढाका १९४२, नागपुर १९४३)

देखिये विभाग ३

11 What are the essentials of credit? Show its importance and utility What are its dangers (यू० पी० १९४६)

देखिये विभाग १, ४ और ५

बैंक

(BANKS)

"ये साख के कारखाने !"

(These Factories of Credit)

१. बैंक की परिभाषा (Definition of Banks)—कहावत है कि "रुपया रुपए को कमाता है"[1] आप कहेंगे "वाहियात ! मेरे बक्से में जो रुपया रक्खा है उसने कोई रुपया नहीं कमाया। और साल भर से उसमें पड़ा है फिर भी उतना का उतना ही है"। आपको जवाब मिलेगा, 'आप मूर्ख है इस तरह से कहीं रुपया रुपया कमाता है ! आप इसे किसी कारबार में लगा दें या बैंक में रख दें, फिर देखिए।" अब आपकी समझ में आया ?

यह समझ में आना मुश्किल नहीं है कि कारबार या कारखाने में लगा हुआ रुपया कैसे बढ़ने लगता है, पर यह समझ में नहीं आता कि बैंक में पड़ा हुआ रुपया कैसे बढ़ता है और बैंक अपने जमा करने वालों—डिपोज़िटर्स—को सूद क्यों देता है। जाहिरा तौर पर तो बैंक न कोई माल खरीदता है न बेचता है। ऐसा मालूम पड़ता है, लेकिन ऐसी बात नहीं है। बैंक एक महत्वपूर्ण वस्तु (commodity) बेचता है। और वह वस्तु है "साख" (credit)। बैंक साख बनाता और बेचता है।[2] इसलिए हम बैंक को साख का कारखाना[3] कहते हैं।

बैंक टंकियों (reservoirs) की तरह है। कुछ लोगों की बचत उनके पास जमा होती है और वे उसे कुछ और लोगों को सप्लाई कर देते हैं, जो इसका उत्पादन में प्रयोग कर सकते हैं। इस कार्यवाही में बैंक कमीशन कमा लेते है जिसमें से वे अपने डिपॉज़िटर्स को सूद भी देते है और अपना खर्चा तथा मुनाफा भी निकालते है।

कहते है कि प्राचीन इटली में सुनार अपने काम करने की मेजों की जगह एक खास तरह की बेंचों का इस्तेमाल करते थे इसलिए उनका व्यवसाय इस बेंच के नाम के साथ सम्बद्ध हो गया—जिसके लिए इटैलियन शब्द है बैंको (banco)। यह बैंको शब्द धीरे-धीरे अधिक प्रचलित हुआ और आखिर में उन ज्वाइंट-स्टाक कम्पनियों के लिए प्रयोग में आ गया जो आज बैंक (bank) कहलाते है। बैंकों को आज की शक्ल में पहुँचने में बहुत दिन लगे हैं। ज़रा हम देखें कि यह कैसे हुआ।

---

1 Money begets money

2 Bank creates and sells credit

3 Factory of credit.

२ बैंकों का विकास (Evolution of Banks)—बहुत दिन हुए जब जिन्दगी इतनी सुरक्षित न थी, बचत करना (saving) भी जोखिम का काम था। यदि एक आदमी अमीर मशहूर हो जाता था तो उसकी धन सम्पत्ति तो क्या, उसकी जिन्दगी भी खतरे में पड़ जाती थी, क्योंकि लुटेरे उसे लूटने की घात में रहते थे। सुनारों का तो धन्धा ही ऐसा था कि उन्हें मजबूत तिजोरियाँ (safe) रखनी पड़ती थीं। इसलिए लोग अपना बचा हुआ रुपया और दूसरी कीमती चीजें सुरक्षा के लिए उनके पास रख दिया करते थे। सुनार इस सेवा—सुरक्षित धरोहर (safe deposit) रखने—के लिए कुछ पैसा ले लेते थे और जब माँगा जाए उन्हें लौटा देते थे। फिर सुनारों ने अपने अनुभव से यह जाना कि जितनी नकदी (cash) उनके पास जमा होती थी एक वक्त में उसका एक अंश ही लोग मनाव करने आते थे। सबका सब एक दम माँगने कभी नहीं आते थे। इसलिए उन्होंने सोचा जो अतिरिक्त (surplus) पैसा है यानी जिसे लोग 'रोज-रोज माँगने नहीं आते, उसको एक विशेष तिजोरी (special safe) में रख दिया जाय तो अच्छा है, जिसे रोज-रोज खोलने की जरूरत न पड़े। इसके बाद कालान्तर में उन सुनारों के दिमाग में यह जरूर आया होगा कि यह पैसा जो खास तिजोरी में बेकार—निष्क्रिय (idle)—पड़ा हुआ है, इसका भी उपयोग क्यों न किया जाय। लोग उनके पास कुछ सिक्योरिटी (security) यानी बन्धक रखकर कर्जा माँगने आते ही रहते थे। इसलिए अपने पास जो फालतू पैसा तिजोरियों में बन्द है उसको सूद पर चला कर कुछ मुनाफा कमाया जाए तो क्या बुरा है। जो डिपाज़िट (deposit) या जमा करने वाले इस पर एतराज करेंगे, उन्हें हम रक्षित जमा (safe deposit) करने का जो शुल्क देना पड़ता है वह माफ करके सन्तुष्ट कर दिया जा सकता है। और इसके अलावा उनके जमा पैसे पर कुछ और सूद दे दिया जाय तब तो वे बड़े खुश होंगे। तब वे और बचत करने की भी कोशिश करेंगे और अधिक पैसा लाकर जमा करेंगे। इस तरह से इन बैंकरों का काम बढ़ा। ये जमा के लिए रसीदें देने लगे और फिर रुपए के बदले में यह रसीदें ही एक हाथ से दूसरे हाथ में जाने लगीं। उसी प्रथा का बाद में चलकर रूप बना बैंक नोट (bank notes)।

दूसरी ओर इस पद्धति का विकास यह हुआ कि लोग रुपया निकालने (withdrawal) के लिए लिखित आदेश भेजने लगे। यह लिखित आदेश आधुनिक चैक के पूर्वगामी थे।

३. बैंकों के लाभ (Advantages of Banks)—परिवहन के यान्त्रिक उपाय[1] आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के आधार हैं। मोटर लॉरी, रेलवे ट्रेन, स्टीमशिप और हवाई जहाज ने कमाल कर दिया है। ये आसानी से असंख्य वस्तुओं को जो हजारों आदमियों द्वारा बड़े बड़े कारखानों में निर्मित होती हैं, दूर-दूर विश्व के कोने-कोने में पहुँचा देते हैं। इन कारखानों को चलाने में और परिवहन के इन विभिन्न साधनों को बनाए रखने के लिए करोड़ों रुपयों की जरूरत पड़ती है। एक आदमी, चाहे जितना भी अमीर हो, अकेला इन विस्तृत कार्यवाहियों को चलाने के लिए धन

1 Mechanised means of transport

नहीं जुटा सकता। इसलिए साख[1] उद्योगपति, व्यापारी या कम्पनी चलाने वाले के लिए अनिवार्य हो जाती है। बैंक ही एक संस्था है जो आवश्यक उधार दे सकता है। ये बैंक लाखों व्यक्तियों की बचाई हुई छोटी छोटी पूंजी को एक बड़े कोष (pool) में जमा करते हैं और इस बड़ी राशि को उपयोगी दिशा में संचालित करते हैं। अलग-अलग लें तो यह बचत पूंजियाँ इतनी छोटी हैं कि किसी काम की नहीं, और यदि बैंक इन्हें जमा न करें तो ये समाज के लिए बिल्कुल बेकार और निकम्मी होंगी। किन्तु बैंक इन्हें जमा करके और उद्योगपतियों और व्यवसायियों को देकर समाज का लाभ करते हैं। बैंकों से सदा वाले वाला उधार सम्पूर्ण और उद्योग और व्यापार की जान है।

रुपया उधार देने के अलावा, बैंक एक स्थान से दूसरे स्थान तक द्रव्य भेजते भी हैं, जिससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सम्भव होता है। वे किसान और कुटीर उद्योगों को भी पैसा देते हैं। वे देश के एक भाग से दूसरे भाग तक फसलों को पहुंचाने में मदद करते हैं। वास्तव में किसी देश के आर्थिक विकास के लिए बैंकिंग का विकास उतना ही (या ज्यादा) महत्त्वपूर्ण है जितना खनिज पदार्थों का खोदना, कारखाने स्थापित करना या व्यापार चलाना। बैंकों के बिना व्यक्तियों से निष्क्रिय धन जमा करना असम्भव है और इस पूंजी को उन लोगों को सप्लाई करना असम्भव है जिनके पास मस्तिष्क और शक्ति है और जो बड़े पैमाने पर उत्पादन सफल बनाते हैं।

४ बैंकों के प्रकार (Kinds of Banks)—पिछली तीन शताब्दियों में विभिन्न प्रकार के बैंकों का विकास हुआ है। प्रत्येक किस्म का बैंक आमतौर पर एक खास तरह का व्यवसाय करता है। इसलिए उनके कार्यों के अनुसार हम उनमें भेद कर सकते हैं। ये नीचे दिये हुए हैं—

(क) वाणिज्य या संयुक्त पूंजी बैंक (Commercial or Joint Stock Banks)—ये बैंक आधुनिक आर्थिक संगठन में बड़ी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। इनका व्यवसाय आमतौर पर जमा लेना, उधार देना और देश के कारबार को वित्तीय सहायता देना (financing) है।

(ख) विनिमय बैंक (Exchange Banks)—विनिमय या एक्सचेंज बैंक अधिकतर देश के विदेशी व्यापार को वित्तीय सहायता देते हैं। उनका खास काम है विदेशी विनिमय पत्रों (foreign bills of exchange) को एकत्रित करना, स्वीकार करना, और बट्टे पर भुनाना (discounting)। वे विदेशी करेन्सी का भी क्रय-विक्रय करते हैं और कारबारियों को अपना द्रव्य किसी विदेशी द्रव्य में बदलने में मदद देते हैं। आन्तरिक व्यापार में उनका हिस्सा आमतौर पर कम होता है।

(ग) औद्योगिक बैंक (Industrial Banks)—भारत में ऐसे बैंक नहीं हैं किन्तु कुछ अन्य देशों में विशेषकर जापान और जर्मनी में यह बैंक औद्योगिक स्थापनाओं (industrial undertakings) को कर्ज देने का कार्य करते हैं। उद्योगों

---

1 'साख' (credit) शब्द यहाँ अर्थशास्त्र के पारिभाषिक पद (technical term) की भांति प्रयुक्त हुआ है और आगे भी होगा। अर्थ के लिए देखिए अध्याय २२। साधारण अर्थ में शब्दों में किसी को उधार देना या किसी से उधार लेना है।

को बड़ी मुद्दत के लिए पूंजी की जरूरत होती है, जिससे वे मशीनें और अन्य उपकरण खरीद सकें। औद्योगिक बैंक इस प्रकार की एकमुश्त बड़ी पूंजी उन्हें लम्बी मुद्दत के लिए (block capital) देते हैं। केन्द्रीय सरकार ने इस कमी को पूरा करने के लिए १९४८ में एक औद्योगिक वित्त निगम (industrial finance corporation) बनाया। हाल ही में इसकी कार्यवाहियां को बढ़ाया गया है। इसके अतिरिक्त ऐसे ही फाइनेंस कारपोरेशन और राज्यों ने भी स्थापित किए हैं। कुछ अरसे से केन्द्रीय सरकार ने औद्योगिक ऋण व प्रनियोग निगम (Industrial Credit and Investment Corporation) तथा राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम (National Industrial Development Corporation) उद्योगों की स्थापना और उनकी वित्तीय सहायता के लिए बनाए हैं।

(घ) कृषि बैंक (Agriculture Banks)—कृषि बैंकों का मुख्य व्यवसाय किसानों को रुपया देना है। ये सहकारी (co operative) आधार पर चलाए जाते हैं। लम्बी अवधि के लिए पूंजी (long term capital) भूमि-बन्धक बैंकों (land mortgage banks) द्वारा दी जाती है और छोटी अवधि के लिए ऋण (short-term loans) सहकारी समितियों (co operative societies) और सहकारी बैंकों (co opertive banks) द्वारा। लम्बी मुद्दत के कर्ज किसानों को भूमि में स्थायी सुधार करने के लिए चाहिएँ और छोटी मुद्दत के कर्जों से वे औजार मवेशी, व बीज खरीद सकते हैं। ऐसे बैंक और कम्पनियां भारत में अच्छा काम कर रही हैं।

(ङ) सेविंग्स बैंक (Saving Banks)—यह बैंक छोटी बचत (saving) को जमा करने की उपयोगी सेवा करते हैं। कमर्शियल बैंक भी अक्सर सेविंग्स विभाग खोल देते हैं जिससे छोटी आय वाले लोगों की बचत को काम में लाया जा सके। इनका प्रयोजन मितव्ययिता (किफायतशारी) को प्रोत्साहन देना और होर्डिंग (hoarding) *यानी रुपया गाड़कर रखने को निरुत्साहित करना है। भारत में डाक-खाने के* सेविंग्स बैंक भी यही उपयोगी काम कर रहे हैं।

(च) केन्द्रीय बैंक (Central Banks)—उपर्युक्त विभिन्न प्रकार के बैंकों के अतिरिक्त और इनसे ऊपर लगभग हर देश में आज एक केन्द्रीय बैंक है जो ज्यादातर देश की सरकार के स्वामित्व एवं नियन्त्रण में है। यह केन्द्रीय बैंक बहुत बड़ी और महत्त्वपूर्ण सेवा करता है जिसका ब्योरा आगे (विभाग ६ में) दिया जाएगा। इस देश में ऐसा बैंक रिज़र्व बैंक ऑफ इण्डिया (Reserve Bank of India) है।

५ वाणिज्यिक बैंकों के कार्य (Functions of Commercial Banks)—बैंक जिन लोगों के पास अतिरिक्त (surplus) द्रव्य होता है उनमें और जिन्हें द्रव्य की आवश्यकता है उनके बीच में मध्यस्थ का काम करते हैं। जमा प्राप्त करना और उधार देना—यह दो मुख्य कार्य हर वाणिज्यिक या संयुक्त पूंजी बैंक (commercial or joint-stock bank) के हैं। इसके साथ संलग्न उनके और भी अनेक कार्य हैं जो वे समाज की आवश्यकताओं के अनुसार करते हैं। ये सब कार्य नीचे बताए गए हैं—

(क) जमा-स्वीकार करना (Accepting Deposits)—बैंक लोगों की

निष्क्रिय बचत (idle savings) को जमा के लिए आकर्षित करते हैं। यह जमा (deposit) अनेक प्रकार की हो सकती है—

(i) अल्पकालीन या मांग जमा (Short term or Demand Deposits) जिन्हें चालू या द्रव खाता (current or floating account) भी कहते हैं। इसको बिना किसी पूर्व सूचना के मांगे जाने पर भी तुरन्त अदा करना पड़ता है। आमतौर पर इन पर कोई सूद नहीं दिया जाता क्योंकि अल्पकालीन जमा के अधिकांश अंश का बैंक उपयोग में नहीं ला सकता और उसके लिए उन्हें लगभग शत-प्रतिशत कोष (रिज़र्व) रखना पड़ता है। बल्कि कभी कभी इस जमा के लिए कुछ थोड़ा सा कमीशन भी लिया जाता है। कभी कभी बड़ी जमा (large deposits) रखने वालों को कुछ सूद भी दे दिया जाता है।

(ii) दीर्घकालीन या ध्रुव जमा (Long term or Fixed Deposits)—यह जमा जिस अवधि के लिए जमा की जाती है उसके पूरे होने पर ही निकाली जा सकती है। इन पर सूद दिया जाता है और उसकी दर अवधि की लम्बाई तथा जमा रकम के परिमाण पर निर्भर है। भारत में आज दर छः महीने के लिए २ प्रतिशत और २ साल तक के लिए ३ प्रतिशत है।

(iii) सेविंग्स बैंक डिपाज़िट (Savings Bank Deposits)—यह चालू खाता (current account) और ध्रुव खाता (fixed account) के बीच की चीज है। इसमें से एक या दो बार जमा के चौथाई अंश तक, किन्तु ५००) से कम रुपया निकाला जा सकता है। इन पर सूद ध्रुव जमा (fixed deposits) से कम मिलता है।

(ख) उधार देना (Giving Loans)—किन्तु जमा लेना ही सारा काम नहीं है। यदि ऐसा होता तो बैंक सूद कहां से देते ? इसलिए रुपया जमा होने के बाद, बैंक रुपया कहीं लगा देते हैं या उधार दे देते हैं। आमतौर पर छोटी अवधि के लिए कारबारियों और व्यापारियों को रुपया उधार दे दिया जाता है यह निम्नलिखित तरीकों से हो सकता है—

(i) ओवर ड्राफ्ट देकर (By allowing an over draft)—जो इतमीनान के ग्राहक होते हैं उन्हें बैंक अपने खाते पर ओवर ड्रा (overdraw) करने की अर्थात् अपनी जमा से ज्यादा निकालने की इजाज़त दे देता है। वे अपनी जमा से ज्यादा निकाल सकते हैं। पर उन्हें अतिरिक्त रकम पर सूद देना पड़ता है। रकम जल्दी ही वापस भी होनी चाहिए।

(ii) "जमा बनाकर" (By "creating a deposit")—जब कोई व्यक्ति बैंक से ऋण चाहता है तो उसे मेनेजर को इतना सन्तुष्ट करना पड़ता है कि उसकी औद्योगिक योजना ठीक है उसकी नीयत साफ है, उसमें अपना ऋण चुकाने की सामर्थ्य है। इसके बाद बैंक कोई ठोस बन्धक (tangible security) की भी मांग कर सकता है। या फिर उधार लेने की व्यक्तिगत सिक्योरिटी (personal security) से ही सन्तुष्ट हो सकता है। आमतौर पर सिक्योरिटी ऐसी ही मंजूर की जाती है जिसे बाजार में बेचा जा सके, जैसे अच्छी कम्पनियों के शेयर। फिर सूद की दर

और लौटाने की अवधि आदि के बारे में बात तय हो जाने पर उधार दे दिया जाता है। किन्तु कोई भी उधार लेने वाला सारा रुपया एक दम नकद के रूप में कभी नहीं चाहता। आमतौर पर वह एक करेन्ट एकाउण्ट (current account) या चालू खाता खोल देता है, जो बिल्कुल ऐसा ही होता है मानो उसने उतनी रकम बैंक में जमा की हो। इस तरह बैंक उस उधार को एक 'जमा' बना देता है (creates a deposit)। उधार लेने वाले को एक चैकबुक दे दी जाती है और उसे अपने कर्ज या जमा की पूरी रकम तक चैक देने का अधिकार रहता है। किन्तु सूद पूरी रकम पर ही लिया जाता है चाहे एक वक्त में वह उसका एक हिस्सा ही निकलवाए।

उधार की अवधि पूर्ण हो जाने पर उधार लेने वाला पूरी रकम बैंक को लौटा देता है। बैंक अपना अधिकतर मुनाफा इस तरह उधार देकर ही कमाते हैं।

(ग) बिलों को बट्टे पर खरीदना (Discounting Bills)—बिल बट्टे पर खरीदना रुपया उधार देने का दूसरा तरीका है। पिछले अध्याय में हम यह बता चुके हैं कि बिलों का कैसे क्रय विक्रय होता है। इन बिलों को बैंक खरीद लेता है। यह बिलों के दलाल (bill broker) तथा डिस्काउण्ट कम्पनियों (discount-companies) के जरिए होता है या फिर बैंक सीधे-सीधे सौदागरों से बट्टे पर खरीद लेते हैं। ये बिल द्रव पूंजी (liquid asset) होते हैं, अर्थात् ऐसी पूँजी जिसे जब चाहें आसानी से नकद में परिवर्तित कर सकते हैं। बिल के लिए बट्टा (सूद) काटकर बैंक तुरन्त नकद रुपया दे देते हैं, और वह उसके 'पकने' (mature) होने की प्रतीक्षा करते हैं जब उसका पूरा मूल्य प्राप्त हो सके। यह प्रतियोग (investment) बिल्कुल सुरक्षित होता है क्योंकि इस पर दो कारवारियों की जमानत (सिक्योरिटी) होती है—लेनदार की भी और देनदार की भी, जिसमें अगर उनमें से एक बेईमान निकल जाय या अदायगी न कर सके तो बैंक दूसरे को पकड़ सकता है।

(घ) रुपया भेजना (Remitting Funds)—बैंक अपने ग्राहकों के लिए जहाँ उनकी शाखाएँ या एजेन्सियाँ होती हैं वह ड्राफ्टों के द्वारा रुपये भेजते हैं। रुपये भेजने का यह सबसे सस्ता उपाय है और सुरक्षित भी है। रुपया विदेशों में भी भेजा जा सकता है।

(ङ) फुटकर कार्य (Minor Functions)—आजकल बैंक अपने ग्राहकों की अनेक अन्य तरीकों से भी सेवा करता है। इसके पास सुरक्षित धरोहर की तिजोरियां या सेफ डिपाजिट वाल्ट्स (safe deposit vaults) होती हैं। उनमें ग्राहकों का कीमती माल सुरक्षित धरोहर के रूप में रखा जाता है। फिर बैंक अपने ग्राहकों के लिए सूद भी इकट्ठा करता है और ज्वाइंट-स्टाक कम्पनियों की ओर से लाभांश (dividends) भी देता है। यह अपने ग्राहकों की ओर से क्रय विक्रय करता है। कम्पनियों के स्टाक और शेयर खरीदता है। मृत व्यक्तियों की वसीयत पूरी करता है और उनके ट्रस्टी (trustee) के रूप में भी काम करता है।

६. बैंक का आय-व्यय खाता (The Balance Sheet of a Bank)—किसी बैंक की कार्यवाहियों पर उसके आय-व्यय खाते यानी बैलेन्स शीट से बड़ा

प्रकाश पड सकता है। किन्तु किसी अनजान के लिए उसे समझना आसान नही है। इसका उदाहरण देने के लिए हम स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया की एक बैलेन्स शीट नीचे देते है—

स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया[1] की २४ फरवरी १९५६ को बैलेन्स शीट

दायित्व (Liabilities) लाख रुपयो मे		पूंजी (Assets) लाख रुपयो मे	
प्राप्त पूंजी (पेड अप केपिटल)	५६२ ५०	हाथ मे या बैंक म प्राप्य नकद	२०१४ २६
ध्रुव फड	६३५ ००	दूसरे बैंकों मे रकम (balance)	३६३ ७०
जमा	२३६६३ ३२	तुरन्त व अल्पकालीन सूचना पर लौट सकने वाला द्रव्य	[illegible]
दिए जाने वाले बिल	६६७ ६०	सरकारी और दूसरी ट्रस्टी सिक्योरिटी	१०५११ ८३
वसूल किए जाने वाले बिल	६३ ४२	दूसरी तरह लगाया रुपया (Investments)	६७८ ४६
स्वीकृतियाँ आदि	१७ ३२	उधार ओवर ड्राफ्ट आदि	८६६८ १०
अन्य बैंकिंग कम्पनियो उधार	१०० ००	बट्टे पर खरीदे हुए बिल	३२७४ ३६
विविध	६८७ ३५	प्राप्त होने वाले बिल	६२ ८२
		स्वीकृतियाँ आदि	१७ ३२
		भवन इमारत (मूल्य म कमी काटकर)	११५ ८३
		फर्नीचर और अचल सामान	४८ ३२
		अन्य पूंजी	१६७ १०
कुल	२६,४१६ ५१	कुल	२६ ४१६ ५१

बैलेन्स शीट मे दो कालम होते है। बाएं कालम मे वे कुल दावे (claims) दिए जाते है जो शेयरहोल्डर जमा करने वाले अन्य लोग बैंक पर कर सकते है। इन्हे दायित्व या उत्तरदायिताएँ (liabilities) कहते है। दाहिने कालम मे रिज़र्व हाथ मे नकदी और बैंक के अन्य लोगो पर दावे दिए जाते है। ये बैंक की पूँजी (assets) कहलाते है।

उत्तरदायिताएँ (Liabilities)—प्राप्त पूंजी (paid up capital) और ध्रुव कोष या रिज़र्व फड (reserves fund) तो अन्त मे शेयरहोल्डर्स के होते है। इसलिए वे बैंक के दायित्व मे गिने जाते है। बैंक उनके आधार पर ही अपना कार बार चलाता है किन्तु ध्रुव कोष (reserves) खासकर आपत्ति काल (emergency) के लिए होते है।

जमा दो किस्म की होती है—चालू और ध्रुव (current and fixed)

[1] जुलाई १९५५ मे इम्पीरियल बैंक और कुछ दूसरे बैंक मिलाकर स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया बना दिया गया है।

या माग मुद्दती जमा (demand and time deposits) । इनको देना बैंक के जिम्मे होता है। चालू खाता जमा (current account deposits) जमा करने वालों की मांग (call) पर किसी समय भी निकाले जा सकते हैं, जबकि मुद्दती या जमा (time fixed deposits) जमा की मुद्दत पूरी हो जाने पर ही निकाले जा सकते हैं। आमतौर पर चालू खाता जमा पर कोई सूद नहीं दिया जाता है, जबकि दीर्घकालीन जमा में सूद की दर जमा की मुद्दत के साथ बढ़ती है। जितना समय ज्यादा हो उतनी ही ऊंची दर ज्यादा होती है, दायित्व (liability) की ओर आखिरी मद (item) स्वीकृतियों (acceptances) का है। ये वे बिल हैं जिन्हें बैंक ने अपने ग्राहकों की ओर से स्वीकार कर लिया है। इन बिलों की रकम अदा करने का दायित्व बैंक पर तभी पड़ता है जब ग्राहक उन्हें अदा न कर पाए। फिर विविध दायित्व भी हैं।

पूंजी (Assets)—दाहिने कालम के मद बैंक की कार्यवाहियों पर प्रकाश डालते हैं। पहला मद है नकद (cash)। बैंक को कुछ नकद रखना पड़ता है जिससे अपने जमा करने वालों की मांगों (calls) को पूरा करने के लिए रोज का काम चलाया जा सके। अपने अनुभव से बैंक को यह पता रहता है कि इस काम के लिए कितना रुपया रखा जाय। फिर बैंकों के ग्राहकों द्वारा लाए हुए चैक भी आते रहते हैं जिनकी दूसरे बैंकों से वसूली करनी पड़ती है। यह भी नकद (कैश) के ही बराबर है। रिज़र्व बैंक में जो नकद है, वह उतना ही अच्छा है जितना अपने हाथ में, बल्कि कुछ अर्थों में उससे भी अच्छा। क्योंकि इससे ग्राहकों का बैंक में एतबार या विश्वास (confidence) बढ़ जाता है। अगला मद (item), उधार और पेशगी (loans and advances) है। यह बैंक अपने ग्राहकों को बहुत थोड़े समय के लिए देता है और जरूरत पड़ने पर थोड़ी सी सूचना पर (at short notice) बैंक इसे फौरन वापस मांग सकता है। आम तौर पर इस प्रकार के कर्जों के पीछे शेयर और सिक्योरिटी होती है। लेकिन कभी-कभी विश्वस्त ग्राहकों को उनकी व्यक्तिगत सिक्योरिटी पर ही छोटी-मोटी रकमें दे दी जाती हैं। इस प्रकार के अग्रिम ऊपर (over-draft) बहुत थोड़े समय के लिए होते हैं और जब ग्राहक पैसा लौटा देता है तब यह अपने आप पूरे हो जाते हैं।

पूंजी के कालम में अगला मद बट्टे पर खरीदे गए (discounted) पत्रों का है। ऐसे पत्र (बिल) एक निश्चित अवधि के बाद पकना (mature) होते हैं। व्यापारी पत्र (trade bills) कभी भी ६० दिन से अधिक के नहीं होते, और सुरक्षित विनियोग (safe investment) हैं। भारत में कृषि सम्बन्धी पत्र (बिल) ६ महीने तक चल सकते हैं। बैंक अपना पैसा ऐसे पत्रों में भी लगा सकता है। दुर्भाग्यवश इस देश में औरों की अपेक्षा ऐसे पत्रों (बिलों) का बाजार बड़ा नहीं है, इसलिए इस दिशा में बैंक जितना चाहते हैं उतना व्यवसाय नहीं बढ़ा पाते। यदि बैंक के पास फिर भी कुछ फालतू पैसा बचा रहता है जो निष्क्रिय है, तो वह उसे केन्द्रीय राज्य तथा स्थानीय सरकार की सिक्योरिटीज (securities) में लगा देते हैं। कुछ औद्योगिक प्रतिष्ठानों के ऐसे बॉण्डस् (bonds) व शेयरों को भी खरीद सकते हैं जिनका

केन्द्रीय बैंक ने अनुमोदन (approval) कर दिया हो। निस्सन्देह इनमें से कुछ सिक्योरिटीज़ ज़रूरत के वक्त आसानी से बेची जा सकती हैं, किन्तु कुछ सिक्योरिटीज़ शायद संकट (crisis) में बिक न सकें, क्योंकि उनका मूल्य गिर सकता है। इसलिए बैंक के लिए ज़रूरी है कि अपने स्रोत (resources) जितने द्रव (liquid) अवस्था में रख सके, रखे।

पूंजी (assets) की सूची में आखिरी मद है अचल सम्पत्ति (dead stock) जिसमें मुख्यतया ज़मीन, मकानात और फर्नीचर आदि होते हैं। बैंक की सम्पत्ति में यह सबसे कम द्रव (liquid) अंश है, और गिरते हुए बाज़ार में इसे उचित कीमत पर बेचना असम्भव है। इसीलिए बैंक अपना रुपया इनमें नहीं फँसाते और आमतौर पर सुरक्षित ऋणों और पत्रों में लगाते हैं।

बैंक का आय-व्यय लेखा पढ़ना आसान नहीं है। कुछ देशों में बैंक अलग-अलग दिन अपना खाता प्रकाशित करते हैं। जिस दिन जिस बैंक की बारी होती है, वह कुछ धन और सिक्योरिटी बेचकर दूसरे बैंकों से नकद ले लेता है। इस प्रकार उस दिन का उसका नकद—कैश रिज़र्व—बढ़ जाता है। अगले ही दिन वह रुपया फिर बाज़ार में डाल दिया जाता है, जिससे उसका उपयोग दूसरा बैंक कर सके। अल्प कोष के इस प्रकार अस्थायी रूप से योग पर प्रत्येक बैंक के अपने द्रव स्रोत (liquid resources) जितने वास्तव में होते हैं, उससे ज्यादा दिखा सकता है। एक ही रकम बारी-बारी से कई बैंकों के नकद कोषों को दिखाने में काम आती है। यह तरीका जिसे बाह्य सजावट या विण्डो-ड्रेसिंग (window dressing) कहते हैं, आपत्तिजनक है। यदि किसी देश में सुदृढ़ केन्द्रीय बैंक हो तो वह रुक सकती है। रिज़र्व बैंक आफ इण्डिया ने अपने राष्ट्रीयकरण के समय से ऐसी बहुत सी बुराइयों से देश को मुक्त कर दिया है।

७. क्या बैंक मज़बूत है? (Is the Bank Sound?) मुनाफा बनाम रिज़र्व (Profits Vs. Reserves)—किसी बैंक की बैलेन्स शीट से हमें उसकी स्थिति का ठीक अन्दाज़ा लग सकता है। हमारे निर्णय का आधार बैंक के रिज़र्व और उसके दायित्व (liabilities) का अनुपात है। आप जानते हैं कि कोई बैंक भी अपनी नकद सम्पत्ति (cash reserves) के आधार पर रुपया उधार दे सकता है। यह कहलाता है "उधार पैदा करना" (creation of credit)। यदि अच्छे मुनाफे के प्रलोभन से उधार बहुत ज्यादा बढ़ा दी जाए और इसके बदले में पर्याप्त रिज़र्व न रखे जाएँ तो बैंक खतरे में पड़ सकता है। ज़रा-सा[१] 'रश' होते ही इसको दिवाले के लिए अदालत में जाना पड़ सकता है। फिर अगर बैंक अपना रुपया दीर्घकालीन कामों (long term investments) में फँसा देता है—जैसे कारखानों, ज़मीनों और मकानों में, जो एक दम नहीं बेचे जा सकते, तो हो सकता है इसे बन्द ही होना पड़े।

---

१ रश (Rush) का मतलब होता है बैंक से रुपया निकलवानेवालों की दौड़। किसी कारण से जब बैंक की प्रतिष्ठा गिरने लगती है तो जमा करनेवाले अपना रुपया निकलवाने लगते हैं। कभी-कभी यह माँग इतनी बढ़ जाती है कि कुछ घण्टों के अन्दर ही डिपाज़िटर्स अपना सारा रुपया वापस चाहते हैं।

परिणाम यह निकलता है कि किसी बैंक को मजबूत बने रहने के लिए—

(क) उसे चाहिए कि रुपया सट्टे में लगाने को न दे।

(ख) उसे दीर्घकाल में मुनाफा देने वाले औद्योगिक धन्धों में रुपया नहीं लगाना चाहिए।

(ग) उसे एक व्यक्ति को बहुत बड़ी रकम उधार नहीं देनी चाहिए, क्योंकि यदि वह आदमी असफल हो जाए, तो बैंक भी साथ ही डूब सकता है।

(घ) उसे उधार (loans) और पेशगी में दिए गए (advances) के मुकाबले में नकद का अनुपात (ratio) अच्छा रखना चाहिए। अन्य रिजर्व भी जब तक सम्भव हो द्रव्य अवस्था¹ में (liquid) रखने चाहियें।

इस तरह मुनाफे एक तरफ है और रिजर्व दूसरी तरफ। अधिक रिजर्व का मतलब है कम मुनाफा। बैंक को बीच का रास्ता अपनाना पड़ता है। उसे मुनाफा कमाना है किन्तु अधिक उधार और सट्टा करके नहीं। यदि बैंक खुद सट्टा खेलता है तो किसी-न-किसी दिन मुसीबत में जरूर पड़ेगा। भारत में ज्वाइंट स्टाक बैंकिंग के प्रारम्भिक इतिहास में ऐसे उदाहरण भरे पड़े हैं जहां बैंक सट्टे की वजह से बन्द हो गए। एक बहुत बड़े बैंक, एलाएन्स बैंक आफ शिमला (Alliance Bank of Simla) की विफलता का यही कारण था।

कोष (रिजर्व) और दायित्व के अनुपात के बारे में कोई निश्चित सिद्धांत नहीं है। अन्त में तो बाप बैंक के ग्राहकों की सामान्य मांग पर निर्भर है। आकस्मिक मांग (call) पूरी करने के लिए जिसकी कोई भी पहले से भविष्यवाणी नहीं कर सकता—बैंक के विनियोग (investment) द्रव (liquid) होने चाहिएँ जिससे जरूरत पड़ने पर उनसे नकद वसूल किया जा सके। आजकल हर बैंक को अपनी जमा का एक प्रतिशत देश के केन्द्रीय बैंक में रखना पड़ता है। इस जमा को बैंक की जमा (bankers deposit) कहते हैं और यह उतनी ही सुरक्षित है जितनी खुद बैंक की अपनी तिजोरी में। केन्द्रीय बैंक इस जमा द्वारा सदस्य बैंकों को नियंत्रित (कन्ट्रोल) करता है और इस प्रकार देश में कुल उधार (total credit) के निर्गम (issue) पर नियन्त्रण (कन्ट्रोल) रखता है। यह जमा आपत्ति काल में सदस्य बैंकों (member banks) की मदद करने में भी काम आती है, बशर्ते कि बैंक अवस्था सुदृढ़ हो।

यह देखा गया है कि जिन देशों में लोग शिक्षित और बैंक की ओर प्रवृत्त (bank minded) होते हैं, उनमें पेशगी (advance) के मुकाबले में रिजर्व का अनुपात पिछड़े हुए देशों की अपेक्षा कम है। संयुक्त राज्य (U K) में यह अनुपात कभी-कभी ८ प्रतिशत तक गिर जाता है जबकि भारत में आमतौर पर १३ प्रतिशत से ऊपर रहता है। पुराने बैंकों में, जिनकी प्रतिष्ठा बनी हुई है नए बैंकों की अपेक्षा, यह अनुपात कम रहता है।

८. केन्द्रीय बैंक की आवश्यकता (Need for a Central Bank)—पहले महायुद्ध में और युद्धोत्तर काल में बहुत से देश अपनी करेन्सी और उधार नियन्त्रण

---

¹ द्रव पूँजी (liquid assets) का अर्थ होना है, वह सम्पत्ति या धन जिसे शीघ्र ही नकद में बदला जा सके।

(कन्ट्रोल) की मुसीबत में फँसे हुए थे। इन कठिनाइयों का प्रत्यक्ष फल यह हुआ कि केन्द्रीय बैंकिंग का विकास हुआ। आज लगभग सभी देशों में एक केन्द्रीय बैंक है। इस बैंक से यह आशा की जाती है कि यह देश के द्रव्य-मान (money standard) को कायम रखेगा और उसकी रक्षा करेगा। इस कार्य में इस मुनाफा पाने की आशा नहीं रहती। इसलिए यदि यह निजी संस्था (private institution) भी हो तो भी इसे एक निश्चित नीची दर (लगभग ५ प्रतिशत) से अधिक लाभांश (dividend) नहीं देने दिया जाता। यह अपने साधारण कार्य बिना रुकावट के करता है, चाहे किसी प्रजातान्त्रिक देश में कोई भी दल सत्ता में हो। अब हम केन्द्रीय बैंक के कार्यों का अध्ययन करेंगे।

६. केन्द्रीय बैंक के कार्य (Functions of a Central Bank)—

(१) इसे नोट निर्गम करने का अधिकार होता है। पहले कुछ देशों में बहुत से बैंक अपने नोट चलाते थे। इसमें अनियन्त्रित गड़बड़ फैलती थी। इसलिए धीरे-धीरे नोट निर्गम (issue) करने का अधिकार साधारण बैंकों से लेकर देश के केन्द्रीय बैंक का एकमात्र अधिकार बना दिया है और उसके नोट देश में पूर्ण विधि-मान्य प्रचलन (full legal tender) बन गए हैं। इस कार्य में केन्द्रीय बैंक को कानून द्वारा नियत नियमों का पालन करना पड़ता है। इसे अनिवार्यतः (compulsorily) सोने-चांदी के रिजर्व रखने पड़ते हैं और निश्चित अनुपात में चुने हुए (selected) बन्धक (सिक्योरिटीज) जिससे कागज-चलन (paper currency) में और जरूरत पड़ने पर उसकी परिवर्तनीयता (convertibility) में लोगों का एतबार बना रहे। यह अनुपात हर देश में भिन्न होता है और उनकी विशेष परिस्थितियों पर निर्भर है। इस प्रकार रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के पास अपने नोटों के मुकाबले में ४० करोड़ रुपये का सोना और भारत सरकार, स्टर्लिङ्ग और डालर की सिक्योरिटीज है।

(२) यह बैंकरों का बैंक है (It acts as a Bankers' Bank.)—देश के दूसरे सभी बैंकों को कानूनन अपनी कुल जमा का एक निश्चित अंश केन्द्रीय बैंक में रखना पड़ता है। इन रिजर्वों से केन्द्रीय बैंक को इन वाणिज्यिक बैंकों के उधार का नियन्त्रण करने में मदद मिलती है। बदले में सारे बैंक अपने आपत्ति काल में रिजर्व बैंक की सहायता पा सकते हैं। यह सहायता अनुमोदित (approved) सिक्योरिटीज के आधार पर उधार की शकल में हो या विनिमय पत्रों को बट्टे पर पुनः खरीद (rediscount) हो। इस प्रकार कठिन समय में, केन्द्रीय बैंक अन्य तमाम बैंकों का अन्तिम शरण-स्थल है, क्योंकि उनको आपत्ति के समय उन्हें किसी अन्य प्रतियोगी संस्था से सहायता मिलने की कोई आशा नहीं होती।

भारत में, अनुसूचित बैंकों (scheduled banks) को अपने चालू जमा (current deposit) का कम-से-कम पाँच प्रतिशत और ध्रुव जमा (fixed deposit) का दो प्रतिशत रिजर्व बैंक में सुरक्षित रखना पड़ता है। बदले में उन्हें रिजर्व बैंक को अपने पत्रों को फिर बट्टे पर बेचने और जरूरत पर अपनी अनुमोदित सिक्योरिटीज रखकर ऋण लेने की सुविधा रहती है।

(३) यह राज्य का बैंक होता है (It Serves as State Bank)—पहले सभी देशों की सरकारें देश भर में जगह-जगह खजाने (treasuries) बनाती थी। आजकल वे अपना रुपया केन्द्रीय बैंक में रखती है। यह इस बैंक के लिए विशेष अधिकार भी है और इस पर एक बहुत बड़ी जिम्मेदारी भी। केन्द्रीय बैंक को जब भी उससे माग की जाए केन्द्रीय राज्य या स्थानीय सरकारो को रुपया देना पड़ता है। सरकार को टैक्स तो साल के कुछ महीनो में ही मिलते है, जबकि रुपये की जरूरत हमेशा पड़ती है। इसलिए आवश्यकता पड़ने पर सरकार केन्द्रीय बैंक से कुछ दिनों के लिए उधार ले लेती है। इन उधारो (loans) को 'उपाय और साधन पेशगी' (ways and means advances) कहते हैं। इसके अलावा केन्द्रीय बैंक को सरकार के लिए कुछ कर्ज (government loans)—अस्थायी (जैसे ट्रेजरी बिल) या स्थायी—भी निकालने पड़ते है। इसके अलावा यह बैंक सरकारी कोष को एक स्थान से दूसरे को पहुँचाता है विदेशी करेन्सी खरीदता है और सार्वजनिक ऋण (public debts) का नियन्त्रण करता है। और दूसरा जरूरी काम जो यह करता है वह है सरकारी कोष अपने पास रखना जिस पर इसे कोई सूद नही देना पड़ता। बदले में सरकार केन्द्रीय बैंक की स्थिरता की गारण्टी लेती है और इसकी कार्यवाहियों की देख रेख करती है।

भारत मे केन्द्रीय तथा राज्य सरकारो और म्युनिसिपल कारपोरेशनों के लिए रिजर्व बैंक आफ इण्डिया यह सब काम करता है।

(४) यह द्रव्य-बाजार का सरक्षक होता है (It is the Guardian of the Money Market)—इस अध्याय में हो जाहिर है कि केन्द्रीय बैंक का देश की करेन्सी और साख मे क्या महत्त्व है। हमने देखा है कि किसी देश में कीमतो पर द्रव्य के ही समान साख (credit) का भी असर पड़ता है और साख बनाना (creation of credits) वाणिज्यिक बैंको का महत्त्वपूर्ण कार्य है। किसी देश की अर्थ व्यवस्था के लिए कीमतो का उतार चढ़ाव खतरे की चीज है। देश की आर्थिक अवस्था को स्थिर रखने का भार केन्द्रीय बैंक पर रहता है। इस कार्य को पूरा करने के लिए (क) यह स्वयं के आयात निर्यात पर प्रतिबन्ध (ban) या नियन्त्रण (control) लगा सकता है (ख) और देश मे साख (credit) के कुल परिमाण को तीन तरह से नियन्त्रित कर सकता है—

(i) बैंक दर में परिवर्तन करके—ऊँची दर का मतलब है केन्द्रीय बैंक को बट्टे पर बिल बेचने मे अधिक व्यय। इससे व्यापारियो मे उधार लेने का उत्साह कम रह जाता है। कम दर इसका उल्टा असर करती है। जब से १९३५ म भारत मे रिजर्व बैंक बना था, बैंक दर ३ प्रतिशत थी, पर नवम्बर १५, १९५१ से उसे उठाकर ३½ प्रतिशत कर दिया गया।

(ii) 'खुला बाजार कार्यवाहियो से (By Open Market Operations)—यदि बैंक सरल द्रव्य' (easy money) की अवस्था पैदा करना चाहता है तो यह सिक्योरिटीज खरीदकर रुपया बाजार मे डाल देता है। इससे 'साख का बनना' (creation of credit) प्रोत्साहित होता है। बैंक द्वारा सिक्योरिटीज के विक्रय से द्रव्य-बाजार मे अतिरिक्त द्रव्य (surplus money) कम हो जाता है।

(iii) अन्य बैंकों के रिजर्व अनुपात को बदलने से (By changing the reserve ratios of other banks)—केन्द्रीय बैंक अन्य बैंकों को जमा के मुकाबले कम या ज्यादा रिजर्व रखने की आज्ञा दे सकता है। अमेरिका में यह अधिकार फडरेल रिजर्व सिस्टम (federal reserve system) को प्राप्त है। ऊँचा रिजर्व अनुपात बैंकों से नकद लेकर उनके पास उधार देने को कम रुपया छोड़ेगा और इसके विपरीत (vice versa) अधिक छोड़ेगा।

(५) केन्द्रीय बैंक को देशी करेन्सी का वैदेशिक मूल्य भी स्थिर रखना पड़ता है—उदाहरण के लिए भारत में रिजर्व बैंक ने रुपये की दर १ शिलिंग ६ पेंस पर रखी है यद्यपि डालर के मुकाबले में करन्सी का १६४६ में अवमूल्यन (devaluation) हो गया है। यह इस वजह से कि अमेरिका से भारत का व्यापार-शेष[1] बड़ा प्रतिकूल (unfavourable) होता जा रहा था। संयुक्त राज्य (U. K.) ने भी डालर के मुकाबले में अपनी करन्सी का अवमूल्यन कर दिया है। पाकिस्तान को छोड़कर अन्य कामनवेल्थ देशों ने संयुक्त राज्य (U. K.) का अनुकरण किया। पाकिस्तान ने १६५५ में अवमूल्यन किया। इस कारण १६४६ से १६५५ तक १०० पाकिस्तानी रुपये १४४ भारतीय रुपयों के बराबर थे। अब उनके १०० अधिकृत रूप से हमारे १०० के ही बराबर हैं। वास्तव में तो पाकिस्तानी रुपये का असली मूल्य बाजार में भारतीय रुपये से कम ही रहा है। संक्षेप में, न केवल देश के अन्दर बल्कि बाहर भी मुद्रा की क्रय शक्ति स्थिर होनी चाहिए।

(६) केन्द्रीय बैंक बैंकों के लिए निकासी गृह (Clearing House) का काम करता है—यह वाणिज्यिक बैंकों के हिसाब साफ करके उन्हें अपने ऋण चुकाने में मदद करता है। यह काम खातों में परिवर्तन (book entries) द्वारा होता है।

यह अच्छी तरह से समझ लेना चाहिए कि केन्द्रीय बैंक अन्य बैंकों की स्पर्द्धा में खड़ा नहीं होता। यह अपने पास रख गए रुपये पर सूद देता है। यदि वह सरकारी संस्था हो तो कोई लाभांश (dividend) नहीं देता और यदि निजी संस्था (private institution) हो तो कम लाभांश देता है और अतिरिक्त मुनाफा सरकार को दे देता है। अब रिज़र्व बैंक आफ इण्डिया राष्ट्रीय बन है इसलिए यह कोई मुनाफा नहीं देता।

१० रिजर्व बैंक आफ इण्डिया (Reserve Bank of India)—यह इस देश का केन्द्रीय बैंक है। यह १६३५ में सरकार के सञ्चालन में शेयरहोल्डरों के बैंक के रूप में स्थापित हुआ था। १६४६ में इसका राष्ट्रीयकरण हो गया। यह वे सभी काम करता है जो कोई भी केन्द्रीय बैंक करता है। यह नोटों का निर्गम करता है और एक्ट के अन्तर्गत बनाए गए नियमों के अनुसार रिजर्व रखता है। यह बैंकरों का बैंक है। सभी अनुसूचित बैंकों को इसमें अपने कोष रखने पड़ते हैं। यह अपने यहाँ जमा पर कोई सूद नहीं देता। यह वे तमाम काम करता है जो सरकार इससे चाहती

[1] future आयात निर्यात (import export) के अनुपात से किसी देश को जो जमा-पावना (deposit credit) मिलता है, वही ट्रेड बैलेन्स कहलाता है।

है। यह द्रव्य-बाजार का दृढ़ संरक्षक (guardian) है। यह सरकारी नीति के अनुसार देश का बाह्य अनुपात (external ratio) भी बनाए रखता है।

११. विनिमय बैंक (Exchange Banks)—ये बड़े-बड़े प्रतिष्ठान हैं जिनकी बड़ी पूंजी है। इनकी कार्यवाहियां विश्व भर में फैली हुई है और ये अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को वित्तीय सहायता प्रदान करते है। ये बहुत थोड़े मुनाफे पर व्यवसाय करते हैं किन्तु चूंकि इनका कारबार व्यापक है, इसलिए इनका कुल मुनाफा बड़ा होता है। भारत का अपना कोई एक्सचेंज बैंक अब तक नहीं है। इसके प्राइवेट स्टाक बैंक ही किसी हद तक विदेशी व्यापार को वित्तीय सहायता देते हैं। किन्तु भारत के आजाद हो जाने पर अब उसका कोई अपना बढ़िया विनिमय बैंक होना चाहिए। उसकी आवश्यकता आर्थिक विकास की जो योजनाएँ हाथ में ली जा रही हैं, उनके कारण और भी बढ़ गई है।

इस अध्याय से आपने क्या सीखा ?

बैंकों की परिभाषा (Definition of Banks)—बैंक साख (credit) बनाता है और उससे कमीशन लेता है। जो लोग बचा सकते है उनसे रुपया इकट्ठा करके जिन्हें जरूरत होती है उधार देता है।

बैंकों का विकास (Evolution of Banks)—बैंक शब्द इटैलियन बैंको (Banco) या बैंच (bench) शब्द से निकला है, जिस पर बैठ सुनार या सिक्के बदलनेवाले (money changers) लोगों के सिक्के बदला करते थे। लोग उनके पास हिफाजत के लिए रुपया रख देते थे और जरूरत के वक्त निकलवा लेते थे। अपने तजुर्बे से इन बैंकरों ने देखा कि लगभग हमेशा ही उनके पास बड़ी राशि में रुपया जमा रहता था। इसलिए किसी ने सोचा कि इस राशि को सूद पर चलाकर क्यों न कमाया जाए। धीरे धीरे जमा के लिए रसीदें चलने लगीं, जो रुपये की जगह काम आ सकती थीं।

बैंकों के लाभ (Advantages of Banks)—

(१) ये उद्योगपतियों की मदद करते है।

(२) व्यापारियों को वित्तीय सहायता देते है।

(३) व्यक्तियों की बचत को इकट्ठा करके पूँजी बनाने (capital formation) में सहायता देते है।

(४) रुपया भेजने (remittances) की सुविधाएँ देते है।

(५) रकमों को भेजने में मदद देते है।

(६) यात्रा सहज बनाते है।

(७) सुरक्षित लॉकर रखते है।

(८) अपने ग्राहकों की ओर से एजेन्सी का काम करते है।

बैंक निम्न प्रकार के होते है—

(१) वाणिज्यिक (Commercial) बैंक जो व्यापार में वित्त और अल्पकालीन उधार देते है।

(२) विनिमय (Exchange) बैंक जो विदेशी व्यापार को वित्त देते है।

(३) औद्योगिक (Industrial) बैंक जो उद्योगों को दीर्घकालीन उधार देते है।

(४) सहकारी (Co-operative) बैंक जो गरीबों और देहातियों को उधार देते है।

(५) सेविंग्स (Savings) बैंक जो छोटी आय के लोगों को बचत करने में सहायता देते है।

(६) केन्द्रीय (Central) बैंक या बैंकों का बैंक (Bankers Bank)

बैंक के कार्य (Functions of a Bank)—बैंक वह संस्था है जो द्रव्य का व्यापार करता है (Bank is an institution which deals in money)। यह निम्नलिखित कार्य करती है—

(i) ये जमा (डिपाजिट) लेते हैं—जो निकलवाने (Withdrawal) का सूचना देने की अवधि (Notice period) के अनुसार चालू (Current), ध्रुव (Fixed) या सेविंग खाता (Savings Accounts) कहलाता है

(ii) ये ओवर ड्राफ्ट (Overdrafts) देकर या जमा बनाकर (by creating deposits) उधार देते हैं

(iii) ये बिलों का भुगतान करते हैं—जब विनिमय पत्र मकाने उनके चालू मूल्य में से डिस्काउंट (बट्टा) लेकर पैसा देते हैं। वे उन्हें पकने (mature) होने तक रखते हैं और अन्तर को मुनाफे के रूप में प्राप्त करते हैं।

(iv) ये कुछ अन्य फुटकर काम भी करते हैं जैसे अपने ग्राहकों के एजेन्ट का तरह कार्य करते हैं उनका ... बहुमूल्य वस्तुओं की निगरानी करते हैं और सुरक्षित ... (safe deposit vaults) के लिए तिजोरियाँ देते हैं

आय व्यय खाता (Balance Sheets)—बैंक ... अपनी वित्तीय स्थिति (financial position) का ... प्रकाशन करता है। इसमें आय व्यय खाते में ... होते हैं—दायित्व (liabilities) और पूँजी (assets)। किन्तु वास्तविक स्थिति को ... (window dressing) द्वारा छिपाया जा सकता है जिससे ... अस्थायी रूप में ... ।

बैंक कोष और मुनाफा (Bank Reserves and Profit)—अपना कार्य ... रूप से चलाने के लिए एक बैंक का कुछ कोष रखने पड़ते हैं जो (क) उसकी तिजोरी में नकद ... (ख) केन्द्रीय बैंक में ... हों या (ग) ... प्रतिनिवेश (liquid investments) हों जिन्हें जब चाहे नकद में बदला जा सकता है

केन्द्रीय बैंक की आवश्यकता (Need for a Central Bank)—देश के ... हितों (monetary interests) की सुरक्षित रखने के लिए

केन्द्रीय बैंक के कार्य (Functions of a Central Bank)—(१) इस नोट निर्गम करने का एकाधिकार होता है। ... द्रव्य को स्थिर रखना ... और इसके लिए ... रखना पड़ता है। (२) यह बैंकों का बैंक है और ... अन्तिम सहारा है ... देता है (३) यह सरकार के बैंकर का काम करता है (४) यह द्रव्य-बाजार (money market) का सरदार है। यह कार्य यह (क) उधार दर ... के लिए बैंक दर में परिवर्तन करके (ख) खुला बाजार कार्यवाहियाँ (open market operations) यानी बिलों और सिक्यूरिटीज का खुले बाजार में क्रय विक्रय करके और (ग) आवश्यक ... अवस्था को नियंत्रित करता है।

केन्द्रीय बैंक मुनाफे के लिए काम नहीं करता।

रिजर्व बैंक आफ इन्डिया (Reserve Bank of India)—... केन्द्रीय बैंक है, जो १९३५ में स्थापित और १९४९ में राष्ट्रीयकृत हुआ था। यह केन्द्रीय बैंक के तमाम कार्य करता है

विनिमय बैंक (Exchange Banks)—ये अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को वित्त देते हैं। भारत का अपना कोई ऐसा बैंक नहीं है

क्या आप निम्न प्रश्नों का उत्तर दे सकते हो ?

1 What is a bank ? Describe the functions of a Modern bank. 'Bank is a factory of credit'

(कलकत्ता विश्वविद्यालय १९४७ कलकत्ता विश्वविद्यालय बी० काम० १९३८ ... १९३७ ... १९४४)

[देखिये विभाग १ और ५ (ग) (ii) बैंक की साख उत्पन्न करने की सामर्थ्य अपरिमित है। यह प्रश्न कोष रखने की ज़रूरत और केन्द्रीय बैंक की नीति से निश्चित होती है।]

2 What is a bank ? Describe the various forms of money that banks usually create (पंजाब विश्वविद्यालय १९४३)

[देखिये विभाग १ और ५ (ग) (ii)—इस ढंग पर जो केन्द्रीय बैंक को छोड़कर अन्य बैंक चलन द्रव्य (currency money) नहीं बल्कि साख द्रव्य (credit money) उत्पन्न करते हैं।]

3 How does a bank make its profits ? What is meant by 'run upon a bank' ? In what cases may a run upon a bank cause its failure ? (पंजाब विश्वविद्यालय १९३४)

[देखिये विभाग ५ और ७ यदि उसकी रिज़र्व या स्थिति द्रवता (liquidity) कमज़ोर है, यदि देश में कोई केन्द्रीय बैंक नहीं है या यदि वह केन्द्रीय बैंक उसकी सहायता नहीं करता है तो दौड़ (run) से बैंक का दिवाला निकल जायगा।]

4 How do banks help trade and industry ? Do we need different kinds of banks to finance agriculture trade and industry ? Why ? (आगरा १९४४)

5 Distinguish between the functions of the Reserve Bank of India and a bank such as the *Punjab* National Bank and the Central Co operative Bank of a district

देखिये विभाग ४, ४ (ग) और ६

6 Enumerate the various types of banks and detail the types of work they specialize in

देखिये विभाग ४

7 How does the banking system of a country help its economic development ?

[पूँजी बचत में सहायक है और आर्थिक उन्नति के लिए आवश्यक है। साथ औद्योगिक विकास एवं वाणिज्य का सुगम बनाता है।]

8 *Write notes on*, —

Fiduciary open market operations bank rate

देखिये अध्याय ५ विभाग १० अध्याय २१ विभाग ६ (४) (i) और (ii)।

9 If you have to make payment to a distant place in India what form of remittance would you choose and why

(पंजाब यूनिवर्सिटी १९४२)

[धन साधारणतया तार मनीआर्डर, पोस्टल आर्डर, रेल या बैंक ड्राफ्ट के ज़रिये भेजा जा सकता है। यदि उस स्थान में कोई बैंक हो तो बैंक ड्राफ्ट सबसे सस्ता सुरक्षित और सुगम उपाय है, नहीं तो मनीआर्डर सबसे आसान है।]

10 What is a commercial bank ? What are its main functions ? Name four important banks working in India

(यू० पी० इंटर बोर्ड १९४२)

देखिये विभाग ४ (क) और ९

11 Indicate carefully the functions of a commercial bank Why is it said that the function of a banker is that of a middleman ?

(दिल्ली १९४५)

12 Give a brief account of the Reserve Bank of India and analyse its functions

(कलकत्ता विश्वविद्यालय १९३८, आगरा १९४६, ढाका १९४२, नागपुर १९३८,
(यू० पी० इण्टर बो० १९४७)

देखिये विभाग ६

13 What are the services perform by a bank ? Is the village Mahajan in India a banker in the true sense of the term ?

(यू० पी० इण्टर बो० १९४९)

देखिये विभाग ३, ४

[नहीं, गाँव का महाजन शब्द के ठीक ठीक अर्थों में बैंकर नहीं है।]

14 Draw up a hypothetical balance sheet of a commercial bank and explain the items on each side

(कलकत्ता विश्वविद्यालय बी० काम० १९४६)

देखिये विभाग ६

15 What limits, if any, are there on a bank's power of creating credit ?

(कलकत्ता विश्वविद्यालय बी० काम० १९४०, लाहौर १९४०, आगरा १९३९)

देखिये विभाग ७

16 What is a Central Bank ? Describe its functions. Is the Reserve Bank of India performing these functions successfully ?

(आगरा १९४२, यू० पी० १९५१)

देखिये विभाग ६, १०

17 Briefly describe the functions of an Exchange Bank. Compare its functions with those of Commercial Banks

देखिये विभाग ११

18 What are banks ? Classify them according to the functions and explain the functions of commercial banks (आगरा १९५३)

देखिये विभाग १, ४, ५

19 Draw up the balance sheet of any commercial bank working in your State. Explain clearly the items entered in the two columns of the balance sheet (पंजाब विश्वविद्यालय १९५३)

देखिये विभाग ६

20 It is the function of the banking system to keep the wheels of production running. Elucidate the above statement and indicate the economic benefits that a country derives from a sound banking organisation (कलकत्ता विश्वविद्यालय १९५२)

[देखिये विभाग ३। बैंकिंग व्यवस्था देश में निष्क्रिय धन को सक्रिय बनाकर उत्पादन मशीनरी के पहियों को चलाता है।]

21 Write short notes on—(a) Clearing House, (b) Bank Rate (पंजाब विश्वविद्यालय १९५१)

[(क) हर बैंक को हर रोज अपने ग्राहकों से चैक मिलते हैं जो दूसरे बैंक से रुपया निकाल कर उनके हिसाब में जमा करने के लिए होते हैं। इसी हिसाब को साफ करने के लिए निकासी गृह स्थापित करने पड़ते हैं जिनमें हर बैंक के प्रतिनिधि रोज मिल सकें।

(ख) बैंक रेट वह सरकारी निम्नतम (official minimum) दर है जिस पर केन्द्रीय बैंक विनिमय पत्रों पर बट्टा (discount) करता है।]

अन्तर्राष्ट्रीय-व्यापार

(INTERNATIONAL TRADE)

माल के बदले माल

(Goods for Goods)

१. **अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार क्या है?** (What is International Trade?)—अपने घर के पास के किसी जनरल स्टोर में जाइए तो पूछने पर आपको पता चलेगा कि उनके स्टाक में बहुत सा माल भारत का बना हुआ नहीं है वरन् दुनिया भर से आया हुआ है। टूथपेस्ट, टूथब्रश, ऊन, प्याले, प्लेटें, मक्खन के डब्बे और न जाने क्या-क्या सब विदेशी है। वे बडा बडा लम्बा सफर तय करके, इगलैंड, अमरीका, जापान, आस्ट्रेलिया और दूसरे देशो से आये हैं। लगभग सारी दुनिया ने आपकी जरूरियात जुटाने मे और आपको आराम पहुँचाने में अपना-अपना अशदान दिया है। इन चीजो के बदले में भारत उन्हे अनेक वस्तुए देता है, जैसे तिलहन, जूट का सामान, चाय, मैंगनीज कहवा वगैरह, जो वह पैदा करता है। माल का यह आदान-प्रदान—विभिन्न राष्ट्रों के नागरिकों में होने वाला यह विनिमय (exchange) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार (international trade) कहलाता है।

२. **आज अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का स्वरूप** (Character of International Trade today)—राष्ट्रीय सीमाओ के पार इस प्रकार का व्यापार परिवहन के उन्नत साधनो द्वारा अपने आकार मे बढ सका है। रेल और जहाज इस व्यापार की *मात्रा (volume) या परिमाण बढाने के बहुत कुछ जिम्मेदार हैं और हवाई जहाज* भी बहुत कुछ कर रहे है।

मशीन परिवहन (machine transport) शुरू होने से, दुनिया छोटी जगह बन गई है। माल लगातार एक देश से दूसरे देश मे आ जा रहा है। किराये सस्ते है। माल दुनिया के एक कोने से दूसरे कोने मे भेजने में ज्यादा वक्त या रुपया नहीं लगता।

न सिर्फ व्यापार का परिमाण बढ गया है वरन् उसके रूप मे भी बहुत कुछ तबदीली हो गई है। पहले जमाने मे व्यापार एक जोखिम का काम था और साहसी लोग ही इसे चला सकते थे, और व्यापार होता किन चीजो का था? शराब, हाथीदाँत, सिल्क, मोती आदि ऐसी कीमती चीजो का, जिनका नाम सुनकर आप कुछ चकरा जाएँ और मुँह मे पानी भर आए। ऐसी चीजो का ही व्यापार होता था। उसके मुकाबले मे आजकल हम लोग आयात-निर्यात करते है बर्तन, मिट्टी का तेल, चावल, कच्चा लोहा और

ऐसी चीजों का जिनमें आपको कोई दिलचस्पी नहीं है। ऐसी सस्ती चीजों में व्यापार तभी सम्भव हुआ है जब किराए की दर घट गई है। बैंकिंग और साख के उपायों के विकास से भी देश की सीमाओं से बाहर व्यापार करने में बड़ी सुविधा मिली है। इसका फल यह है कि आज दुनिया का कोई भी देश, चाहे जितना भी बड़ा हो और चाहे जितनी बड़ी आबादी का हो, यह नहीं कह सकता कि वह पूर्ण रूप से आत्म-निर्भर है। अमरीका और चीन तक नहीं। यद्यपि प्रकृति ने उन्हें तरह तरह की सम्पदा दी है। पर इनमें से कोई भी देश दूसरे देशों से आयात किए बिना जिन्दा नहीं रह सकता। हिन्दुस्तान के लिए भी यह सच है। वह भी आत्म-निर्भर नहीं है। उसकी समृद्धि तथा उसका अस्तित्व ही उस खाद्य और मशीनरी की बदौलत है जिसका वह आयात करता है।

३. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की आवश्यकता (The Need for International Trade)—जब पृथ्वी बनी थी तब उसके प्राकृतिक स्रोत उसके विभिन्न भागों में बराबर-बराबर नहीं बँटे थे। पृथ्वी के कुछ भागों में एक प्रकार का धन है तो दूसरों में दूसरी तरह का। अमरीका के पास कोयला, लोहा और मिट्टी का तेल बहुत है। आस्ट्रेलिया में कृषि धन और मवेशी ज्यादा हैं। नार्वे और स्वीडन में जंगल और जल विद्युत स्रोत (hydro electric resources) हैं। इंगलैंड में लोहा है। भारत में चाय और मैंगनीज है। वास्तव में ऐसे प्रदेश कोई नहीं हैं जहाँ कुछ भी न हो और ऐसे प्रदेश भी नहीं हैं जहाँ सब कुछ हो। फलस्वरूप सभी लोगों को तरह-तरह के खाद्य पदार्थ, कच्चे माल या निर्मित वस्तुओं के लिए दूसरों पर आश्रित रहना पड़ता है जिन्हें वे खुद नहीं बना सकते और बदले में वे ये चीजें देते हैं जिनका उत्पादन वे करते हैं। इस तरह भारत चाय, कपड़ा, चमड़ा और खाल, रूई और जूट का सामान और मैंगनीज दूसरे देशों को देता है और बदले में मशीन, रसायन (chemicals), चावल, दवाएँ और दूसरी जरूरी चीजें मँगाता है।

इसी प्रकार सभी लोगों को बराबर उत्पादन की क्षमता नहीं आती और न वे बराबर तेजी से सीख ही सकते हैं। नैसर्गिक या जन्मजात योग्यता भी प्रदेश और जलवायु के अनुसार बदलती है। इसका नतीजा यह होता है कि शिल्प और कला की प्रवीणता तथा उपायों में भी अन्तर पड़ जाता है। अमरीकन और जर्मन चतुर इन्जीनियर होते हैं। जापानी अच्छे संगठन कर्ता होते हैं। फ्रांसीसी कलाकार हैं। अंग्रेज जहाज बनाने में कुशल हैं। औद्योगिक प्रवीणता में इस अन्तर का स्वाभाविक परिणाम यह अन्तर्राष्ट्रीय विशिष्टीकरण (specialisation) है। जैसे जैसे समय बीतता जा रहा है ये अन्तर कम होते जा रहे हैं और भारत जैसे पिछड़े हुए देश भी आगे बढ़ रहे हैं और सब काम सीख रहे हैं। फिर भी किसी भी राष्ट्र के पास आज की जरूरत की सभी चीजों का किफायती उत्पादन करने के लिए पर्याप्त सुविधाएँ नहीं हैं और न हो सकती हैं। यही कारण है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का अस्तित्व है और रहेगा।

४. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और आन्तरिक व्यापार में क्या अन्तर है? (How does International Trade differ from Internal Trade?)—व्यापार

का मतलब है माल का बदला। तब व्यापार के सिद्धान्त में क्या अन्तर पड़ता है, चाहे व्यापार का माल उसी देश में बना हो या भिन्न-भिन्न देशों में? अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के अलग सिद्धान्तों की क्या जरूरत पड़ती है? यह प्रश्न सही है। वैसे तो घरेलू और विदेशी व्यापारी वास्तव में एक ही है। दोनों का अर्थ व्यक्तियों में माल का विनिमय है। दोनों का उद्देश्य श्रम विभाजन[1] द्वारा उत्पादन की वृद्धि करना है। फिर भी कुछ *चीजें है जिनके कारण हम अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को आन्तरिक व्यापार से भिन्न करते* हैं। वे निम्नलिखित है—

(i) श्रम और पूँजी एक देश से दूसरे देश में उतनी सरलता से नहीं जाते जितने वे एक देश के अन्दर एक प्रदेश से दूसरे में जाते हैं। एडम स्मिथ के शब्दों में, "सब तरह के सामानों से, मनुष्य का परिवहन सबसे कठिन है।" और यह और भी ज्यादा कठिन है यदि कोई विदेशी सीमा पार करनी हो। यह अजीब-सा लगता है कि मनुष्य इतना गतिहीन हो जबकि उसमें चेतना है और उसकी अपनी दो टाँगें है? किन्तु टाँगों के अलावा मनुष्य को अपनी भावनाएँ और आवेग भी है। उसे चाह भी होती है और घृणा भी। वह घर पर कम तनख्वाह ज्यादा पसन्द करता है, बजाय विदेश में ऊँची तनख्वाह के। कोई दूसरा देश उसके लिए बढ़िया पर एक नाम से ज्यादा मायने नहीं रखता। एक औसत भारतीय के लिए कनाडा काले पानी से भी आगे सात समन्दर पार एक दूर देश है, जिसके कानूनों से वह अपरिचित है जिसकी भाषा अनजानी है और जिसकी प्रथाएँ उसे अजीब लगती है। यदि उसे अवसर दिया जाय तो भी उसे कनाडा जाने के लिए राजी करना कठिन होगा। क्योंकि यह सब जानते हैं *कि अक्सर दूसरे देश में बसने वाले पर कानूनी प्रतिबन्ध लगा दिये जाते है।* इसका फल यह होता है कि उत्पादन-लागतों का अन्तर दूर करने के लिए मनुष्य और द्रव्य को वहाँ नहीं ले जाया जा सकता। तब फिर माल को ही हटाया जा सकता है। इसके विपरीत एक ही राजनीतिक सीमा के अन्दर लोग विभिन्न प्रदेशों में अपने-अपने अवसरों के अनुसार बँट जाते है। वास्तविक मजदूरी (real wages) और जीवन-स्तर (standard of living) अपना समान-स्तर (common level) खोजने में प्रयत्नशील रहते हैं, यानी वे समान बनने की दिशा में गतिशील रहते है, चाहे पूर्ण समानता कभी *न हो पाए। उदाहरण के लिए भारत में, जो एक बड़ा और विस्तृत देश है,* आप एक बगाली को पंजाब में काम करते हुए पाते है जबकि पंजाबी बम्बई, कलकत्ता, मद्रास आदि में, सभी जगह मिलते है। किन्तु विभिन्न देशों में ये अन्तर युगों तक बने रहते है और आबादी के आने-जाने को रोकते हैं।

(ii) दूसरी बात यह है कि हर देश की अपनी चलन-मुद्रा (करेन्सी) है। उदाहरणार्थ, भारत में रुपया है, अमरीका में डालर, जर्मनी में मार्क, इटली में लीरा, स्पेन में पेसा, जापान में येन आदि। इसलिए राष्ट्रों के बीच में कय विक्रय कुछ ऐसी पेचीदगियाँ पैदा करता है जो एक देश के व्यापार में नहीं रहतीं। पाउण्ड और रुपए के अवमूल्यन ने मामला और जटिल बना दिया है।

---

१. माल का विनिमय श्रम-विभाजन का मूल है और श्रम विभाजन उत्पादन की वृद्धि की ओर ले जाता है।

(iii) *विभिन्न देशों के बीच का व्यापार मुक्त नहीं है।* अक्सर आयात-निर्यात कर (customs duties), विनिमय-नियंत्रण (exchange restrictions) निश्चित कोटा (fixed quotas), या अन्य चुंगी की दीवारों (tariff barriers) के द्वारा अनेक नियंत्रण लगा दिए जाते हैं। उदाहरण के लिए आपके अपने देश ने भी मोटरकार, शराब और अन्य विलासिता की वस्तुओं के आयात पर भारी टैक्स लगा दिए हैं।

(iv) दूसरे देशों का ज्ञान इतना नहीं हो सकता जितना अपने देश का। सभ्यता, संस्कृति, भाषा, धर्म आदि के भेद से विभिन्न देशों में परस्पर आचार, व्यवहार इतना आजाद नहीं हो सकता जितना एक देश के अन्दर। एक देश की सीमाओं में श्रम और पूंजी अधिक स्वतन्त्रता से इधर-उधर आती-जाती और परिचालित (circulate) होती है। ये कारण भी देश के आन्तरिक व्यापार से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को भिन्न कर देते हैं।

(v) परिवहन और बीमा का खर्चा भी मुक्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में बाधा डालता है। दो देशों में जितनी ज्यादा दूरी होती है उतने ही ये खर्च बढ़ते हैं। युद्धों से और भी बढ़ जाते हैं।

आन्तरिक और बाह्य व्यापार की परस्पर निर्भरता (Inter dependence of External and Internal Trade)—इन अन्तरों के होते हुए भी आन्तरिक और बाह्य व्यापार एक-दूसरे पर निर्भर हैं। उदाहरण के लिए किसी दूसरे देश से आने वाले माल के आयात पर कोई नियन्त्रण (restrictions) लगा देने से उन देशों में लोग बेकार हो जाएंगे। बेकार हो जाने पर उनकी देशी माल खरीदने की क्षमता भी कम हो जाएगी। उन्हें नए धन्धे ढूंढने पर विवश होना पड़ेगा। इस प्रकार यदि वैदेशिक व्यापार बन्द हो जाय तो देश का गृह व्यापार (home trade) भी पहले की धारा में नहीं चल सकेगा। उसमें तब्दीली आ जायगी। विभिन्न देशों की निर्भरता एक बराबर है।

जैसे संयुक्त राज्य (U K) और जापान की समृद्धि और जीवन-स्तर पूरी तरह से वैदेशिक व्यापार पर ही आश्रित है। रूस और अमरीका के साथ ऐसा नहीं है। भारत भी लगभग उन्हीं की तरह है क्योंकि उसके अपने प्राकृतिक स्रोत इतने अधिक हैं कि वह अपने पैरों पर खड़ा होने लायक बन जायगा।

५. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आधार (Basis of International Trade)—दो देशों के उत्पादन व्यय में अन्तर ही माल के विनिमय को लाभप्रद बनाता है। यदि हर जगह माल उसी लागत पर बनने लगे तो विनिमय व्यर्थ होगा। किसी वस्तु के उत्पादन की लागत एक देश में दूसरे की अपेक्षा कम आने पर उस देश को अन्य देशों के मुकाबले सहूलियत मिल जाती है कि वह इसका उत्पादन करके दूसरी जगह भी भेजे। यह सहूलियत निम्न तीन प्रकार की हो सकती है—

(i) **लागत में निरपेक्ष अन्तर** (Absolute Differences in Costs) मान लीजिए कि एक देश का किसी वस्तु के उत्पादन पर एकाधिपत्य है। यदि दूसरे

देशों को इस वस्तु की आवश्यकता हो तो इसके उत्पादन करने वाले देश को दूसरे देशों की तुलना में बहुत सुविधा होगी। जैसे भारत का निर्मित (manufactured) जूट पर लगभग एकाधिपत्य है और जिन देशों को भी जूट की आवश्यकता हो उन्हें पाकिस्तान छोड़ द तो भारत से ही खरीदना पड़ता है। ऐसी पूर्णतया निरपेक्ष (absolute) सहूलियत का कारण साधारणतया जलवायु तथा अन्य प्राकृतिक उपहार होते हैं।

(ii) लागत मे समान अन्तर (Equal Differences in Costs)—जब उत्पादक शक्ति की एक इकाई (a unit of productive power) उत्पादन करती है।

देश क में, २० टूयबल या १ मन चीनी

देश ख मे, १० टूयबल या ½ मन चीनी

तो टूयबल और चीनी दोनो के लिए क देश से ख देश को निर्यात होने की प्रवृत्ति होगी। सोना-चादी बराबर ख से क को जायगा। यह हमेशा नहीं चल सकता। ख देश में, २० टूयबल १ मन चीनी से अधिक में विनिमय नहीं हो सकता। ऐसी अवस्था में या तो व्यापार शुरू ही न होगा और या फिर बहुत जल्द बन्द हो जायगा। दोनों देशों में, ½ मन चीनी का विनिमय १० टूयबल से हो सकता है। दोनों मे से किसी को कोई वस्तु बेचने से लाभ न होगा।

(iii) लागत मे तुलनात्मक अन्तर (Comparative Differences in Costs)—यह भी सम्भव है कि एक देश को दूसरे देश से कोई माल मँगाने में लाभ हो यद्यपि वह स्वय उस माल को सस्ता बना सकता है। यह तब होगा जब वह देश यह समझता है कि उसके श्रम और पूंजी के बेहतर उपयोग किसी दूसरे माल के उत्पादन मे हो सकते है जिनके उत्पादन मे वह अपेक्षाकृत अधिक अनुकूल स्थिति में है। इस प्रकार इगलैंड हालैंड से डेरी का सामान मँगाता है यद्यपि वह उससे सस्ता पैदा कर सकता है, क्योंकि उसे इस्पात का माल बनाने मे अधिक लाभ होता है जिसे वह हालैंड को निर्यात करता है।

६ तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त (Theory of Comparative Costs)—यह सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आधार है। यह सिद्धान्त कहता है कि "किसी देश को उस वस्तु के उत्पादन का विशिष्टीकरण करने मे लाभ होगा जिसके उत्पादन मे तुलनात्मक दृष्टि मे वह सबसे अधिक अनुकूल परिस्थिति या सबसे कम प्रतिकूल स्थिति मे है।"[1]

एक उदाहरण लीजिए। हम देखते है कि जब किसी देश क मे उत्पादक शक्ति की एक इकाई, २० टूयबल या १ मन चीनी पैदा करती है और किसी देश ख में, १५ टूयबल या ½ मन चीनी तो देश क देश ख की अपेक्षा टूयबल और चीनी दोनो के उत्पादन मे अधिक अनुकूल परिस्थिति मे है। किन्तु उसे चीनी के उत्पादन में अपेक्षाकृत अधिक लाभ होता है। ख देश दोनो वस्तुओं के उत्पादन मे

1 "It pays countries to specialise in the production of those goods in which they possess the greater comparative advantage or the least comparative disadvantage"

निरपेक्ष हानि (absolute disadvantage) में है किन्तु टूथब्रश के उत्पादन में अपेक्षाकृत कम हानि में है। इसलिए क चीनी में और ख टूथब्रश में विशिष्टीकरण करेगा। यही "तुलनात्मक लागत का नियम" (law of comparative costs) है। जब यह अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर लागू किया जाता है तो इसका मतलब होता है कि एक देश में उन वस्तुओं के उत्पादन का विशिष्टीकरण करने की प्रवृत्ति होगी जिनमें उसे तुलनात्मक दृष्टि से अधिक लाभ है। महत्त्व इसका नहीं है कि किसी वस्तु की लागत क और ख में कितनी है, वरन् दोनों वस्तुओं की लागत का अनुपात दोनों देशों में क्या है। "विनिमय की गई वस्तुओं के उत्पादन की तुलनात्मक लागत में भिन्नता अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के अस्तित्व के लिए आवश्यक और पर्याप्त है"[1]। (केयर्न्स) उपर्युक्त मामले में लागत का अनुपात भिन्न है। यह है १ मन चीनी : २० टूथब्रश (क में) और १ : ३० ख में। यहां दोनों देशों को व्यापार में लाभ होगा।

यह सचमुच अजीब बात है कि कोई देश एक वस्तु दूसरे देश से मँगाता है, जबकि वह स्वयं उस वस्तु का उत्पादन कम लागत पर कर सकता है। उदाहरण के लिए हम जानते हैं कि यद्यपि इंगलैंड डेरी का सामान और मशीनरी दोनों डेनमार्क से सस्ता बना सकता है लेकिन वह डेनमार्क से डेरी की उपज मँगवाता है और मशीनरी निर्यात करता है। यह विरोधाभास क्यों है? इसकी व्याख्या यह है।

एक प्रोफेसर शायद अपने जूतों पर अपने नौकर से ज्यादा अच्छी तरह से पालिश कर सके, और लेक्चर तो वह उससे अच्छा देता ही है। किन्तु उसके समय का अधिक अच्छा उपयोग पुस्तकें पढ़ने-लिखने में है न कि जूते पर पालिश करने में। एक डाक्टर अपने सहकारी से ज्यादा अच्छी तरह से दवाइयां तैयार कर सकता है किन्तु उसके लिए ज्यादा लाभदायक यही है कि वह मरीजों को देखे और दवाई बनाने का काम अपने कम्पाउण्डर पर छोड़ दे। इसी तरह से इंगलैंड पनीर का आयात करता है, क्योंकि उसे मशीनरी बनाकर ज्यादा मुनाफा होता है। तो इसमें ताज्जुब की कोई बात नहीं।

जाहिर है कि हर राष्ट्र अपने स्रोतों का उपयोग उन धाराओं में करेगा जिनमें उसे सबसे अच्छा फल मिले। यही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का वास्तविक आधार है। किन्तु इस सिद्धान्त की आलोचना की गई है। यह दलील की जाती है कि कभी कभी यह सम्भव है कि एक राष्ट्र इस बात को न जानता हो कि उसे किस प्रकार की विशेष सुविधाएँ प्राप्त हैं। इसलिए सम्भव है, वह उन उद्योगों में विशिष्टीकरण न करे जिनमें उसके स्रोत सर्वोत्तम हैं। किन्तु यह केवल अल्पकाल में सम्भव है। कालान्तर में हर राष्ट्र में यह प्रवृत्ति होगी कि वह अपनी सम्पदा को उन कार्यों में ही लगाये जिनमें उसे अधिकतम उपज की आशा है और जिसके द्वारा वह वैदेशिक व्यापार से अधिकतम लाभ प्राप्त कर सकता है।

फिर भी जैसी स्थिति दुनिया में इस समय है, उससे यह देखा जाता है कि

1 "The difference in the comparative cost of producing the commodities exchanged is essential to and sufficient for the existence of international trade." (Cairnes)

अनेक देश आत्म-निर्भरता लाने की चेष्टा कर रहे हैं और उन उद्योगों को उन्नत करने की कोशिश में हैं जिनमें उनको दूसरों की अपेक्षा अधिक अनुकूल परिस्थितियां नहीं हैं। वे यह महसूस करते हैं कि उनको बुनियादी उद्योग (basic industries) बना ही लेने चाहिएं और वे इसके लिए कुछ भी नुकसान उठाने को तैयार हैं। इसलिए संरक्षण की नीति अपनायी जाती है और व्यापार पर दूसरे प्रकार के निर्बन्धन लगाए जाते हैं। ये राष्ट्र युद्ध के डर से अपने मूल उद्योग बढ़ाना चाहते हैं और उस भारत्तिकाल की दुराशा में वे उत्पादन-लागत की उपेक्षा करते हैं।

७. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से वास्तविक लाभ (Material Gain from International Trade)—ऊपर के पैरे में दिए गये उदाहरण में क और ख दशों में श्रम और पूंजी की समान इकाइयों से उत्पादन निम्नलिखित होगा —

क—२० टूथब्रश और १ मन चीनी

ख—१५ „ „ १½ „ „

कुल उत्पादन क और ख में=३५ टूथब्रश और १½ मन चीनी।

किन्तु यदि वे विशिष्टीकरण करें तो क उत्पादक शक्ति की दोनों इकाइयों का उपभोग चीनी के लिए करेगा और ख टूथब्रशों के लिए। तब उत्पादन-शक्ति की दो इकाइयों से उत्पादन होगा —

क का २ मन चीनी और

ख का ३० टूथब्रश

दोनों हालतों की तुलना करने पर हम पाते हैं कि विशिष्टीकरण से कुल उत्पादन ½ मन चीनी का लाभ और ५ टूथब्रशों की हानि होती है। अपने समीकरण (equation) को देखने पर हम पाते हैं ½ मन चीनी क में १० टूथब्रशों के बराबर है और ख में १५ टूथब्रशों के। उपर्युक्त देश में ½ मन चीनी का लाभ है। इस मुनाफे में से यदि उपर्युक्त टूथब्रशों की हानि निकाल दी जाए तो भी ५-१० टूथब्रशों का शुद्ध (net) मुनाफा होता है।

यह लाभ कैसे बांटा जाता है (How this gain is distributed?)—सामान्यतया यह शुद्ध लाभ दोनों देशों में बंट जाता है। उपर्युक्त उदाहरण में दोनों वस्तुओं के विनिमय का दर यह होगा कि १ मन चीनी बराबर होगी २० से ३० टूथब्रशों के बीच में। यह इसलिए निश्चित है कि क १ मन चीनी के लिए किसी भी हालत में २० टूथब्रशों से कम नहीं लेगा और ख उसे ३० टूथब्रशों से ज्यादा नहीं देगा। इन दो सीमाओं के बीच में विनिमय-दर क और ख की सौदा करने की तुलनात्मक शक्ति द्वारा तय होगी। जो देश दूसरे की अपेक्षा माल पाने के लिए ज्यादा इच्छुक है, वही सौदे में कमजोर पड़ेगा। दूसरे शब्दों में, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से प्राप्त होनेवाला लाभ दोनों को परस्पर माँग के अनुसार बँटेगा। अर्थात् प्रत्येक देश में दूसरे के माल की मांग का लोच (elasticity) क्या है, इससे माँग के विनिमय का अनुपात कहीं जाकर १ मन चीनी के लिए २१ से २६ टूथब्रशों के बीच में होगा।

इस प्रकार, लाभ में दोनों देश हिस्सा बँटाते हैं। किन्तु ज्यादा बड़ा हिस्सा

उस देश को जाता है जिसकी आयात के लिए अपनी माँग लोचदार है और जिसके निर्यातों के लिए दूसरों की माँग बेलोच है।

८. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभ (Advantages of International Trade)—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभ अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन पर आश्रित हैं। दुनिया भर में उद्योगों का विश्वव्यापी विशिष्टीकरण है, जिसका फल होता है कुल उत्पादन में वृद्धि और अन्य लाभ जो निम्नलिखित हैं—

(१) दुनिया के उत्पादक स्रोतों का सर्वोत्तम उपयोग होता है। हर देश उस माल के उत्पादन पर पूरी शक्ति लगाता है जिसके लिए वह सबसे अधिक उपयुक्त है। प्रयत्न में किफायत होती है और कीमतें कम हो जाती हैं। इस तरह हर समुदाय अपने स्रोतों से अधिकतम उपज प्राप्त करता है।

(२) हर देश को वह माल भी उपयोग के लिए मिल जाता है जिसका उत्पादन करने में वह स्वयं या तो बिल्कुल असमर्थ है या असाधन जैसे ऊँचे खर्च पर ही समर्थ है। इस प्रकार उपभोक्ताओं को सभी प्रकार की वस्तुएँ प्राप्त हो जाती हैं। इसके कारण अधिक आर्थिक कल्याण और ऊँचा जीवन-स्तर मिलता है।

(३) कीमतों में जबरदस्त (violent) उतार-चढ़ाव कम हो जाते हैं। जैसे-जैसे बाजार का क्षेत्र व्यापार द्वारा बढ़ता है, वैसे-वैसे आर्थिक गड़बड़ी पैदा करनेवाले कारणों का प्रभाव इस समूचे क्षेत्र पर फैल जाता है, (इसलिए कम हो जाता है) और कीमतें अधिक स्थिर हो जाती हैं।

(४) अकाल आदि के समय में सप्लाई की कमी को आयात द्वारा पूरा किया जा सकता है। अतिरिक्त उत्पादन को बरबाद करने की जरूरत नहीं होती, जैसा कि बड़ी मन्दी (great depression) के समय दुनिया के कुछ भागों में किया गया था। इस अतिरिक्त उपज (surplus) को जरूरतमन्द देशों में भेजा जा सकता है। इस प्रकार दुनिया की प्रवृत्ति एक आर्थिक इकाई बनने की ओर होती है। जैसे भारत और यौरप की खाद्यान्न की कमी को अमरीका, कनाडा और आस्ट्रेलिया से अतिरिक्त अन्न मँगाकर पूरा किया गया था।

(५) जो देश आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए होते हैं, किन्तु उनमें स्रोतों की कमी नहीं होती, वे भी अपने उद्योगों का विकास कर लेते हैं। इसका बड़ा अच्छा उदाहरण जापान है। हिन्दुस्तान भी यही तरीके अपना रहा है। एक पिछड़े हुए देश में उद्योगों की प्रारम्भिक अवस्थाओं में उनका संरक्षण करना पड़ता है। किन्तु जब वे एक बार विकसित हो जाते हैं, तब फिर मुक्त व्यापार (Free Trade) से उन्हें अधिक प्रोत्साहन मिलता है।

(६) व्यापार से विभिन्न जातियों में परस्पर सहानुभूति उत्पन्न होती है और उनके बहुत से साँझे हित बन जाते हैं। मनुष्य का सांस्कृतिक विकास होता है और विश्व-शान्ति को प्रोत्साहन मिलता है।

(७) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से ईर्ष्या समाप्त होती है। कोई भी देश चाहे जितना बड़ा हो, आत्मनिर्भर नहीं हो सकता। आत्मनिर्भरता प्राप्त करने के लिए उसे बड़ी-बड़ी लड़ाइयाँ लड़नी पड़ेंगी और स्वतन्त्र प्रदेशों को जीतकर उनमें उपनिवेश स्थापित करने

पड़ेंगे। यह भयानक और कष्टप्रद तरीका है। मुक्त (free) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से राष्ट्रों की जरूरी आवश्यकताएं पूरी हो जाती हैं। उनका लालच और दूसरे देशों को जीतने की इच्छा कम हो जाती है।

९. भारत को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से लाभ (Advantages to India from International Trade)—यद्यपि भारत बड़ा विस्तृत देश है, फिर भी इसके पास बहुत से माल की कमी है, जिसके बिना हमारा जीवन-स्तर बहुत नीचे गिर सकता है। अनेकों प्रकार के सूती और ऊनी कपड़े तथा अन्य सामान ऐसा है जिसे भारत स्वयं नहीं बना सकता और जिसका उसे अन्य देशों से आयात करना पड़ता है।

भारत के पास बहुत सा इस्पात (steel) है, किन्तु वह उसके सूक्ष्म औजार (precision tools) और नाजुक (delicate) मशीनें नहीं बना सकता। अपने कारखाने स्थापित करने के लिए यह चीजें उसे इंगलैंड या अमरीका से मँगानी पड़ती हैं। फिर भी यद्यपि भारत के दो तिहाई व्यक्ति खेती में लगे हुए हैं तो भी फी एकड़ उपज इतनी कम है कि जब तक खाद्यान्न और कच्ची रूई का आयात न किया जाए, हम मे से बहुत से भूखे नंगे रहेंगे, और यह बात तब तक सच रहेगी जब तक कि भारत फी एकड़ अधिक उत्पादन नहीं करता।

दूसरी ओर जूट, चाय, मैंगनीज, तिलहन, खाल और चमड़े आदि अनेक पदार्थ ऐसे हैं जिन्हें भारत बना सकता है और जिनके द्वारा वह विदेशों से किये गये आयात की कीमत चुका सकता है।

आजकल देश में कारखाने संगठित और स्थापित करने के लिए भारत बड़ी संख्या में शिल्पियों (technicians) को आमन्त्रित कर रहा है। सांस्कृतिक सम्पर्क कोई कम बात नहीं है। भारतीय दर्शन ने दुनिया की संस्कृति और विचार में बहुत कुछ योग दिया है।

१०. हानियाँ (Disadvantages)—सिद्धान्त में तो कोई भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के फायदों से इनकार नहीं कर सकता, किन्तु व्यवहार में इसके दूसरे पहलू की ओर भी आँखें बन्द नहीं की जा सकतीं। कुछ देशों को खासकर उनको जो औद्योगिक विकास के निचले स्तर पर हैं, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का बड़ा कटु अनुभव है। इसकी हानियाँ निम्नलिखित हैं—

(१) पिछड़े हुए देशों पर वैदेशिक व्यापार का सबसे बुरा असर यह पड़ता है कि उनकी दस्तकारी और कुटीर उद्योग नष्ट हो जाते हैं। भारत में ऐसे उद्योग काफी उन्नत अवस्था में थे। अंग्रेजी निर्मित वस्तुओं की बाढ़ में वे लगभग बह गये। हाल में जापान ने भारतीय बाजारों को सस्ते माल से भरकर हमारे सूती उद्योग को नष्ट कर देना चाहा और इसकी रक्षा करने के लिए भारत सरकार को संरक्षण की नीति अपनानी पड़ी। औद्योगिक रूप से कमजोर देशों को ऐसे ही भुगतना पड़ता है।

(२) व्यापारियों के बाद साम्राज्य बनानेवाले आते हैं। जब व्यापारी एक बार कदम जमा लेते हैं तब फिर उसका लाभ उठाकर देश को राजनीतिक रूप से गुलाम बनाने की कोशिश की जाती है, जैसे अंग्रेज भारत में व्यापार करने आये थे, फिर रह कर हुकूमत करने लगे।

(३) वैदेशिक सप्लाई पर निर्भर रहने से युद्ध-काल में कठिनाइयां उत्पन्न होती हैं, जब शत्रु की कार्यवाहियों से वे सप्लाईज कट जाती हैं। लड़ाई के दौरान में हिन्दुस्तान को मामूली-मामूली चीजों के लिए, जैसे सुई, औजार और दवाइयों के लिए भी तरसना पड़ गया था।

(४) अत्यधिक विशिष्टीकरण जिसके कारण देश एक या दो उद्योगों पर आश्रित हो जाता है, बुरा है। अंग्रेजी में कहावत है कि अपने सभी अंडे एक ही डलिया में नहीं रखने चाहिएँ, जो ठेस लगने पर सभी टूट जाएँ। यदि कोई विकल्प (substitute) खोज लिया जाए या किसी कारण से एक उद्योग बरबाद हो जाए तो देश का सम्पूर्ण आर्थिक जीवन ही खतरे में पड़ जाएगा।

(५) जो देश कच्चा माल भेजकर बदले में निर्मित माल खरीदते हैं उनका नुकसान रहता है। ऐसे देशों का जीवन-स्तर नीचा रहता है, और घाटे की बात यह है कि यह अन्तर बराबर बना रहता है। ऐसी हालतों में वैदेशिक व्यापार से शान्ति और सद्भावना के स्थान पर असन्तोष और बेचैनी फैलती है। भारत छोड़ने से पहले अंग्रेजों के प्रति भारतीय जनता की भावनाएँ बड़ी कटु थीं।

(६) वैदेशिक व्यापार किसी देश के उन प्राकृतिक स्रोतों को जिनको फिर पूरा नहीं किया जा सकता, जैसे तेल, कोयला आदि, बिल्कुल खत्म भी कर सकता है।

(७) हानिकारक नशीली वस्तुएँ तथा भोगविलास की सामग्री का आयात देश का स्वास्थ्य चौपट कर देता है, जैसे अफीम ने चीन का किया था।

(८) वैदेशिक व्यापार से एक देश की आर्थिक कठिनाइयां दूसरे देशों तक भी पहुँच जाती हैं। एक देश का आर्थिक संकट दूसरे पर प्रभाव डालकर उसकी अर्थ-व्यवस्था भी गड़बड़ में डाल देता है। जैसे १९३२ में अमरीकी बाजारों के गिर जाने से विश्वव्यापी मंदी आ गई थी।

(९) व्यापारिक प्रतिद्वन्द्विता युद्ध और संघर्ष को जन्म देती है। जर्मनी की अपने माल के लिए बाजारों की इच्छा ही पिछले दो महायुद्धों का सबसे महत्त्वपूर्ण कारण थी। अक्सर वाणिज्यिक स्पर्द्धा से ही सम्बन्ध खराब होते हैं। भारत और पाकिस्तान में भी समझौता इसलिए नहीं हो पाता कि उनके व्यापारिक हितों में टक्कर है।

११. भारत को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से हानि (Disadvantages of International Trade to India)—यह तो साफ जाहिर है कि भूतकाल (past) में सरकार की मुक्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार नीति के फलस्वरूप भारत ने अनेक नुकसान उठाए हैं। उसके कुटीर-उद्योग इंगलैंड की स्पर्द्धा में नष्ट हो गए। भारत में अंग्रेजी राज्य की स्थापना यहां अंग्रेजी व्यापारियों के आगमन का परिणाम था। एक शताब्दी से अधिक काल तक भारत को इंगलैंड को कच्चा माल बेचना पड़ता था और बदले में निर्मित (manufactured) माल लेना पड़ता था। यही कारण है कि भारत का जीवन-स्तर आज ब्रिटेन की अपेक्षा बहुत नीचा है। निःसन्देह अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार अत्यन्त उपयोगी हो सकता है, किन्तु जब एक देश दूसरे के अधीन हो और औद्योगिक रूप से पिछड़ा हुआ हो, तब यह बड़ी हानि भी पहुँचा सकता है।

१२. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का नियन्त्रण कैसे होता है अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के

मार्ग में अड़चनें (*How International Trade is Controlled Obstructions in the Way of International Trade*)—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के बड़े-बड़े फायदों के बावजूद विभिन्न राष्ट्रों को एक-न-एक वक्त आयात-निर्यात पर निर्बन्धन लगाकर पूर्ण मुक्त व्यापार के आदर्श से हटना पड़ा है। कुछ विकास-साध्य साधनोंवाले पिछड़े हुए देश भी हैं, जैसे भारत। राजनीतिक कारणों से शताब्दियों तक वे कच्चा माल निर्यात करने पर विवश थे और बदले में निर्मित माल लेते रहे। ऐसे देशों में जीवन-स्तर सदा नीचा ही रहा जिससे राजनीतिक आन्दोलन और असन्तोष सदैव बना रहा। इन कारणों से आज इन देशों को अन्य देशों के साथ व्यापार में निर्बन्धन लगाने पड़ रहे हैं। फिर कुछ अन्य देश हैं, जैसे जर्मनी, जिन्होंने अपने सामने आर्थिक आत्म-निर्भरता का आदर्श रखा। उन्होंने सोचा कि आयात बुरे हैं और निर्यात अच्छे। उनकी समझ में आयात देश को गरीब बनाते हैं और निर्यात अमीर। ऐसे आदर्श भावों के दिमाग में बहुत दिनों से घर किए रहे हैं। इस आत्मनिर्भरता को प्राप्त करने के लिए उन्होंने बहुत से तरीके अपनाए हैं, जो निम्नलिखित हैं—

(क) **निकासी करार** (Clearing Agreements)—दो देशों में वस्तु-विनिमय यानी बार्टर के करार हैं जिनके द्वारा वस्तुओं का विनिमय तो होता है किन्तु पैसा नहीं दिया जाता। जैसे पाकिस्तान कोयला, कपड़ा और सीमेंट के बदले में हिन्दुस्तान को बहुत लाख टन पेटें देगा।

(ख) **कोटा** (Quotas)—कोटा विनियमन (quota regulations) दूसरे देशों से आयात होने वाले परिमाणों को निश्चित (fixed) करते हैं। कभी कभी ये विनियमन (regulations) और भी अधिक कड़े कर दिए जाते हैं और माल का आयात करने से पहले लाइसेन्स लेना पड़ता है जिसकी शर्तें निश्चित कर दी जाती हैं।

(ग) **आयात बोर्ड** (Import Boards) की नियुक्ति कर दी जाती है जो आयातों का नियमन करें और विदेशों की अनुचित स्पर्द्धा से गृह-बाजार को बचाएं।

(घ) **विनिमय नियन्त्रण विभाग** (Exchange Control Departments) स्थापित किए जाते हैं, जो कुछ या सभी देशों से वैदेशिक विनिमय व्यवहार का नियन्त्रण करते हैं।

(ङ) **संरक्षक शुल्क** (Protective Tariff)—उपर्युक्त तरीकों को राष्ट्रीय आत्मनिर्भरता (national self-sufficiency) प्राप्त करने और घरेलू बाजार को घरेलू माल के लिए सुरक्षित रखने के निमित्त अपनाया जाता है।

किन्तु घरेलू उद्योग के संरक्षण का सबसे प्रचलित उपाय है विदेशों से सस्ते आयातों पर भारी कर लगा देना। इसपर हम विस्तारपूर्वक अध्ययन करेंगे।

१३. संरक्षण के पक्ष में युक्तियां (Arguments in favour of Protection)—संरक्षण का उद्देश्य घरेलू उद्योगों को वैदेशिक स्पर्द्धा से बचाना होता है। यह या तो आयात किए माल पर शुल्क लगाकर होता है या फिर घरेलू उत्पादकों को सहायता देकर। आयात-कर से विदेशी माल महंगा बिकता है और इससे *गृह-निर्माताओं (home manufacturers)* को सहायता मिलती है। इस उपाय के निम्न प्रयोजन हैं—

(१) **नये उद्योगों को सहायता देना** (To help infant industries)—एक बच्चे को तब तक संरक्षण देते हैं, जब तक वह बालिग होकर पूरा आदमी न बन जाए, इसके बाद उसे मदद की जरूरत नहीं रहती। संरक्षण-शुल्क नए निर्माताओं को चलना सिखाने के लिए लकड़ी की भाँति हैं।[1] ऊँची कीमतों के रूप में उपभोक्ताओं को जो खर्च झेलना पड़ता है, उसकी अपेक्षा इससे होने वाला लाभ ज्यादा होता है। इसमें एक कमी यही है कि संरक्षण पाने वाला उद्योग उन्नत हो जाने पर भी संरक्षण छोड़कर स्पर्द्धा का मुकाबला करना नहीं चाहता। भारत को १९१४-१८ के युद्ध के बाद कुछ उद्योगों को संरक्षण देना पड़ा।

(२) **द्रव्य को "घर में रखना"** (To keep money at home)—जब हम स्वदेशी चीज खरीदते हैं तो हम क्रय-शक्ति को अपने ही देश में रख रहे हैं। सम्भव है कि सारे विदेशी माल को मुक्त रूप से आने दिया जाए तो उसी बनावट की चीज के लिए हमें अपने देश की चीजों की अपेक्षा कम कीमत देनी पड़े। किन्तु हम अधिक देने में हर्ज नहीं समझते और यह छोटी-सी कुर्बानी खुशी से करने में अभिमान करते हैं।

(३) **स्वर्ण का आयात प्राप्त करने के लिए** (To get an inflow of gold)—जब आप अपना माल दूसरों को भेजते हैं और अपने दरवाजे दूसरों के माल के लिए बन्द कर देते हैं तब आपको स्वर्ण में अदायगी मिलती है। इसी तरह से अमरीका ने दुनिया का अधिक सोना १९१४-१८ की लड़ाई के बाद इकट्ठा कर लिया। आज भी उसके पास दुनिया का ६०% स्वर्ण है। पर यह तभी सम्भव है जब आपके माल की माँग बेलोच हो और दूसरे देश बदले में कुछ न करें या न कर सकें।

(४) **मूल उद्योगों का विकास करने के लिए** (To develop key industries)—मूल उद्योग अन्य औद्योगिक विस्तार की नींव हैं। वे अन्य उद्योगों को मशीनें और सामग्री देते हैं। यदि उन्हें सहायता की आवश्यकता हो तो उन्हें संरक्षण मिलना जरूरी है। रासायनिक (chemicals) और धातु-उद्योग (metallurgical industry) इसी प्रकार के उद्योग हैं। वे राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था का आधार हैं। वे लड़ाई में देश की रक्षा और शान्ति में देश की समृद्धि के लिए आवश्यक हैं। भारत में भारी रासायनिक उद्योगों को संरक्षण देने के लिए यह बहुत बड़ी दलील है।

(५) **आत्मनिर्भरता प्राप्त करना** (To attain self sufficiency)—जब सरकार देश को विदेशी माल से आज़ाद करना चाहती है, तब संरक्षण जरूरी है। कभी-कभी यह प्रतिरक्षा (defence) के लिए जरूरी समझा जाता है। किन्तु पूर्ण आत्मनिर्भरता असम्भव है और आर्थिक आत्मनिर्भरता भी खर्चीली चीज है। इसलिए आत्मनिर्भरता अनिवार्य उद्योगों में ही प्राप्त करने की चेष्टा की जाती है।

(६) **धन्धों को विविध प्रकारों के बनाना** (To secure diversification of occupations)—किसी देश की जनता के लिए जितनी अधिक वृत्तियाँ खुली रहेंगी, उनकी उन्नति के लिए उतना ही अच्छा होगा। किसी देश को एक ही उद्योग पर आश्रित रहना खतरनाक है। एक ही डलिया में सारे अंडे रखना बुद्धिमानी

1. फिस्कल कमीशन रिपोर्ट (इण्डिया) १९२२।

नहीं है। इसलिए कुछ उद्योगों को संरक्षण की कृत्रिम सहायता द्वारा प्रोत्साहन जरूरी है।

(७) विदेशी माल की डम्पिंग रोकना (To stop dumping of foreign goods)—जब कोई अन्य देश हमारे देशी उद्योग को बरबाद करने के लिए अपना माल लागत से भी कम पर बेचता है तो यह डम्पिंग कहलाती है। सारे माल की यह सप्लाई यदि स्थायी हो तो उसका स्वागत भी किया जाए, किन्तु यह तो आम तौर पर स्पर्द्धा खत्म करने के लिए अस्थायी होती है, बाद में बहुत ऊँची कीमतें वसूल करके पहले का नुकसान पूरा कर लेते हैं। इसलिए उद्योग को बचाने के लिए डम्पिंग विरोधी (anti dumping) शुल्क आवश्यक है।

(८) काम पैदा करने के लिए (To Create Employment)—संरक्षण से उद्योगों का विकास होता है और ज्यादा लोगों को नौकरी मिलती है।

१४ संरक्षण के विरुद्ध युक्तियाँ (Arguments against Protection)—जब एक बार संरक्षण दे दिया जाता है तो निहित स्वार्थ (vested interests) बन जाते हैं और संरक्षण को आसानी से वापिस नहीं लिया जा सकता। फिर उससे उल्टी प्रतिक्रिया होती है। कीमतें बढ़ती हैं। उपभोक्ताओं को हानि होती है, निर्माता सुस्त हो जाते हैं। भ्रष्टाचार (corruption) और घूसखोरी बढ़ती है।

१५ विवेकयुक्त संरक्षण (Discriminating Protection)—विवेकपूर्ण संरक्षण का अर्थ यह है कि सभी उद्योगों का संरक्षण नहीं करना चाहिए। उचित निर्वाचन करके केवल उन उद्योगों का संरक्षण करना चाहिए जिनके सम्भाव्य (potential) स्रोत हैं और जो देश की समृद्धि के लिए आवश्यक हैं। रेतीले हिसार में अंगूरों की खेती बड़ी खर्चीली होगी और इसको संरक्षण द्वारा प्रोत्साहन देना बुद्धिमानी न होगी, क्योंकि लागत बहुत पड़ेगी। भारत में इस प्रकार चुनी हुई वस्तुओं पर संरक्षण देने को विवेकयुक्त संरक्षण (discriminating protection) कहा गया है। भारत में कुछ उद्योगों को १९२२ के बाद ऐसा संरक्षण दिया गया था। इन उद्योगों को कुछ शर्तें पूरी करनी पड़ती थीं। तब वे संरक्षण पाने के हकदार होते थे। खासतौर पर तीन शर्तें जरूरी थीं—

(१) उद्योग को प्राकृतिक सुविधाएँ (natural advantages) प्राप्त हों और उसका देशी बाजार काफी बड़ा हो।

(२) यदि उद्योग संरक्षण के बिना पनप न सकता हो।

(३) कालान्तर में यह विश्व-स्पर्द्धा का मुकाबला करने में समर्थ हो सके।

कुछ और भी गौण शर्तें थीं। भारतीय जनमत इन शर्तों का बड़ा विरोधी था। यह ठीक ही कहा जाता था कि किसी उद्योग को संरक्षण देने के लिए कोई कठोर नियम नहीं बनाए जा सकते। किन्तु इस बात से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि यद्यपि यह नीति रुक रुककर चलने वाली (halting) थी, पर इसने कुछ उद्योगों के विकास में और कुछ को बचाने में बड़ी मदद की। इस्पात, रुई, चीनी, कागज़ के उद्योगों का विकास इसी नीति की बदौलत हुआ।

१९४७ के विभाजन के बाद विवेकयुक्त संरक्षण की नीति को त्याग दिया

तथा और विकासकारी संरक्षण (developmental protection) की नीति अपनायी गई। इस नीति को १६४६-५० के फिस्कल कमीशन (Fiscal Commission) ने निर्धारित किया। इसके अनुसार देश में बेकारी कम करना, प्राकृतिक स्रोतों का उपभोग करना, मान स्तर (standard) ऊँचा उठाना, खनी में सुधार और कुटीर तथा बड़े उद्योगों का विकास करना इन सब प्रयोजनों के लिए संरक्षण देना चाहिए। किसी उद्योग के लिए कच्चे माल की कमी को संरक्षण देने के मार्ग में कोई बाधा नहीं समझना चाहिए यदि वह उद्योग काफी महत्त्वपूर्ण हो और उसे देश के आन्तरिक बाजार, श्रम, धन सप्लाई आदि जैसी आर्थिक सुविधाएं प्राप्त हों।

इस प्रकार भारत में संरक्षण की धारणा ही बिल्कुल बदल गई है और एक राष्ट्रीय नीति को अपनाया जा रहा है।

आपने इस अध्याय से क्या सीखा ?

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार क्या है? (What is International Trade?)—विभिन्न राष्ट्रों के नागरिकों के बीच में माल का विनिमय अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार कहलाता है।

इसका रूप (Its Character)—परिवहन के यन्त्रीकरण (mechanisation) ने व्यापार का परिमाण बढ़ाकर व्यापक रूप प्रदान किया है क्योंकि आज देश आत्मनिर्भर नहीं है। वस्तुओं का विनिमय किया जाता है।

इसकी आवश्यकता (Its Need)—सभी देशों को सब चीजें बराबर-बराबर नहीं मिलतीं। वे अपनी कमी की वस्तुएं खरीदते हैं और जो उनके पास आवश्यकता से अधिक हैं उन्हें बेचते हैं। सभी लोग समान रूप से अच्छे शिल्पकार (technician) नहीं होते। इसलिए एक दूसरे से सहायता लेनी पड़ती है।

आन्तरिक और बाह्य व्यापार में अन्तर (Differences between Internal and External Trade)—

(i) विभिन्न देशों के बीच श्रम और पूंजी उतने गतिशील (mobile) नहीं हैं जितने एक देश में। यह कानूनी निषेधों और कठिनाइयों के कारण से है।

(ii) हर देश की करन्सी व्यवस्था भिन्न है।

(iii) हर देश के कानून और सरकारी नीति भिन्न है।

(iv) दूसरे देशों के बारे में ज्ञान इतना नहीं होता जितना अपने देश के बारे में।

(v) परिवहन और बीमे के खर्चे भी फर्क कर देते हैं।

आन्तरिक और बाह्य व्यापार की परस्पर निर्भरता (Interdependence of External and Internal Trade)—वैदेशिक व्यापार पर निर्भर लोग बेकार हो जाते हैं, घरेलू उत्पादन संकट में पड़ता है और आन्तरिक व्यापार कम हो जाता है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आधार (Basis of International Trade)—यदि दो देशों में माल बिल्कुल एक ही लागत पर बनता है तो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार आरम्भ नहीं हो सकता। लागत में अन्तर तीन तरह का हो सकता है—

(i) निरपेक्ष (Absolute)—जब एक वस्तु दूसरी जगह नहीं बन सकती या असाधारण लागत पर ही उत्पादित हो सकती है।

(ii) समान (Equal)—जब कोई देश किन्हीं दो वस्तुओं के उत्पादन में दूसरे देश की अपेक्षा एक सी ही स्थिति में है।

(iii) तुलनात्मक (Comparative)—जब एक देश को दूसरे की अपेक्षा किसी वस्तु के बनाने से तुलनात्मक दृष्टि से अधिक लाभ है और दूसरी वस्तु के बनाने में अपेक्षाकृत कम लाभ।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार (International Trade)—

तुलनात्मक लागतों का नियम (Law of Comparative Costs) कहता है कि राष्ट्र

देश उन वस्तुओं के उत्पादन के विशिष्टीकरण की ओर जाता है जिससे उसे अपेक्षाकृत अधिक लाभ या कम हानि होता है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में वास्तविक लाभ (Material Gain from International Trade)—जब तुलनात्मक लागत में अन्तर होता है तो व्यापार से शुद्ध लाभ है। उत्पत्ति धन के कुल परिमाण में वृद्धि होती है। यह लाभ दोनों देशों में बंट जाता है। प्रत्येक का भाग एक दूसरे के माल के लिए उनकी मांग की तुलनात्मक लोच (relative elasticity) से निश्चय होगा।

तुलनात्मक लागत का नियम यह सिद्धान्त का मापदण्ड है कि एक देश दूसरे देश से वह माल मंगाता है जिसे वह अधिक सस्ता नहीं बना सकता है क्योंकि उस वस्तु को बनाने में उसे अधिक लाभ होता है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से लाभ (Advantages of International Trade)—

(१) विश्व के साधनों का सर्वोत्तम उपयोग होता है।

(२) हर देश के उपभोग वस्तुएं [consumption goods] मिल जाती हैं जिनको वह स्वयं उत्पन्न नहीं कर सकता।

(३) कीमतों में अधिक स्थिरता आ जाती है।

(४) कमी आयात द्वारा पूरी हो सकती है।

(५) आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए या नए देश उपकरण और पूंजी आदि के आयात द्वारा अपना विकास कर सकते हैं।

(६) परस्पर सहानुभूति और सद्भाव उत्पन्न हो जाते हैं।

भारत को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से लाभ (Advantages to India from International Trade)—किसान देश होने हुए भी भारत अपनी सब जरूरत पूरी नहीं कर सकता। यह मशीनरी, रासायनिक आदि चीजें का आयात करता है और उसके साथ मसाले, तिलहन, चमड़ा और लोहा का निर्यात करके उनको अदायगी करता है।

हानियां (Disadvantage)—

(१) गृह उद्योग (Home Industries) पर नाशक प्रभाव होता है और वे स्पर्धा से बरबाद हो जाते हैं।

(२) इससे राष्ट्र व्यापार के साथ राजनीतिक पराधीनता भी आ जाती है।

(३) वैदेशिक माल पर अधिक निर्भरता हानिकारक है।

(४) किसी एक उद्योग में ही विशिष्टीकरण बुरा है।

(५) जो देश कच्चे माल के उत्पादन में विशिष्टीकरण करते हैं वे नुकसान में रहते हैं।

(६) वैदेशिक उद्यम देश के प्राकृतिक स्रोतों का पूरा शोषण भी कर सकते हैं।

(७) हानिकारक विलासिताओं के आयात से लोगों का स्वास्थ्य बिगड़ जाता है।

(८) दूसरे देश की आर्थिक कठिनाइयों से अपना देश भी प्रभावित होता है।

(९) राष्ट्रीय प्रतिद्वन्द्विता पनपती है।

भारत को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से हानियां (Disadvantages of International Trade to India)—भूतकाल में मुक्त व्यापार से कुटीर उद्योग नष्ट हो गए। इस कारण से सदा में भारत को कच्चा माल भेजने और निर्मित माल मंगाने का विवश होना पड़ा।

वैदेशिक व्यापार के मार्ग में बाधाएं (Obstructions in the way of Foreign Trade)—हर देश अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के फायदे चाहता और उसके बुरे प्रभावों से बचना चाहता है। इसलिए उस पर कुछ नियंत्रण लगा दिए जाते हैं। अनेक प्रकार के करार, जैसे निकासी करार (Clearing Agreements) कोटा, आयात लाइसेंस, विनिमय नियन्त्रण तथा संरक्षण शुल्कों द्वारा यह व्यापार पूरा किया जाता है। इनमें संरक्षण सबसे महत्वपूर्ण है।

संरक्षण (Protection)—यह व्यापार की नीति है जिसके अनुसार जो आयात किए गए माल

पर टैक्स लगाकर या अपने माल को सहायता देकर की जाती है । संरक्षण के पक्ष में ये युक्तियाँ दी जाती हैं—

(१) नए उद्योगों को सहायता देना है ।
(२) पैसा देश में ही रहता है ।
(३) रक्षा की सामान प्राप्त करता है
(४) मूल उद्योगों का विकास करना है ।
(५) राष्ट्रीय आत्मनिर्भरता लाता है
(६) धन्धों का विभिन्न करता है
(७) वैज्ञानिक माल का प्रयोग करा सकता है
( ) नौकरी की सुविधा प्राप्त करना है ।

संरक्षण के विरुद्ध युक्तियाँ (Arguments against Protection)—एक बार दे संरक्षण दे दिया जाता है तो निहित स्वार्थ (vested interests) बन जाते हैं और उसे आसानी से हटाया नहीं जा सकता । ... अनिवार्य होता है । ... उपभोक्ताओं को हानि होती है । ... (corruption) भी फैलता है ।

विवेकपूर्ण संरक्षण (Discriminating Protection)—केवल चुने हुए उद्योगों को संरक्षण देना चाहिए ... (Tariff Board) ... जिनका विकास ... मिलना चाहिए

क्या तुम निम्न प्रश्नों के उत्तर दे सकते हो ?

1 What is the necessity of a separate theory of international trade ? Distinguish home trade from foreign trade

(य० पि० बी० कॉ० १९३७)

देखिये विभाग ४

2 Discuss fully the law of comparative costs as applied to foreign trade

(जम्मू काश्मीर १९५५ य० पि० १ ४९ य० पि० बी० कॉम० १ ३९ ढाका १९४१ इलाहाबाद १९४७ नागपुर १९४८ पंजाब १९४२ देहली १९४० मद्रास १९४० पंजाब वि० १९४६)

देखिये विभाग ६

Or

Study the Law of Comparative Costs Can international trade take place outside this law (पंजाब १९५५)

3 Why should a country import from another country an article that she can produce at a lesser cost ?

देखिये विभाग ६

4 How is the gain from international trade shared ? Say also how the exchange rate of commodities is settled

देखिये विभाग ७

5 What are the advantages of foreign trade ? Give Indian illustrations in support of your answer

(ऑ० वि० बी० काम० १९३० य० वि० १९३६ ४० और ५५)

देखिये विभाग , ६

Or

Examine fully the advantages of international trade Give son illustrations (पटना १९५४)

6 Explain the possible bad effects of international trade to a country Has India suffered any ? On what grounds would it be desirable to impose restrictions on the freedom of international trade

(क० वि० १९४२ आगरा १९४४ मद्रास १९३७)

देखिये विभाग ११, १२

7 Do you stand for 'protection or free trade ? Give reasons for your answer

(क० वि० १९४७, आगरा १९४९, इलाहाबाद १९३४ नागपुर १९४१, द० वि० १९४१)

देखिये विभाग १३, १४

8 Explain

1 Dumping 2 Key Industries (Trade Cycles)

[(१) देखिये विभाग १३ (७)। (२) देखिये विभाग १०) (३) व्यापार चक्र (trade cycles) का मतलब है व्यापार में कभी समृद्धि फिर कभी नियमित रूप से मन्दा आना, इसी क्रमानुसार बार बार उसमें आशावादिता (optimism) व कभी निराशा (pessimism) और यह एक के बाद एक चक्र में चले।]

9 Discuss the basis of international trade

(क० वि० १९४३ क० वि० बी० काम० १९४४)

Examine the theory of international value

क० वि० १९४६, आगरा १९३४ देहली १९३१ आगरा १९३४ देहली १९४३

नागपुर १९४० ४५ मद्रास १९३८, पंजाब १९४५)

देखिये विभाग ४, ५

10 Discuss on what grounds it may be considered desirable to impose restrictions on the freedom of international trade

(क० वि० १९४० क० वि० बी० काम० १९३२, ढाका १९४४, ४३, मद्रास १९३७)

देखिये विभाग १०

11 One of the advantages claimed for a system of protecting duties is that it keeps more money in circulation at home Discuss

(क० वि० बी० काम० १९३३)

देखिये विभाग १३, १४

12 Describe briefly what India gains from froeign trade, and what are the possible losses which she suffered from it in the past

देखिये विभाग ६, ११

13 In what respects does trade between Bombay and Delhi differ from that between Bombay and London (प० वि० १९३८)

देखिये विभाग ४

14 Distinguish between (a) Balance of Trade and Balance of Account (पंजाब वि० १९४१)

(b) Protective Tariff and Revenue Tariff (यू० पी० १९४१, ४४

[(a) व्यापार शेष (balance of trade) में केवल आयात और निर्यात किया गया माल शामिल किया जाता है, जब कि लेखा शेष (balance of account) में शिपिंग, बीमा, बैंकिंग आदि की सेवाएं भी ली जाती हैं।

(b) संरक्षण चुंगी (protective tariff) से हमारा मतलब है वे सामान शुल्क जो गृह उद्योग को संरक्षण देने के लिए लगाये जाते हैं। राजस्व चुंगी (revenue tariff) के मामले में, शुल्क केवल राजस्व के लिए लगाया जाता है।]

15 What are the chief advantages of unrestricted foreign trade ? (पंजाब वि० १९३)

देखिये विभाग ५

वैदेशिक विनिमय

(FOREIGN EXCHANGE)

एक चलन मुद्रा को दूसरे में बदलना

"Changing one Currency into Another"

१. वैदेशिक विनिमय क्या है ? (What is Foreign Exchange ?)—अपने शहर में आमतौर पर हम अपनी खरीदारी सिक्का या नोटों से करते है। कभी-कभी यदि सौदा बड़ा है तो हम किसी स्थानीय बैंक का चैक देकर अदायगी करते है। यदि हमें बम्बई जैसे किसी दूर स्थान को रुपया भेजना पड़े तो हम या तो डाकखाने के द्वारा मनीआर्डर से भेजते है या बैंक ड्राफ्ट भेजते हैं। किन्तु यदि हमें मान लीजिए न्यूयार्क रुपया भेजना है तो समस्या जरा टेढी हो जाती है। अमरीकन तो हमारी अदायगी रुपये आने में नही लेंगे, और हमारे पास डालर सेंट देने को नही है। तब हमें अपने बैंकर को रुपयों को डालर मे बदलने के लिए कहना पड़ेगा और उन डालरो को हम न्यूयार्क भेजेंगे। यह रुपयो का डालर में या किसी और करेन्सी में परिवर्तन या उसका उल्टा वैदेशिक विनिमय (foreign exchange) कहलाता है। विदेशो से व्यापार इस समस्या को जन्म देता है। यदि कोई अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार न होता तो वैदेशिक विनिमय की कोई जरूरत न थी।

२. हम विदेशो मे अपनी खरीदारी के लिए अदायगी कैसे कर सकते हैं ? (How can we pay for purchases in Foreign Countries ?)—मान लीजिए कि भारत में मोटरकारो के आयातक ने अमरीकी निर्यातक को उनकी कीमत देनी है। दूसरे शब्दो मे अमरीकन का कुछ भारतीय द्रव्य पर दावा (claim) है तो अदायगी निम्नलिखित किसी तरीके से हो सकती है—

(क) विनिमय-पत्र द्वारा (Through a Bill of Exchange)—जो दृष्टि-पत्र (sight bill) हो या अवधि-पत्र (time bill)। यदि दृष्टि-पत्र हो तो माँग पर अदायगी होनी चाहिए और यदि अवधि पत्र हो तो अदायगी से पहले एक निश्चित अवधि की अनुमति दी जाती है। जब कोई विदेशी कर्जदार एक अवधि-पत्र स्वीकार कर लेता है तो वह उसे दतदार के पास वापस भेज देता है जो अपने देश मे बट्टे पर बेचकर पैसा पा जाता है। इस तरह बिल से कर्जा निबट जाता है।

(ख) बैंकर्स ड्राफ्ट द्वारा (Through a Bank Draft)—बैंक ड्राफ्ट एक स्थान से दूसरे स्थान को, न सिर्फ देश के भीतर वरन् देश के बाहर भी, रुपया भेजने

मे मदद करता है। उदाहरण के, लिए एक दिल्ली का बुकसेलर एक बैंक ड्राफ्ट खरीदता है और उसे इगलैंड भेज देता है। यह बैंक की इंगलैंड की शाखा या एजंट को दे दिया जाता है और पाउंड मे उसका नकद मिल जाता है और किताबें भारत भेज दी जाती हैं।

(ग) केबिल या तार तबादले से (Through Cable or Telegraphic Transfer)—ये तार के मनीआडर की तरह है। यह तरीका शीघ्र अदायगी के लिए प्रयुक्त होता है और इसके लिए अधिक ऊँचा कमीशन दिया जाता है।

ये तीनो—बिल, बंकर्स और केबिल-तबादले—किसी देश के पक्ष मे हो या विपक्ष मे, विनिमय बाजार मे सप्लाई और माँग की शक्ल मे आते हैं। मान लीजिए, सिर्फ दो व्यापारी देश हैं, भारत और अमरीका। तब किसी समय भारत के पक्ष मे उसके अमरीका को निर्यातो के बदले मे बिल और ड्राफ्ट होगे। और भारत के विपक्ष मे वो होगे उन आयातो के बदले में जो उसने किए हैं। यदि भारत के पक्ष मे बिल उसके विरुद्ध बिलो की अपेक्षा अधिक हैं तो रुपयो की सप्लाई की अपेक्षा माँग अधिक होगी। यानी रुपयो का मूल्य डालर के मुकाबले चढ जाएगा और विनिमय दर (rate of exchange) भारत के पक्ष में हो जाएगी। इसके विपरीत परिस्थितियो मे, इसका उल्टा रूप होगा।

किन्तु केवल दो देश नही है। अनेक हैं। हर देश की भिन्न करेन्सी है और विनिमय का कोई एक माध्यम नही है। इसलिए सिर्फ सोना-चाँदी ही सब को स्वीकृत हो सकता है। किंतु वास्तव मे सोना-चाँदी भी तो अन्य माल के ही समान हैं। दीर्घ काल मे सोना-चादी समेत आयात किए गए तमाम माल और सेवाओ का सन्तुलन निर्यात किए गए सोना चाँदी माल और सेवाओ के मुकाबले मे होना जरूरी है। यह सन्तुलन विनिमय-पत्रो (bills of exchange) द्वारा होता है। यही विशेषता अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को गृह-व्यापार से पृथक् करती है। सभी आयातो का—माल और सेवाओ का—निर्यातो से सन्तुलन करना पडता है। इसलिए अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सचमुच वस्तु-विनिमय (barter) का एक रूप कहा गया है। यदि भारत के अमरीका पर दावे उसके हमारे ऊपर दावो से कम है तो विनिमय दर भारत के विरुद्ध जाएगी और रुपये का मूल्य गिर जाएगा। और उल्ट परिस्थिति मे इसका विपरीत भी होगा। किन्तु यदि वे बराबर रहे तो विनिमय दर समान (at par) रहेगी।

विनिमय दर (Rate of Exchange)—जिस दर या अनुपात पर एक करेन्सी की इकाई दूसरी मे बदली जाती है, उसे विनिमय दर कहते हैं। रुपये का अग्रेज़ी द्रव्य मे विनिमय १ शिलिंग ६ पेंस से होता है इसलिए इगलैंड से हमारी विनिमय दर यही है। यह दर आयात अथवा निर्यात की ज्यादती (excess) के प्रभाव मे एक या दूसरे देश के पक्ष में, उतरती चढती रहती है।

३. व्यापार का सन्तुलन (Balance of Trade)—किसी एक देश मे कुल आयातों और निर्यातो की तुलना ही उसका व्यापार सन्तुलन (balance of trade) है। यह सन्तुलन 'अनुकूल' (favourable) कहा जाता है, जब निर्यात किए गए माल का

मूल्य आयात किए गए मूल्य से अधिक होता है। वह प्रतिकूल (unfavourable) या विरुद्ध (adverse) कहा जाता है, जब आयात निर्यात से अधिक मूल्य में होता है। मध्यकालीन युग में यह समझा जाता है था कि अनुकूल सन्तुलन (favourable balance) ही किसी देश को अमीर बनाने का तरीका है क्योंकि इससे बाहर से सोना-चांदी आता है। अब यह विचार त्याग दिया गया है और यह विश्वास किया जाता है कि कालान्तर में आयात और निर्यात, सब प्रकार की सेवाओं को मिलाकर, समान होने चाहिएं और 'निर्यात आयात की अदायगी करते हैं (exports pay for imports)।

यदि फिर भी व्यापार का प्रतिकूल सन्तुलन अधिक समय तक चलता है और परिमाण में बहुत अधिक हो जाता है तो सोना बाहर भेजना पड़ेगा। उस हालत में उसे ठीक करने के लिए कदम उठाने पड़ते। फिर भी यह समझ लेना चाहिए कि व्यापार का प्रतिकूल सन्तुलन अदृष्ट मदों (invisible items) के निर्यात द्वारा ठीक भी हो सकता है, जिन मदों को बहीखातों में नहीं लिखा जाता। इनकी चर्चा नीचे की जाती है।

४. अदायगी का सन्तुलन दृष्ट और अदृष्ट मद (Balance of Payments—Visible and Invisible Items)—व्यापार का सन्तुलन केवल वैदेशिक व्यापार के दिखाई पड़ने वाले (दृष्ट) मदों को ही गिनता है। ये आयात-निर्यात होने वाले वास्तविक माल हैं। चुंगी अधिकारियों द्वारा रखे गए बन्दरगाहों के रजिस्टरों में केवल ये ही दर्ज किए जाते हैं किन्तु बहुत से अन्य मद होते हैं जो इनसे बाहर रहते हैं और जिन्हें अदृष्ट कहा जाता है। वे हैं—

(क) सेवाएँ (Services) —भारत काफी परिमाण में विदेशी बैंकिंग, जहाजी और बीमा सेवाओं का उपयोग करता है। उसके अपने जहाज, बीमा कम्पनियाँ और विनिमय बैंक काफी नहीं हैं इसलिए कुक्स और लायड्स (Cooks and Lloyds) जैसी विदेशी एजेंसियाँ ये काम करती हैं। भारत को ऐसी सब सेवाओं के लिए अदायगी करनी पड़ती है।

(ख) टूरिस्ट के खर्चे (Tourists' Expenses)—जब भारतीय विद्यार्थी और सैलानी (टूरिस्ट) बाहर जाते हैं तो वे यूरोप में जो चीजें खरीदते हैं और सेवाएँ लेते हैं, वे भी आयात के ही समान हैं। फर्क इतना है कि चीजें उपभोक्ता के पास पहुँचने के बजाय उपभोक्ता चीजों के पास पहुँच गया। उनकी अदायगी भी भारत से निर्यात किए गए माल द्वारा करनी पड़ती है।

(ग) उधार ली गई पूंजी पर सूद (Interest on Borrowed Capital)—पूंजी की सेवाओं का भी उधार लेने वाले देश को मूल्य चुकाना पड़ता है। विदेश में किया गया विनियोग (investment) निर्यात मद (export item) है और रहता है, जब तक कि उसे वापस न ले लिया जाए। आखिर में वैदेशिक द्रव्य-बाजारों से उधार लिए गए सभी कर्जों को वापस करना पड़ता है और निर्यातों द्वारा समायोजित करना पड़ता है।

(घ) उपहार, दान और देश में बसे हुए विदेशियों द्वारा घर भेजा गया रुपया आदि अनेक फुटकर मद हैं जो अदृष्ट हैं।

यह सब अदृष्ट मद बिल्कुल वही प्रभाव व्यापार सन्तुलन (balance of trade) पर डालते है जो वस्तुओ का आयात-निर्यात। जब ये बहीखाते (balance of accounts) में जोड दिये जाते है, तब हमारे पास सभी मदो की पूरी सूची (list) हो जाती है जिनके लिए व्यापारी देशो ने अदायगी करनी है। इनका कुल योग अदायगी का सन्तुलन (balance of payments) कहलाता है।

भारत का अग्रेजो के जमाने में व्यापार सन्तुलन (balance of trade) हमेशा अनुकूल था क्योंकि उससे भारत द्वारा लिए गए कर्जो और प्राप्त की गई सेवाओ की कीमत अदा होती थी। इसलिए वास्तविक अदायगी का सन्तुलन (balance of payment) इतना अनुकूल नही था। युद्ध समाप्त होने के बाद और खासतौर पर विभाजन के बाद भारत का अदायगी का सन्तुलन धीरे-धीरे प्रतिकूल होता गया। यह काफी स्टर्लिङ्ग देशो की अपेक्षा डालर देशो के साथ ज्यादा था। सयुक्त राज्य (U. K.) भी इसी स्थिति मे था। इसलिए सितम्बर १९४९ मे सयुक्त राज्य (U. K.) को अपनी करेन्सी का डालर के मुकाबले में ३०.५ प्रतिशत अवमूल्यन (devaluation) करना पडा। भारत ने भी वही किया जब कि पाकिस्तान ने नही किया। अवमूल्यन के फलस्वरूप भारत का अदायगी सन्तुलन धीरे-धीरे सुधरने लगा और जहाँ १९४८-४९ मे २११ करोड रुपये का घाटा (deficit) था, १९५१-५२ मे ११'३ करोड का ही रह गया।

५. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का सन्तुलन होना क्यों जरूरी है? (Why must International Trade Balance ?) —*कभी-कभी व्यापार सन्तुलन के प्रतिकूल होने से कोई हानि नही होती। किन्तु कालान्तर मे अदायगी सन्तुलन (balance of payments) बराबर होना वैसे ही जरूरी है जैसे एक व्यक्ति की आमदनी और खर्च बराबर होने चाहिएँ।* यदि वह अपनी कमाई से ज्यादा खर्च कर रहा है तो उसे उधार लेना पडेगा। और यदि उसकी कमाई ज्यादा हो तो वह कुछ बचाएगा। इस बचत को गाडकर रखेगा, उधार देगा या बैक में जमा करेगा। इस तरह अगर उसकी बचत और उधार भी उसके बजट में शामिल कर लिया जाए तो वह बराबर सतुलित होगा। यही हाल देशों का भी है। एक देश किसी समय अपने अनुकूल शेष जमा कर *ले या अपने प्रतिकूल, लेकिन कुछ समय बाद अगर उसे दिवालिया नहीं बनना है तो* दोनो तरफ की राशि बराबर होनी चाहिए।

यही कारण है कि भारत, सयुक्त राज्य (U. K.) और दूसरे कॉमनवेल्थ (Commonwealth) के देशो को डालर के मुकाबले अपनी करेन्सी का अवमूल्यन *(devaluation) करना पडा। यह देखा गया है कि डालर देशो से उनके व्यापार का* घाटा ज्यादा था।

६. अदायगी सन्तुलन की असमानता को कैसे ठीक किया जाता है? (How a disequilibrium in the Balance of Payments can be Corrected ?)—जब दृष्ट और अदृष्ट *निर्यात सभी आयातों की अपेक्षा काफी समय तक कम रहते है* और अन्तर बहुत ज्यादा होता है तो इस खाई (gap) को पाटने के लिए कुछ कदम उठाने पडते है। इसके कई तरीके है। वे है—

(१) आयातों का लायसेंसों (Licences) या आयात कर द्वारा नियंत्रण कर दिया जाता है जबकि निर्यात को सहायता देकर या तनख्वाहें घटाकर और लागत खर्च में कमी करके प्रोत्साहन करते हैं। यह सभी विभिन्न कदम पिछले कुछ वर्षों में भारत ने अपनाये गए।

(२) मुद्रा संकुचन (Deflation) दूसरा उपाय है। करेन्सी का कुल परिमाण (बैंक साख समेत) कम कर दिया जाता है। इसका नतीजा होता है कीमतों में कमी, जिससे निर्यात को उत्तेजना मिलती है। यह स्वस्थ उपाय नहीं है क्योंकि करेन्सी ■ अचानक कमी आ जाने से व्यापार, उद्योग और कारबार को बड़ा नुकसान पहुँचता है और मन्दी और बेकारी फैलती है।

(३) विनिमय नियन्त्रण (Exchange Control)—माल के निर्यात द्वारा जो विदेशी करेन्सी कमाई जाती है उसे एक कोष (pool) में जमा कर लिया जाता है और देश की आवश्यकताओं के अनुसार आयातकों को प्रदान की जाती है। उन आयातों को निर्यात की वाञ्छनीय सीमाओं के अन्दर रक्खा जाता है। तमाम स्टर्लिंग देशों के लिए युद्ध के दौरान में और उसके बाद एक डालर कोष (Dollar pool) चलाया गया था। तमाम अर्जित डालर उसमें रक्खे जाते थे और हर देश की आवश्यकताओं के अनुसार दिए जाते थे।

(४) अन्तिम बात अवमूल्यन है (Lastly Devaluation)—करेन्सी के अवमूल्यन का मतलब है अन्य विदेशी करेन्सियों की अपेक्षा उसका मूल्य गिरा देना। विदेशियों को अवमूल्यित करेन्सी के लिए कम देना पड़ता है। इसलिए उनको उस देश से आयात करने का अधिक प्रलोभन होता है। इस तरह से उसके आयात घट जाते हैं और निर्यात बढ़ जाते हैं। और अदायगी शेष ठीक हो जाता है। भारत ने, इंगलैंड का अनुसरण करके, सितम्बर १९४९ में अपनी करेन्सी का डालर में अवमूल्यन कर दिया था। उसका व्यापार शेष बड़ा प्रतिकूल था। उसके आयात-निर्यात में बड़ी खाई थी। अवमूल्यन के वक्त से उसका व्यापार शेष ठीक हो गया है।

विनिमय दर (Rate of Exchange)—हर देश की करेन्सी दूसरों से भिन्न होती है, उनमें कोई एक (Common) विनिमय माध्यम नहीं है। यही विशेषता गृह व्यापार से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को भिन्न करती है। जब किसी देश के आयात-निर्यात बराबर होते हैं तो विदेशी करेन्सी की माँग और सप्लाई बराबर होती है और इसी तरह गृह-करेन्सी की माँग और सप्लाई भी बराबर होती है तब विनिमय सामान्य स्तर (at par) पर रहता है। यदि विदेशी करेन्सी की सप्लाई माँग से बढ़ जाती है तो यह सामान्य स्तर से नीचे (Below par) गिर जाती है। और गृह-करेन्सी की मूल्य वृद्धि (appreciation) हो जाती है। दूसरी ओर यदि गृह करेन्सी की सप्लाई ज्यादा हुई तो विदेशी करेन्सी की माँग अधिक तीव्र हो जाएगी। तब विदेशी करेन्सी के मूल्य में वृद्धि होकर वह सामान्य स्तर से ऊपर (above par) हो जाएगी।

(क) विनिमय दर स्वर्णमान के अधीन कैसे निश्चित होता है ?—जब दो व्यापारी देशों में स्वर्णमान दर होता है तो उन दोनों की करेंसियाँ निश्चित दर

पर स्वर्ण से परिवर्तनीय (convertible) होती हैं। ऐसी दो करेन्सियों का विनिमय-अनुपात (exchange rate) टकसाल के सामान्य (par) से बहुत दूर न होगा और स्वर्ण के आयात-निर्यात के दो बिन्दुओं के बीच में चलेगा। विनिमय का टकसाली सामान्य (Mint par of exchange) दोनों करेन्सियों के वास्तविक स्वर्ण अंश का पता लगाकर मालूम किया जाता है।

(ख) कागजी करेंसी के सम्बन्ध में—आज कोई देश भी इतना अमीर नहीं है कि मुक्त स्वर्ण मान रखे—अमरीका तक नहीं। सभी देशों में कागजी करेंसी चल रही है। ऐसी हालत में विनिमय स्थिति जरा कठिन होती है जब दोनों देशों की अपरिवर्तनीय (inconvertible) कागजी करंसी हो या एक की अपरिवर्तनीय कागजी करेंसी हो और दूसरे की स्वर्ण मान पर। तब समस्या और भी जटिल होती है। ऐसी अवस्था में विनिमय दर (exchange rate) दोनों करेंसियों की अपनी अपनी क्रय-शक्ति के अनुपात के द्वारा तय होती है। यह दर निश्चित सामान्य (fixed par) नहीं होता। यह करेंसियों की अपनी क्रय-शक्ति के परिवर्तनों के साथ साथ घटती-बढ़ती है। क्रय-शक्ति के परिवर्तन कीमतों के स्तर (price level) के सूचक अंकों (index numbers) से मापे जाते हैं। यह सिद्धान्त क्रय-शक्ति समानता सिद्धान्त (purchasing power parity theory) कहलाता है।

(ग) कभी-कभी विनिमय दर देशों के बीच में समझौते से किसी सुविधा-बिन्दु (convenient point) पर तय हो जाता है और दोनों देश कृत्रिम उपायों से इस अनुपात (rate) को कायम रखने का करार कर लेते हैं। जैसे भारतीय रुपया १ शि० ६ पेन्स पर १९४७ में स्टर्लिंग के साथ बाँध (pegged) दिया गया था और यह अनुपात रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया ने कृत्रिम उपायों से बना रखा है।

आपने इस अध्याय से क्या सीखा ?

वैदेशिक विनिमय क्या है ? (What is Foreign Exchange ?)—जब कोई व्यक्ति किसी विदेश द्वारा उत्पादित वस्तु खरीदता है तो उसे अदायगी उस विदेशी करेन्सी में करनी पड़ेगी जो उसकी अपनी करेन्सी से भिन्न है, करनी पड़ेगी। करेन्सी का यह परिवर्तन वैदेशिक विनिमय कहलाता है।

वैदेशिक क्रय के लिए अदायगी कैसे की जाय ? (How to pay for Foreign Purchases ?)—अदायगी विनिमय पत्र द्वारा—(जो हुंडि पत्र हो या क्रय-देय-पत्र या बैंकर के ड्राफ्टों या बैंकिंग ट्रान्सफरों (जिनको टी० टी० कहते हैं) द्वारा की जा सकती है। दस्तावेज जो एक देश के व्यापारियों के पक्ष या विपक्ष में लिखे जा सकते हैं, वैदेशिक विनिमय बाजार में माँग और पूर्ति गिने जाते हैं।

व्यापार शेष (Balance of Trade) आयात और निर्यात के कुल मूल्य की तुलना है। यह 'अनुकूल' (favourable) कहा जाता है जब निर्यात अधिक होते हैं और 'प्रतिकूल' या (unfavourable) जब आयात अधिक होते हैं।

अदायगी शेष (Balance of Payments) कुछ अन्य मद भी हैं जैसे बैंक सेवाएँ, सैलानियों (टूरिस्ट) के दूसरे देश में खर्चे, और उधार ली गई पूँजी पर ब्याज जो अदृष्ट मद (invisible items) कहलाते हैं। इनकी भी अदायगी करनी पड़ती है। जब इन्हें व्यापार शेष के दृष्ट मदों (visible items) में जोड़ दिया जाता है, तो अदायगी का शेष मिल जाता है।

वैदेशिक व्यापार के सन्तुलन की क्या आवश्यकता है ? (Why should Foreign Trade Balance ?)—अदायगी शेष का एक लम्बी अवधि में कैसे भी सन्तुलन होना चाहिए जैसे

एक व्यक्ति को आय व्यय का। परन्तु अगर शेष काफी सालों तक प्रतिकूल रहे तो उस देश की प्रतिष्ठा गिर जाती है और वह दिवालिया हो जाता है।

व्यापार का असन्तुलन कैसे ठीक किया जाय? (How can Dis-equilibrium in Trade be Corrected?)—

(i) आयातों का नियन्त्रण और निर्यातों को उत्साहित करके।

(ii) मुद्रा संकुचन (deflation) या और किसी उपाय से कीमतें और मजदूरी कम करके।

(iii) विनिमय का नियन्त्रण करके।

(iv) अवमूल्यन (devaluation) से।

विनिमय अनुपात कैसे निश्चित होता है? (How the Exchange Ratio Settles?)

(क) स्वर्ण मान के अन्तर्गत—यदि दोनों देशों में सोने के सिक्के हैं तब तो विनिमय दर सिक्कों में शुद्ध धातु के अनुपात पर निर्भर होगा। यह विनिमय की टकसाली सामान्य (mint par of exchange) कहलाता है। यदि किसी समय वास्तविक दर टकसाली सामान्य से भिन्न हो और धातु को पैक (pack) करने और उसको परिवहन करने के खर्चे से ज्यादा फर्क हो तो सोना एक देश से दूसरे में चला जायगा। पैकिंग (packing) और परिवहन (transport) का व्यय टकसाली सामान्य में जोड़ और घटाकर हमें स्वर्ण बिंदु (gold point) और 'धातु बिंदु' (specie point) या स्वर्ण आयात और निर्यात बिंदु (gold import and export points) मिलते हैं।

(ख) कागजी करेन्सी में—इस अवस्था में दोनों करेन्सियों की सापेक्ष क्रय शक्ति (relative purchasing power) से विनिमय दर निश्चित होगा। यदि किसी देश की करेन्सी का एक रुपया इतना माल खरीद सकती है जितना दूसरे का चार रुपया तो विनिमय दर १ : ४ होगा। इसे "क्रय शक्ति समानता" (purchasing power parity) कहते हैं। यदि किसी समय में वास्तविक दर इससे भिन्न होती है तो व्यापार का तुला का एक पलड़ा भारी हो जाता है। यह इसलिये कि एक देश में खरीद कर दूसरे में बेचना लाभदायक हो जायगा।

(ग) परस्पर करार (agreement) से।

क्या आप निम्न प्रश्नों के उत्तर दे सकते हैं

1. "International trade is a kind of barter." Discuss

(पंजाब वि० १९४०, १९४२)

Or

"Imports and exports tend to be equal." Discuss

(कृ० वि० १९४०, कृ० वि० बी० कॉ० १९४६, ढाका १९४२, मद्रास १९४६, आगरा १९३६, देहली १९३९)

देखिये विभाग २. ३

2. What do you understand by 'foreign exchange'?

[वैदेशिक विनिमय का अर्थ हो सकता है:

(क) वैदेशिक द्रव्य पर दावा (claim), या

(ख) पत्र-बाजार जहां विनिमय पत्र (bills of exchange) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में क्रय-विक्रय किए जाते हैं, या

(ग) विभिन्न देशों में विनिमय दर।]

देखिए विभाग१

3 Why must the 'balance of payment' balance ? Distinguish it from balance of trade

देखिये विभाग ३, ४ और ५

4 Distinguish clearly between—

(i) Equation of Exchange and Par of Exchange

(पंजाब वि०, १९४०)

(ii) Balance of trade and balance of accounts.

(पंजाब वि०, १९४६)

(iii) Invisible and visible items of exchange

[विनिमय का समीकरण (equation of exchange) से मतलब है द्रव्य का मात्रा सिद्धान्त में फार्मूला—

$$\text{क} = \frac{\text{द म} + \text{द म}}{\text{म}}$$

देखिये विभाग २

सामान्य (Par) का अर्थ है विनिमय [illegible] टकसाली सामान्य (mint par of exchange) ।]

(ii) और (iii) देखिये विभाग ३, ४

5 Write notes on—

(i) Gold or Specie Points

(ii) Purchasing power parity

देखिये विभाग ७ ।

6 A student in London writes to his father in Delhi to send him £ 100 Mention the ways in which this can be done

[बैंकर्स ड्राफ्ट, तार (केबिल) तबादला स्वर्ण बुलियन ।]

7 In what sense is it true to say that imports in the long run pay for exports ? Our imports are paid for in the long run by our exports " Discuss Imports and exports tend to be equal "
(क० वि० १९३६ १९४६, क० वि० बी० का० १९४६, पटना १९४२, मद्रास १९४६, आगरा १९३६, देहली १९४६)

देखिये विभाग ३, ४ और ५

8 What is meant by mint par of exchange ?

(पंजाब वि० १९३२, १९३६)

What are the limits within which the rate of foreign exchange can normally fluctuate under gold standard ?

(क० वि० १९३६, १९४२ , क० वि० बी० कॉ० १९४४)

देखिये विभाग ७

9 What do you mean by specie point ? Explain how they are arrived at.

(क० वि० १९३८ , आगरा १९४० , देहली १९३८)

देखिये विभाग ७

आय का वितरण
(DISTRIBUTION OF INCOME)
'रोटी का बटवारा'
(Sharing the Loaf)

१ वितरण क्या है ? (What is Distribution ?) —युगों पहले—आप अपनी कल्पना कुछ हजार वर्ष पहले ले जाइए और सोचिए कि मनुष्य जगलो या गुफाओं मे रहता है। उसकी आवश्यकताएँ थोडी हैं और वह उन्हे एकमात्र अपने प्रयत्नो से सन्तुष्ट करता है। शिकार करके, पति-पत्नी और बच्चे बाँटकर खा लेते है। कोई दूसरे दावेदार नही है। वितरण कोई समस्या नही है। निस्सन्देह आज भी दुनिया म कुछ लोग है जिनके सामने वितरण की कोई समस्या नही है। किन्तु वे जगली है और बहुत सख्या मे नही है—आस्ट्रेलिया या अफ्रीका के जगलो म कुछ होगे।

आज—सभ्य मानव क हालात कुछ और हैं। उत्पादन की सादगी खत्म हो गई है। नजदीक के किसी कारखाने मे जाइए। आपकी समझ मे बात आ जाएगी। मशीने और मकान भिन्न-भिन्न लोगो के है। श्रम कोई और लोग करते है। और इस सब का सगठनकर्त्ता, जिसने स्थान चुना है और कारखाना खडा किया है, कोई और ही है। उत्पादन का पैमाना भी बदल गया है। लोग अपने लिए नही, दूसरो के लिए उत्पादन करते है। उत्पादन के विभिन्न साधन—भूमि, श्रम, पूंजी और सगठन—एक व्यक्ति के नही होते। इसीलिए वितरण की समस्या इतनी जटिल है। पिछली दो शताब्दियो मे ही यह फर्क हुआ है। इसलिए औद्योगिक क्रान्ति से पहले एडम स्मिथ (Adam Smith) ने वितरण को जरा भी महत्त्व नही दिया जबकि उसके बाद लिखने वाले जान स्टुअर्ट मिल (John Stuart Mill) ने उसको काफी महत्त्व दिया है।

२ वितरण की समस्या इतनी रोचक क्यो है ? (Why is the problem of Distribution so Interesting ?)—हम मे से हर एक किसी सेवा, उपयोगिता या माल का उत्पादक है। हर व्यक्ति कुछ पुरस्कार की आशा करता है और अधिक पुरस्कार चाहता है। वह सोचता है कि उसे ज्यादा तभी मिल सकता है जब उसके पडोसी के पास कम हो। किसी तरह से उसे यह विश्वास हो गया है कि एक रोटी है जिसका आकार सीमित और निश्चित है और किसी को एक अतिरिक्त टुकडा और किसी को कम देकर ही मिल सकता है। एक तरह से तो वह ठीक है। यदि काम बिना किए हमारे लिए सब तरह का माल काफी मात्रा मे बना लेना सम्भव होता तो

आर्थिक व्यवस्था बड़े मजे में चलती (बल्कि होती ही नहीं) हर आदमी आजाद होता। वह जो चाहता पा लेता। कोई झगड़े, कोई फिसाद कभी न होते। सचमुच रामराज्य हो जाता। दुर्भाग्यवश ऐसा स्वर्ग निकट नहीं है। अपने दिमाग से ऐसी कोरी कल्पनाएँ और स्वप्न निकाल दीजिए। वास्तविक जगत् में उत्पादक स्रोत (Productive resources) दुर्लभ और कम (scarce) हैं जबकि इच्छाएँ और जनसंख्या बढ़ रही हैं। मानवीय और भौतिक दोनों प्रकार के साधनों के संयुक्त प्रयास से ही हम उन आवश्यकताओं की अंशतः पूर्ति कर सकते हैं। ये प्रयत्न माल के एक कोष (Pool) का निर्माण करते हैं जिसे राष्ट्रीय आय (National Dividend) कहते हैं। इसी कोष से हर हिस्सेदार को अपना अपना भाग (share) मिलता है। जमींदार को किराया या लगान, मजदूर को मजदूरी या वेतन, पूँजीपति को ब्याज और संगठन-कर्त्ता को मुनाफा। कोष में आने वाली कुल शुद्ध उपज (total net produce) द्रव्य के लिए बेच देते हैं। तब हम यह देखते हैं कि उद्यमी, उत्पादित धन को बेचकर जो द्रव्य पाता है, उसमें अपना-अपना हिस्सा माँगने वाले सैंकड़ों भागीदार उसको घेर लेते हैं।

हमारे सामने इस जगह तीन प्रश्न होते हैं—

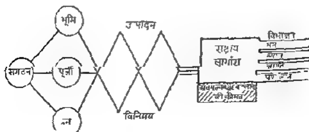
(१) वह क्या है जिसका वितरण करना है ?

(२) किसमें करना है ?

(३) प्रत्येक का भाग कैसे नियत होगा ?

२ राष्ट्रीय आय या जिसका वितरण होना है (*National Dividend or What is to be Distributed*)—राष्ट्रीय लाभांश का अर्थ ही यह होता है कि किसी वस्तु का बँटवारा करना है, कि कोई वस्तु उत्पादन के चारों साधनों के इकट्ठे (combined) प्रयत्नों का फल है, उनके द्वारा उत्पादित कुल धन है। किन्तु देश की उत्पादन-क्षमता को बनाए रखना भी आवश्यक है। वरना कुछ दिनों बाद देश *दिवालिया हो जाएगा*। इसलिए कोई धन वितरित करने से पहले, मशीनों, मकानों और कच्चे माल में उत्पादन से आई कमी को फिर पूरा करना पड़ेगा।

वितरण की प्रक्रिया नीचे दिए गए रेखाचित्र[1] से साफ समझ में आ जाती है—



1 Stephenson और Branton से लिया गया है।

राष्ट्रीय लाभांश या आय का आकार किसी भी देश के लिए महत्वपूर्ण है क्योंकि जनता का कल्याण और समृद्धि इसके मूल्य पर ही आश्रित है। डा० मार्शल के अनुसार, "किसी देश का श्रम और पूँजी, उसके प्राकृतिक स्रोतों पर कार्य करके, हर वर्ष भौतिक और अभौतिक वस्तुओं का एक शुद्ध योग उत्पादित करते हैं, जिसमें सब प्रकार की सेवाएँ भी सम्मिलित हैं—यह देश की सच्ची, शुद्ध वार्षिक आय है, या राष्ट्रीय लाभांश है।"[1]

लोगों का इससे दो तरह से सम्बन्ध है—उत्पादक की हैसीयत से और उपभोक्ता के नाते। यह उनके प्रयत्नों का फल है और उनकी आय का स्रोत भी है। इस प्रकार यह "सभी उत्पादन के साधनों की कुल शुद्ध उपज और अदायगी का एकमात्र स्रोत भी है।"[2] (मार्शल)

यह ध्यान रखना चाहिए कि (i) जिसका वितरण करना है वह शुद्ध उपज है। प्रत्येक अच्छी कम्पनी एक ह्रासनिधि (depreciation fund) बनाती है जिसमें हर वर्ष एक रकम जोड़ती रहती है जो समय पाकर इतनी बड़ी हो जाती है कि उसके द्वारा मशीनरी और मकानों को, जब वे नष्ट हो जाते हैं, पुनः स्थापित किया जा सकता है। एक मकान के लिए जिसकी कीमत ३०,००० रुपये है, और जिसकी उम्र उम्मीद की जाती है ६० वर्ष होगी, ५००) हर वर्ष अलग रख दिया जाएगा।

(ii) देश के राष्ट्रीय लाभांश में भौतिक माल और आय के लिए की गई व्यक्तिगत सेवाएँ दोनों सम्मिलित हैं।

(iii) धन का उत्पादन और वितरण लगातार हो रहा है। यह एक वर्ष इकट्ठी बनाकर फिर वितरित नहीं की जाती। यह तो एक बहाव है—माल और सेवाओं की एक नदी जो सदा प्रभावित रहती है। यह सच्चाई श्रमिक वर्ग की हालत से समझ में आ जाती है जो हमेशा पैसे के मुहताज रहते हैं और महीना भर भी अपने वेतन (मजदूरी) के लिए मुश्किल से ही इन्तजार कर पाते हैं।

४. राष्ट्रीय लाभांश किन में वितरित करना है? (Among whom is the National dividend to be Distributed?)—स्पष्ट है कि उन लोगों में जिन्होंने उत्पादन के कार्य में भाग लिया है, वे ही हिस्सा लेने के अधिकारी हैं। किन्तु यह एक व्यक्तिगत (Personal) नहीं वरन् कार्यगत (functional) पुरस्कार है। यानी, हर साधन को आय मिलती है, कार्य (function) के लिये। एक व्यक्ति अपनी आय एक ही समय में दो या अधिक हैसियतों से ले सकता है, जैसे श्रमिक और पूँजीपति की या और जमींदार की हैसियत से भी यदि वह एक से अधिक उत्पादन के साधन देता है। उपज का वितरण संगठनकर्ता के द्वारा होता है। वही अन्य तीन साधनों को जुटाता है, काम पर रखता है और उनका पुरस्कार उचित आधार पर देता है।

---

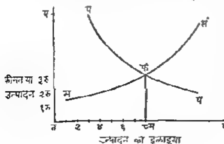
1 According to Dr Marshall 'the labour and capital of a country acting on its natural resources, produce annually a certain net aggregate of commodities, material and immaterial including services of all kinds—this is the true net annual income revenue of the country, or the national dividend '

2 It is thus 'the aggregate net produce of and the sole source of payment for all agents of production '—(Marshall)

व्यक्तिगत वितरण तो गणना या आंकडो (statistics) की बात है। इस पुस्तक के दूसरे भाग मे हम भारत मे आय के व्यक्तिगत वितरण का विस्तारपूर्वक अध्ययन करेंगे। यहाँ हम केवल आर्थिक नियमो की चर्चा करेंगे जो उत्पादन के चार साधनों को दिए जाने वाले पुरस्कारो का नियन्त्रण करते है।

५. प्रत्येक साधन का हिस्सा कैसे निश्चित होता है? (How is the Share of each Factor decided?)—हम अब इस प्रश्न पर विचार करने के योग्य है। भूमि, श्रम, पूंजी, और संगठन की सेवाओ का क्रमश: मूल्य कैसे निर्धारित करें? मूल्य की समस्या फिर हमारे सामने आती है। हम पहले ही बता चुके है कि माल का मूल्य कैसे नियत होता है। हम अब यह देखेंगे कि उत्पादन के साधनों द्वारा किये हुए काम का मूल्य कैसे निर्धारित होता है। हम देखें कि मूल्य का सिद्धान्त हमारी यहा क्या सहायता करता है।

माँग का पक्ष (Side of Demand)—सीमान्त उत्पादकता (marginal Productivity) आप जानते है कि किसी वस्तु की कीमत, एक तरफ उसकी सीमान्त उपयोगिता के बराबर होती है। उसी तरह हर साधन का मूल्य भी उसकी सीमान्त उत्पादकता के बराबर है। किसी साधन की सीमान्त उत्पादकता (marginal productivity) का अर्थ है कुल उपज मे वह जोड जो उस साधन की एक अतिरिक्त इकाई के उपयोग से मिलता है। सीमान्त उत्पादकता ऐसे भी पता लगाई जा सकती है कि आखिरी इकाई को छोडकर जो उत्पादन होता है उसे कुल उत्पादन मे से घटा दे तो उत्पादन मे आखिरी इकाई के न होने से जो "कमी" होगी वही उस अतिरिक्त इकाई के कारण उत्पादन मे बढा हुआ जोड होगा। यह "जोड" या "कमी" उस साधन का क्या परिमाण उस समय उपयोग मे है इस पर निर्भर है और उसके साथ बदलेगी। यहाँ अच्छा हो कि हम घटती हुई उपज के सिद्धान्त को याद कर लें। यह नियम कहता है कि जैसे-जैसे किसी एक साधन की ज्यादा इकाइयाँ उत्पादन मे लगेंगी, यदि अन्य साधन उतने ही रहे, तो उत्पादन कुछ समय तक तो समानुपात (proportion) से बढेगा किन्तु बहुत जल्दी ही गिरने लगेगा और गिरता चला जायगा। हर साधन की उत्पादकता घटती चली जाती है यदि उसकी अधिक इकाइयाँ प्रयुक्त की जाएँ और साथ-साथ अन्य साधनों में वृद्धि न की जाय। ठीक उस बिन्दु पर जहाँ उत्पादन मे उस इकाई द्वारा किया गया "योग" उस इकाई की लागत के बराबर है, निर्माता रुक जायगा। यही सीमान्त (margin) है।



इसे हम रेखाचित्र द्वारा समझ सकते हैं।

प प' एक साधन की उत्पादकता दिखाता है और म म' उसकी सप्लाई कीमत। क म आठवीं इकाई की सीमान्त उत्पादकता है और यह कीमत के बराबर आती है। इस बिन्दु म पर सीमान्त इकाई वह है जिसने सिर्फ अपनी लागत के बराबर उपज दी है। यही वह बिन्दु है जहाँ उत्पादक समझता है कि बस इस अन्तिम इकाई का नियोजन किया जा सकता है, इससे आगे नहीं।

उदाहरण के लिए, मान लो कि एक टेलरिंग फर्म का मालिक यह पाता है कि वह एक कारीगर और रखकर ३) रोज़ अपना उत्पादन बढ़ा सकता है तो ३) कारीगर की सीमान्त उत्पादकता है। नियोजक (employer) उसे इससे ज्यादा नहीं देगा। और क्योंकि वह भी अन्य काम करने वालों के बिल्कुल बराबर है न उनसे ज्यादा न कम, और क्योंकि वे सब एक दूसरे की जगह काम कर सकते हैं इसलिए उन सब को ३) रोज ही तनख्वाह मिलेगी। यदि किसी समय भी वेतन की दर गिरती है तो टेलर मास्टर और आदमी नौकर रख लेगा, जो पहले फायदेमन्द न थे। इसी तरह यदि मजदूरी ऊपर जाय तो वह अपना स्टाफ कम कर देगा।

प्रतिस्थापना का सिद्धान्त (Principle of Substitution)—हमने यह देखा कि यहाँ प्रतिस्थापन का सिद्धान्त पूरी तरह लागू है। हर नियोजक हमेशा तौलता रहता है कि हर साधन की इकाई की उसकी लागत की अपेक्षा क्या योग्यता है। वह अपने स्रोतों का वितरण इस तरह से करता है कि उसे उनसे अधिकतम उपज मिले। वह यह जानने के लिए लालायित रहता है कि द्रव्य की एक इकाई सबसे ज्यादा उत्पादक (productive) किस प्रकार हो सकती है। क्या यह सबसे अच्छी तरह उपयुक्त होगी। यदि एक मशीन और खरीद ली जाय, या एक वर्किंग मजदूर और रख लिए जाएँ या कारखाने में एक जमीन का टुकड़ा और जोड़ दिया जाय? वह अपना अधिकतम उपज का आदर्श तभी प्राप्त कर सकता है जब वह उन सबसे होने वाली अपनी सीमान्त उपजों को बराबर कर ले। इस तरह सम-सीमान्त उपयोगिता या प्रतिस्थापन का नियम न सिर्फ उपयोग और उत्पादन में लागू होता है, वरन् वितरण में भी लागू होता है।

६. सप्लाई का रुख (Side of Supply)—हमने देखा है कि बाज़ार में कीमत माँग और सप्लाई की शक्तियों की अन्त क्रिया से नियत होती है। वितरण में सीमान्त उत्पादकता उपयोग में सीमान्त उपयोगिता के ही अनुरूप (parallel) है। जब एक साधन की सप्लाई पता है तो यह उसके विभिन्न उपयोगों में बँट जाएगा और विभिन्न उद्यमियों में भी ऐसे वितरित होगा कि उसकी उत्पादकता सीमान्त (margin) पर हर जगह वही हो। जितनी ज्यादा सप्लाई होगी, सीमान्त की इकाई की उत्पादकता उतनी ही कम और इसके विपरीत सप्लाई कम होने पर। इससे यह बात समझ में आ जाती है कि जब किसी साधन की सप्लाई बड़ी होती है तो उसकी उपज क्यों कम रहती है।

अब हमें यह देखना है कि उत्पादन-लागत की तरह की कोई चीज़ वितरण में भी है। यह समस्या जटिल है। हम एक-एक साधन बारी-बारी से लें। भूमि

प्रकृति का एक उपहार है। हम इसकी लागत के बारे मे इस तरह नही कह सकते जैसे मान लीजिए मेज के बारे में कहते है। श्रम के बारे में कहना और भी कठिन है। एक मजदूर के उत्पादन की लागत क्या हो? इसका हिसाब लगाने की कोशिश करना भी बेकार है। यही हाल संगठन का भी है। ज्यादा-से-ज्यादा आप एक संगठन-कर्त्ता के प्रशिक्षण (training) का खर्च जोड लेंगे। किन्तु ईश्वर प्रदत्त योग्यताओ और उपहारो की उस अर्थ में कोई लागत नही है। इसी तरह हम पूंजी की बचत करने (saving) और रुपया लगाने की वास्तविक लागत (cost) को नहीं माप सकते।

इसलिए, मूल्यन (valuation) के सम्बन्ध मे, यह तो सच है कि उत्पादन के साधनो और साधारण माल की स्थिति में सचमुच अन्तर है। जबकि हम माल के उत्पादन की लागत का पता लगा सकते है, उत्पादन के साधनो का मूल्यांकन करना हमारे लिए सम्भव नही है। इसलिए उत्पादन के साधनो की उत्पादन-लागत को किसी और तरह ढूंढना होगा।

७ वितरण की अच्छी पद्धति (A Good System of Distribution)—आय के वितरण की ठीक-ठीक रीति किसी देश में चालू अर्थ-व्यवस्था पर निर्भर है। जैसे कम्यूनिज्म का कहना है कि हर एक को उपलब्ध सप्लाई में से समान अश मिलना चाहिए। भारत मे शहरो की खाद्य राशनिंग इसी सिद्धान्त पर आधारित थी। ऐसी पद्धति आपत्ति काल (emergency) मे तो ठीक है किन्तु सामान्य वक्तो मे यह चालू नही की जा सकती क्योंकि अलग-अलग लोगों की पसन्द और रुचि मे बहुत अन्तर होता है। न माल का समान वितरण ही सन्तोषप्रद है क्योंकि उस हालत मे हर एक का भाग (शेयर) बहुत छोटा होगा और किसी काम का न होगा। वितरण की सबसे अच्छी पद्धति वह है जो इस सिद्धान्त पर आधारित हो कि हर एक को उसके द्वारा किए गए काम के अनुसार पुरस्कार दिया जाए। यह हमे फिर वितरण के सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त (marginal productivity theory of distribution) पर पहुचा देता है, जिसकी चर्चा हमने ऊपर की है। हम यही कह सकते है कि इस सिद्धान्त और किसी साधन की सीमान्त सप्लाई कीमत (marginal supply-price) से हमे काफी व्यावहारिक आधार मिल जाता है कि हम उत्पादन के विभिन्न साधनो को दिया जाने वाला पुरस्कार पता लगा सकें। इसमे सन्देह नही कि इसमें आय मे बड़ी असमानता (inequality) उत्पन्न हुई है जो मुख्यतया विरासत के कानूनों (laws of heritance) के कारण है। किन्तु यह भी सच है कि गरीब और ज्यादा गरीब नही हुए हैं, यद्यपि अमीर और ज्यादा अमीर अवश्य हो गए है। आज सभी सरकारें यह महसूस करती है कि आय मे असमानताओ को कम करने की जरूरत है। इसीलिए, लगभग सभी देशो मे उत्तरोत्तर (progressive) और अधिक मुनाफा (excess profits) आयकर, मरण शुल्क (death duties), जमींदारी का उन्मूलन (abolition of zamindaris), लाभांशो का सीमा निर्धारण (limitation of dividends), कानूनी न्यूनतम मजदूरी (legal minimum wages), समाजी बीमा योजनाएँ (social insurance schemes), और अन्य उपायो से अमीर

और गरीब के बीच का फर्क (gap) कम करने की कोशिश की जा रही है जिससे जनसाधारण का आर्थिक कल्याण हो सके। योजना-युग के प्रारम्भ होने से सामाजिक न्याय की दृष्टि से भारत में भी आय के अधिक समान वितरण की ओर अब अधिकाधिक ध्यान दिया जाने लगा है।

आपने इस अध्याय से क्या सीखा ?

वितरण क्या है ? (What is Distribution ?)—

(क) पुराने पहले—उत्पादक और उपभोक्ता एक ही व्यक्ति था और कोई समस्या न थी।

(ख) आज—श्रम विभाजन के विकास और यान्त्रिक उत्पादन के विकास के साथ राष्ट्रीय धन का बँटवारा कठिन हो गया है। तीन प्रश्नों को यहां सुलझाना है—

(१) किस वस्तु का वितरण किया जाय ?

(२) किनमें ?

(३) किस सिद्धान्त के आधार पर हर एक का भाग निश्चित हो ?

वितरण की समस्या इतनी रोचक क्यों है ? (Why is the Problem of Distribution so Interesting ?)—

(क) क्योंकि हम में से हर एक उत्पादक है और राष्ट्रीय लाभांश में अपना भाग चाहता है।

(ख) क्योंकि उत्पादित माल का कुल योग इतना काफी नहीं है कि सबकी सारी आवश्यकताओं की संतुष्टि कर सके।

क्या वितरित होना है ? (What is to be Distributed ?)—जाहिर है कि उत्पादित राष्ट्रीय लाभांश (national dividend) या मनुष्य की चेष्टाओं द्वारा प्राकृतिक स्रोतों की सहायता से, उत्पादित वस्तुओं और सेवाओं का कुल योग वितरित होना है।

किन में वितरित होना है ? (Among whom is it to be Distributed ?), उत्पादन के जिन साधनों ने मिलकर इसका उत्पादन किया है उनको अपने किए गए कार्यों का पुरस्कार मिलना चाहिए।

हर एक का अंश कैसे निश्चित होगा ? (How is the Share of each Determined ?)—यह सबसे दिलचस्प सवाल है। यहां हमें विभिन्न साधनों सेवाओं का मूल्य निश्चित करना है।

मांग का रुख—सीमान्त उत्पादकता (The Demand Side—Marginal Productivity)—उत्पादन के किसी साधन को उसकी सीमान्त उत्पादकता के अनुसार दिया जाता है अर्थात् उस साधन की अन्तिम नियोजित इकाई द्वारा कुल उत्पादन में योग (addition) द्वारा। नियोजक कभी भी श्रम या पूँजी की किसी इकाई को उसकी सीमान्त उत्पादकता से अधिक कीमत पर नहीं लगाता और क्योंकि सभी इकाइयां एक दूसरे से बदली जा सकती हैं (क्योंकि वे एक सी हैं) इसलिए उन्हें एक ही दर दी जाती है। नियोजक (employer) वहाँ तक जाता है जहां वह यह महसूस करता है कि वह लगाई हुई सीमान्त इकाई की उत्पादकता के बराबर दे रहा है।

प्रतिस्थापन का नियम (Law of Substitution)—हर उत्पादक अपने स्रोतों का सर्वोत्तम उपयोग करना चाहता है। वह हमेशा कम उत्पादक साधनों के स्थान पर अधिक उत्पादक साधनों को लगाने की कोशिश करता है। वह सोचता है कि अधिक मजदूर लगा लेने से या एक नई मशीन खरीदने से या कारखाने का विस्तार बढ़ाने से ज्यादा मुनाफा होगा ? यह सतत प्रश्न उसके सामने रहता है।

सप्लाइ का रूप (Supply side) साधारण माल में लागत कीमत तय करती है। विभिन्न साधनों के बारे में यह लागत तय करना कठिन है। भूमि की कोई उत्पादन लागत नहीं है। श्रम की कल्पना और भी मुश्किल है पूँजी का उत्पादन की वास्तविक लागत कहना असम्भव है। इसलिए वितरण की समस्या कठिन हो जाती है।

वितरण की अच्छी पद्धति क्या है? (What is a Good System of Distribution?

(क) पद्धति प्रचलित राजनैतिक व्यवस्था पर आश्रित है।

(ख) युद्ध जैसे आपत्ति काल में तो समान वितरण ठीक है किन्तु सामान्य काल में नहीं।

(ग) स्वावलम्बन तथा व्यक्तिगत प्रयास को प्रोत्साहित करना चाहिए किन्तु वर्गों के बीच का भेद कम करना चाहिए। इससे देश का आर्थिक कल्याण अधिकतम होगा।

क्या आप निम्न प्रश्नों का उत्तर दे सकते हैं?

1 What do we study in distribution? Show the relation of Distribution with Exchange (प० वि० १९४६)

देखिये विभाग १ से ६

2 The central problem of Economics is the determination of value? Is this true in the case of distribution also? If so does the same theory of value apply here also?

[हाँ यहाँ हम देखते हैं कि उत्पादन के साधनों की सेवाओं का मूल्यन (valuation) कैसे होता है। यही सिद्धान्त कुछ रूप भेद से सब लागू होता है देखिये विभाग ५ ६।]

3 What is the meaning and importance of marginal productivity in distribution? Give examples

देखिये विभाग ५ ६

4 Explain the working of the principle of substitution in the department of Distribution

देखिये विभाग ५

5 Why is the department of distribution so interesting and why are its problems so difficult to solve?

देखिये विभाग २

6 Which do you think is the best system of income distribution in the world? Give examples from India

देखिये विभाग ७

7 What do we study in distribution? Examine the principles on which the National Dividend of a country is distributed among different factors of production (जम्मू काश्मीर, १९५५)

8 On what principles is the National Dividend of a country distributed among different factors of production?

(कृ० वि० बी० का० १९४० क० वि० १९३३ आगरा १९४२ पटना १९४४, मद्रास १९३३)

देखिये विभाग ५, ६

किराया

(RENT)

वह अदायगी जो लागत नहीं है

(A Payment which is not Cost)

१ किराए का साधारण अर्थ (Common meaning of Rent)—किराया शब्द बहुत जगह प्रयुक्त होता है। सभी लोग इससे परिचित है। किन्तु हर बार इसके मायने अलग-अलग होते है। जैसे यह किसी जमीन या मकान के इस्तेमाल के लिए किराएदार द्वारा उसके मालिक को मासिक या वार्षिक दी गई रकम है। कोई सीने की मशीन, रेडियो सेट साइकिल या टाइप राइटर इस्तेमाल करने की मासिक अदायगी भी यही है। आप एक बस, टैक्सी, रिक्शा या तांगे पर चढ़ने की कीमत को भी किराया या भाड़ा कहते है। शायद आप होस्टल मे रहते है, और किराए से आपके दिमाग मे अपने कमरे के लिए जो आप मासिक फीस कालिज को देते है, वह है। फिर आप रेल के किराए को भी किराया कहते है। इस तरह किराया आपके लिए किसी भी वस्तु के उपभोग के लिये दी जाने वाली मुद्दती किश्त या मुआवजा है। अंग्रेजी के रेन्ट (rent), फेयर (fare) या फ्रेट (freight) और हायर (hire) तीनों शब्दों के अर्थ हिन्दी मे किराया है और इसीलिये आप कभी-कभी अंग्रेजी मे भी इन तीनों शब्दो के प्रयोग मे गड़बड़ी कर जाते है।

२ अर्थशास्त्र मे अर्थ (Meaning in Economics) —अर्थशास्त्र मे किराए के अर्थ भिन्न है। यहाँ 'किराये का मतलब है वह अतिरिक्त जो उत्पादक के पास अपने उत्पादन के तमाम खर्चे दे देने के बाद और उत्पादक चेष्टा के लिए अपने को भी पुरस्कार दे देने के बाद बच रहता है। इस मायने मे यह व्यय के ऊपर फसल के मूल्य की अधिकता है।" (पेन्सन)[1] अर्थशास्त्र मे किराया (rent) भूमि या भूमि के अन्तर्गत आने वाले अन्य प्राकृतिक उपहारो से प्राप्त आय है। जब कोई आसामी (tenant) किसी खेती को किराए पर लेता है तो वह एक उपजाऊ जमीन के लिए मालिक को ज्यादा किराया देने को तैयार होता और उससे कम उपजाऊ या खराब स्थिति की जमीन के लिए कम। वह ज्यादा देने को तैयार होता है क्योंकि वह उपजाऊ जमीन से ज्यादा उपज पा सकता है। सीमान्त भूमि (marginal land) के ऊपर (यानी उससे अच्छा) जमीन से जो अतिरिक्त (surplus) उपज

---

1 It means the surplus which remains to the cultivator after he has paid all the expenses of production and has remunerated himself for his own productive effort In this sense it is the excess of the crop over the expenses —Penson

होती है वह आर्थिक किराया (economic rent) है। कभी-कभी उसे इस अतिरिक्त से ज्यादा भी देना पड़ता है। जब भूमि की सप्लाई कम होती है, जैसे भारत जैसे प्राचीन देशों में है, और दूसरे धन्धे कम होते हैं तब जमीन की माँग सप्लाई से ज्यादा होती है। किसान-असामियों की परस्पर स्पर्द्धा के कारण जमींदार अक्सर पूरा आर्थिक किराया यानी उत्कृष्ट स्थिति या उपजाऊपन का मूल्य, या कभी-कभी उससे ज्यादा भी वसूल कर लेता है।

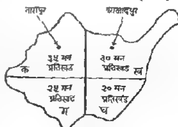
३. स्थूल किराये का विश्लेषण (Gross Rent Analysed) —अब फिर अपने कमरे का जो किराया मैं देता हूँ उसका स्वभाव क्या है, आप पूछेंगे। आप से लिए गए रुपए का एक अंश तो उस जमीन के उपयोग के लिए है जिस पर आपका कमरा बना हुआ है। और कुछ मकान में लगाए गए रुपये का सूद है। लेकिन यही नहीं। कॉलिज आपकी मदद के लिए कुछ स्टाफ रक्खे हुए है, सुपरिन्टेन्डेन्ट है, माली है, चौकीदार है, जमादार है। आप पानी, रोशनी और सफाई जैसी ऊपरी सुविधाएँ भी प्राप्त करते हैं। इन सेवाओं के लिए भी आप अपना हिस्सा अदा करते हैं। फिर आपका होस्टल बनाने में जो जोखिम (risk) उठाया गया है उसके लिए भी कुछ लिया जा सकता है। स्वभावतया आपको इन सब के लिए भी अदायगी करनी पड़ेगी। यह स्थूल किराया (gross rent) है। इसमें—

(क) पूँजी पर सूद
(ख) प्रबन्ध के लिए वेतन,
(ग) जोखिम का मुनाफा, और
(घ) आर्थिक किराया

ये चार चीजें शामिल हैं

४. किराया कैसे शुरू होता है ? रिकार्डो का सिद्धान्त (How does Rent arise ? Ricardo's Theory)—किराये का शास्त्रीय (classical) सिद्धान्त डेविड रिकार्डो के नाम से सम्बन्धित है। वह किसी नए देश में बसने वालों के एक दल से शुरू करता है। मान लीजिए कि यह बसने वाले जिस नए टापू पर बसते हैं, उसका अब तक पता न था और उसका नाम हम जवाहर द्वीप रखते हैं।

जब हम जवाहर द्वीप के प्राकृतिक स्रोतों का अध्ययन करते हैं तो हमें चार प्रकार की जमीन मिलती है। सुविधा के लिए उन्हें हम उपजाऊपन के अनुसार क, ख, ग, और घ ग्रेड की कहते हैं। हम तारापुर में बसे जो द्वीप के क भाग में है यह सबसे अधिक उपजाऊ है और हमें फी एकड़ सबसे ज्यादा उपज देता है। इस प्रकार (क्वालिटी) की भूमि हमारी जरूरतों



को इस वक्त पूरा करने के लिए काफी परिमाण में है। इसलिए यह मुफ्त या निर्मूल्य माल है और इसकी कोई कीमत न होगी। किन्तु समय बीतने

वालों की संख्या बढ़ती है। यह चाहे इस कारण हो कि हमारे भाग्य खुल जाने की बात सुनकर बहुत से नए लोग यहाँ आकर्षित होकर आ गए है या हमारी अपनी जनसंख्या ही बढ़ जाने के कारण।

(क) विस्तृत खेती में किराया (Rent in the Extensive Farm)—एक समय ऐसा आएगा जब सर्वोत्तम गुणों वाली सारी जमीन किसी न किसी के कब्जे में आ जाएगी। तब हमें ख ग्रेड की जमीन पर जाना पड़ेगा। यह क की अपेक्षा खराब है और जहां क में कुछ श्रम और पूँजी लगाने से एक टुकड़े पर ३५ मन गेहूँ होता है, ख भूमि में उतने ही बड़े टुकड़े पर उतना ही श्रम और पूँजी लगाने से सिर्फ ३० मन ही गेहूँ उपजता है। स्वाभाविक है कि 'क' के टुकड़ों का 'ख' की अपेक्षा अधिक मूल्य हो जायगा। एक आसामी क में जमीन पाने के लिए ख के मुकाबले ५ मन गेहूँ ज्यादा देने को तैयार होगा। यदि ख मुफ्त में मिल सकती है तो क का मूल्य ५ मन गेहूँ हो गया। यही अन्तर, जो आसामी द्वारा मालिक को दिया जाएगा, या यदि खेतिहर खुद मालिक है तो वह अपने पास रख लेगा, आर्थिक किराया है। आसामी द्वारा दिया गया किराया ठेके का किराया (contractual rent) है। और दूसरी स्थिति में मालिक द्वारा प्राप्त लाभ निहित किराया (implicit rent) है। ख के टुकड़ों पर कोई किराया नहीं है। एक कदम और आगे चलिए तो आप देखेंगे कि ख क्वालिटी की जमीन भी खत्म हो गई और अब 'ग' के टुकड़ों की खेती शुरू हुई। अब ख की जमीन को भी ग के ऊपर कुछ अतिरिक्त (differential surplus) मिलने लगा। इसलिए वह ख का किराया होगा और क का किराया और ऊँचे चला जायगा।

जब मांग और बढ़ती है तो घ जमीन भी काम में आने लगती है जो सब से खराब है और सिर्फ २१ मन ही पैदा करती है। यह अब तक बिना किराया भूमि (no rent land) है, जबकि क ख ग सब किराया कमाते है। यह बढ़ती हुई मांग बढ़ती हुई कीमतों से प्रदर्शित होती है। ये कीमत इतनी ऊँची उठ जाती है कि निकृष्ट ग्रेड की यानी घ क्वालिटी की जमीन की खेती के खर्चों के बराबर हों। मान लीजिए कि उत्पादक चेष्टा (productive effort) की एक इकाई १०५) के बराबर है। जब सिर्फ क जमीन हल के नीचे थी जो ३५ मन गेहूँ पैदा करती थी तब गेहूँ की कीमत ३) मन थी। जब अधिक मांग के कारण गेहूँ की कीमत ३½ मन हो जाती है तभी ख क्वालिटी की जमीन की खेती शुरू होगी जो ३० मन ही पैदा करती है। और जब यह होगा तब क जमीन में ५ मन का अतिरिक्त या ५ मन × ३॥) =१७॥) फी प्लाट (जमीन के टुकड़े) का अतिरिक्त प्राप्त होगा, यही किराया हो जाता है।

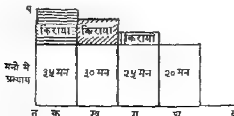
दूसरे शब्दों में किसी जमीन के टुकड़े से और सीमान्त टुकड़े से (यानी जिससे सिर्फ उसका खर्चा भर निकल पाता है) प्राप्त उपजों का अन्तर ही आर्थिक किराया कहलाता है।

(ख) गहन खेती के अन्तर्गत किराया (Rent under Intensive Cultivation)—मनाहर द्वीप के बसने वाले यह समझते हैं कि उपज बढ़ाने का एक

दूसरा भी उपाय है। क्यों न अच्छी जमीन पर अधिक पूंजी और काम लगाया जाय और गहन खेती की जाय ? यह किया जाना है किन्तु घटती हुई उपज का नियम लागू होना शुरू हो जाता है। पूंजी और श्रम की दूसरी इकाई हम निश्चित रूप से पहली की अपेक्षा कम उपज देगी। मान लीजिये कि उससे ३० मन ही उपज होती है। तब हमारे सामने दो रास्ते है—चाहे हम ख भूमि का एक नया टुकड़ा ले लें या क भूमि की अधिक गहन खेती करें। यदि हम दूसरा तरीका अपनाएँ तो श्रम और पूंजी की पहली इकाई से दूसरी की अपेक्षा अतिरिक्त उपज होगी। दूसरी इकाई सिर्फ अपने खर्च के बराबर उत्पन्न करने योग्य है। यह अतिरिक्त ही किराया है। जैसे-जैसे श्रम पूंजी की इकाइयाँ लगाई जाएँगी, फी इकाई उपज घटती जाएगी।

(ग) स्थिति मे अन्तर के कारण किराया (Rent due to Differences in Situation)—समय बीतने के साथ-साथ एक नया कारण उठ खड़ा होगा। क प्रदेश मे एक स्थान है तारापुर जिसमे एक बाजार बन जाता है और दूसरे स्थान आजाद नगर मे रेलवे जंकशन। तब फसलों को उन दो स्थानों म विक्रय के लिए भेजना पड़ेगा। तब तारापुर और आजाद नगर के समीप की भूमि दूसरों की अपेक्षा कुछ फायदे मे रहेगी। उनको ग और घ क्षेत्रों के मुकाबले मे या तो परिवहन के कुछ खर्चे न होंगे या फिर बहुत कम होंगे। परिवहन व्यय उत्पादन लागत का ही अंग है, क्योंकि उत्पादन तब पूरा कहा जाता है जब पदार्थ उपभोक्ता के हाथ मे पहुँच जाय। इसलिए ज्यादा अच्छी जगह स्थित जमीन को दूर की जमीन के मुकाबले मे अतिरिक्त देना पड़ेगा। यह अतिरिक्त किराए का दूसरा कारण होगा।

बिना किराए की या सीमान्त जमीन (No Rent or Marginal Land)—ऊपर दिए गए उदाहरण से यह साफ है कि किराया इसलिए कमाया जाता है कि कोई टुकड़ा ज्यादा अच्छी स्थिति मे है या किसी अन्य टुकड़े के मुकाबले म खेती के अधिक उपयुक्त है। यह 'अन्य टुकड़ा' सीमान्त भूमि (marginal land) है जो सिर्फ खर्चा निकाल पाती है, ज्यादा नहीं। इस भूमि को बिना किराए की (no rent) या सीमान्त (marginal) भूमि कहते हैं। तमाम किराए इससे ऊपर नापे जाते है। नीचे दिए गए रेखाचित्र मे घ क्वालिटी की जमीन जो २० मन फी टुकड़ा (plot) पैदा करती है, सीमान्त भूमि है। यहाँ लागत (cost) और उपज (return) बराबर है।



(घ) दुर्लभता किराया (Scarcity Rent)—अब हमारे नए स्वदेश जवाहर द्वीप मे हम ऐसी हालत मे पहुँच जाते है कि सारी जमीन हल के नीचे आ गई है और

उसकी गहन खेती भी हो रही है। किन्तु माँग के जोर से कीमतें और ऊँची चढती हैं। आबादी तेजी से बढ रही है। हमारा देश पुराना हो गया है और कोई जमीन बाकी नहीं रही है क्योंकि हमारा देश एक द्वीप है। इसलिए सारी जमीन को—घ क्वालिटी की बिना किराए की जमीन को भी—खर्चे से ऊपर अतिरिक्त मिलने लगता है। यह सम्भव है कि हम बिना किराए की जमीन की खोज न कर सकें क्योंकि (क) वह जमीन भी दुर्लभता का किराया (scarcity rent) दे रही हो या (ख) मालिक ने उसमें कुछ पूंजी लगाई है और उसके सूद को हम किराया समझ बैठे हैं, या (ग) बिना किराए की जमीन किसी दूसरे देश में है या (घ) बिना किराए के टुकड़े किराए देने वाली जमीन में छिपे हुए उसी खेत के भाग हों। घ क्वालिटी की जमीन से, जो बिना किराए की जमीन है, मिला हुआ अतिरिक्त (surplus) दुर्लभता (scarcity) का किराया (शून्य है। उससे अच्छी जमीनों को अपने भिन्नता के मुनाफे (differential gain) के साथ-साथ यह अतिरिक्त भी मिलेगा।

निष्कर्ष (Conclusion) सक्षेप में हम देखते हैं कि किराया एक भिन्नता का अतिरिक्त (differential surplus) है और यह इस तथ्य से उदित होता है कि भूमि में उत्पादन के साधन के रूप में कुछ विशिष्टताएँ हैं। इसका क्षेत्रफल (area) परिमित है और इसकी *स्थिति (situation)* अचल है। इसका *उपजाऊपन (fertility)* बदलती रहती है और अलग अलग जमीन के साथ भिन्न है। किराया इसलिए होता है कि—

(१) उपजाऊपन करीब-करीब प्रकृति द्वारा निश्चित है,

(२) हर टुकडा अपनी स्थिति में भिन्न है जो बदला नहीं जा सकता; और

(३) *भूमि का कुल परिमाण (स्टाक) निश्चित है। उसे बढ़ाया नहीं* जा सकता।

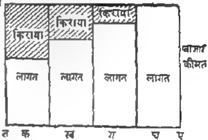
इस आधार पर रिकार्डो ने किराए की परिभाषा दी कि "किराया जमीन की उपज का वह अंश है जो जमींदार को धरती की मूल और—नष्ट न हो सकने वाली शक्तियों के एवज में दिया जाता है।"[1] उसके अनुसार उपजाऊपन, स्थिति और परिमित कुल परिमाण, ये तीनों चीजें, जो मूल और स्थायी है, किराए का कारण हैं।

५ **किराया और कीमत** (Rent and Price)—किराया तो लागत के ऊपर अतिरिक्त (surplus over cost) है। यह कीमत में नहीं आता। हमने पिछली चर्चा में कहा था कि कीमत सीमान्त भूमि पर उत्पादन की लागत पर निर्भर है। जब कीमतें माग और सप्लाई की शक्तियों के कारण ऊपर चढ जाती हैं तभी किसी जमीन पर किराया लगना शुरू होता है। रिकार्डो ने अपने जमाने में इस युक्ति से यह समझाने की चेष्टा की कि मँहगे अनाज के लिए जमींदार दोषी नहीं है। "अनाज मँहगा इसलिए नहीं है कि जमीन का किराया देना पड़ता

1 "That portion of the produce of the earth which is paid to the landlord for the original and indestructible powers of the soil"

है, वरन् किराया इसलिए दिया जाता है कि अनाज मँहगा है ।"[1] बल्कि अगर जमींदार अपना सारा किराया भी छोड़ दे (या उनसे शत-प्रतिशत कर लगाकर छीन लिया जाय) तो भी अनाज उसी कीमत पर बिकेगा जितनी पर पहले बिकता था। रिकार्डो का कहना है कि "यह ठीक कहा गया है कि यदि जमींदार अपना सारा किराया छोड़ दे तो भी अनाज की कीमत में अन्तर न पड़ेगा।" इसका मतलब यह है कि किराया कीमत-निर्धारण का कारण नहीं है वरन् कीमत किराया-निर्धारण का कारण है। लीजिए यह आपको एक अस्त्र मिल गया। अगली बार जब कोई दुकानदार बगाट प्लेस में आपसे कहे कि उसे ऊँची कीमतें इसलिए लेनी पड़ती हैं कि वह किराया ज्यादा देता है, तो आप उससे कह सकते हैं कि वह बकवास कर रहा है। अगर उसे मूर्ख ग्राहक न मिलें जो उसे ऊँची कीमतें दे देते हैं तो उस मँहगी दुकान को रखे ही नहीं और मकान मालिक को भी किराया घटाना पड़े। तो मँहगे किराये इसलिए दिये जाते हैं क्योंकि ऊँची कीमतें मिल सकती हैं न कि ऊँची कीमतें इसलिए हैं कि किराया ज्यादा है।

यह रेखाचित्र साफ दिखाता है कि किराया कीमत का कारण नहीं है। चतुर्भुज घ वर्ग की जमीन पर उत्पादन करने का व्यय बताता है। यह देखा गया है कि उपजाऊपन कम होने से लागत बढ़ जाती है। यदि कुल माँग का मुकाबला करने के लिए इस जमीन की उपज को काम में लाना है तो बाजार-भाव को लागत के बराबर रखना पड़ता है और यदि भूमि पर उपज की लागत कीमत से पूरी करनी है। क, ख, ग अतिरिक्त



मात्रा रहे है जो किराया है। घ के ऊपर चतुर्भुज में किराया नहीं है। इसलिए हम कह सकते हैं कि किराया कीमत से तय होता है न कि कीमत किराए से।

६. रिकार्डो के किराए के सिद्धान्त की आलोचना (Criticism of Ricardo's Theory of Rent) – रिकार्डो ने अपने प्रसिद्ध वक्तव्य में संक्षेप में कह दिया है कि किराया "धरती की मौलिक और अविनाशी शक्तियों" के लिए अदायगी है। इन दो शब्दों "मौलिक" और "अविनाशी" पर बड़ी आलोचना की गई है।

पहले तो यह कहा जाता है कि भूमि का उपजाऊपन मौलिक (original) नहीं है। भूमि की आज की उत्पादक-क्षमता बहुत हद तक खाद और दूसरे सुधारों व अन्य मानवीय चेष्टा का फल है। इस तरह किसी भी समय यह कहना असम्भव है कि भूमि का कौनसा गुण या शक्ति मौलिक है और कौनसा मनुष्य द्वारा पैदा किया हुआ।

1 "Corn is not high because a rent is paid but a rent is paid because corn is high."

स्थिति एक ऐसी चीज है जिसे मनुष्य नही बदल सकता। निस्सन्देह आज भी यह सम्भव नही कि एक जमीन के टुकडे को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाया जा सके। किन्तु मनुष्य परिवहन के साधनो मे सुधार कर सकता है जिसमें दो स्थानो के बीच की दूरी का महत्त्व कम हो जाय। वह एक स्थान की खूबियो को बदल सकता है। आज के नियोजित नगर और कारखानो की बस्तियाँ मानव मस्तिष्क की उपज हैं।

यद्यपि इस आलोचना मे बल है किन्तु इससे इनकार नही किया जा सकता कि मौलिक गुणो का भी महत्त्व कम नही है। कोई भी मानव प्रयास राजपूताना को काश्मीर नही बना सकता।

दूसरे "अविनाशीपन" (indestructibility) की धारणा पर आपत्ति की गई है। कहा जाता है कि खेत तो सदैव रहता है किन्तु उपजाऊपन नही। लगातार खेती से उपजाऊपन कम हो जाता है। और इसलिए आज का एकड पहले से कम उत्पादक है। रिकार्डो का सिद्धान्त फिर भी बिल्कुल बेकार नही है, जो भूमि स्वभावतया उपजाऊ है उसे ज्यादा सरलता से उपजाऊ बनाया जा सकता है यदि उसे परती (fallow) छोड दिया जाय या खाद दी जाय। बजर जमीन को उपजाऊ बनाना ज्यादा मुश्किल है। इसके अलावा, कितना भी उपयोग करने के बाद भी जमीन बिल्कुल ऊसर नही होती। उसका उपजाऊपन एकदम नष्ट नही हो सकता। बल्कि यह देखा गया है कि भारत जैसे प्राचीन देशो मे भूमि उपजाऊपन के इतने नीचे स्तर पर पहुँच गई है कि अब और खराब नही होती।

तीसरे कैरी (Carey) जैसे कुछ अमरीकन अर्थशास्त्रियो ने ऐतिहासिक आधार पर किराए के प्राचीन (classical) सिद्धान्त की आलोचना की है। वे कहते है कि जब बसनेवाले (settler) पहले अमरीका मे आए तो सबसे उपजाऊ जमीन पर खेती पहले शुरू नही हुई। न वे क्रमश कम उपजाऊ जमीनो पर गए। कारण यह है कि कुछ सबसे उपजाऊ जमीनें तो घने जगलो से ढकी हुई थी और कुछ अन्य शत्रु के आक्रमणो के लिए सुलभ थी। बसने वालो ने स्वभावतया उन कम उपजाऊ जमीनो को चुना जो खुली हुई थी (जिन पर इतने जगल नही थे) और जिनकी रक्षा की जा सकती थी। इस आलोचना मे ही इसका उत्तर भी मिल जाता है। यह जरूरी नही है कि सबसे उपजाऊ जमीन पर पहले कब्जा किया जाय किन्तु उस जमीन पर जो किसी निश्चित मात्रा में चेष्टा करने पर सबसे अच्छा पुरस्कार देती है पहले कब्जा किया गया। फिर खेती का क्रम इतना महत्त्वपूर्ण नही है। यदि यह क्रम बदल भी जाय तो भी जब दो क्वालिटी की भूमि पर खेती हो रही है तब अधिक उपजाऊ, या बेहतर स्थित भूमि पर लागत के ऊपर अतिरिक्त प्राप्त होगा। यह अतिरिक्त तो हर हालत मे होगा। चाहे जो जमीन भी पहले जोती बोई जाय।

आधुनिक अर्थशास्त्रियो का मत है कि समूचे तौर पर देखा जाए तभी भूमि की सप्लाई पूरी तरह बेलोच होती है और इस कारण किराए के रूप मे एक अतिरिक्त कमाती है। यह खर्च का भाग नही है इसलिए कीमत मे शामिल नही होता। परन्तु

किसी एक किसान या उद्योग के दृष्टिकोण से देखें तो किसी दूसरे उपयोग में भूमि को लग जाने से रोकने के लिये उसे कुछ देना पड़ता है। यह अदायगी जिसे कार्यान्तर पुरस्कार (transfer earnings) कहते है, खर्चे का भाग है और इसलिए कीमत में शामिल है। किसान के लिए अकेले तौर पर पूरा का पूरा किराया एक खर्चा ही है। "इस कार्यान्तर-पुरस्कार (transfer earnings) की कल्पना से रिकार्डो का सरल सिद्धान्त—जिसमें कार्यान्तर-पुरस्कार सिफर है क्योंकि समूचे समाज की दृष्टि से देखा जा रहा है—वास्तविकता के अधिक निकट आ जाता है।"

(स्टोनियर एण्ड हेग)

इसलिए परिणाम यह निकलता है कि यद्यपि किराए का सिद्धान्त बहुत विकसित हो गया है, किन्तु उसका आधार अब भी रिकार्डो का ही सिद्धान्त है।

६ गैर-कृषि भूमि पर किराया (Rent on Non-Agricultural Lands)—शहरी इलाकों के किराए के बारे में कोई नए सिद्धान्त लागू न होंगे, चाहे वे जमीनें रहने के लिये काम में लाई जाएँ या कारबार के लिए। फर्क सिर्फ इतना है कि यहाँ उपजाऊपन का कोई सवाल नहीं है और स्थिति का महत्व सबसे ज्यादा है। रहने के मकानों में, ऐसी चीजें जैसे अच्छी सड़कें, सफाई, प्रकाश, नालियाँ और स्थान की प्रतिष्ठा (respectability) काम करती है। पुरानी दिल्ली की गन्दी बस्तियों का मुकाबला नई दिल्ली की साफ सुथरी खुली जगहों से कीजिए। यह स्वाभाविक है कि नई दिल्ली में किराए पुरानी दिल्ली की अपेक्षा ज्यादा होंगे। जब एक के ऊपर एक मंजिलें मकान में बनाते चलते हैं तो भूमि का उपयोग गहन (intensive) हो रहा है, और किराया भी उसी तरह से तय होता है जैसे गहन खेती की गई भूमि का।

खानों और खनियों का किराया (Rent of Mines and Quarries)—खानों और खनियों का किराया जग भिन्न है। कभी-न-कभी वे समाप्त हो जाती है, जबकि खेती की जमीन नहीं होती। इसलिए उन उपयोग के बदले में की गई अदायगी में, आर्थिक किराये के अलावा, उनके माल का उपयोग करने की कीमत का एक अंश या रायल्टी (royalty) भी शामिल रहती है। आर्थिक किराया यहाँ किसी अन्य खान की, जिसे हम सीमान्त पर कहते है उसके मुकाबले में अधिक उत्पादकता का फल है। जो रायल्टी (royalty) दी जाती है वह अतिरिक्त है। आमतौर पर उपज के फी टन पर इसकी गणना की जाती है। समुद्र से मीन-क्षेत्र (fisheries) भी आमतौर पर बिलकुल खत्म नहीं होते इसलिए उनके किराए में रायल्टी का अंश कम होता है। और वे खेती की भूमि के किराए से अधिक मिलता-जुलता है।

८ क्या किराया अपनी ही तरह की कोई अलग चीज है? (Is Rent a a Thing of its Own Kind?)—एक व्यक्ति ऊपर दिए हुए विचार से यह नतीजा निकाल सकता है कि किराया अपनी ही किस्म की एक अलग चीज है और किसी दूसरी अदायगी (payment) के समान नहीं है। किन्तु ऐसा नहीं है। भूमि की विशेषता यह है कि उसका स्टाक हमेशा उतना ही रहता है। किराया इस

विशेषता का ही परिणाम है। इसीलिए बेन्हम (Benham) ने इसकी परिभाषा की है कि किराया "एक अतिरिक्त (surplus) है जो एक विशिष्ट (specific) साधन को प्राप्त होता है, जिसकी सप्लाई नियत (fixed) है।" और कोई दूसरा साधन भूमि के समान स्थायी रूप से नियत (fixed) या जड नहीं है। किन्तु जब कभी दूसरे साधनों की सप्लाई भी नियत (अपरिवर्तनीय) हो जाती है, चाहे अस्थायी रूप से थोड़े ही समय के लिए हो, तो उनकी उपज भी किराए के ही समान होती है और उसे अर्द्ध-किराया (quasi rent) कहते है। इस तरह किराए का एक अंश सूद, मजदूरी और मुनाफे में भी होता है जिसे अर्द्ध-किराया (quasi rent) कहते हैं। यह थोड़े ही समय के लिए होता है और सामान्य दशा लौटने पर नहीं रहता।

सूद में अर्द्ध किराया (Quasi rent in Interest)—पिछले महायुद्ध में व्यापारी जहाज़ों की कमी हो गई थी। जो जहाज नष्ट हो गए थे उनके स्थान पर नए जहाज उतनी ही तेजी से नहीं बन सकते थे क्योंकि जहाजों के बनने में समय लगता है। इसलिए जो जहाज उस समय थे वे ऊँचे किराए लेने लगे और उन्होंने बड़ा असाधारण मुनाफा कमाया। यह मुनाफा अस्थायी था, क्योंकि उनकी ज़रूरत खत्म हो गई थी। नये जहाज बन गए है और मुनाफे फिर सामान्य हो गए हैं। ऐसी असामान्य कमाई (earnings) को जो मशीनों या जहाजों की नियत (fixed) सप्लाई के वक्त होती है मार्शल ने क्वासी रेन्ट (अर्द्ध-किराया) कहा है। अंग्रेजी के क्वासी का अर्थ होता है लगभग, करीब करीब। इसलिये क्वासी रेन्ट का मतलब है वह अदायगी जो करीब-करीब लेकिन पूर्ण रूप से नहीं, किराया है या आधे मायनों में किराया है।[1]

मजदूरी और मुनाफों में अर्द्ध किराया (Quasi rent in Wages and Profits)—इसी प्रकार युद्ध काल में जरूरी माल का उत्पादन करने वाले कुशल श्रम को असामान्य मजदूरी मिलती है। यह प्रशिक्षित (trained) श्रम की दुर्लभता के कारण है। ऐसी विशेष कमाई भी किराए के समान है। संगठन का मामला भी बहुत भिन्न नहीं है। जैसे यदि कोई स्वास्थ्य केन्द्र (health resort) एकदम लोकप्रिय हो जाता है तो वहाँ के होटलों के मालिकों को अच्छा मुनाफा मिलेगा जब तक कि नए होटल न खुल जाएँ और मुनाफे सामान्य स्तर पर न आ जाएँ। इस अल्पकाल में संगठन को असामान्य आय होती है जो किराए के समान है।

व्यक्तिगत किराया (Personal Rent)—जैसे कुछ जमीनें ज्यादा उपजाऊ होती हैं, इसी तरह कुछ व्यक्ति अन्यों की अपेक्षा अधिक योग्य होते है। रास्ते में मिलने वाले किसी जोकर से लारेल और हार्डी में बड़ा अन्तर है। फिल्म में दिलीप-कुमार किसी मामूली अभिनेता से ज्यादा कमाता है। सभी व्यापारों में विशेष योग्य व्यक्तियों को अधिक पैसा मिलता है। इन योग्यताओं के कारण जो अधिक

1 उन उत्पादन के साधनों के लिए अतिरिक्त अदायगी, जिनकी सप्लाई दीर्घकाल में परिवर्तनीय है, किन्तु अल्पकाल में नियत (fixed) है, पारिभाषिक शब्दों में क्वासी रेन्ट या अर्द्ध किराया कहलाता है।—सिल्वरमैन (Silverman)।

कमाई होती है वह योग्यता का किराया (Rent of ability) या व्यक्तिगत किराया है।

उपर्युक्त चर्चा से यह जाहिर है कि किराया अलग किस्म की कोई चीज नहीं है। सभी व्यापारों में विशेष योग्यताप्राप्त साधनों को अधिक आय होती है। किराया तो केवल इसका प्रमुख उदाहरण है। या जैसा मार्शल कहता है, "यह एक बड़े गण (genus) की मुख्य जाति (specie) है।" इसका एक अंश हर वक्त मजदूरी, सूद और मुनाफे में शामिल होता है।

१०. आर्थिक प्रगति का किराए पर प्रभाव (Effect of Economic Progress on Rent)—समाज की उन्नति विभिन्न दिशाओं में हो सकती है। इस उन्नति का किराए पर प्रभाव भी इस प्रगति की दिशा के अनुसार भिन्न होता है। हम इसके विभिन्न पहलुओं में इस प्रभाव का अध्ययन करेंगे।

(i) **आबादी की वृद्धि**—आबादी में बढ़ती का नतीजा ऊँचा किराया होता है। बड़ी जनसंख्या को अधिक खाना चाहिए। खाद्य की अतिरिक्त सप्लाई केवल कम उपजाऊ जमीन को जोतकर ही प्राप्त की जा सकती है क्योंकि उपजाऊ जमीन तो पहले से ही काम में लाई जा रही है। या फिर चालू भूमि पर गहन खेती करके। दोनों हालतों में व्यय अधिक होता है जिसे किसान खुशी से नहीं उठाएगा जब तक कि उसे ऊँची कीमतें न मिलें। इस तरह अधिक उपजाऊ जमीनों को ऊँचा किराया मिलेगा।

(ii) **परिवहन करने के उन्नत साधन**—परिवहन के साधनों में सुधार से किराए बढ़ भी सकते हैं और घट भी सकते हैं। उन जमीनों पर, जो पहले से ही उपयोग में है और बाजारों के नजदीक, किराए गिर जाएँगे। किन्तु उन जमीनों पर किराया बढ़ेगा जो उपजाऊ तो हैं किन्तु पहले बाजारों से दूर थीं। इस तरह अमरीका और इंगलैंड के बीच में जो परिवहन में सुधार होने पर अमरीका में किराए बढ़ गए और इंगलैंड में कम हो गए।

(iii) **कृषि उत्पादन के उन्नत उपाय** (Improved Methods of Agricultural Production)—बेहतर तरीकों से उत्पादन ज्यादा होता है और माँग में उतनी ही वृद्धि नहीं होती। इसलिए किराए कम हो जाते हैं। सीमान्त भूमि इस्तैमाल से हट जाती है। कीमतें गिरती हैं और किराए भी गिरते हैं।

११. 'भारतीय लगान और आर्थिक किराया' (Indian Land Revenue and Economic Rent)—भारत में जो अत्यधिक किराया (rack renting) लिया जाता है उसका भी जिक्र किया जा सकता है। छोटी जमीन वाले किसान का लगान भी उसके ऊपर भारी बोझा है और अत्यधिक किराए के समान है। हमने देखा है कि आर्थिक किराया या लगान तो एक अतिरिक्त है। किन्तु आज भारतीय किसान द्वारा दिया गया लगान अतिरिक्त नहीं है। उसे लगान देना पड़ता है चाहे उसे अतिरिक्त कुछ प्राप्त न हो। आमतौर पर उसे अपनी सामर्थ्य से ज्यादा देना पड़ता है। क्योंकि उसे कोई दूसरा धन्धा नहीं मिलता और स्पर्द्धा बहुत ज्यादा है। कभी-कभी लगान आर्थिक किराए के बराबर होता है लेकिन संयोग से ही।

बंगाल में तो किराए आर्थिक शक्तियों की अपेक्षा प्रथा (custom) से ज्यादा शासित होते हैं। भूमि की कमी और अधिक माँग के कारण बड़े ऊँचे किराए लिये जाते हैं और वास्तविक किराए आर्थिक किराए से अधिक हैं।

आपने इस अध्याय से क्या सीखा ?

किराए का साधारण अर्थ—रोज की बातचीत में इसका मतलब है किसी मकान, जमीन, रेडियो या टैक्सी के उपभोग के लिए की गई अदायगी।

अर्थशास्त्र में मतलब—उत्पादन के सभी खर्चों को निकालकर जो अतिरिक्त बच जाता है वह आर्थिक किराया है—(पेंसन)। करार का किराया (contract rent) जमींदार और आसामी के बीच में एक इकरार से तय होता है। मुक्त स्पर्द्धा की अवस्थाओं में आर्थिक किराया और करार का किराया एक होता है।

स्थूल किराया (Gross Rent)—इसमें सूद, मजदूरी, मुनाफा और आर्थिक किराया शामिल होते हैं।

रिकार्डो का किराए का सिद्धान्त शास्त्रीय (classical) हो गया है। (क) वह कहता है कि नए देश में बसने वाले पहले सर्वोत्तम भूमि को जोतते हैं। माँग बढ़ने पर, उससे खराब जमीनें भी जोती जाती हैं। और बेहतर जमीनों को लाभ होने लगता है। जैसे जैसे सीमान्त (margin) नीची की ओर खिसकता जाता है वह लाभ बढ़ता जाता है। जब खेती सबसे निकृष्ट भूमि तक पर होने लगती है तो बेहतर जमीनों को अतिरिक्त (surplus) मिलने लगता है। यह किराया विस्तृत खेती का है।

(ख) गहन खेती में किराया—उत्पादन पुरानी जमीन में अधिक पूँजी और श्रम लगाकर भी बढ़ाया जा सकता है। घटती हुई उपज के नियम के लागू होने से श्रम और पूँजी की पहली खुराकों (doses) से सीमान्त खुराकों की अपेक्षा अतिरिक्त (surplus) प्राप्त होता है। यह अन्तर भी किराया है।

(ग) स्थिति किराया (Situation Rent)—बाजारों और रेलवे स्टेशनों के पास के खेतों को परिवहन के लिये कम खर्च उठाना पड़ता है और दूर स्थित खेतों को ज्यादा। यह लाभ उन्हें दूरस्थित खेतों की अपेक्षा उपज का अतिरिक्त देता है।

सीमान्त भूमि वह है जो खेती के लिए सबसे कम उपजाऊ है या सबसे बुरे स्थान पर स्थित है किन्तु जिसकी उपज बाजार के लिए जरूरी है। यह बिना किराए की जमीन (no rent land) है।

(घ) दुर्लभता किराया (Scarcity Rent)—जब सारी जमीन हल के नीचे आ जाती है और माँग फिर भी असंतुष्ट रहती है तो उपज की कीमत बढ़ती है। इस तरह तमाम जमीन उत्पादन लागत के ऊपर एक अतिरिक्त कमाने लगती है जिसे दुर्लभता किराया कहते हैं।

(ङ) निष्कर्ष—संक्षेप में किराया उर्वरता, स्थिति और दुर्लभता से प्राप्त होता है। रिकार्डो के शब्दों में यह "धरती की मौलिक और अविनाशी शक्तियों" के लिए की गई अदायगी है।

किराया और कीमत—कीमत सीमान्त भूमि पर उत्पादन की लागत से निर्धारित होती है। यह भूमि कोई किराया नहीं देती। इसलिये किराया कीमत का अंग नहीं है। किराया कीमत द्वारा निर्धारित होता है। यह ऊँची कीमतों का कारण नहीं वरन् फल है।

रिकार्डो की आलोचना—(१) यह कहा जाता है कि कोई शक्तियाँ भी मौलिक नहीं हैं। उर्वरता मानवीय चेष्टा से बढ़ता है और परिवहन के साधनों में सुधार होने से दूरी का महत्त्व भी कम हो जाता है। किन्तु फिर भी उर्वरता और स्थिति दोनों में मूल गुणों का काफी प्रभाव रहता है।

(२) कहते हैं कि कुछ भी अविनाशी (indestructible) नहीं है। उर्वरता भी लगातार उपयोग से घट जाती है और खत्म हो जाती है। किन्तु रिकार्डो का सिद्धान्त निराधार नहीं है। उपजाऊ जमीनें अपनी उर्वरता ज्यादा जल्दी पुनः प्राप्त कर लेती हैं।

(२) केरी (Carey) इस सिद्धान्त का ऐतिहासिक आधार पर विरोध करता है। अमेरिका में खेती सर्वोत्तम भूमि से आरम्भ नहीं हुई क्योंकि सर्वोत्तम जमीन जंगलों झाड़ियों से ढकी हुई थी किन्तु खेती का क्रम इतना महत्वपूर्ण नहीं है। फिर स्थिति का प्रश्न भी विचारणीय है।

आधुनिक अर्थशास्त्री कहते हैं कि भूमि की मात्रा पूरी तरह बेलोच है तो केवल सम्पूर्ण समाज के दृष्टिकोण से। व्यक्ति किसी एक उपयोग में भूमि की मात्रा को दूसरे कम आवश्यक उपयोगों से हटाकर बढ़ा सकता है। इस हटाने में आने वाला खर्चा कुल लागत का एक हिस्सा होता है और इसलिए व्यक्तिगत दृष्टिकोण से किराया कीमत में शामिल होता है।

खेती के अलावा किराया (Non-agricultural Rent) भी इन्हीं सिद्धान्तों से नियत होता है। शहरी इलाकों में स्थिति सबसे महत्वपूर्ण होती है। सोना आदि की खानों का एक भाग उनकी क्षमता (capacity) के लाभ का मूल्य होता है। इसे रायल्टी (royalty) कहते हैं।

किराया एक बड़े गण (genus) की प्रमुख जाति (specie) है—अर्थव्यवस्था के नाते किराया अपने ढंग की कोई निराली चीज नहीं है। कभी कभी दूसरे साधन भी भूमि के समान हो जाते हैं। उनके द्वारा प्राप्त आमदनी को किराया (quasi rent) कहा जाता है। युद्ध काल में बहुत अतिरिक्त आय प्राप्त कर लेते हैं क्योंकि जब तक नये न बनें उनकी दुर्लभता रहती है। इसी तरह श्रम और संगठन कभी कभी अतिरिक्त आय प्राप्त कर लेते हैं। इसे भी किराया कह सकते हैं।

व्यक्तिगत किराया (Personal Rent) वह अतिरिक्त आय है जो अधिक योग्यता वाले व्यक्ति किसी धंधे में सीमान्त व्यक्तियों की अपेक्षा कमा लेते हैं। इसलिए प्रसिद्ध अभिनेता साधारण अभिनेताओं से ज्यादा कमाते हैं।

आर्थिक उन्नति और किराया—आबादी बढ़ने से किराए बढ़ते हैं। उन्नत परिवहन से किराया घटता यदि कोई स्थान किसी नए बाजार से करीब हो गया है और घटेगा यदि कोई अन्य का नया स्रोत इसके करीब हो गया है। उन्नत उपायों से किराया कम होगा।

लगान और किराया भूमि की कमी के कारण लगान और वास्तविक किराए आर्थिक लगान से ज्यादा है।

क्या आप निम्न प्रश्नों का उत्तर दे सकते हैं ?

1 What is the meaning of economic rent ? How does it arise ?

(प० वि० १९३६)

देखिए विभाग १, २, ३ और ४

2 Will there be economic rent if—

(i) all plots are alike in fertility and situation

(ii) the landholder himself is the cultivator of land

(iii) if the law of diminishing return did not operate ?

Give reasons for your answer (प० वि० १९३८)

[(i) हां, लेकिन सिर्फ शहरी खेती और कुल्हड़ों के रूप में। (ii) निस्सन्देह हां, यद्यपि वह उनके पास ही रहेगा। (iii) तब किराए का सवाल ही नहीं उठता।]

3 Define rent Explain and comment upon the Ricardo's theory of rent

Or

Rent is paid for original and indestructible powers of the soil

(कलकत्ता वि० बी० काम० १९४४ कलकत्ता वि० १९४५ आगरा १९४१ अला० १९३५ देहली १९२६ ढाका १९३७ पंजाब १९३८ नागपुर १९४२ बम्बई १९४३)

देखिए विभाग १, २, ३ और ४

4 "Rent is the leading specie of a large genus" Do you agree? Discuss this statement

Or

"Difference between rent, wages and profits is one of degree only" Explain (कलकत्ता वि० बी० कॉम० १९३४)

देखिए विभाग ८ और ९

5 Explain the relation between economic rent and price (लाहौर १९५२ ; पं० वि० १९४४)

Or

"Rent does not enter into price" Discuss

Or

It is true to say "that prices are high because rents are high or that rents are high because prices are high"? (Ricardo)

Or

Discuss the relation between agricultural rent and agricultural prices (कलकत्ता वि० १९३६ ; कलकत्ता वि० बी० कॉम० १९३६ ; प्रयाग १९३६ ; आगरा १९३८, ४१ ; ढाका १९४० ; दिल्ली १९३९)

[ऊँचे और नीचे किराये ऊँची या नीची कीमतों के परिणाम हैं न कि कारण]

देखिए विभाग ५

6 Rent is differential surplus? How देखिए विभाग ४

7 Explain fully—

(i) Scarcity Rent (पं० वि०, १९४५)

(ii) Quasi Rent (पं० वि०, १९४३)

(iii) Personal Rent

(iv) Contract Rent (यू० पी० बो०, १९४४)

[(i) देखिए विभाग ८ (ग), (ii) विभाग ८, (iii) विभाग ९ और (iv) देखिए विभाग ७]

8 Distinguish between rent and quasi rent and examine the influence of progress on rent

(कलकत्ता वि० १९३७ ; कलकत्ता वि० बी० कॉम० १९३२, ३३, आगरा १९३९, नागपुर १९४२)

देखिए विभाग ८, १०

9 Write notes on—

(i) Intensive margin of cultivation (पं० वि० १९३६)

(ii) Quasi Rent (पं० वि० १९४० ४३, ४५)

(iii) Scarcity Rent (पं० वि०, १९४१)

[(i) देखिए विभाग ४ (ख) (ii) विभाग ८ और (iii) विभाग ४ (घ)]।

10 *Define Economic Rent How is it affected by progress of society?* (अजमेर बोर्ड १९५३ ; पं० वि० १९३४)

[देखिए विभाग २, उच्च जीवन स्तर और आबादी की वृद्धि के साथ किराए बढ़ते हैं। दूसरी ओर शिल्पिक ज्ञान की प्रगति और संचार तथा परिवहन के उन्नत साधनों, अधिक विशिष्टीकरण और प्रतियोग से किराए गिरते हैं।

देखिए विभाग १०

11 Consider the effect of an increase of population on rent (कलकत्ता वि० बी० कॉम० १९४३)

देखिए विभाग १० (i)

मजदूरी

(WAGES)

मनुष्यों के पसीने और आँसुओं की कीमत

(The Price of Human Sweat and Tears)

१. मजदूरी का अर्थ (Meaning of Wages)—मजदूरी मजदूर को उसकी मेहनत के लिए दिया गया पुरस्कार है। अर्थशास्त्र में श्रम शब्द का प्रयोग ज्यादा विस्तृत अर्थ में किया जाता है। इसमें अपनी जिन्दगी चलाने के लिए किया गया सभी काम शामिल है। इससे मतलब नहीं कि यह काम मानसिक है या शारीरिक। इसमें स्वतन्त्र पेशेवर पुरुष और स्त्रियों का परिश्रम भी, जैसे डाक्टरों, वकीलों, गायकों और चित्रकारों का कार्य भी, जो सेवाएँ ये पैसे के लिए करते हैं, शामिल हैं। वास्तव में अर्थशास्त्र में श्रम का अर्थ है कोई भी कार्य जिसके लिए कोई पुरस्कार दिया जाए। वह पुरस्कार चाहे घंटे, दिन, महीने या साल के हिसाब से दिया जाए, और नकद पैसे के रूप में या किसी और तरह से। हर हालत में वह पुरस्कार मजदूरी कहलाएगा।

२. मजदूरी का महत्व (Importance of Wages)—पुराने जमाने में हर आदमी अपने लिए काम करता था, और अपनी जरूरतें अपनी ही मेहनत से पूरी करता था। उस समय मजदूरी तय करने की कोई समस्या न थी। द्रव्य व्यवस्था (money economy) के आने और श्रम-विभाजन (Division of Labour) का सिद्धान्त लागू होने से अवस्था बदल गई है और आज जनसंख्या का एक बहुत बड़ा भाग मजदूर है, जो अपनी आमदनी मेहनत से कमाता है। उनके पास और कोई जरिये नहीं है, और उन्हें पुरस्कार पाने के लिए काम करना पड़ता है। इसका फल यह है कि आधुनिक समाज में दो बड़े-बड़े वर्ग बन गए हैं—मालिक और नौकर। उनके हितों में आपस में टकराव है और उनके बीच में हर देश में लगातार एक संघर्ष चल रहा है। मालिकों के साथ उनके संघर्ष की तह में श्रम की एक बड़ी माँग यह है कि मजदूरी बढ़ाई जाय। मजदूरी का देश के जीवन में बहुत बड़ा हाथ है। समाज का कुल कल्याण बहुत हद तक मजदूरों को दी गई मजदूरी पर निर्भर है। मजदूरी जितनी ज्यादा होगी, कल्याण उतना ही अधिक। स्नेह, प्रेम और सेवा रुपये में नहीं तोली जा सकती, न ही इससे लोगों का पेट भर सकता है। मजदूरी रूप में जो द्रव्य मिलता है वह ही खाना, कपड़ा और आश्रय खरीद सकता है, जिनके ऊपर किसी देश का जीवन-स्तर निर्भर है। इसलिए अर्थशास्त्र के उस विद्यार्थी के लिए जिसे मानवीय हित की चिन्ता है, मजदूरी का प्रश्न बड़ा महत्त्वपूर्ण है।

मजदूरी का प्रश्न इसलिए भी महत्त्वपूर्ण है कि उत्पादन के साधनों में श्रम का एक विशिष्ट स्थान है। हम जानते हैं कि श्रम में कुछ विशिष्टताएँ होती हैं।[1] वे है—

(i) श्रम की माँग अप्रत्यक्ष (indirect) और उद्भूत (derived) है जबकि दूसरे माल की माँग प्रत्यक्ष। माल उनके द्वारा सीधे प्राप्त होने वाली सन्तुष्टि के लिए उत्पादित किए जाते है। परन्तु श्रमिको की माँग उस माल की माँग के कारण है जिसका वे उत्पादन करते है। (ii) एक मजदूर में स्वतन्त्र इच्छा होती है। और वह अपनी मर्जी से काम करने को राजी हो सकता है या इनकार कर सकता है। जबकि कोई दूसरी वस्तु उत्पादित होने के बाद हमें सन्तुष्टि देने से इनकार नहीं कर सकती। (iii) श्रम नाशवान है और इसका संचय नही किया जा सकता। एक मजदूर अगर काम न करे तो भूखा मरेगा, इसलिए अपने मालिको के मुकाबले में वह कमजोर स्थिति मे होता है। उसे कानूनी सरक्षण की जरूरत पड़ती है। (iv) श्रम को श्रमिक से अलग नहीं किया जा सकता। श्रमिक को अपना श्रम खुद जाकर देना पड़ता है, जबकि माल कहीं भी भेजा जा सकता है, जहाँ कहीं उसकी सबसे अच्छी कीमत उठे। (v) श्रम की पूर्ति जल्दी बढाई-घटाई नहीं जा सकती। जनसख्या मे कमी करने के लिए एक पीढी समय जरूरी है।

३. मजदूरी की किस्में (Kinds of Wages)—मजदूरी का कई तरह का वर्गीकरण किया गया है। यह इस प्रकार से है—

(क) मजदूरी नकद या वस्तु के रूप में (Wages in Cash and Kind) भारत के कुछ गाँवो मे आज भी काफी मजदूरो को अनाज, चारा, खली, गुड जैसी अनेक चीजे वेतन के रूप मे दी जाती है। ये चीजें उन्हें रबी और खरीफ की फसलो के कटने के समय दी जाती है। एक तरह से तो वस्तुओं में अदायगी (payments in kind) अच्छी ही है क्योंकि अनाज के दाम बढ जाने पर मजदूरो पर कोई असर न पड़ेगा। दूसरे लिहाज से यह पद्धति बुरी है। क्योंकि वस्तुओ मे मजदूरी साधारणतया प्रथा (custom) द्वारा निश्चित होती है, जो जीवन-स्तर को कभी ऊँचा नही उठने देती। लेकिन शहरो मे मजदूरी कन्ट्रेक्ट (contract) या करार से तय होती और नकद दी जाती है।

(ख) समयानुसार, कार्यानुसार और ठेके के अनुसार मजदूरी (Time Wages, Piece Wages and Task Wages)—

(i) समयानुसार मजदूरी (Time Wages)—यदि किसी मजदूर को फी घण्टे, दिन, हफ्ते या महीने की निश्चित दर से नौकर रखा जाता है तो वह समयानुसार श्रमिक (time worker) कहलाता है। समय की किसी इकाई पर मजदूरी की दर नियत करना बड़ा पुराना तरीका है। दिन अदायगी की ज्यादा प्रचलित इकाई है क्योंकि मजदूर अपनी तनख्वाह के लिए ज्यादा इन्तजार नहीं कर सकते।

1. देखिए अध्याय ८, विभाग ३।

(ii) कार्यानुसार मजदूरी (Piece Wages)—लेकिन जब अदायगी किए गए काम के मुताबिक हो तो उसे कार्यानुसार मजदूरी की पद्धति कहते हैं। अदायगी का यह तरीका उन तमाम कामो में प्रचलित है जिनकी माप की जा सकती है जैसे हाकी, बल्ले आदि बनाने में।

(iii) ठेके के अनुसार मजदूरी (Task Wages)—लेकिन जब काम खत्म करने की जिम्मेदारी या ठेके पर अदायगी तय होती है तब हम उसे ठेके के अनुसार मजदूरी कहते हैं। भारत में सरकारी काम काफी हद तक ठेके पर होता है।

हम इन तीन तरह की मजदूरी का फर्क एक उदाहरण द्वारा समझा सकते हैं। अगर आपको अपने घर की पुताई करानी है तो आप उपर्युक्त तीनों प्रकार के तरीके अपना सकते हैं। आप एक मजदूर दैनिक वेतन (daily wages) पर बुला लें (time wages), या फी सौ वर्ग गज दीवार की पुताई की दर तय कर लें (piece wages), या सारी पुताई करने की एक मजदूरी तय कर लें (task wages)। अक्सर काम की माप आसानी से नहीं हो सकती इसलिए समयानुसार मजदूरी ही देनी पड़ती है।

(ग) कभी-कभी काम करने वालों की किस्म के अनुसार भी मजदूरी का वर्गीकरण किया जाता है।

(१) वेतन (Salaries)—ऊँचे स्टाफ को दिया जाता है, जैसे इन्जीनियर, सुपरवाइजर, मैनेजर, प्रोफेसर, मास्टर आदि को।

(२) तनख्वाह (Pay)—क्लर्कों, टाइपिस्टों, स्टेनोग्राफरों आदि को, यानी मध्य वर्ग के कर्मचारियों को दी जाती है।

(३) मजदूरी (Wages)—सबसे नीचे ग्रेड के कुशल (skilled) या अकुशल (unskilled) शारीरिक काम करने वाले (manual) श्रमिकों को जो मजदूर कहलाते हैं, दी जाती है।

(४) फीस (Fees)—स्वतन्त्र पेशेवर लोगों को जैसे वकीलों और डाक्टरों को सलाह लेने के लिए दिया जाने वाला दाम है। आप अपने कॉलिज में जो शिक्षा प्राप्त करते हैं उसके लिए ट्यूशन फीस (tuition fees) देते हैं। इससे आप परिचित हैं।

(५) कमीशन (Commission)—शब्द उस बट्टे (margin) के लिए है जो आप बिचौलिए या मध्यस्थो (middlemen) को जैसे दलालों, आढ़तियों, एजेन्टों या बुकसेलरों, को देते हैं। यह आपके सौदे के मूल्य पर निर्भर है।

(६) भत्ता (Allowance)—वह विशेष अदायगी है जो किसी खास काम के लिए किसी खास वजह से की जाती है। जैसे साइकिल या कार रखने के लिए, घूमने फिरने (travelling) के लिए ऊँची कीमतों की वजह से मँहगाई (dearness) के लिए, या मकान के किराए के लिए।

अदायगी का चाहे जो भी नाम, रूप या तरीका हो, मजदूरी का मतलब है राष्ट्रीय आय (national dividend) में श्रम का भाग (share) जो उसका दूसरे नम्बर पर दावेदार है। यह याद रखना चाहिए कि मजदूर को तनख्वाह दी जाती

है—पैसे कितने और किस तरीके से, वस्तुएँ कितनी—उसे इससे ज्यादा सरोकार नहीं है। उसकी विशेष चिन्ता अपनी जरूरतें पूरी करने की रहती है। यह हमे नकद मजदूरी (money wages) और असली मजदूरी (real wages) के प्रश्न पर ले आता है।

४ असली और नकद मजदूरी (Real and Nominal Wages)—काम के लिए मजदूर को जितना द्रव्य दिया जाता है वह नकद मजदूरी (nominal wages) कहलाता है। किन्तु द्रव्य चाहिए किस लिए ? जाहिर है उस माल और सेवाओ के लिए जिन्हें हम उससे खरीद सकते है। असली मजदूरी (real wages) से हमारा मतलब होता है उस सन्तुष्टि से जो मजदूर को आवश्यकताओ, सुविधाओ और विलासिताओं पर अपनी नकद मजदूरी खर्च करने से मिलती है। इसलिए असली मजदूरी का अन्दाजा लगाने के लिए आपको निम्न बातो पर ध्यान देना पड़ेगा—

(१) द्रव्य की क्रय शक्ति (Purchasing Power of Money)—द्रव्य विनिमय का केवल एक माध्यम है। इसको माल और सेवाएँ खरीदने की शक्ति के कारण ही हम इसे मूल्यवान समझते है। एक उदाहरण लीजिए। हम देखते हैं कि भारती सरकार के आर्थिक सलाहकार (Economic Adviser to the Government of India) द्वारा रखे हुए साधारण सूचनांक (general index) के अनुसार औसत थोक (wholesale) कीमतें १६३६ मे १०० की तुलना मे अब ४२३ हैं। निश्चित तनख्वाहें पाने वाले लोगो की मासिक कमाई उतनी नही बढी है। इसलिए यह कहना कि तनख्वाहें बढ गई है, उनके साथ मजाक करना है। इन लोगो के लिए असली मजदूरी बढी नही है बल्कि कम हो गई है क्योकि द्रव्य की क्रय शक्ति २५ प्रतिशत रह गई है। स्पष्ट है कि कीमतों के स्तर (price level) पर बहुत कुछ निर्भर है।

(२) वस्तुओ या सेवाओ के रूप में अतिरिक्त प्राप्ति (Additional Receipts in Kind)—किसी व्यक्ति की असली आय मुफ्त क्वार्टर, सस्ते राशन, मुफ्त वर्दी, त्योहारो पर विशेष उपहार आदि के द्वारा बढ सकती है। एक चपरासी या मेहतर की जिन्दगी इन्ही की बदौलत चलती है। किसी अफसर की असली आय (real income) में मुफ्त बँगले या निवृत्ति (retirement) पर पेन्शन (pension) से बढती है।

(३) आय को बढाने की सम्भावना (Possibility of Supplementing the Income)—कुछ नौकरियाँ ऐसी है जिनमें अपनी आय बढाने का समय या अवसर मिल जाता है। जैसे एक प्रोफेसर किताबें या लेख लिखकर और मास्टर बच्चो की प्राइवेट ट्यूशन करके अपनी आय बढा सकता है।

(४) कार्य के घंटे (Working Hours)—हमे देखना होगा कि दिन मे काम कितने घटे होता है, हफ्ते मे कितने दिन और साल मे कितनी छुट्टियाँ होती है। आराम के मध्यान्तर (rest intervals) ज्यादा होने से लोगो की असली मजदूरी और आराम मे वृद्धि होती है। कुछ धन्धो मे कर्मचारियो को बिना अतिरिक्त तनख्वाह पाए हुए अतिरिक्त काम करना पडता है। जैसे छमाही खत्म होने के वक्त बैंक के

कर्मचारियों को कड़ी मेहनत करनी पड़ती है। कभी कभी ऊपर के अफसर नीचे वालों से नाजायज काम लेते हैं। इस प्रकार भाग-रहित (unpaid) ओवरटाइम (over-time) काम असली मजदूरी कम कर देता है।

(५) नौकरी की नियमितता (Regularity of Employment)—यदि कोई व्यक्ति अक्सर बेकार रहता है तो बड़ी नकद मजदूरी भी आखिर में कम असली मजदूरी होगी। स्थायी नौकरी में कम तनख्वाह भी अनिश्चित नौकरी से अच्छी समझी जाती है चाहे इसमें पैसा ज्यादा मिलता हो। इसी वजह से मामूली वकील या डाक्टर अपना स्वतन्त्र धन्धा (practice) छोड़कर नौकरी स्वीकार कर सकता है।

(६) कार्य प्रकृति (Nature of Job)—कुछ कामों में बड़ा खतरा है। कुछ ऐसे हैं जो काम करने वाले की जिन्दगी ही कम कर देते हैं जैसे रेल या इंजन चलाना। लड़ाई में हवाई जहाज की जिन्दगी औसतन कुछ घंटों की कही जाती है। ऐसे रोजगारों में दुर्घटनाएँ (accidents) मामूली बात है। इनमें नकद-मजदूरी भले ही ज्यादा हो पर सब बातों को देखते हुए असली तनख्वाह कम हो सकती है।

(७) भविष्य की आशाएँ (Future Prospects)—अगर भविष्य अच्छा दिखता हो तो आदमी कम मजदूरी पर भी शुरू कर सकता है। जब हमें पता चलता है कि एक स्कूल के टीचर को २० साल मेहनत करने के बाद भी सिर्फ १००) महीना मिलते हैं तो कुछ कहना कठिन हो जाता है। ऐसे भविष्य में कोई आकर्षण नहीं यदि उसे प्राइवेट ट्यूशनों की भी मनाही कर दी जाए।

(८) व्यापार शुरू करने के व्यय (Expenses of Starting a Trade)—कुछ धन्धों में शुरू का खर्चा ज्यादा होता है। एक डाक्टर के लिए अपनी प्रैक्टिस (practice) शुरू करने के लिये आधुनिकतम औजार, दवाएँ और अच्छा फर्नीचर चाहिये। यदि किसी वकील के यहाँ मोटी मोटी किताबों से भरी कम-से कम आधी दर्जन आलमारियाँ न हों तो उसका असर हम पर नहीं पड़ता। ऐसे आरम्भिक व्यय को असली मजदूरी गिनते वक्त देना पड़ेगा।

४. क्या मजदूरी की कोई सामान्य दर भी है? (Is there General Rate of Wages?)—यदि श्रम किसी अन्य वस्तु के समान ही होता तो वह भी बाजार में उसी तरह से बिकता। लेकिन हम जानते हैं कि श्रम कुछ मायनों में अलग है। श्रमिक अपनी कार्यक्षमता में भिन्न होते हैं। वे पूँजी और माल से कम गतिशील (mobile) हैं और उनकी पूर्ति जब चाहे कुछ देकर बढ़ाई नहीं जा सकती। उसे कम करना भी अत्यन्त कष्टप्रद है। यदि एक दिन गया तो उस दिन का श्रम भी गया। इन सब कारणों से मजदूरों की कमाई की कोई एक समान (uniform) दर नहीं हो सकती। दुनिया भर में श्रम अनेक दल और उपदलों में बँटा हुआ है, जिनमें से प्रत्येक को अलग-अलग मजदूरी मिलती है। एक ही दल के अन्दर भी बड़े फर्क होते हैं। इसलिये मजदूरी की कोई सामान्य दर होना सम्भव नहीं है। हम सिर्फ किसी एक दल के मजदूरों की कुल संख्या से उनको मिलने वाली कुल रकम को विभाजित करके एक औसत निकाल सकते हैं।

६ कम मजदूरी मँहगी मजदूरी है (Low Wages are Dear Wages)—जैसे असली और नकद मजदूरी होती है इसी तरह असली और नकद श्रम लागत (cost of labour) भी है। मालिक अपने कर्मचारी को एक वेतन देता है। श्रमिक के लिये जो आय है, मालिक के लिये वही लागत (cost) है। यह लागत ऊपर से देखने मे असलियत से कुछ और मालूम हो सकती है। कम तनख्वाह पाने वाले (under-paid) मजदूर असन्तुष्ट रहते है। वे काम से जी चुराते है। अच्छी तनख्वाह वाले (well paid) मजदूर सन्तुष्ट होते है। वे अक्सर अपनी ऊँची मजदूरी से ज्यादा काम कर देते है। इस तरह उत्पादकता मजदूरी पर निर्भर होती है। इसलिए असली श्रम-लागत दी गई नकद मजदूरी की उत्पादकता से तुलना करने पर पता चलती है। इसी तरह से देखने में सस्ता श्रम वास्तव मे मँहगा हो सकता है। ऊँची मजदूरी का मतलब मँहगा श्रम हो सकता है। 'ऊँची मजदूरी की किफायत' ("Economy of High Wages") शब्दों का यही अर्थ है।

हम कार्यक्षमता (efficiency) और मजदूरी के सम्बन्ध पर आगे कुछ और कहेंगे।

७ मजदूरी कैसे नियत होती है ? (How are Wages Determined ?)—यह समस्या लगभग हर अर्थशास्त्री के दिमाग को परेशान करती रही है। मजदूरी की व्याख्या करने के लिये अनेक सिद्धान्त प्रतिपादित किए गये है। (i) बहुत दिनों तक यह समझा जाता रहा कि कालान्तर मे मजदूरी की प्रवृत्ति जीवन-निर्वाह के लिये खाना-कपड़ा आदि के बराबर होने की रहती है। इसे मजदूरी का लौह सिद्धान्त (Iron Law of Wages) या मजदूरी का निर्वाह-सिद्धान्त (Subsistence Theory of Wages) कहते हैं। इसे सबसे पहिले डेविड रिकार्डो ने प्रस्तुत किया। उसका विश्वास था कि अगर कभी मजदूरी निर्वाह स्तर से ऊँची रहेगी भी तो थोड़ी देर के लिये ही। आर्थिक समृद्धि से उनकी आबादी शीघ्र ही बढ़ेगी और श्रमिकों की संख्या अधिक हो जायगी। इससे मजदूरी पर बुरा असर पड़ेगा, और वह कम होकर निर्वाह स्तर पर आ जायगी। इसी तरह, मजदूरी उस स्तर से कम हो गई तो कुछ लोग भूखों मरेंगे और कई विवाह नहीं करेंगे। इससे उनकी तादाद कम होगी और मजदूरी को ऊँचा करेगी अर्थात् मजदूरी के लौह सिद्धान्त के अनुसार, अन्त मे मजदूरी को निर्वाह स्तर के बराबर ही होना पड़ेगा।

(ii) फिर जे० एस० मिल (J S Mill) ने मजदूरी-निधि सिद्धान्त (Wages Fund Theory) निकाला। उसने कहा कि एक देश की पूँजी का कोई निश्चित अनुपात मजदूरों को मजदूरी देने के लिये अलग रख दिया जाता है। इस तरह उसके अनुसार किसी समय पर मजदूरी उस निधि में रखे गये द्रव्य और मजदूरों की कुल संख्या से नियत होती है। यदि निधि उतनी ही रही और श्रम की पूर्ति बढ़ गई तो मजदूरी गिर जाएगी या इसका उलटा होगा। यह सिद्धान्त आलोचना के सामने टिक न सका। क्योंकि यह पता न चल सका कि निधि कैसे पैदा होती है और क्यों निश्चित (fixed) रहती है। इसके अलावा इसे ऐतिहासिक रूप से गलत साबित कर दिया गया।

(iii) अवशेष दावेदारी का सिद्धान्त (Residual Claimant Theory)—मजदूरी निधि सिद्धान्त के स्थान पर तब एक नया सिद्धान्त आया जिसके अनुसार मजदूर उद्योग की उपज के अवशेष का दावेदार (residual claimant) है। वह उपज का वह अंश पाता है जो भूमि, पूँजी और सगठन का पुरस्कार दिया जाने के बाद शेष बचता है। इस तरह से कुल उपज मे से किराया, सूद और मुनाफा निकालकर जो बचता है वही मजदूरी है। इस सिद्धात को भी छोडना पडा क्योंकि वास्तविक व्यवहार मे यह देखा गया कि जब किराया, सूद और मुनाफा बढता है तब मजदूरी भी साथ साथ बढती है। फिर अवशेष का दावेदार मजदूर नही बल्कि उद्यमी (entrepreneur) है।

(iv) आखिरकार यह महसूस हुआ कि शरीर को जीवित रखने के लिए आवश्यक वस्तुऐं नही वरन् जीवन-स्तर (standard of living) मजदूरी नियत करता है। जीवन-स्तर की परिभाषा यूँ की जा सकती है कि "यह आवश्यकताओ (necessaries), सुविधाओ (comforts) और विलासिताओं (luxuries) की वह मात्रा है जिसका एक वर्ग आदी है और जिसे बनाए रखने के लिए व्यक्ति कोई भी उचित त्याग कर सकता है, जैसे ज्यादा देर काम करना या विवाह देरी से करना।" अब कहिए कि जिन लोगो का जीवन स्तर अच्छा है वे जरूर अच्छी तनख्वाह कमाते है। किन्तु अच्छी तनख्वाह सिर्फ इसलिए नहीं मिलती कि किसी श्रमिक का जीवन स्तर ऊँचा है। बल्कि इसलिए कि ऊँचे स्तर का मतलब होता है बेहतर ट्रेनिंग शिक्षा, खाना पीना आदि जिनसे अधिक कार्यक्षमता आती है। दूसरे कोई भी ऊँचे स्तर पर रहने वाला अपने परिवार का नियोजन (Planning) करता है और बच्चो की सख्या सीमित कर देता है। आखिर मे जब लोगो का स्तर बन जाता है तब आमतौर पर वे उसे बनाए रखने के लायक तनख्वाह पाने के लिए कडा परिश्रम करते है।

हम यह कह सकते है, जीवन-स्तर का श्रम की कार्यक्षमता पर प्रभाव के द्वारा मजदूरी पर परोक्ष (indirect) प्रभाव पडता है। किन्तु यह भी केवल सप्लाई की दृष्टि से मजदूरी की आशिक (अधूरी) व्याख्या है।

(v) सीमान्त उत्पादकता का सिद्धान्त (Marginal Productivity Theory)—एक मजदूर की माग उसके उत्पादन के लिए होती है। इसलिए नियोजक (employer) उसे इससे ज्यादा दो नहीं दे सकता कि जितना उत्पादन करने की उसमे शक्ति है। नियोजक हमेशा जो मजदूरी देता है उसकी हर अतिरिक्त मजदूरी के कारण कुल उत्पादन मे जो वृद्धि हुई है उससे तुलना करता रहता है। जब तक एक मजदूर की लागत (जो मजदूरी के रूप म है) उस मजदूर की उत्पादकता से कम है तब तक वह और मजदूरो की भरती करता जाएगा। जैसे जैसे सख्या बढती है मजदूर की उत्पादन क्षमता या उपयोगिता कम होती जाती है। इसलिए वह स्वभावतया उस बिन्दु पर रुक जाता है जहाँ वह यह महसूस करता है कि अन्तिम मजदूर द्वारा उत्पादन मे किया गया योग (addition) उस मजदूर को दी गई नकद मजदूरी (money wage) के बराबर है। यह बिन्दु सीमान्त (margin) है और

सीमान्त व्यक्ति की उत्पादकता मजदूरी के बराबर है। क्योंकि सभी मजदूर बराबर कार्य-क्षमता के मान लिए गए हैं इसलिए सबको एक ही दर पर मजदूरी मिलेगी। यह दर सीमान्त उत्पादकता से निर्धारित होगी। यदि मजदूरी इस सीमान्त शुद्ध उपज के बिन्दु (marginal net product point) से इधर उधर होती है तो नियोजक उसे फिर संतुलन (balance) के बिन्दु पर ले आएँगे। यह नियोजन (employment) को घटा-बढ़ाकर किया जाएगा।

यह सिद्धान्त मजदूरी को निर्धारित करने वाले एक कारण (factor) को स्पष्ट अलग कर देता है। किन्तु यह केवल मांग के पहलू से मजदूरी की व्याख्या है। इसलिए यह भी मजदूरी कैसे नियत होती है इस प्रश्न का अधूरा उत्तर है। पूरा उत्तर आगे दिया गया है।

८. मजदूरी का आधुनिक सिद्धान्त : मांग और पूर्ति सिद्धान्त (Modern Theory of Wages Demand and Supply Theory)—उपर्युक्त दो आंशिक व्याख्याएँ साथ-साथ रखने से पूरा उत्तर मिल जाता है। यह शुभ सन्धि डॉ॰ मार्शल ने करवायी। उसके अनुसार श्रम का मूल्य, अन्य मूल्यों के ही समान मांग और सप्लाई की प्रतिक्रिया से निर्धारित होता है। मांग के लिहाज से तो श्रम की मांग इसलिए की जाती है कि यह उत्पादक है। इसलिए श्रम की मांग-कीमत स्वभावतया इस पर निर्भर होगी कि यह उत्पादन कितना कर सकता है। उत्पादकता मजदूरों की संख्या में वृद्धि के साथ-साथ घटती चली जाती है। किन्तु नियोजक कभी भी जितना मजदूर उत्पादन करता है उससे अधिक देने को तैयार नहीं होगा। इसलिए सीमान्त (margin) पर उत्पादकता मजदूरी के बराबर है। मजदूरी कालान्तर में सीमान्त उत्पादकता से ज्यादा कभी नहीं बढ़ सकती क्योंकि नियोजक अपना हित सोचते हुए इससे कभी सहमत न होंगे।

सप्लाई की ओर से, मजदूर सामान्यतया, अपने अभ्यस्त (habitual) जीवन-स्तर को बनाए रखने और ऊँचा उठाने के लिए संघर्ष करेंगे। कालान्तर में वे उससे कम में सन्तुष्ट न होंगे। इसमें शक नहीं कि विशेष परिस्थितियों में निर्वाह-स्तर (subsistence level) ही निम्नतम होगा जिसे वे सहन कर लें। किन्तु जीवन स्तर को बनाए रखने के लिए वे मजदूर सभाएँ बनाएँगे और सामूहिक सौदेबाजी (collective bargaining) करेंगे। इसलिए कालान्तर में मजदूरी का निम्नतम स्तर जीवन-स्तर के बराबर होगा, बशर्ते कि यह कार्यक्षमता (efficiency) से ऊपर न जाय।

संक्षेप में मजदूरी किसी निर्दिष्ट समय में दोनों सम्बन्धित पक्षों की सापेक्ष सौदेबाजी की शक्ति पर निर्भर होगी और अधिकतम सीमान्त उत्पादकता तथा निम्नतम-मजदूरों के जीवन-स्तर के बीच के किसी बिन्दु पर नियत होगी।

९. विभिन्न धन्धों में मजदूरी भिन्न क्यों होती है? (Why do Wages Differ in Different Occupations?)—हम अब तक मजदूरी सामान्यतया कैसे निर्धारित होती है, इस समस्या में उलझे रहे हैं। अब हम सापेक्ष मजदूरी की समस्या

को लें यानी इस प्रश्न को कि मजदूरी अलग अलग वृत्तियों में भिन्न भिन्न क्यों होती है।

मजदूरी में फर्क होता है यह साबित करने की जरूरत नहीं। सबसे कम पाने वाले (lowest paid) मामूली दिन के हिसाब से काम करने वाले मजदूर (day worker) से लेकर अनेक ग्रेड (grade) है, जब तक कि हम इन्जीनियर या मैनेजर जैसे विशेष कार्य-संचालकों (executives) तक पहुँचते है जिनको शाहाना तनख्वाहें मिलती हैं। मजदूरी के फर्क की समस्या को हम दो हिस्सों में बांट सकते हैं—(1) इस अन्तर के सामान्य आधार और (2) एक उद्योग से दूसरे उद्योग में अन्तर का कारण।

(1) मजदूरी में अन्तर के आर्थिक आधार (Economic Basis of Differences in Wages) यह है—

(क) श्रम की उत्पादकता विभिन्न व्यवसायों और ग्रेडों (grades) में विभिन्न होती है। मोची या राज इतना उत्पादन नहीं है जितना एक कुशल मोटर मिस्त्री (mechanic) या, या कोई एक दूसरा उत्पादक न हो, जितना शायद के प्रिंसिपल का।

(ख) उद्योग के अनुसार मजदूर से अपेक्षित कार्यक्षमता भी बदलती है। जैसे एक उद्योग में कार्यक्षमता (efficiency) का ज्यादा ऊँचा स्तर अपेक्षित है जो लम्बी शिक्षा या ट्रेनिंग और उसके बाद व्यवहारिक अनुभव (practical experience) से ही प्राप्त हो सकता है जिसमें बड़ा व्यय होता है। इसमें मजदूरी स्वभावतया उस उद्योग से ज्यादा होगी जिसमें ऐसी कोई ट्रेनिंग जरूरी नहीं है। उदाहरण के लिए, बड़े सर्जन का पुरस्कार, जिसने २० साल अपना काम सीखने में खर्च किए हैं, मामूली हिन्दी पढ़ाने वाले मास्टर से ज्यादा ही होगा जिसे साल भर की ट्रेनिंग की ही जरूरत पड़ी।

(ग) स्पर्द्धा-रहित दलों का होना (Presence of non-competing groups)—समाज कुछ ऐसे श्रमिक दलों में बँटा हुआ है जो स्पर्द्धाशील (competitive) नहीं हैं। भारत में जाति-व्यवस्था ने ऐसे गुट (groups) बना दिये है। फलस्वरूप भंगी के घर में जन्म लेने वाला बच्चा भंगी और लोहार का लड़का लोहार ही बनेगा। कुछ तो यह पैतृक है और कुछ बचपन के वातावरण के कारण है। जन्मजात गुण (inborn qualities) तो पैतृक होते ही है। जैसे एक मजदूर के लड़के में वह बुद्धि नहीं होती जो एक वकील के बेटे में। फिर घर का वातावरण भी कुछ गुणों का विकास करता है। इसके साथ-साथ ट्रेनिंग पाने का अवसर भी तो परिवार के साधनों पर निर्भर है। इन्हीं कारणों से—विरासत, वातावरण और ट्रेनिंग से—कहा जाता है कि सब अपने-अपने काम के लिए पैदा होते हैं।

(घ) गुणों की दुर्लभता के फलस्वरूप, जिसकी हमने ऊपर चर्चा की, कुछ व्यवसायों में श्रम की मांग और सप्लाई ठीक सन्तुलित नहीं होती। श्रम अपनी गतिशीलता (mobility) की कमी के लिए बदनाम है ही। स्पर्द्धा-रहित दलों के कारण वह और भी बढ़ हो जाता है।

(ii) विभिन्न उद्योगों में मजदूरी के अन्तर के कारण (Causes of Differences in Wages from Industry to Industry)—अब हम यह देखें कि एक उद्योग में दूसरे की अपेक्षा मजदूरों को कम ज्यादा क्यों मिलता है। किसी उद्योग में मजदूरी की सामान्य दर उसमें होने वाली श्रम की माग और पूर्ति पर निर्भर है। *निम्नलिखित कारण श्रम की माँग और पूर्ति को प्रभावित करते है*

(क) व्यवसाय की प्रियता (अनुकूलता) अथवा अप्रियता (Agreeableness or Disagreeableness of Trade)—किसी भी आकर्षक धन्धे की ओर आमतौर पर लेबर की सप्लाई अधिक आकर्षित होगी और इसलिए मजदूरी कम रहेगी। अप्रिय (unpleasant) कार्य में ऊँची मजदूरी होगी। जैसे सबसे घृणित कार्य जल्लाद का है। उसे उतने ही कठिन दूसरे कार्यों की अपेक्षा अधिक तनख्वाह दी जाती है। ग्राम पाठशाला के अध्यापक को बहुत कम दिया जाता है क्योंकि उसका काम हल्का (light) और आदरणीय (respectable) या इज्जतदार है। इसलिए अन्य कामों की अपेक्षा वह अधिक प्रिय है। अध्यापक से ज्यादा तो एक मामूली फेरी वाला कमा लेता है।

(ख) एक व्यवसाय सीखने की कठिनाई और लागत (Difficulty and Cost of Learning a Trade)—जब व्यवसाय आसानी से और कम खर्च में सीखा जा सकता है, तो उसमें घुसने वालों की सख्या ज्यादा होती है। सीमान्त उत्पादकता और इसलिए मजदूरी कम रहती है। इसका उदाहरण अकुशल डॉक मजदूरी (dock labour) है। दूसरा उदाहरण भारत में भगियो का है। जाति उन्हे उसी काम में लगे रहने पर मजबूर करती है। उनकी सख्या ज्यादा है, इसलिए मजदूरी कम है।

(ग) प्रयुक्त उपकरण (Equipment Used)—श्रम की सीमान्त उत्पादकता औजारो की किस्म पर भी निर्भर है। एक मुख्य कारण जिससे भारत के खेतिहरो की आमदनी कम है यह है कि उनके औजार सड़े रद्दी हैं। उतना ही कार्यक्षम किसान भारत में कम कमाता है और अमेरिका में ज्यादा क्योंकि वहाँ उसके पास बेहतर औजार व उपकरण होते है।

(घ) नौकरी की स्थिरता (Steadiness of Employment)—सामयिक (seasonal) *व्यवसायों म मजदूरी ऊँची होती है उन व्यवसायों की अपेक्षा जहाँ कार्य* नियमित है। यही कारण है कि छोटी सरकारी नौकरी मे जाना लोग पसन्द करते है और स्वतन्त्र धन्धा नही लेते जिसमें कमाई ज्यादा किन्तु अनियमित या अनिश्चित होती है।

(ङ) श्रमिक मे रखी गई विश्वास (Trust Reposed in the Labourer)—प्रशासको को बहुत ज्यादा दिया जाता है क्योंकि वे जिम्मेदारी और विश्वास की जगहों पर होते है। इसलिए मामूली मजदूर की जगह जौहरी को अधिक तनख्वाह मिलती है।

(च) सफलता के अवसर (Chances of Success)—विफलता का जितना ज्यादा डर होगा, सफलता होने पर उतना ही अधिक पुरस्कार मिलेगा। यदि ऐसा न

होता तो सप्लाई कम पड जाती। सफल वकील सरकारी अफसर से कही ज्यादा कमाता है, पर सफल वकीलो की सख्या कम है।

(छ) सरकारी विनियमन (Government Regulations)—कभी-कभी सरकार विशेष व्यवसायो मे निम्नतम मजदूरी (minimum wage) नियत कर देती है जिससे इस व्यवसाय और दूसरो के बीच का अन्तर कम हो जाता है।

(ज) अतिरिक्त सुविधाओ द्वारा कम द्रव्य-मजदूरी को सहायता दी जा सकती है (A Money Wage may be Helped out by Extra Amenities)—इन सुविधाओ के कारण मजदूरी मे अन्तर असली न होकर केवल दिखावटी हो सकते है। आपके घर के रसोइए को दफ्तर के चपरासी के मुकाबले कम नकद मजदूरी मिलती है। किन्तु उसे खाना, कपडा, रहना मुफ्त मिलता है और इस तरह वह चपरासी की अपेक्षा ज्यादा पाता है।

१०. विशेष अवस्थाएँ (Special Cases)—

(१) औरतो की मजदूरी—उन्हें आमतौर पर पुरुषो से कम दिया जाता है क्योकि—

(क) स्त्रियाँ पुरुष के बराबर शारीरिक कार्य नही कर सकती।

(ख) परिवार का खर्चा खासतौर पर पुरुष पर होता है। स्त्रियो की कमाई आमतौर पर परिवार की आय को बढाने के लिए ही होती है।

(ग) वे आजीवन कार्य नही करती। उनका मुख्य उद्देश्य विवाह करके घर बसाना होता है।

(घ) अपेक्षाकृत स्त्रियो के लिए कम धन्धे खुले है। रूढियो और प्रथाओ ने उन्हे बहुत से कामो से अलग कर रखा है। इसलिए जो धन्धे वे ले सकती है उनमे उनकी भीड ज्यादा है।

(ङ) वे कम सगठित है इसलिए मालिक के मुकाबले सौदे की स्थिति मे कमजोर है।

(२) भंगी आदि—आप अक्सर पूछते है कि भगी जैसे अप्रिय काम के लिए इतना कम पैसा क्यो दिया जाता है। सबसे पहले तो यह याद रखना चाहिए कि इनाम इकरार, खाना-कपडा आदि जो तीज-त्योहार, ब्याह, शादी वगैरह पर दिया जाता है उनकी असली मजदूरी मे बढोतरी कर देता है। फिर उनका जीवन-स्तर बडा नीचा है। इसके अतिरिक्त उनका कार्य अकुशल (unskilled) है। एक छोटा बच्चा भी इसे कर सकता है। ट्रेनिंग मे कोई खर्चा नही होता। साथ ही भारत मे जाति-व्यवस्था के कारण वे कोई दूसरा कार्य नही कर सकते। इस वर्ग के गरीब लोगो के अक्सर बहुत बच्चे होते है। इसलिए इस वर्ग के श्रम की पूर्ति इतनी ज्यादा है कि मजदूरी कम ही रहती है।

११ कानूनी निम्नतम मजदूरी (Legal Minimum Wages)—ये प्रजातन्त्र का युग है। हर सरकार को जनता के कल्याण की फिक्र रहती है। इसलिए कमजोरो और गरीबो की रक्षा करने के लिए, जो अमीरो और शक्तिशालियो की दया पर आश्रित है, चेष्टा की जा रही है। औरतो और निचले वर्ग के मजदूरो (भारत मे

हरिजनों) से ज्यादा काम लेने (sweating) की प्रवृत्ति खत्म होनी चाहिए, यह अब माना जाता है। ऐसा करने के लिए सरकार ने विभिन्न तरीके अपनाए हैं। सबसे कारगर दवा है एक निम्नतम मजदूरी (minimum wage) नियत कर देना, मजदूरी जिसके नीचे गिर ही न सके। इगलैंड में यही पद्धति प्रचलित है। भारत में भी कुछ चुने हुए उद्योगों और ग्रामीण क्षेत्रों में निम्नतम मजदूरी नियत करने के लिए कदम उठाये गए हैं। १६४८ में एक न्यूनतम वेतन अधिनियम (Minimum Wages Act) पास हुआ। यह कुछ उद्योगों पर लागू भी किया जा चुका है।

सच तो यह है कि लोकतन्त्र इससे भी एक कदम आगे बढ गया है। "न्यूनतम" वेतन की बजाए "उचित" अथवा 'आवश्यक" वेतन की चर्चा होने लगी है जिसका अर्थ है कि श्रमिक को केवल गुजारे की रोटी-कपड़ा और मकान मात्र ही पाने का भरोसा न रहे बल्कि उसे समाज में कुछ इज्जत का स्थान हो और वह अपने बच्चों को कार्यक्षम कारीगर बनने के लिए उचित शिक्षा-दीक्षा दे सके।

१२ **मजदूर सभाएँ और उनके कार्य** (*Trade Unions and their Activities*)—जब पहली बार उद्योग का यन्त्रीकरण हुआ तो उसका फल हुआ कारखानों की दयनीय दशा, कम मजदूरी और मजदूरों का शोषण। आत्म-रक्षा के लिए मजदूरों ने मजदूर सभाएँ—ट्रेड यूनियन्स—नाम की सस्थाएँ बना ली। इनकी मदद से वे सामूहिक रूप में मालिक से सौदा कर सकते थे और अपनी हालत भी सुधार सकते थे। मजदूर सभा का मुख्य हथियार हड़ताल है। एक साथ काम छोड़कर मजदूर मालिक को विवश करके अपनी शर्तें मनवा सकते हैं। इसलिए आज मजदूर असहाय नहीं है। अब तो नियोजक मजदूरों की अनुचित मांगों का मुकाबला करने के लिए आपस में हाथ मिलाने की जरूरत महसूस करते हैं और उन्होंने भी अपने सघ बना लिये हैं। वे कारखाने बन्द करके या तालाबन्दी करके हड़तालों का जवाब देते हैं और मजदूर-सभाओं को अपनी बातें मानने को मजबूर करते हैं।

मजदूर यूनियनें अपने काम के रचनात्मक पक्ष (*constructive side*) की भी फिक्र करती हैं। वे अपने सदस्यों के लिए स्कूल, दवाखाने, आमोद केन्द्र (recreation centres) आदि खोलती हैं। उनकी जुआ और शराब पीना जैसी बुरी आदतों को दूर करने की चेष्टा करती हैं और अपने सदस्यों को बेकार हो जाने पर सहायता करने की चेष्टा करती हैं। आजकल बुद्धिमान् नियोजक भी अपने और मजदूरों के बीच की खाई को पाटने की जरूरत समझते हैं और अपने साधनों के अनुसार मजदूरों को सुविधाएं (amenities) देने की तथा कभी-कभी मुनाफे और सचालन (management) में हिस्सा देने की कोशिश करते हैं।

१३ **मजदूर यूनियन मजदूरी कहाँ तक बढा सकती है ? (How far can Trade Union raise Wages ?)**—आमतौर पर मजदूर अपनी सीमान्त योग्यता (marginal worth) से ऊपर नहीं उठ सकता। कभी-कभी ऐसी परिस्थितियाँ आ सकती हैं कि यह भी हो जाय। यह परिस्थितियाँ निम्नलिखित हो सकती हैं—

(क) मजदूर हड़ताल की धमकी देकर अपने नियोजक को सीमान्त से अधिक

देने पर मजदूर करने मे सफल हो जाएँ।

वे ऐसा तभी कर सकेंगे जब

(i) वे सुसंगठित हों,

(ii) वे उस प्रकार के श्रम की सप्लाई पर एकाधिकार रखते हों, और

(iii) अगर उनकी मजदूरी कुल उत्पादन-व्यय का एक छोटा-सा हिस्सा हो।

सम्भव है कि ऐसी धमकियों से विवश होकर मालिक अपनी समूची आय या उसका एक अंश मजदूरों को दे दे और वे कुछ समय के लिए अपनी सीमान्त योग्यता से अधिक पाने लगें। किन्तु मालिक तभी इसके लिए तैयार होगा जब वह यह समझे कि उसके खर्चों का बड़ा भाग कारखाना बन्द हो जाने पर भी होता रहेगा और ऊँची मजदूरी देने की अपेक्षा कारखाना बन्द कर देने में उसे ज्यादा नुकसान है। तब वह दोनों में से कम बुराई (lesser evil) को अपनाता है। लेकिन आखिरकार उसे उत्पादन बन्द करना पड़ेगा।

तब हम यह परिणाम निकालते हैं कि कोई भी मालिक जान-बूझकर और अपनी मर्जी से मजदूरों को सीमान्त उत्पादकता से अधिक मजदूरी न देगा। यह कारोबार की अच्छी नीति न होगी। सिर्फ कुछ मामलों में और थोड़े समय के लिए ही वह अपने सामान्य लाभांश का कोई भाग छोड़ने को तैयार होगा।

(ख) दृढ़ मजदूर यूनियनें, जिनका श्रम पर एकाधिकार है, कभी-कभी मजदूरी सीमान्त उत्पादकता से ऊपर उठाकर वहाँ बनाए रख सकती हैं। इसका फल होगा ऊँची लागत और नतीजा होगा ऊँची कीमतें। उपभोक्ता वस्तु को कम खरीदेंगे और माँग गिर जाएगी। उत्पादन घटाना पड़ेगा। इस तरह मजदूरों की अदूरदर्शिता उन्हीं पर असर डालेगी। कारखाना पूरा या आधा बन्द हो जाएगा और वे अपनी नौकरी खोएँगे।

इस अध्याय से आपने क्या सीखा?

मजदूरी का अर्थ—कोई भी नकद या किसी वस्तु में या दोनों तरह का पुरस्कार, जो किसी भी शारीरिक या मानसिक काम के लिए घंटे, दिन या महीना के हिसाब से दिया जाय।

मजदूरी का महत्व—आज लोगों का एक बहुभाग पुरस्कार के लिए काम करता है। इसलिए किसी समुदाय का आर्थिक कल्याण उसके मजदूरों में बाँटी गई मजदूरी की राशि पर निर्भर है।

मजदूरी की किस्में—मजदूरी नकद में हो या वस्तु में (in cash or kind), समयानुसार हो (time wages), या कार्यानुसार (piece wages) या ठेके से तय हो (task wages)।

वर्गीकरण—

(क) ऊँचे स्थान के लिए वेतन (salaries),

(ख) क्लर्कों के लिए तनख्वाह (pay),

(ग) शारीरिक मजदूरों के लिए मजदूरी (wage);

(घ) स्वतन्त्र पेशेवर लोगों के लिए फीस (fees),

(ङ) दलालों और मध्यस्थों के लिए कमीशन (commission);

(च) विशेष कार्य के लिए भत्ता (allowance)।

नकद और असली मजदूरी (Real and Nominal Wage) नकद मजदूरी का मतलब है द्रव्य में दिया गया पुरस्कार। असली मजदूरी का मतलब है मजदूर को प्राप्त स्वाभाविक

संतुष्टि। असली मजदूरी (क) द्रव्य की क्रय शक्ति, (ख) वस्तुओं के रूप में प्राप्त अतिरिक्त सुविधाएँ, (ग) अतिरिक्त कमाई, (घ) काम के घंटे, (ङ) नौकरी की स्थिरता, (च) कार्य का स्वभाव, (छ) भविष्य की सम्भावनाएँ, (ज) व्यावसायिक खर्च आदि पर निर्भर है।

क्या कोई मजदूरी की सामान्य दर है? श्रम अनेक तरह से विशेष वस्तु है। इसलिए सूद की सामान्य दर के समान इसकी कोई मजदूरी की सामान्य दर नहीं है। हम केवल मजदूरी की औसत दर निकाल सकते हैं।

कम मजदूरी महँगी मजदूरी है—जो मजदूर के लिए आय है वही मालिक के लिए व्यय है। असली लागत तो मजदूर की कार्यक्षमता का मुकाबिला करके ही जानी जा सकती है। ऊँची मजदूरी माने बेहतर काम और इसलिए कम लागत।

मजदूरी कैसे नियत होती है—बहुत से सिद्धान्त प्रतिपादित किए गए हैं। आम यह स्वीकार किया जाता है कि एक ओर मजदूरी मजदूरों के जीवन स्तर पर निर्भर है। यदि यह जीवन स्तर उठाया जाय तो इसका फल होगा अधिक कार्यक्षमता जिससे मजदूरी ऊपर उठेगी। जीवन स्तर मजदूरी पर प्रभाव डालता है।

दूसरी ओर (माँग के पक्ष से) सीमान्त उत्पादकता मजदूरी को निश्चित करती है। यह दावा किया जाता है कि मजदूरी मजदूर की सीमान्त उत्पादकता के बराबर होती है। यह अन्तिम नियोजित मजदूर द्वारा कुल उत्पादन में किया गया जोड़ है। एक किस्म के सभी मजदूर एक ही कार्यक्षमता के होते हैं, इसलिए उनकी मजदूरी बराबर होती है। इस तरह मजदूरी सामान्य मजदूर की उत्पादकता क्षमता के बराबर होती है।

माँग और पूर्ति—जब हम उपर्युक्त दोनों सिद्धान्तों को मिला देते हैं तो हमें सच्चाई का पता लगता है। मजदूरी माँग और पूर्ति की दो शक्तियों से निश्चित होती है। माँग के पक्ष से नियोजक कभी सीमान्त मजदूर के मूल्य से अधिक देने को तैयार न होगा और सप्लाई पक्ष से मजदूर हमेशा अपने सभ्यस्त जीवन स्तर को कायम रखने के लायक मजदूरी पाने की चेष्टा करेगा।

सीमान्त उत्पादकता की उच्च सीमा और जीवन स्तर की निम्नतम सीमा के बीच में ही, किसी समय श्रम और उसके संगठन की शक्ति तथा सौदेबाजी की शक्ति से मजदूरी नियत होगी।

विभिन्न नौकरियों में मजदूरियों में क्यों अन्तर होता है?

(क) भिन्नता के आर्थिक आधार—

(i) अन्तर भिन्न उत्पादकता के कारण हो सकता है।

(ii) किसी मजदूर का अपेक्षित कार्य अलग अलग धन्धों में अलग अलग हो सकता है। उसमें ट्रेनिंग की अलग अवधि और खर्च हो सकते हैं।

(iii) समाज में रखी रहित दशा का अस्तित्व श्रम की माँग और सप्लाई में असन्तुलन उत्पन्न कर देता है।

(iv) ट्रेनिंग का प्रकार किसी परिवार के साधनों पर निर्भर है।

(ख) श्रम की माँग और उसकी सप्लाई पर निम्न बातों का प्रभाव पड़ता है

(i) किसी व्यवसाय की प्रियता या अप्रियता।

(ii) व्यवसाय को सीखने की कठिनाई और लागत।

(iii) उत्तरदायित्व और भार।

(iv) काम की स्थिरता

(v) श्रमिक में रखा गया विश्वास।

(vi) सफलता की सम्भावना।

(vii) सरकारी विनियम।

(viii) अन्य सुविधाओं का आकर्षण।

विशेष अवस्थाएँ—

महिला मजदूरों को पुरुषों की अपेक्षा कम दिया जाता है क्योंकि उनमें कम शक्ति, कम ट्रेनिंग, कम धन्धों में जाने की क्षमता आदि होता है। भंगी बहुत कम मजदूरी पाते हैं यद्यपि वे बहुत अप्रिय काम करते हैं। यह इसलिए है कि उनकी ट्रेनिंग का कोई लागत नहीं होता और इनाम वगैरा मिलने के अधिक अवसर होते हैं। उनकी संख्या अधिक होती है, जीवन स्तर नीचा होता है आदि।

कानूनी निम्नतम मजदूरी—हर सरकार अपने मजदूरों का संरक्षण करने की कोशिश करती है और उन्हें नियोजकों के अन्याय और अधिक श्रम (sweating) से बचाने का इसका सबसे अच्छा उपाय मजदूरों को निम्नतम मजदूरी (minimum wage) तय कर देना है।

मजदूर संघ और उनके कार्य—मजदूर सभा मजदूरों का स्वाया संस्था होता है जो नियोजकों से सौदेबाजी (bargaining) करती है। इसका मामान्य हथियार हड़ताल है। यह संस्थाएं इतनी शक्तिशाली हो गई हैं कि नियोजकों को भी अपने संघ बनाने पड़े हैं। वह तालाबन्दी, यानी कारखाने बंद करके जवाब देते हैं।

भारत में मजदूर यूनियनों को रचनात्मक कार्य की ओर ले जाने की आवश्यकता है जिससे वे केवल गड़बड़ करने के बजाय अपने सदस्यों का कुछ और फायदे भी पहुँचा सकें।

मजदूरी यूनियनें यहां तक मजदूरी बढ़ा सकती हैं ? जब मजदूर सुसंगठित होते हैं और क्षेत्र में श्रम सप्लाई का एकाधिकार उन्हें प्राप्त होता है तो वे अपने सामान्य मूल्य (marginal worth) से ऊपर भी अपने तनख्वाहें बढ़वा सकते हैं। किन्तु थोड़ा देर के लिए ही। यदि मजदूरी सदैव काल के लिए ऊपर चढ़ा दी जाती है तो कारखाना बन्द हो जाता है और मजदूर अपनी नौकरी खो बैठते हैं।

क्या आप निम्न प्रश्नों का उत्तर दे सकते हैं ?

1 Give the peculiar features of labour as a factor of production What effect do they have on their wages ?

[देखिए विभाग २। वे श्रम के शोषण को जन्म देते हैं और पूंजी और श्रम के झगड़े पैदा करते हैं। कारखानों की हालत, मकानों की स्थिति आदि का बुरा असर पड़ता है।]

2 What are wages ? Enumerate the different methods by which wages are paid

देखिए विभाग १ और ३

3 Are wages settled in the same way as the value of any common article ?

Or

How far is it true to say that the theory of wages is an application of general theory of value ?

(कलकत्ता वि० १९३१, आगरा १९३१, प० १९३५)

Or

Show how the wages are determined by the demand and supply of labour. (कलकत्ता वि० १९४७)

[देखिए विभाग ७, ८ मजदूरी उसी तरह तय होती है जैसे कीमतें। फर्क इतना है कि उत्पादन लागत की जगह यहां निम्न जीवन स्तर है और मांग का आधार, उपयोगिता के स्थान पर उत्पादकता है।]

4 How does the efficiency of labour affect wages ?

[कार्यक्षमता पर प्रत्यक्ष रूप से मजदूरी असर नहीं डालती। नियोजक मजदूर को उसकी उत्पादकता के अनुसार पैसा देता है। देखिए विभाग ७।]

5 Carefully explain the relationship between wages and standard of living (प० वि० १९३८, ४१)

देखिए विभाग ७

6 What are the real wages ? How would you compare the real wages of a domestic servant in a town with those of a member of village community in the countryside such as the village chamar ? Have wages risen or fallen during the last 15 years ? (प० वि० १९४१, ४७)

[देखिए विभाग ४। एक घरेलू नौकर (domestic servant) का शहर में अधिक वास्तविक आय होती है। गांव के चमार की आय निश्चित है और वस्तुओं में है। अथवा मजदूरी पहले बढ़ रही थी पर युद्ध और युद्धोत्तर काल में गिर गई।]

7 What is meant by cost of labour ? Explain the idea that Low wages are dear wages

देखिए विभाग ६

8 Are wages under a system of barter necessarily real wages ? If not why ?

[नहीं होती है क्योंकि वास्तविक मजदूरी अन्य बातों पर भी जैसे काम के अनुकूल शर्तों पर, काम के पश्चात् आदि पर निर्भर है। देखिए विभाग ४।]

9 Why do wages differ in different employments ?

(कलकत्ता १९३० कलकत्ता वि० बी कॉम० १९४१)

देखिए विभाग ८।

10 Why are the wages of women and sweepers low ?

(पटना, १९४१)

Are wages affected by caste system ?

(यू० पी० इन्टर बोर्ड १९४८)

देखिए विभाग १०।

11 What is a trade union ? State and briefly explain its principal functions (पटना, १९५४)

12 Write notes on—

(i) Trade unions (ii) Strikes and lock outs (iii) Standard of living (iv) Non competing groups (प० वि० १९४२)

[(i) और (ii) देखिए विभाग १२ १३ (iii) विभाग ७ (२) (iv) विभाग ६]

13 Can trade unions force wages above the marginal worth of labour ? If so how far ? (पटना १९४०, पटना १९४०

देखिए विभाग १६

14 Distinguish between nominal and real wages and point out special allowance to be made in ascertaining real wages of any group of labourers

(कलकत्ता वि० १९२९, कलकत्ता वि० बी कॉम० १९३८ आगरा १९४१, पंजाब १९३६ ४६, ४८ दिल्ली १९४३ मद्रास १९३७ नागपुर १९३१)

देखिए विभाग ४

15 Discuss of following theories of wages—

(a) Subsistence Theory or Iron Law of Wages (पंजाब १९४६)

(b) Wages Fund Theory

(c) Residual Claimant Theory and

(d) Productivity Theory

(कलकत्ता १९२४ आगरा १९४२ दिल्ली १९४० पटना १९४५ प० १९४७)

देखिए विभाग ७

16 What do you mean by minimum legal wages? How do labourers benefit from them?

देखिए विभाग ११

17 How would you compare the real wages of a domestic servant in a town with those of the servant of a village community in the countryside? (प० वि० १९४० १९४७)

[एक घरेलू नौकर शहरों में मुफ्त खाना, रहना, कपड़ा आदि पाता है और अक्सर इनाम भी पा जाता है। जबकि गाँव में घरेलू नौकर को कोई मुफ्त खाना कपड़ा नहीं देता और न तनख्वाह मिलता है। उसे फसल की उपज में से एक हिस्सा मिलता है।]

18 How do you account for the existence of different rates of wages in different occupations in the same place and in the same occupation in different places (यू० पी० बो० १९४३)

देखिए विभाग ६

19 Wages are usually higher in towns than in villages and in industry than in agriculture Comment full upon the statement

(अजमेर १९५५)

20 Examine the relation between the standard of living and the rate of wages (अजमेर १९५२ यू० पी० बो० १९५२)

[जीवन स्तर सम्पूर्ण पक्ष से मजदूरी पर प्रभाव डालता है किन्तु कह सकते हैं कि कालान्तर में मजदूरी से मजदूरों का जीवन स्तर बना रहना चाहिए।]

सूद
(INTEREST)
रुपया रुपये को बढ़ाता है
(Money breeds Money)

१ सूद [illegible] अर्थ (Meaning of Interest)—जब आप किसी बड़े कारखाने में प्रवेश करते हैं तो आपकी नजर में पहले क्या आता है? मशीन आती है, न कि उसके पीछे खड़ा हुआ आदमी। इतनी बड़ी और शक्तिशाली! अवश्य ही इसमें बड़ी रकम लगी होगी। और एक कारखाने में ऐसी कितनी ही मशीनें हैं। हम एक आदमी से यह आशा नहीं करते कि वह अपनी जेब से अकेला उन्हें खरीदने लायक होगा। इसलिए बड़े पैमाने के उत्पादन के लिए पूंजी उधार लेनी पड़ती है, उसके मालिक द्वारा पूँजी के उपयोग के लिए की गई अदायगी सूद है। पुराने जमाने में यह साधन इतना महत्त्वपूर्ण न था। आजकल पूंजी प्रमुख हो गई है और उत्पादन में इसका महत्त्व दिन-ब दिन बढ़ता जा रहा है। इससे बहुत सी समस्याएं उठ खड़ी हुई हैं।

२ पुराने जमाने में सूद (Interest in the Past)—युगों तक सूद को अनैतिक कहकर उसकी निन्दा की गई। शायद अरस्तू (Aristotle) पहला आदमी था जिसने इसके खिलाफ आवाज उठाई। उसने कहा, "द्रव्य बांझ है और उसकी कोई औरस संतान नहीं हो सकती।"[1] हजरत मूसा (Moses) ने यहूदियों को आपस में सूद लेने से रोका। शुरू में ईसाई धर्म ने भी इसकी निन्दा की। मध्यकालीन युग में बराबर चर्च ने इसका विरोध किया और ईसाइयों को सूद लेने से मना किया। जो यहूदी रुपया सूद पर चलाते थे उनको ईसाई घृणा की दृष्टि से देखते थे। शेक्सपीयर का शाइलॉक और स्काट का ईसाक सूद नायकों की प्रचलित मिसालें हैं।[2] उनको घृणा की दृष्टि से देखा जाता है। क्योंकि वे सूद की ऊंची दर वसूल करते थे। इस्लाम ने भी सूदखोरी के विरुद्ध आन्दोलन किया। भारत में भी साहूकार को बुरा समझा जाता है।

समाज के विकास के उस आरम्भिक काल में सूद के विरुद्ध यह आवाज न्याययुक्त थी क्योंकि उधार उपभोग के लिए लिया जाता था। उधार लेने वाला किसी मुसीबत में होता था। जरूरतमन्द आदमी, गरीब, विधवा, भूखा, अनाथ

---

1 Money is barren and can have no legitimate child.'

2 शाइलॉक शेक्सपियर के "मर्चेन्ट आफ वेनिस" नाटक में एक चरित्र है। स्काट के "इवान हो" में इसाक है। विद्यार्थी पहली कहानी लैम्ब (Lambs) की टेल्स (Tales) में पढ़ सकते हैं और दूसरी सर वाल्टर स्काट के उपन्यास के किसी परिचित संस्करण में।

बच्चा, या मरता हुआ आदमी जिन्दा रहने के लिए उधार माँगता था। ऐसे उधार माँग ये और उन पर सूद नैतिक आधार पर न्याययुक्त न था। ऐसी हालतों में सूद लेना मनुष्य का शोषण करना था। उसकी मुसीबत पर व्यापार करना था। इसलिए उस जमाने में सूदखोरों के खिलाफ कानून (usuary laws) पास किए गए जिनमें कर्जदार का सूदखोर के लालच से बचाव हो सके।

३ सूद—आज का दृष्टिकोण (Interest today)—(क) सूद का न्याययुक्त आधार (Justification of interest)—समय बदल गया है। उधार लेने वाला साहूकार की दया पर आश्रित नहीं है। वह सब से समर्थ होता है। उसके पास विचार होते हैं। वह अपने विचारों को कार्यान्वित करने के लिए लोगों की बचत उधार ले लेता है। उसकी चेष्टाओं से माल का उत्पादन होता है। इस प्रक्रिया में वह उधार लिए हुए रुपये से बड़ा मुनाफा कमाता है। इसलिए उसे सूद देने में कोई दिक्कत नहीं होती। पर जाहिर है कि अगर रुपये का मालिक उसके रुपए से जो मुनाफा हुआ है उसमें हिस्सा बँटा ले और अपने रुपये की सेवाओं के लिए एक कीमत वसूल कर ले तो इसमें कोई अनैतिकता नहीं है।

लेकिन भारत जैसे गरीब देशों में आजकल भी गरीब किसान को शादी या मौत के लिए रुपये की जरूरत पड़ जाती है। इसके लिए वह गाँव के महाजन के पास जाता है जो उसकी जरूरतमन्दी से फायदा उठाता है और ऊँचा सूद वसूल करके उसका शोषण करता है। महाजन उधार माँगने वाले की अज्ञानता से भी फायदा उठाता है और झूठे खाते रखकर उसे और ठगता है। इस तरह के जरूरतमन्द उधार माँगने वालों को साहूकार से बचाने के लिए राज्य ने भारत में और अन्य जगह भी कानून पास कर दिए हैं, जिनके मुताबिक न सिर्फ सूद की दर नीची होनी चाहिए वरन् ठीक खाता हिसाब भी रखना जरूरी है। सहकारी साख संस्थाएँ (Co-operative Credit Societies) भी शुरू की गई हैं जिनमें किसानों में किफायत की आदत बढ़े और गाँव के शाइलॉक का कुचक्र न चल पाये।

यह भी कहना जरूरी है कि ऐसे कानून अच्छे हैं किन्तु यदि वे बचत को निरुत्साहित करते हैं तो वे उत्पादक उद्यम (productive enterprise) में प्रतियोग (investment) कम कर देंगे।

(ख) सूद के बारे में समाजवादी दृष्टिकोण (Socialist view of Interest)—आजकल ऐसे लोग भी हैं जो सूद का दूसरे आधारों पर विरोध करते हैं। यह माना जाता है कि भूतकाल में कर्जे उपभोग के लिए लिये जाते थे जबकि आजकल अधिकतर उत्पादक प्रयोजन में। इसलिए आलोचना का आधार बदल गया है। आधुनिक काल में समाजवादी सूद की निन्दा करते हैं। वे कहते हैं कि पूँजीपति बेकार आदमी है जो सम्पत्ति विरासत में पाता है और निकम्मा रहकर ऐसा करता है। वह समाज के लिए उपयोगी नहीं है इसलिए उसे पूँजी पर सूद पाने का क्या अधिकार है। पूँजी श्रम के कार्य का फल है और उससे छीनी गई सम्पत्ति है। इस तरह सूद चोरी है। समाजवादी पूँजीवाद के विरुद्ध भले ही हो पर जब वे इस प्रकार

पूँजी की निन्दा करते है तो उसका उचित आधार नही होता। आपत्ति वास्तव मे सूद व्यक्तिगत जेबो मे जाने पर है।

(ग) सूद का विनियमन (Regulation of Interest)—हमने यह जान लिया है कि आज दिन उत्पादक उधारो (productive loans) पर सूद लेना कही भी मना नही है। किन्तु लगभग सभी आधुनिक देशो मे भारी सूद (usurious loans) के खिलाफ कानून बने है। अमरीका, इगलैण्ड, फ्रास, भारत सब देशो मे गरीब उधार लेने वाले की कर्ज देने वाले से रक्षा करने की कोशिश की गई है। अधिकतम दर मुकर्रर कर दी गई है और सहकारी समितियाँ भी महाजन की दरें नीचे रखने मे काम आती है।

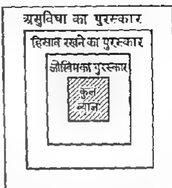
४ कुल और शुद्ध ब्याज (Gross and Net Interest)—एक आदमी पूँजी के उपयोग के लिये समय-समय पर अपने देनदार को जो कुछ देता है उसे साधारण भाषा मे सूद कहते है। किन्तु यह सब की सब अदायगी पूँजी के उपभोग की कीमत नही है। इसमे अन्य अश भी शामिल है। इस अदायगी को कुल ब्याज (gross interest) कहना बेहतर होगा। इसमे से शुद्ध ब्याज (net interest) एक अश होता है। कुल ब्याज मे भिन्न मद होते हैं—

(१) ली गई जोखिम के लिए पुरस्कार (Reward for the risk taken)—जब रुपया उधार दिया जाता है तो उसके वापिस न मिलने की कुछ जोखिम तो जरूर ही होती है। लेनदार (borrower) धोखेबाज निकल जाये या वापिस करने की स्थिति मे ही न हो। देनदार इसी लिए बदले मे पुरस्कार चाहता है जो ली गई जोखिम के परिमाण के ही अनुपात मे होगा। यह एक कारण है कि गाँव मे महाजन इतनी ऊँची दर किसान से क्यो लेता है। इसी वजह से देनदार सिक्योरिटी—बन्धक—माँगता है, जो चाहे जेवर हो, मकान हो या जमीन हो। आधुनिक बैंक भी आमतौर पर सिक्योरिटी माँगते है। इस अदायगी का एक हिस्सा जोखिम के लिए बीमा है।

(२) हिसाब किताब रखने के श्रम का पुरस्कार (Reward for Labour involved in keeping books and accounts)—महाजन को सभी अदायगियो और खर्चों का रिकार्ड (खाता) रखना पड़ता है और डाक से या स्वय मिलकर उनसे तकाजा करना पड़ता है। इस काम की एवज मे भी उसे कुछ अदायगी चाहिए।

(३) असुविधा के लिए अदायगी (Payment for Inconvenience)—अक्सर देनदार ब्याज की ऊँची दर इसलिए वसूल करता है क्योकि उसे ब्याज और मूल वक्त पर वापिस मिलने की आशा कम होती है। माँगने वाले मुवक्किलो को अदायगी के लिए प्रेरणा और उनके पीछे दौड़ना मामूली काम नही है। कुल सूद का एक हिस्सा महाजन को इस असुविधा के बदले मे मिलता है। असुविधा इसमे होती है कि महाजन को अपनी जरूरत पड़ने पर वक्त पर रुपया न मिले या फिर तब मिले जब वह उसे अच्छी जगह फिर न लगा सके। पहली हालत मे उसे स्वय उधार लेना पड सकता है और दूसरी अवस्था मे उसका ब्याज मारा जाता है। दोनो हालतो मे वह मुआवजा ले लेता है।

(४) शुद्ध व्याज (Net Interest)—जब उपर्युक्त सभी मद कुल व्याज में से निकाल दिए जाते हैं तब जो बच जाता है वह शुद्ध और सीधा पूंजी के उपभोग का किराया है। यही शुद्ध व्याज है। जो रुपया सरकारी कर्जों या ट्रेजरी बाड्स में लगाया जाता है, बड़ा सुरक्षित होता है। इसलिए इसे चमकती हुई सिक्योरिटी (gilt edged securities) कहते हैं। उनमें रुपया खोने का कोई डर नहीं होता। इसलिए इसके व्याज में अन्य मद कम होते हैं। यह व्याज शुद्ध व्याज के बहुत निकट होता है।



शुद्ध व्याज और कुल व्याज में यह भेद बड़ा उपयोगी है। जब हम विभिन्न स्थानों में विभिन्न व्यक्तियों से ली गई व्याज की दरों में व्यापक अन्तर देखते हैं तो हम जानते हैं कि फर्क केवल कुल व्याज में है। शुद्ध व्याज तो एक ही रहेगा यदि पूंजी की पूर्ण गतिशीलता (perfect mobility) है। जब सभी असुविधाओं और जोखिमों के लिए अदायगी निकाल दी जाय तो यह दर हर जगह एक-सी रहेगी। यह उपर्युक्त रेखाचित्र से स्पष्ट है।

५ व्याज क्यों दिया जाता है? (Why is Interest paid?) विभिन्न सिद्धान्त (Different Theories)—व्याज की व्याख्या क्या है? इसका क्या आधार है? ये प्रश्न समय-समय पर अर्थशास्त्रियों ने उठाए हैं और उन पर विचार किया है। आमतौर पर हरएक अपनी अपनी नजर से इसे देखता है और उस दृष्टिकोण पर अत्यधिक जोर देता है।

कुछ अर्थशास्त्री तो कहते हैं कि व्याज उस त्याग की कीमत है जो देने वाला पूंजी का आज उपयोग न करके उसे भविष्य के किसी उपयोग के लिए टाल कर करता है। दूसरों का कहना है कि यह देनदार ने अपना उपभोग जो बाद के लिए टाल दिया है उस समय की कीमत है। कुछ का कहना है कि व्याज इसलिए दिया जाता है क्योंकि उधार ली गई पूंजी का उपभोग धन उत्पादन में होता है।

एक आधुनिक अर्थशास्त्री, लार्ड कीन्स (Lord Keynes) का कहना है कि व्याज एक विशेष काल के लिए द्रवता (liquidity) को देने का पुरस्कार है। लोग अपने द्रव्य को अपने से अलग नहीं करना चाहते जब तक कि उन्हें कोई पुरस्कार न मिले।

इन सभी सिद्धान्तों में कुछ आंशिक सत्य है। किन्तु यह सभी है यदि हम भिन्न भिन्न समय पर विभिन्न विचारकों के द्वारा बताए गए पहलुओं को मिला कर एक पूरा चित्र बनाएँ। हम कहते हैं कि व्याज दो पैरों पर खड़ा होता है। यह उधार लेने वालों (उद्यमियों) द्वारा दिया जाता है क्योंकि उधार ली हुई पूंजी उत्पादक

है। ये साहूकारों (पूँजीपतियों) द्वारा लिया जाता है क्योंकि उन्हें वर्तमान द्रवता (liquidity) अर्थात् कोष के वर्तमान उपभोग करने की क्षमता को भविष्य के लिए त्यागना पड़ता है। इन कारणों से ब्याज लिया और दिया जाता है। अन्य साधनों के समान पूंजी का भी मांग और सप्लाई पक्ष है। अब हम ब्याज के उस सिद्धान्त का अध्ययन करेंगे जिसे अर्थशास्त्री आज स्वीकार करते हैं।

६. ब्याज की सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त (Marginal Productivity Theory of Interest)—ब्याज पूंजी के उपयोग के लिए दी गई कीमत है। अन्य वस्तुओं के समान पूँजी की कीमत भी उसकी मांग और सप्लाई से निर्धारित होगी।

पूंजी की मांग ज्यादातर कारोबार से आती है। ऐसे भी लोग है जो केवल उपयोग के प्रयोजन से उधार लेते हैं या मुकदमेबाजी, धार्मिक या सामाजिक रिवाजों के लिए। किन्तु पूँजी का बड़ा भाग उद्यमी कारोबार के लिए, उत्पादक-कार्यों के लिए, मांगते है। किसी हालत में भी वे सीमान्त पर उसकी उत्पादकता से ज्यादा ऊँची दर तो देंगे नहीं। जैसे-जैसे किसी उद्योग में ज्यादा पूँजी लगाई जाती है उत्पादकता घटती जाती है। हर उधार लेने वाला पूंजी की सीमान्त उत्पादकता से प्रचलित ब्याज की दर की तुलना करता है अर्थात् उस परिमाण से जो कुल धन में पूंजी की अन्तिम किश्त लगाने से जुड़ता है। वह वहाँ रुक जाता है जहां वह यह महसूस करता है कि यह उत्पादकता दिए गए ब्याज के बराबर है। जहाँ वह समझता है कि पूँजी उसके लिए मुनाफे लायक नहीं है वह नहीं लेता। जब दर गिरती है, तो पूंजी कम उत्पादकता के धधों में भी प्रयुक्त होने लगती है। इसलिए उसकी मांग बढ़ती है। यह सब उधार देने वालों के लिए सही है। मांग के पक्ष से ब्याज पूँजी की सीमान्त उत्पादकता के बराबर है।

पूँजी की सप्लाई बचत करने की शक्ति और इच्छा पर निर्भर है। यदि ब्याज की दर बहुत कम या सिफर या ऋणात्मक (negative) भी हो तो भी कुछ बचत होगी ही। पर उसकी सप्लाई बहुत कम या नहीं के बराबर होगी। ब्याज की दर पर बहुत कुछ निर्भर है कि कितनी बचत और छिपे हुए कोष बाहर आएँगे। यह दर आखिर में इतनी होती है कि सीमान्त बचत करने वाले (marginal saver) को प्रतिफल दे सके। यह वह व्यक्ति है जो बिल्कुल बचाना नहीं चाहता और केवल ब्याज की दर देखकर ही उसमें बचत करने का प्रलोभन होता है और जिसकी बचत मांग को पूरा करने के लिए जरूरी है। जब ब्याज की दर ऊँची होती है तो ज्यादा पूंजी बचाई जाती है, जैसे उस देश में बचत ज्यादा की जाती है जहाँ बैंकिंग सुविधाएँ अधिक है और जहाँ शान्ति और बाहुल्य (plenty) है।

निष्कर्ष (Conclusion)—पूर्ण स्पर्द्धा की दशाओं में ब्याज की दर में उस बिन्दु पर नियत होने की प्रवृत्ति होती है जहाँ सीमान्त उत्पादकता और सीमान्त बचत करने वाले (marginal) का प्रलोभन (inducement) दोनों यदि द्रव्य में मापे जाएँ, तो बराबर होंगे। सप्लाई और मांग की शक्तियों में अन्तर्क्रिया होती है। यदि

माँग मजबूत है तो ब्याज दर बढ़ेगी और इसके विपरीत है तो घटेगी। सतुलन बिन्दु, वह होगा जहाँ सप्लाई और माँग बराबर हैं।

काफी समय तक ब्याज का सीमान्त-उत्पादकता-सिद्धान्त ठीक माना जाता रहा। किन्तु कुछ अरसे में कीन्स का द्रवता अधिमान सिद्धान्त (Liquidity Preference Money) अधिक स्वीकार होने लगा है। उसका भी कुछ विचार कर लें।

७. द्रवता अधिमान सिद्धान्त (Liquidity Preference Money)—इस सिद्धान्त के अनुसार ब्याज द्रवता छोड़ने के लिए दी गई कीमत है। द्रवता का अर्थ है नकद पैसा हाथ में होने की सुविधा। संसार में प्रत्येक मनुष्य कुछ कामों के लिये अपने पास द्रव्य की थोड़ी-बहुत राशि रखना चाहता है। यह उसकी हाथ में पैसा रखने की माँग है। सब व्यक्तियों की ऐसी माँग के जोड़ से समाज की माँग बनती है। दूसरी तरफ है द्रव्य की पूर्ति जिसमें आते हैं सिक्के, नोट और बैंक जमा (banks deposits)। ब्याज दर का फैसला मुद्रा की माँग और पूर्ति के द्वारा होता है।

मुद्रा या द्रव्य की माँग के पीछे निम्न हेतु हो सकते हैं—

(i) आय हेतु—हमें अपनी आय महीने, सप्ताह आदि एक निश्चित वक्त के बाद मिलती है, दूसरी आय के मिलने तक काम चलाने के लिए कुछ रुपया हमें पास रखना जरूरी है।

(ii) व्यापार हेतु—व्यापारी को अपना माल बाजार में बेचने के लिए कुछ समय लगता ही है। परन्तु कच्चे माल की कीमत, श्रमिकों की मजदूरी आदि उसको पहले चुकानी पड़ती है। इसके लिये भी कुछ पैसा चाहिए।

(iii) सतर्कता-हेतु (Precautionary Motive)—हर कोई कठिनाई के समय के लिये ऐहतियात के तौर पर कुछ बचाकर रखता है।

(iv) सट्टा-हेतु (Speculative Motive)—भविष्य अनिश्चित होता है। ब्याज दर बदलती रहती है। कहा नहीं जा सकता वह अभी क्या करवट बदले। परन्तु प्रत्येक मनुष्य आशा लगाता है—इस विश्वास से कि उसका अन्दाजा ठीक निकलेगा चाहे असल में ठीक निकले या गलत। कुछ रुपया सम्भावित परिवर्तनों का लाभ उठाने के लिए रखा जाता है।

इन सब हेतुओं के लिए द्रव्य की माँग होती है जिसे द्रवता अधिमान भी कहते हैं। द्रवता अधिमान का अर्थ है वह राशि जो लोग विशिष्ट समय पर अपने हाथ में नकद रखना चाहते हैं। मुद्रा की एक पूर्ति के होते हुए जितनी अधिक द्रवता अधिमान होगी उतनी ही ब्याज दर अधिक होगी और जितनी ही वह कम होगी उतनी ही ब्याज दर भी। दूसरी ओर द्रवता अधिमान निश्चित होते हुए मुद्रा की पूर्ति जितनी अधिक होगी उतनी ही ब्याज दर कम रहेगी और जितनी वह कम होगी उतनी ही ब्याज दर ऊँची रहेगी।

स्पष्ट है कि द्रवता अधिमान सिद्धान्त के अनुसार ब्याज दर शुद्ध द्राव्यिक हल-

चल (pure monetary phenomenon) है। पूंजी की उत्पादकता का प्रभाव बहुत कम और परोक्ष होता है।

८ आर्थिक उन्नति का ब्याज पर प्रभाव (Influence of Economic Progress on Interest)—जैसे जैसे समाज की भौतिक उन्नति होती है, न केवल बचत की अधिक सुविधाएँ होती हैं वरन पूंजी बचाने के अधिक अवसर भी होते हैं। क्योंकि ऐसे समाज में उपभोग और उत्पादन का अन्तर बड़ा होता है। इसलिए ब्याज की दर गिरती है।

दूसरी ओर निस्सन्देह पूंजी के लाभप्रद प्रयोग (profitable investment) के भी अवसर बहुत अधिक और बढ़ते हुए होते हैं। माँग सदैव विस्तृत होती रहती है। युद्ध पूंजी के बड़े परिमाणों का विनाश करके सप्लाई को छोटा कर देते हैं। और उनकी जगह दूसरी पूंजी खड़ी करना धीरे-धीरे ही होता है। इसलिए ब्याज की दर बढ़ती है।

उत्पादक क्षमता के विकास से पूंजी के तौर पर काम आने वाला अतिरिक्त (surplus) अधिक बड़ा हो जाता है। यद्यपि उपयोग भी बढ़ता है। लोगों में मोटे तौर पर बचाने की क्षमता ज्यादा होती है क्योंकि आय ऊँची होती है।

आखिरकार, ऐसे लोग भी सदैव होंगे जो बिना ब्याज की दर की चिन्ता किए बचत करेंगे क्योंकि उनकी कमाई उनकी ज़रूरतों से ज्यादा है। ऐसे लोगों की संख्या शान्ति और सुरक्षा के साथ साथ बढ़ती है किन्तु उनकी बचत इतनी कम है कि वह पूंजी की आवश्यकता को पूरा नहीं कर सकती।

९ क्या ब्याज की दर कभी शून्य हो सकती है? (Can the rate of Interest ever become Zero?)—विभाग ८ में कहे गये कारण ब्याज की दर को नीचे गिराते हैं। किन्तु उसके शून्य होने का कोई खतरा नहीं है कि उसकी दर सिफर या ज़ीरो हो जाय। क्योंकि अतिरिक्त (surplus) कभी इतना बड़ा नहीं हो सकता कि सीमान्त उत्पादकता शून्य रह जाए। यह हो सके, इससे बहुत पहले ही लोग उपभोग वस्तुएँ (consumption goods) खरीदना ज्यादा पसन्द करेंगे जिससे पूंजी की सप्लाई कम हो जायगी, और मांग बढ़ जायगी। फिर वर्तमान और भविष्य में कुछ अन्तर तो हमेशा रहेगा वर्तमान की सन्तुष्टि हमेशा भविष्य की सन्तुष्टि से अधिक होगी और वर्तमान में अधिक तृप्ति ब्याज में फलित होगी।

ब्याज-दर शून्य नहीं हो सकती यह द्रवता अधिमान सिद्धान्त के द्वारा सरलता से स्पष्ट हो जाता है। मनुष्य की जेब में नकद पैसा होने से बढ़कर क्या आकर्षक हो सकता है? दूसरे विकल्प—उधार देना, सरकारी ऋण में लगा देना, मकान खरीद लेना आदि रुपया पास होने से सभी कम आकर्षक हैं। नकद पैसे में जो तुरन्त प्रयोग हो सकने की सुविधा है वह सदा ही पसन्द की जाती है। फिर ब्याज दर सिफर कैसे हो सकती है?

आपने इस अध्याय से क्या सीखा ?

ब्याज का अर्थ—ब्याज पूँजी का वह भाग है जो राष्ट्रीय लाभांश में तीसरा महत्त्वपूर्ण दावेदार है। यह पूँजी के उपयोग के लिए अदायगी है।

भूतकाल में ब्याज लगभग वे ही लेते थे जिन्हें उपयोग के लिए उधार लेने की जरूरत पड़ती थी। इसलिए इसकी इतना निन्दा की गई।

ब्याज वाजबियत—

(क) समर्थन (Justification)—आजकल के अधिकतर उधार उत्पादक उद्देश्यों के लिए हैं और पूँजी की तरह उपयुक्त होते हैं। उत्पादक पूँजी के उपयोग से मुनाफा उठाते हैं, इसलिए यह अनुचित नहीं है यदि उन्हें उसके उपयोग के लिए कुछ देना पड़े।

(ख) समाजवादी दृष्टिकोण—समाजवादी पूँजीपतियों को व्यर्थ के मुफ्तखोर बताते हैं और सूद का उन्मूलन करने की सिफारिश करते हैं।

(ग) ब्याज का विनियमन—अनेक खेतीप्रधान देशों में ब्याज की अधिकतम दर कानून से मुकर्रर होती है।

कुल और शुद्ध ब्याज—कुल ब्याज में ये शामिल है—

(i) ली गई जोखिम (risk) के लिए पुरस्कार यानी मुनाफे का एक अंश।
(ii) प्रबन्ध और खाता रखने की मजदूरी।
(iii) असुविधा के लिए अदायगी।
(iv) पूँजी के उपयोग के लिए शुद्ध पूँजी।

ब्याज की विभिन्न दरें उपर्युक्त मदों में अन्तर के कारण है, यद्यपि सभी प्रतियोगों (investment) में शुद्ध ब्याज उतना ही रहता है।

ब्याज क्यों दिया जाता है ? (Why is Interest paid)—

यह कहा जाता है कि ब्याज इसलिए लेते है कि आज की तृप्ति या द्रवता को भविष्य में किसी और दिन के लिए त्यागते है। दूसरी ओर ब्याज इसलिए दिया जाता है कि पूँजी उत्पादन में सहायक है।

ब्याज की दर—आधुनिक सिद्धान्त—ब्याज की दर मांग और पूर्ति से तय होती है। उधार लेने वाले पूँजी की सीमान्त उत्पादकता तक देने को तैयार होंगे। लेकिन यह दर ऐसी होनी चाहिए कि सीमान्त प्रतियोगी (marginal investor) को प्रतिफल मिल जाए। वास्तव में दर उस बिन्दु पर नियत होगी जहाँ सामान्य उत्पादकता और सीमान्त बचत करने वाले को आवश्यक प्रलोभन, द्रव्य की माप में, बराबर हों।

द्रवता अधिमान सिद्धान्त (Liquidity Preference Theory) इस सिद्धान्त के अनुसार नकद हाथ में रखने की सुविधा छोड़ने की कीमत ब्याज है। द्रवता अधिमान दिया हुआ हो तो द्रव्य की पूर्ति जितनी अधिक होगी उतनी ही ब्याज दर कम रहेगी और जितनी वह कम होगी उतनी ही यह ऊँची रहेगी। दूसरी तरफ द्रव्य की पूर्ति दी हुई हो तो जितना अधिक द्रवता अधिमान होगा उतनी ही ब्याज दर ऊँची होगी और जितना वह कम होगा उतनी ही ब्याज दर थोड़ी रहेगी।

आर्थिक उन्नति का ब्याज पर प्रभाव—ब्याज आर्थिक प्रगति के साथ साथ गिरने की प्रवृत्ति पाता है। पूँजी की मांग बढ़ती रहती है किन्तु उतनी ही बचत करने की इच्छा और सुविधाएँ भी बढ़ती है। ब्याज के ऊपर कमाई का सामान्य अतिरिक्त (normal surplus) ही इतना घट जाता है कि पूँजी का पर्याप्त संभरण आती रहती है। यद्यपि ब्याज की दर गिरती है किन्तु यह शून्य कभी नहीं हो सकती क्योंकि [illegible] बचत उससे पहले कम होने लगेगी।

क्या आप निम्न प्रश्नों का उत्तर दे सकते है ?

1 Define interest Do you think its payment is justified ? Why has it often been condemned ?

देखिए विभाग १, २, ३

2 Distinguish between Gross Interest and Net Interest and point out the obstacles in the way of regulation of interest by legislation (कलकत्ता १६२७, आगरा १६४१, ढाका १६४२, यू० पी० इन्टर बोर्ड १६४६, पंजाब १६४०, १६४१)

देखिए विभाग ४

ब्याज का विनियमन विधान द्वारा करने में मुख्य बाधाएँ लोगों की अज्ञानता और वह दशा है जिससे उधार लेने और देने वालों की परस्पर सहमति से दोनों जान-बूझकर कानून का उल्लंघन करते है।

3 Discuss —

"Interest is the reward of saving" (प० वि० १६४१)

"Interest is the price of time" (प० वि० १६४२)

"Interest is the price of inconvenience"

देखिए विभाग ५, ६

4 If you had Rs 100 to lend, what interest (roughly) would you accept from—

(a) A village farmer,

(b) An industrialist in a town,

(c) A co operative bank

(d) Post office ?

Can you explain why ? (प० वि० १६४३)

[महाजन शुद्ध ब्याज के साथ जोखिम वसूली में कठिनाइयों और हिसाब रखने की मेहनत के लिए भी पैसा लेता है। इसीलिए किसान को ब्याज की सबसे ऊँची दर देनी पड़ती है, उद्योगपति को कम, सहकारी बैंक को उससे भी कम और डाकखाने को सबसे कम।]

5 How is the rate of interest determined ? "Interest is determined by the demand for and supply of capital" Explain

(पटना १६४६,४६ कलकत्ता बी० काम० १६४०, आगरा १६४२, यू० पी० इन्टर बोर्ड १६४०, १६५१)

देखिए विभाग ६

6 State (giving reasons) how the rate of interest in the rural areas of your State will other things being the same be affected by the following—

(i) A successive failure of crop

(ii) An imposition of restrictions on the granting of loans,

(iii) Improvements in agriculture

[(i) कर्जों की अधिक माँग और अधिक अनिश्चितता के कारण दर बढ़ेगा।

(ii) पकड़े जाने की जोखिम की वजह से दर बढ़ेगी।

(iii) अधिक बचत के कारण दर कम होगा।]

7 Interest is determined by marginal productivity of capital, its marginal utility or its supply price Give your own views (प० वि०, १६४६ सप्ली०)

[सीमान्त उत्पादकता और सप्लाई कीमत दोनों से साथ साथ निर्धारित होती है। सीमान्त उपयोगिता का अधिक असर नहीं होता क्योंकि उपयोग के लिए उधार की राशि कम होती है। देखिए विभाग ६।]

8 Why is interest paid? Account for the fact that the Government of India is able to borrow at a much lower rate of interest than an agriculturist (अजमेर १६५५)

9 How does the rate of interest affect? Would people stop saving if the rate of interest were reduced to zero (प० वि० १६३५)

देखिए विभाग ७, ८

[आमतौर पर जितनी ब्याज की दर ज्यादा होगी, उतनी ही बचत ज्यादा होगी और इसके विपरीत कुछ अपवाद स्वरूप हालतों में बचत कम हो सकती है यदि ब्याज बढ़े तो। जैसे उस आदमी के लिए जो अपनी बचत से एक निश्चित आय चाहता है। कुछ लोग तब भी बचत करेंगे जब ब्याज की दर शून्य हो जाय, क्योंकि बचत सिर्फ ब्याज पाने के लिए ही नहीं की जाती। यह परिवार के भविष्य का प्रबन्ध करने के लिए भी की जाती है।]

10 What will be the effect of economic progress on interest? Will the rate of interest fall to zero? (प० वि० १६३१)

देखिए विभाग ७, ८

11 Why does the rate of interest differ from person to person and place to place in your country? (प० वि० १६५३)

[(i) कर्ज देने और लेने वाले में दूरी, (ii) कर्ज की अवधि, (iii) उधार लेने वाले की परिस्थिति, (iv) उत्पादकता और (v) जोखिम के कारण फर्क होता है।]

मुनाफ़ा

(PROFITS)

अमीरी की दौड़

(Race for Riches)

१. नफे की परिभाषा (Definition of Profits)—आप मुनाफा या नफा (profits) शब्द से परिचित हैं। यह बड़ा प्रचलित शब्द है, किन्तु लोग इसका विभिन्न मामलों में प्रयोग करते हैं। अर्थशास्त्र में इसका बिलकुल निश्चित अर्थ है। नफे की परिभाषा यह की जा सकती है कि यह किसी कारोबार की वह शुद्ध आय (net income) है जो कुल आय (total income) में से सब दूसरे खर्चे किराया, मजदूरी और सूद निकालकर बच रहती है। इसलिए मुनाफा अनिश्चित है और हर व्यक्ति को अलग-अलग होता है। यह शून्य हो सकता है जब लागत आय के बराबर हो, और यदि लागत ज्यादा हो जाय तो नफे के बजाय टोटा (loss) भी हो सकता है।

एक व्यावहारिक उदाहरण से आपकी समझ में आ जाएगा कि नफा कैसे निकाला जाता है। मान लीजिए एस० चंद एक किताबों की दूकान २५,०००) की पूँजी से खोलते हैं। हम यह मान लेते हैं कि दूकान उनकी अपनी है और उनका एक भतीजा उनके लिए काम करता है जो कोई तनख्वाह नहीं पाता। तो निम्न-लिखित आय-व्यय खाता या बैलेन्स-शीट कारोबार की एक साल की आय, व्यय और नफा दिखाता है।

१. कुल बिक्री	१,००,०००)
बिके हुए माल की लागत	७५,०००)
कुल लाभ	२५,०००)
२ व्यय	
(क) किराया (निहित)*	२,४००)
(ख) सेल्समैन की तनख्वाह निहित*	२,४००)
(ग) मालिक की पूँजी पर ५ प्रतिशत ब्याज (निहित)*	५,०००)
(घ) बैंक कर्जों पर ब्याज	१,२००)
कुल	११,०००)

१. कोई किराया नहीं दिया जाता क्योंकि दूकान मालिक की खुद है। कोई मजदूरी नहीं दी जाती क्योंकि उनका भतीजा तनख्वाह नहीं लेता और उनकी अपनी पूँजी पर उन्हें कोई सूद नहीं देना पड़ता। किन्तु नफा निकालने में उनका हिसाब करके उन्हें अलग कर देना पड़ेगा।

पीछे का बाकी	११,०००)
३. खराब हुए माल का मूल्यह्रास (depreciation)	२,०००)
बीमा खर्च	१,०००)
कुल	३,०००)
४. एस० चन्द की संचालन की मजदूरी (निहित)*	५,०००)
कुल छूट (deduction)	१६,०००)
५. शुद्ध लाभ या मुनाफा	६,०००)

यह हिसाब नफे का स्वभाव दिखाता है। कुल लाभ का अर्थ तो साफ है। फिर कुछ ऐसे साधन हैं जिनके लिए एस० चन्द को पैसा नहीं देना पड़ता क्योंकि वे उनके अपने हैं किन्तु आम तौर पर तो उनको बिना अदायगी किए प्राप्त नहीं किया जा सकता था। इसलिए ये अदायगी, यद्यपि निहित है, फिर भी अलग की जानी चाहिए तभी शुद्ध लाभ का पता चलेगा।

असली नफा अवशेष तत्त्व है (True Profit is a Residual Element) : इसका पता तब चलता है जब अन्य तीनों उत्पादन के साधनों को राष्ट्रीय आय में से उनका हिस्सा दे दिया गया है। यह शून्य हो या कुछ समय के लिए ऋणात्मक (negative) हो किन्तु कालान्तर में धनात्मक (positive) होना ही चाहिए। नहीं तो उद्यमी अपना स्वतन्त्र कार्य छोड़कर कहीं मजदूरी करने लग जाएगा।

२. स्थूल लाभ का विश्लेषण (Gross Profits Analysed)—अब हम स्थूल लाभ का विश्लेषण करने की स्थिति में हैं। वे कुल बिक्री से प्राप्त आय और साल भर में हुए कुल खर्चों का अन्तर है। उनमें निम्न चीजें सम्मिलित हैं—

(क) नियोजक की जमीन या अहाते का किराया—यदि वैसा ही स्थान किराए पर लिया गया होता तो वह भी लागत में जुड़ जाता। इसलिए उतनी ही रकम स्थूल लाभ में से कम कर दी जाएगी।

(ख) पूँजी पर ब्याज—उधार ली गई पूँजी पर जो ब्याज है वह मुनाफा जोड़ते वक्त ही आम तौर पर खर्चे में जुड़ जाता है। इसलिए शुद्ध लाभ यानि असली नफा निकालने के लिये मालिक की वह पूँजी जो यदि उसने न लगाई होती तो कहीं और से लेनी पड़ती और जो यहाँ न लगकर कहीं भी लगी होती तो उसको अपना ब्याज मिल जाता, उस पूँजी का ब्याज निकाल दिया जाना चाहिए।

(ग) प्रबन्धक और संचालन (Management) की तनख्वाहें—उद्यमी स्वयं प्रबन्ध कर सकता है। यदि वह कहीं और नौकरी कर लेता तो भी उसे कुछ वेतन मिलता। इसलिए उसके बराबर रकम निकाल देनी चाहिए।

(घ) रक्षा का व्यय (Maintenance Charges)—यह भी उचित ही है कि पूँजी ज्यों की त्यों रखी जाय। घिसे हुए हिस्सों को वक्त पर बदलना पड़ता है। इन सबके लिए एक मूल्य ह्रास निधि या डेप्रीसियेशन फण्ड अलग करना जरूरी होता है। इस प्रयोजन के लिए जो खर्चे हों उन्हें भी स्थूल लाभ में से निकाल देना चाहिए।

(ट) शुद्ध लाभ या असली नफा—उद्यमी को निम्न प्रकार की विभिन्न अदायगी मिलनी चाहिए जो उसके नफे का अंश है—

(i) जोखिम उठाने के लिए पुरस्कार (Reward for Risk-taking)—हर कारोबार में कुछ न कुछ नुकसान का खतरा भी होता है। कुछ जोखिमों से तो बीमे के द्वारा सुरक्षा हो जाती है, जैसे आग या समुद्र में डूब जाने की जोखिम। किन्तु बाजार भाव में उतार-चढ़ाव के कारण होने वाले नफे-टोटे का जोखिम तो उद्यमी को स्वयं ही उठाना पड़ेगा और वह यह तभी उठाएगा जब उसे कुछ मिलने की आशा हो।

(ii) एकाधिपत्य स्थिति का पुरस्कार (Reward due to a Monopolistic Position)—कोई उद्यमी जिन वस्तुओं का उत्पादन वह करता है उनकी सप्लाई के बारे में बाजार पर अपना नियंत्रण बनाकर भी कुछ अतिरिक्त आय (extra income) बना सकता है।

(iii) बेहतर सौदा करने के लिए पुरस्कार (Reward for Better Bargaining)—यदि कोई व्यवसायी सौदा करने में चतुर है तो वह ज्यादा कमाएगा।

(iv) आकस्मिक नफा (Windfalls)—बाजार की स्थिति में अकस्मात् कोई परिवर्तन आ जाने से बड़ा नफा हो सकता है, जैसे हथियार और असला बनाने वाले निर्माताओं को लड़ाई छिड़ जाने से।

३ मुनाफा किराए की ही भांति है (Profits are of the Nature of Rent)—अमेरिका के प्रोफेसर वाकर का ख्याल है कि जैसे किराया भूमि की उर्वरता (fertility) और स्थिति के अन्तर के कारण होता है, इसी प्रकार नफा भी उद्यमी की जीवन में स्थिति (अवसर) तथा योग्यता के अन्तर का फल है। मुनाफा भी सीमान्त नियोजक से, जो कोई नफा नहीं कमाता, ऊपर चलकर मापा जा सकता है, जैसे बिना किराए की सीमान्त जमीन से ऊपर किराया मापा जाता है। यह सिद्धान्त पूरी तरह नहीं माना जाता। बिना किराए की जमीन हो सकती है किन्तु बिना नफे का नियोजक नहीं हो सकता। यदि वह नफा नहीं कमाता तो कालान्तर में वह नौकरीपेशा लोगों में मिल जाएगा। फिर किराया कीमत का अंश नहीं है, परन्तु नफा है। तो भी नफे में किराये का कुछ अंश अवश्य होता है जो कि उद्यमी की योग्यता में अन्तर के कारण पाया जाता है। किन्तु नफा पूरी तरह किराया जैसा नहीं है।

४ नफे की व्याख्या (Explanation of Profits)—नफे की व्याख्या करने के कई सिद्धान्त प्रतिपादित किए गए हैं। जब हम उन पर विचार करते हैं तो हम देखते हैं कि हर सिद्धान्त ने किसी एक पहलू पर बहुत जोर डालकर दूसरों को नजरअन्दाज करने की गलती की है। असल में मुनाफा कई मदों से मिली हुई आय है। उद्यमी को उसके द्वारा किए गए अनेक कार्यों के लिए पुरस्कार मिलना चाहिए। वह उत्पादन के पीछे का दिमाग है। इसलिए वह योजना बनाता है, निश्चय करता है, चुनता है, सौदे करता है, जोखिम सर पर लेता है और अनिश्चितता का सामना

करता है। मुनाफा इन समस्त कार्यों के लिए प्राप्त रकम का योग है और वे एक दूसरे से इतने मिले हुए हैं कि हर एक को अलग-अलग करना असम्भव है। नफा सब तरह के खर्चों को निकालकर अवशेष है।

यह भी याद रखना चाहिए कि जिन लोगों में ये गुण होते हैं वे दुर्लभ हैं। यदि ऐसे व्यक्ति अनगिनत होते तो मुनाफा भी दैनिक मजदूरी के स्तर पर आ जाता। योग्य उद्यमी बहुत कम हैं क्योंकि नैसर्गिक गुणों की कमी होती है और क्योंकि उनकी ट्रेनिंग के लिए उचित वातावरण नहीं है।

हमारा नफे का सिद्धान्त तभी सन्तोषजनक होगा जब हम इन सब बातों को ध्यान में रखें।

५ नफे में फर्क क्यों होता है (Why profits Vary)—खास वजह है उद्यमियों की योग्यता में अन्तर। योग्यता मुख्यतया ईश्वर-प्रदत्त है। कुछ लोग बेहतर सौदे कर लेते हैं। कुछ अच्छे संगठनकर्ता हैं। कुछ लोग आदमी को पहचानने की क्षमता रखते हैं। और इसी तरह से और लोगों में और और गुण होते हैं। यह अन्तर मुनाफे में अन्तर लाता है। कुछ और भी कारण हैं, जैसे एक के पास कारोबार चलाने के लिए काफी पूँजी है, दूसरे के पास नहीं है। फिर किसी उद्यमी के पास कुछ भेद (secrets) हैं, जो दूसरों के पास नहीं हैं। तब वह ज्यादा नफा कमाएगा। आखिर में मुनाफा स्पर्द्धा के कारण कम होने लगता है किन्तु शून्य कभी नहीं हो सकता क्योंकि वरना सभी उद्यम समाप्त हो जायेगा।

६ मुनाफे का समाजवादी दृष्टिकोण (Socialist View of Profits)—मुनाफे का समाजवादी विरोध करते हैं। वे कहते हैं कि तमाम धन श्रम का फल है और वह श्रम को ही जाना चाहिए। उनका कहना है कि उद्यमी और पूँजीपति कोई उपयोगी कार्य नहीं करते। इसलिए मुनाफा और ब्याज दोनों श्रम की चोरी और शोषण है। इसलिए मार्क्स उन्हें खत्म करने का समर्थन करता है।

मजदूरों का शोषण बुरा है। किन्तु इसका मतलब यह नहीं कि उद्यमी कोई उपयोगी काम नहीं करता और उसे कुछ नहीं मिलना चाहिए। इसके विपरीत वह बहुत काम करता है। वह जोखिम सर पर लेता है जो कोई दूसरा लेने को तैयार न होगा और जिसका बीमा नहीं किया जा सकता। यह जोखिम है मांग के परिवर्तन आदतों और प्रथाओं में फर्क, प्रतिस्थापन की खोज, विदेशी स्पर्द्धा और राजनीतिक एवं औद्योगिक गड़बड़ियों से होने वाले नुकसान-टोटे की सम्भावना। यदि उद्यमी इस जोखिम के लिए कुछ न पाए तो वह नौकरी करना ज्यादा पसन्द करेगा। मुनाफा उद्योग को प्रोत्साहन देता है और उन्नति की ओर ले जाता है। उसकी निन्दा करना साहस, बुद्धिमत्ता और संगठन शक्ति की निन्दा करना है।

किन्तु पूँजीवादी समाज की कोई दूसरी विशेषता इतनी बुरी नहीं कही गई है जितनी नफा। उद्यमियों का टोटा नजर में नहीं आता पर उनके कभी-कभी होने वाले बड़े-बड़े मुनाफे आँखों में खटकते हैं।

आलोचना की सही दिशा यह होगी कि मुनाफे से असमानता उत्पन्न होता है और एक वर्ग के लोग शक्ति में आते हैं। इसके अलावा, मालिक ही जोखिम उठाने

वाला (risk-bearer) नहीं होता। मजदूर भी कारोबार की अनिश्चितता से उतना ही या ज्यादा जोखिम उठाते हैं। इसलिए उन्हें भी कारोबार चलाने में एक हिस्सा मिलना चाहिए। समाजवादी उद्यम में ये असमानताएँ और समस्याएँ नहीं होतीं। किन्तु दूसरे प्रकार की समस्याएँ उठ खड़ी होती हैं जिनका समाधान भी आसान नहीं है।

इस अध्याय से आपने क्या सीखा ?

मुनाफे की परिभाषा (Definition of Profits)—मुनाफे के बारे में बड़ा मतभेद है। एक साधारण आदमी के खर्चे के ऊपर आमदनी जितनी ज्यादा मिलती है उसे मुनाफा कहते हैं। यह वास्तव में कुल मुनाफा या स्थूल लाभ (gross profit) है,

स्थूल लाभ (gross profit) में—

(१) नियोजक की अपनी जमीन का किराया होता है।

(२) उसके द्वारा लगाई हुई पूँजी का सूद,

(३) सचालन (management) में उसके श्रम की कीमत, और

(४) सगठनकर्ता का खास हिस्सा, असली नफा। यह हिस्सा उसे जोखिम लेने के लिए, उसकी एकाधिपत्य की स्थिति, बेहतर सौदा करने की शक्ति तथा आकस्मिक परिवर्तनों के लिए मिलता है।

नफा किराये के समान है—अमेरिका के प्रोफेसर वाकर के ख्याल से मुनाफा किराये की तरह है। वे कहते हैं कि एक सीमान्त उत्पादक होता है जो कोई मुनाफा नहीं कमाता। दूसरे नियोजक उनकी अपेक्षा अपनी श्रेष्ठ योग्यता के कारण मुनाफा कमाते हैं। किन्तु यह सिद्धान्त मुनाफे की पूर्ण व्याख्या नहीं है।

मुनाफे की व्याख्या—मुनाफा विभिन्न मदों की, जैसे योजना बनाने की, जोखिम उठाने और सगठन करने की सम्मिलित कार्यप्रणाली से प्राप्त आय है। यह योग्य उद्यमी को उसकी खूबी के कारण मिलता है।

मुनाफे में अन्तर क्यों होता है ? प्रत्येक उद्यमी की योग्यताएँ भिन्न होती हैं। इसलिए भी किसी उद्यमी के पास अधिक पूँजी, कोई गुप्त उपाय, आदि होता है। मुनाफे कम होते जा रहे हैं। किन्तु शून्य कभी न होंगे।

क्या मुनाफे की निन्दा करनी चाहिए ? समाजवादी और साम्यवादी नफे को श्रम की उपज की चोरी कहते हैं। श्रम के शोषण के विरुद्ध होते हुए भी हमें यह कहना पड़ेगा कि यह मत एकांगी है। सगठनकर्ता का बहुत बड़ा कार्य होता है। वह बीमा न हो सकने लायक जोखिम उठाता है। वह उन्नति का अग्रणी है।

क्या आप निम्न प्रश्नों का उत्तर दे सकते हैं ?

1 What are profits ? How are they determined ?

(पंजाब वि० १९४०)

[देखिए विभाग १ और ४। मुनाफे सप्लाई और माँग के सम्बन्ध से निर्धारित होते हैं।]

[illegible] Why docs tho rate of profits vary from industry to industry and from time to time within an industry ?

(पंजाब वि० १९४० सप्लीमेन्टरी)

[कुल नफे के मदों में फर्क होने की वजह से। एक उत्पादक की अपनी जमीन या पूँजी हो सकती है, दूसरे की कुछ नहीं। फिर योग्यताओं और जोखिम का परिमाण भी भिन्न होता है। देखिए विभाग ४।]

3 Are profits of the nature of rent ?

देखिये विभाग ३

4 Differentiate between gross and net profits Are profits justifiable ? (कलकत्ता १९५४)

5 Write notes on—

(i) Gross profits

(ii) Producer's surplus

(iii) Uninsurable risks

[(i) देखिये विभाग १, २।

(ii) पर सीमान्त उत्पादक (super marginal producer) द्वारा कमाया हुआ उत्पादन व्यय के ऊपर अतिरिक्त (surplus)।

(iii) बदलते हुए फैशन और बाजार प्रवृत्ति की जोखिम संगठनकर्त्ता को उठानी पड़ती है।]

Or

Analyse gross profit Enumerate the services for which profits are a reward (अजमेर १९५५)

6 Critically examine the Socialist view of profits as a share in distribution (क० १९५२)

देखिये विभाग ६

7 Distinguish between profits and interest Analyse the former

(का० वि० १९३६, आगरा १९४९, पटना १९४०, ढाका १९३३, देहली १९४०, नागपुर १९४२) देखिये विभाग २

8 ' Profits are the reward for enterprise " Explain briefly

(यू० पी० इंटर बोर्ड १९४६)

देखिये विभाग १, ४

9 Analyse carefully the constituent elements of profits

(अजमेर बोर्ड १९५३, प० वि० १९३०)

देखिये विभाग २

10 Explain the nature of business profits and point out whether such profits form a part of the cost of production

(देहली १९४३)

देखिये विभाग १, ३

11 Discuss the nature of profit Why do we speak of profits as rent of ability ? (प० वि० १९४२)

देखिये विभाग १, २

[मुनाफा किसी आदमी को दूसरे आदमियों पर उसकी श्रेष्ठता के कारण मिलता है या प्राकृतिक सुविधाओं और लाभों के कारण। किराया भी इसी तरह श्रेष्ठ भूमि के लिए मिलता है, इसलिए हम यह कहते हैं कि मुनाफा योग्यता का किराया है।

12 Do profits form a part of costs of production ? (दिल्ली १९५५)

सार्वजनिक वित्त

(PUBLIC FINANCE)

"लोग क्या कहते हैं, और सरकार कैसे व्यय करती है"

१ सार्वजनिक वित्त की परिभाषा (Public Finance Defined)—दुनिया कई देश मे बँटी हुई है। हर एक के अपने कानून हैं और अपनी सरकार। चाहे जिस तरह की सरकार हो और चाहे जितनी सीधी-सादी हो उसे कुछ काम करने पड़ते हैं। इन कामो को करने के लिए उसे कोष की जरूरत पड़ती है, और पहले से कहीं ज्यादा। हरएक को सरकार को कुछ न कुछ देना पड़ता है। इसीलिए गरीब से गरीब को भी सरकार की सत्ता का पता होता है। उसे कर—टैक्स—देने पड़ते है। वह परेशान होकर कहता है, "यह टैक्स भी मुसीबत है!" और वह ताज्जुब करता है कि सरकार इन करोड़ो रुपयों का क्या करती है जो इसके पास इकट्ठे होते है। हम आपको यहाँ बताएँगे कि सरकार रुपया क्यो लेती है, कैसे लेती है और कहाँ खर्च करती है। वास्तव मे यह सार्वजनिक वित्त का विभाग है।

२ सार्वजनिक वित्त का महत्त्व (Importance of Public Finance)—आदमी अकेला नही रह सकता। वह कभी भी नही रहा। समाज में रहने के लिए उसे अपने साथियो के साथ एक समझौते (understanding) पर पहुँचना पड़ता है कि उनका परस्पर सम्बन्ध क्या होगा और वे किस तरह की सरकार चाहते हैं। पुराने जमाने मे सरकार के कर्त्तव्य बहुत थोड़े और सीधे सादे थे। खास तौर पर बाहर के आक्रमणों से रक्षा करना और देश मे शान्ति और सुरक्षा स्थापित करना था। जैसे-जैसे समय बीता उसके कर्तव्य बढ गए है, जबकि आज कोई भी ऐसी कार्यवाही नही है जिसमे सरकार का हाथ न हो। सरकार यह तय करती है कि हम क्या कपड़ा पहनें, क्या खाना खाएँ, क्या किताबें पढ़ें। वह यह तय करती है कि हम अपनी आवश्यकताओ को कहाँ खरीदें। किन हालतो मे हम माल खरीदें, उसका नियन्त्रण वह करती है। वह अमीरो से लेती और गरीबो को देती है। सरकार का उद्देश्य हो गया है अधिकतम लोगो का आर्थिक कल्याण करना। इस तरह आप देखेंगे कि देश के आर्थिक संगठन का कोई भी वर्णन पूरा नही हो सकता जब तक कि उसमे सरकार का काम न बताया जाय। धन के उत्पादन, वितरण और उपयोग मे सरकार का क्या हाथ है? इसीलिए सार्वजनिक वित्त का अध्ययन आजकल बड़ा महत्त्वपूर्ण हो गया।

३ राज्य के कार्यों का विश्लेषण (Functions of State Analysed)—आपको अब राज्य के कार्यों का कुछ अन्दाजा होना चाहिए। वे सचमुच इतने विभिन्न

है कि कोई भी एक केन्द्रीय सत्ता उन्हें नही सँभाल सकती। इसलिए वे कई प्राधिकारियो मे—केन्द्रीय, प्रान्तीय और स्थानीय प्राधिकारियो के बीच मे बाँट दिए गए है।

राज्य के कार्य-क्षेत्र के बारे मे हमेशा विभिन्न मत रहे है। एक सिरे पर वे लोग है जो जनता की साधारण जिन्दगी में सरकार का हस्तक्षेप अच्छा नही समझते और कहते है कि सरकार को पुलिसमैन का काम भर करना चाहिए—यानी मानव-जीवन और सम्पत्ति की बाह्य आक्रमण और आन्तरिक गड़बड़ी से बचाना। दूसरे सिरे पर साम्यवादी है, जो चाहते है कि राज्य न सिर्फ व्यापार और उद्योग चलाए वरन् बच्चो के जन्म को भी नियंत्रित करे और पालन करने का प्रबन्ध करे। इन दो विरोधी मतो के बीच में विभिन्न प्रकार के अन्य मत है।

कम से कम एक बात तो निश्चित है कि समय बीतते बीतते राज्य की कार्य-वाही का क्षेत्र बढ़ता जा रहा है। आपको अब राज्य के विभिन्न कार्यों का कुछ-कुछ अन्दाजा होगा। उनमे से कुछ हैं "शान्ति रखना, न्याय करना, देश की रक्षा करना आदि जो आवश्यकताएँ (necessaries) कही जा सकती है, कुछ जैसे उच्च विकसित शिक्षा-पद्धति जो सुविधाएँ (comforts) कही जा सकती है, जबकि और बहुत से कार्य जैसे शानदार इमारतें बनाना, मौके-मौके पर खर्चीले तमाशे दिखाना, यह सब विलासिताओ (luxuries) मे गिने जा सकते है।"—(पेन्सन)

राज्य के कार्य निम्न प्रकार से वर्गीकृत किए जा सकते हैं—

(i) संरक्षक (Protective)—जैसे जान और माल की रक्षा करना, पुलिस, फौज और अदालतो के द्वारा,

(ii) विकास-सम्बन्धी (Development) जैसे शिक्षा और सार्वजनिक स्वास्थ्य,

(iii) वाणिज्यिक (Commercial) जैसे वन, रेलवे, डाकघर, और

(iv) सार्वजनिक उपयोगिता संस्थापन (Public Utility Concerns)—जैसे बिजली, पानी की सप्लाई, सड़के, बाग, अजायबघर।

यह कार्य धीरे-धीरे बढ रहे है। एक सौ साल पहले राज्य व्यक्ति के लिए इतना कुछ न करता था जितना आज। व्यक्ति के जीवन मे हस्तक्षेप बढ रहा है। परिणाम यह है कि यह कार्यवाहियाँ केन्द्रीय, प्रान्तीय और स्थानीय अधिकारियो मे बाँटनी पड़ गई हैं। जितने बड़े और व्यापक कार्य है उतनी ही उन्हे करने के लिए आय चाहिए।

४ राज्य और व्यक्ति के वित्त की तुलना (State and Individual Finance Compared)—व्यक्ति और राज्य दोनो मे यह समानता है कि उन दोनो को साधन चाहिएँ। दोनो को उन साधनो से अधिकतम फल प्राप्त करना होता है। दोनो खर्च के हर मद से ज्यादा से ज्यादा पाना चाहते है।

किन्तु व्यक्तिगत और सार्वजनिक वित्त मे कुछ महत्त्वपूर्ण अन्तर है। वे है—

(१) एक व्यक्ति की आय उसका खर्चा तय करती है जबकि एक राज्य का प्रस्तावित खर्च उसकी आय नियत करता है। यानी यूँ कहिए कि एक आदमी अपनी

चादर को देखकर पाँव फैलाता है जबकि सरकार अपने पैर कितने फैलाने हैं यह देखकर चादर बनाती है। इस तरह राज्य पहले अपनी आवश्यकताओं की योजना बनाता है, फिर उनको पूरा करने का इन्तजाम करता है। व्यक्ति अपने खर्च को आमदनी से समायोजित करता है। राज्य अपनी आमदनी को खर्च से।

(२) कोई सार्वजनिक अधिकारी अपनी आय-व्यय की रकम बदल सकता है। निस्सन्देह एक हद तक ही। उसकी भी सीमा है किन्तु यह किसी व्यक्ति के मुकाबले बहुत ज्यादा और सरलता से कर सकता है। कोई आदमी अपनी आमदनी सरलता से दुगुनी नहीं कर सकता और न खर्चा ही आधा कर सकता है चाहे उसे उससे लाभ ही हो। किन्तु सरकार के लिए यह वहा कठिन नहीं है।

(३) सार्वजनिक अधिकारी व्यक्ति के समान भविष्य की ओर उतना उदासीन नहीं होता। वह वर्तमान की दृष्टि से ही नहीं सोचता। कारण स्पष्ट है। आदमी की जिन्दगी सालों मे गिनी जाती है और उसकी दूरदर्शिता परिमित है किन्तु राज्य तो हमेशा बना रहता है। इसलिए भविष्य की तृप्तियाँ वर्तमान उपयोगिताओं की अपेक्षा राज्य को इतनी छोटी नहीं लगतीं जितनी व्यक्ति को। एक व्यक्ति तो नौ नकद न तेरह उधार कह सकता है चाहे कल के १३ बिल्कुल निश्चित ही हों।

(४) एक बुद्धिमान् व्यक्ति वह है जो अपनी जरूरतें पूरी करने के बाद कुछ वक्त जरूरत के लिए भी बचा रखता है। राज्य के लिए ऐसा नहीं है। आम तौर पर राज्य को जमा करके रखने (hoarding) की कोशिश नहीं करनी चाहिए। उसे तो करो से जो कुछ मिलता है वह राज सेवाओं के रूप में जनता को देना चाहिए। एक भारी बचत वाला (surplus) बजट इसीलिए बुरा है और शायद एक भारी घाटे के (deficit) *बजट से भी बुरा है क्योंकि शायद घाटे का बजट जन-कल्याण* के लिए घाटा सहे जबकि अतिरिक्त बजट तो जनता पर व्यर्थ का भार है।

(५) एक व्यक्ति के लिए अपना बजट सतुलित करने की कोई निश्चित अवधि नहीं होती। राज्य का बजट प्राय. एक साल के लिए बनता है।

(६) व्यक्तिगत वित्त गुप्त रहता है। राजकीय वित्त जनता के सामने आता है।

(७) राज्य अपने आप से (अर्थात् अपनी जनता से) एक कर्जा उठा सकता है, व्यक्ति नहीं।

५ राज्य की आय के स्रोत (Sources of State Income)—हमने देखा है कि आधुनिक सरकारों के कार्य बड़े महत्त्वपूर्ण है और उनमे भारी व्यय होता है। इस व्यय को पूरा करने के लिए सरकार को उतनी ही बडी आय भी चाहिए खास तौर पर चार स्रोत होते हैं, जिनसे आय प्राप्त होती है। वे है—(क) फीस और विशेष उगाहियाँ, (ख) कर्ज, (ग) कीमतें (औद्योगिक कमाई) और (घ) कर, जिन्हें उनकी महत्ता के क्रम से उलटा गिना गया है। इसके अलावा कुछ और भी फुटकर स्रोत हैं जैसे जुर्माने और दण्ड, प्रतिकर और मुआवजे, ऋण और उपहार। हम इन पर नीचे विचार करेंगे।

फीस आदि (Fees etc.)—फीस किसी व्यक्ति द्वारा सरकार को दी गई वह

अदायगी है जिसके द्वारा उसे कोई विशेष फायदा होता है। जैसे पेटेन्ट फीस, अदालती फीस, ट्यूशन फीस वगैरह। हर हालत में व्यक्ति को जिस काम के लिए वह फीस देता है उस काम से कोई खास फायदा होता है। एक विशेष उगाही (assessment) वह खास फीस है जो उन व्यक्तियों से ली जाती है जिन्हें सरकार को किसी काम से विशेष फायदा मिलता है। जैसे किसी नई नहर, सड़क, या नाली से।

कर्ज—सरकार युद्ध जैसे आपत्तिकाल में या जब वह कोई खर्चीला उद्यम हाथ में लेती है, जैसे रेल बनाना है, तो भारी ऋण लेती है। क्योंकि ऐसे उद्यमों से फायदा आगामी पीढ़ियों को ज्यादा होगा इसलिए यही वाजिब है कि इस पीढ़ी की बजाय उनके खर्चों का भार अगली पीढ़ी पर भी पड़े। इसलिए कर्जों की शक्ल में रकम उठाई जाती है न कि टैक्सों के रूप में।

कीमतें (Prices)—जब सरकार किसी व्यावसायिक उद्यम में लगती है, तब वह अपनी सेवाएँ एक निश्चित कीमत पर उपभोक्ताओं को बेचती है। उपभोक्ता स्वतन्त्र है इस बात में कि वह उसका उपयोग करे या न करे। जैसे यदि आप रेलवे ट्रेन का उपयोग करें या तार अथवा चिट्ठी भेजें तो ही आप एक कीमत अदा करते हैं। आप पर कोई अतिरिक्त भार नहीं है। आमतौर पर सरकारें ये उद्यम मुनाफे के लिए नहीं करती वरन् लोगों को ऐसी सेवाएँ देने के लिए जो सिर्फ सरकारें ही कर सकती हैं या किसी प्राइवेट एजेन्सी से अच्छी कर सकती है। आजकल कुछ सरकारें हाथ में कुछ ऐसी कार्यवाहियाँ भी हाथ में लेती हैं, जैसे व्यापार उद्योग और कारोबार है, यह सोच कर कि उनके द्वारा कमाए गए बड़े-बड़े मुनाफे व्यक्तियों की जेबों में न जाकर राष्ट्र के हित में काम आ सके।

टैक्स (कर)—ये राज्य की आय का आज सबसे बड़ा स्रोत है। कर की परिभाषा की गई है, "किसी व्यक्ति या व्यक्तियों के समूह का अनिवार्य अंशदान (compulsory contribution) जो सार्वजनिक शक्तियों की सेवाओं के बदले में दिया गया हो" (बास्टेबल)। जोर इस बात पर दिया है कि यह अनिवार्य अदायगी (compulsory payment) है। यह सार्वजनिक सेवाओं के लिए दिया जाता है किन्तु यह समझ लेना चाहिए कि कोई विशेष कर, साधारणतया राज्य द्वारा की गई किसी विशेष सेवा का मूल्य नहीं है। प्रोफेसर टौसिग के अनुसार—"दूसरी किसी सरकारी वसूली से कर इस माने में भिन्न है कि करदाता (tax-payer) और सार्वजनिक अधिकारों में कोई सीधा अदले-बदले का या ले-दे समानता का सम्बन्ध नहीं है।" दूसरे शब्दों में आप कर देने से यह कहकर इनकार नहीं कर सकते कि अमुक सेवा का मैंने उपयोग नहीं किया। एक अमीर आदमी के कोई बच्चा न हो पर उसे स्कूलों पर खर्च किये गये करों को तो देना ही पड़ेगा।

टैक्सों के पीछे प्रयोजन (Motives Behind Taxes)—कर अधिकतर राजस्व पाने के लिए लगाए जाते हैं। दूसरी ओर पैनल्टी (penalty) या दण्ड लोगों को कोई विशेष कार्य करने से रोकने के लिए लगाया जाता है। कभी कभी ऐसा टैक्स भी लगाया जा सकता है जो दोनों काम करे। वह राजस्व की भी वृद्धि

करे और लोगों को किसी हानिकारक वस्तु, जैसे अफीम, के उपयोग से भी रोके। फिर कुछ कर सरक्षक शुल्क (protective duties) की हैसियत के भी हो सकते हैं। ये इसलिए लगाए जाते है कि किसी गृह-उद्योग को विदेशी स्पर्द्धा से बचाना है। कभी-कभी किसी कर का प्रयोजन कुछ और होता है। उसका उद्देश्य होता है समाज मे धन के वितरण की असमानता को दूर करना। धनी लोगो पर कर लगाए जा सकते है जिनसे गरीबो को मुफ्त शिक्षा और डाक्टरी सहायता (medical aid) दी जा सके।

६ कराधान के सिद्धान्त (Principles or Cannons of Taxation)—हमने देखा कि कर का देने वाले के फायदे से कोई सम्बन्ध नही है, बल्कि देना अनिवार्य है। इसलिए कर का बोझ वितरित करते समय किसी व्यक्ति का भाग उसे मिले हुए फायदे के लिहाज से नही तय किया जा सकता। एडम स्मिथ ने करारोपण अधिकारी (Taxing authority) के मार्ग दर्शन के लिए चार सिद्धान्त बताए है।

एडम स्मिथ के सिद्धान्त (Adam Smith's Canons)—स्मिथ के बताए हुए सिद्धान्त इतने महत्वपूर्ण है कि वे ऐतिहासिक हो गए है। वे है—

(१) समानता का सिद्धान्त (Canons of Equity or Equality)—स्मिथ का कहना है कि "हर राज्य की प्रजा को सरकार की सहायता के लिए जितना ज्यादा सम्भव हो प्रत्येक व्यक्ति को अपनी सामर्थ्य के अनुसार अशदान देना चाहिए; यानी राज्य के सरक्षण में जितनी आय वा वे उपभोग करते है, उसके अनुपात मे।" इस सिद्धान्त को मानने या न मानने के अनुसार ही कराधान समान या असमान कहलाता है।

इस सिद्धान्त से दो सिद्धान्त और उदय हुए है—

(i) त्याग की समानता का सिद्धान्त (Equality of Sacrifice Theory)—जिसका अर्थ है कि कराधान के बोझ के कारण हर व्यक्ति को समान रूप से त्याग करना पडना चाहिए। यह समानता यद्यपि सिद्धान्त मे अच्छी है किन्तु व्यवहार मे बडी कठिन हो जाती है। त्याग तो निजी, व्यक्तिगत, वस्तु है जो किसी व्यक्ति के मस्तिष्क मे होती है। इसकी माप करना कठिन है। फिर यह भी देखना पडेगा कि परिवार के कमाने वाले सदस्य के ऊपर कितनी सख्या मे लोग आश्रित हैं और उनका जीवन-स्तर क्या है।

(ii) योग्यता या पात्रता सिद्धान्त (Ability or Faculty Theory)—कहती है कि अमीर को अपनी आय के अनुपात से कुछ अधिक अदायगी करने पर विवश करना चाहिए। ५००) मासिक कमाने वाले आदमी को, यदि और बातें एक-सी हो तो, अगर ५०) देने को कहा जाय तो उसे इतनी मुश्किल न होगी जितनी ५०) महीना पाने वाले को ५) देने मे। क्योकि ५००) वाले की देने की क्षमता ज्यादा है। इसी सिद्धान्त पर कराधान की उत्तरोत्तर वृद्धि (progression) आधारित है यानी आय के बढने पर करो की ऊँची दरें।

(२) निश्चितता का सिद्धान्त (Canon of Certainty)—स्मिथ आगे कहता है कि हर व्यक्ति को जो टैक्स देना पडता है वह निश्चित होना चाहिए न

कि मनमाना। कितनी रकम देनी है और कब यह देने वाले के और हर एक के लिए स्पष्ट होना चाहिए। हर व्यक्ति को मालूम हो कि ठीक क्या, कितना, कहाँ और कैसे कर देना है। नहीं तो अनावश्यक कष्ट होता है। इसी तरह राज्य को ठीक-ठीक जानना चाहिए कि किस टैक्स से उसे कितना मिलेगा।

(३) सुविधा का सिद्धान्त (Canon of Convenience)—स्मिथ के अनुसार "हर टैक्स इस प्रकार और ऐसे समय में लगाया जाना चाहिये कि हर एक को देने में सहूलियत हो।" जाहिर है कि ऐसा वक्त और अदायगी का तरीका रखना बुद्धिमानी नहीं है जो उपयुक्त न हो। भारत में मालगुजारी फसल काटने के बाद ली जाती है। इसी समय खेतिहर मजे में दे सकते हैं।

(४) किफायत का सिद्धान्त (Canon of Economy)—आखिर में स्मिथ ने कहा कि टैक्स ऐसे वसूल करना चाहिए कि लोगों की जेब से जो पैसा निकले वह जितना राजकीय खजाने में जमा हो उससे कम से कम ऊपर हो।" यानी वसूली का खर्चा कम से कम होना चाहिए। यदि टैक्स का ज्यादा हिस्सा वसूली में ही निकल जाय तो लोगों की जेबों से तो बहुत निकल जाएगा पर खजाने में कम पहुँचेगा। ऐसा कर बुद्धिमानी का न होगा।

कराधान के अन्य सिद्धान्त (Other Canons of Taxation)—एडम स्मिथ के जमाने से अर्थशास्त्रीय विज्ञान में बड़ी प्रगति हुई है। आगे के लेखकों ने अन्य सिद्धान्त भी जोड़ दिए हैं। वे यह है—

(क) उत्पादकता का सिद्धान्त (Canon of Productivity)—यह जोर डालता है कि टैक्स से राज्य को कुछ अच्छी रकम मिलनी चाहिए। आखिरकार कराधान अधिकारी का मुख्य प्रयोजन तो कोष प्राप्त करना ही है। इसलिए जो कर अच्छी आय नहीं करता वह व्यर्थ है।

(ख) लोच का सिद्धान्त (Canon of Elasticity) कहता है कि देश की जनसंख्या या आय बढ़ने पर कर स्वयं ही अधिक राजस्व प्राप्त करे तो अच्छा है। राज्य की आवश्यकताओं और जनता के स्रोतों में सीधा सम्बन्ध होना चाहिये। यदि आपत्ति काल में टैक्स दर बढ़ाने से अधिक आय मिले तो कर अपने स्वभाव में लोचदार (elastic) है।

(ग) सादगी का सिद्धान्त (Canon of Simplicity) यह है कि कर-प्रणाली सीधी सादी होनी चाहिए। नहीं तो गड़बड़ और उससे भी बुरी बात भ्रष्टाचार (corruption) होगा। युद्ध-काल में और उसके बाद कुछ टैक्स, जैसे कपड़े की बिक्री पर और कुछ अन्य आवश्यक वस्तुओं की जरूरी सप्लाई पर टैक्स का नतीजा हुआ भ्रष्टाचरण (corruption)। खासतौर से इसलिये कि उसमें सादगी नहीं थी।

७ सार्वजनिक व्यय के सिद्धान्त (Principles of Public Expenditure)—पुराने जमाने में सार्वजनिक खर्चों का मुख्य उद्देश्य यह था कि बाहरी हमला से रक्षा करने के लिये फौज और भीतरी गड़बड़ दूर करने के लिये पुलिस रखी जाय। अब अधिकतर राज्य वेलफेयर स्टेट्स (Welfare States) या कल्याणकारी

राज्य बनने की चेष्टा में है। उनका उद्देश्य सिर्फ राष्ट्र की निगरानी करना नहीं है, बल्कि कोई सामाजिक काम ऐसा नहीं है जिसकी देखभाल राज्य न करता हो। बड़ी-बड़ी रकमें लोक हित के कार्यों में खर्च की जाती हैं। मुफ्त प्राथमिक शिक्षा (primary education) और सस्ती माध्यमिक शिक्षा (secondary education), मनुष्यों और पशुओं के लिये अस्पताल, नहरों और सड़कों का निर्माण आदि कार्य हो रहे हैं। जंगल लगाये जाते हैं, कारखानों का सचालन किया जाता है और बैंक स्थापित किये जाते हैं। वास्तव में राज्य आज अमीरों से पैसा लेकर गरीबों पर खर्च करता है। जिससे आय के फर्क कम हो जाएँ और ज्यादा से ज्यादा लोगों का भला हो। कुछ राज्यों में परिवहन और वैदेशिक व्यापार का भी राष्ट्रीयकरण हो गया है। वास्तव में सभी राजकीय व्यय का बुनियादी उद्देश्य अधिकतम लोगों का कल्याण और गरीबों के जीवन स्तर में वृद्धि है। अधिक उत्पादन के द्वारा मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य का विकास करना, सब को नौकरी देना, देश को विदेशी आक्रमणों से बचाना, घर में शान्ति और सुरक्षा रखना और समान लाभ करना यह सब राज्य के उद्देश्य हैं।

राजकीय व्यय के मुख्य सिद्धान्त निम्नलिखित हैं—

(i) **अधिकतम सामाजिक लाभ** (*Maximum Social Advantage*)—सबसे मौलिक सिद्धान्त राजकीय व्यय का यह है कि इससे किसी व्यक्ति या वर्ग को फायदा होने के बजाय अधिकतम सामाजिक लाभ होना चाहिये।

(ii) **किफायत (Economy)**—क्षयकारी व्यय न किया जाय। किन्तु किफायत का मतलब कंजूसी नहीं है।

(iii) **स्वीकृति (Sanction)**—कोई खर्चा भी बिना समुचित अधिकारी की स्वीकृति के न किया जाय।

(iv) **सन्तुलित बजट** (Balanced Budget)—बजट में बार बार घाटा न हो।

(v) **लोच (Elasticity)**—सार्वजनिक व्यय बिलकुल हमेशा के लिये निश्चित नहीं किया जाता। नहीं तो उसे जरूरत पड़ने पर कम करना सम्भव न होगा।

(vi) **उत्पादन और वितरण पर हितकारी प्रभाव** (Beneficial Effects on Production and Distribution)—सार्वजनिक व्यय ऐसा होना चाहिए कि उत्पादन को बढ़ावा दे। इससे धन के वितरण की असमानता भी कम होनी चाहिए।

आपने इस अध्याय से क्या सीखा ?

सार्वजनिक वित्त का अर्थ—हर सरकार के कुछ काम होते हैं जिन पर वह करों तथा अन्य तरीकों से रुपया इकट्ठा करके खर्च करती है। यह पहिले भी होता था और आज भी। एक राज्य द्वारा आय प्राप्त करना और खर्च करना सार्वजनिक वित्त (Public finance) कहलाता है।

सार्वजनिक वित्त का महत्त्व—आज राज्य के काम पहले से कहीं ज्यादा है—उसके पास रुपया भी ज्यादा आता है और वह जीवन में हर तरह का हस्तक्षेप करता है। इसलिये यह विषय बड़ा महत्त्वपूर्ण हो गया है।

सरकार के कार्य (Functions of Government)—आज सरकार पहले से बहुत ज्यादा काम करती है। सरकार को क्या करना चाहिए इस बारे में मतभेद है। किन्तु कुछ बातों में सभी सहमत हैं। शान्ति और सुरक्षा बनाए रखना, देश की रक्षा करना, शिक्षा, सड़कें आदि बनवाना—यह सभी लोग मानते हैं। ऐसे कर्त्तव्यों का संरक्षक, विकास सम्बन्धी, वाणिज्यिक और सार्वजनिक उपयोगिता सेवाओं में वर्गीकरण किया गया है। इनके लिए धन की आवश्यकता है।

व्यक्तिगत वित्त और राजकीय वित्त में अन्तर—दोनों को अपनी जरूरतें पूरी करने के लिए धन चाहिए। किन्तु—

(१) एक व्यक्ति की आय उसके खर्चे निर्धारित करती है जबकि राज्य अपनी व्यय-आवश्यकता के अनुसार अपनी आय बनाता है।

(२) सार्वजनिक प्राधिकारी (Public authority) कुछ हद तक अपना आय-व्यय बदल सकता है पर व्यक्ति नहीं।

(३) सार्वजनिक प्राधिकारी भविष्य को वर्तमान की अपेक्षा कम महत्त्व नहीं देता जैसा कि एक व्यक्ति करता है।

(४) राज्य को कुछ बचाने की जरूरत नहीं, व्यक्ति को है।

(५) राज्य का सालाना बजट होता है। व्यक्ति का कोई अवधि नहीं है।

(६) व्यक्तिगत वित्त छुपा रहता है। राजकीय वित्त सब के सामने प्रकाशित किया जाता है।

(७) व्यक्ति कोई आन्तरिक उधार नहीं ले सकता।

सार्वजनिक आय के स्रोत—४ खास मद हैं, फीस और आदायगियाँ, कीमतें, उधार और कर।

फीस (Fees)—प्राप्त फायदों की अदायगी है।

कर निर्धारण (Assessment)—एक विशेष फीस है जो किसी विशेष राजकीय सेवा के लिए लगाई जाती है, जैसे सड़क या नहर, नाली या सफाई के लिए।

कर्जे (Loans) विशेष काल में ले लिये जाते हैं, जैसे युद्ध में या रेलवे बनाने के लिए।

कीमतें (Prices) कारोबार या जनता की सेवाओं की बिक्री से मिलती हैं, जैसे रेल, ट्राम या डाकघर से।

कर (Taxes)—राजस्व का सबसे महत्त्वपूर्ण माध्यम कराधान (Taxation) है। "कर किसी व्यक्ति या व्यक्तियों के समूह के धन का वह अनिवार्य अंशदान है जो सार्वजनिक शक्तियों की सेवाओं के लिए दिया जाता है।" (Bastable) यह किसी विशेष सेवा के लिए अदायगी नहीं है वरन् अनिवार्य वसूली (compulsory charge) है।

कराधान के उद्देश्य—टैक्स (क) राजस्व उठाने के लिए, (ख) कुछ हानिकारक वस्तुओं का उत्पादन या उपभोग कम करने के लिए, (ग) गृह-उद्योगों के संरक्षण के लिए या (घ) आय के अन्तर को कुछ हद तक कम करने के लिए लगाए जाते हैं।

कराधान के सिद्धान्त—एडम स्मिथ के सिद्धान्त—

(१) समानता का सिद्धान्त—करदाताओं पर समान बोझ पड़ना चाहिये। इस नियम को व्यवहार में लाना कठिन है।

(२) निश्चितता का सिद्धान्त—हर करदाता को यह ठीक मालूम होना चाहिए कि उसे जो अदायगी करनी है उसका रूप और परिमाण कितना है।

(३) सुविधा का सिद्धान्त—टैक्स करदाता की सुविधा को ध्यान में रखकर वसूल किया जाना चाहिए।

(४) किफायत का सिद्धान्त—कर की वसूली में ज्यादा खर्च न आना चाहिए।

बाद के सिद्धान्त—उपर्युक्त चार सिद्धान्तों में कुछ और भी जोड़ दिए गए हैं। वे हैं, उत्पादकता (productivity) यानी अच्छा राजस्व देने की क्षमता, लोच (elasticity) यानी स्वयं बढ़ने-घटने की क्षमता, और सादगी (simplicity) यानी सबकी समझ में आने लायक।

सार्वजनिक व्यय के सिद्धान्त—खास सिद्धान्त हैं—

(i) अधिकतम सामाजिक लाभ,

(ii) किफायत,

(iii) मंजूरी,

(iv) सन्तुलित बजट,

(v) लोच, और

(vi) उत्पादन तथा वितरण पर हितकर प्रभाव।

क्या आप निम्न प्रश्नों का उत्तर दे सकते हैं ?

1 Why does Government need revenue ? Point out the important sources of a modern State (पंजाब विश्वविद्यालय १९४६)

देखिए विभाग १, २ और ५

2 Describe the main heads of revenue and expenditure of your own state and give brief comments on each item

(अजमेर १९५५)

(आय के मद—भूमि-लगान, जंगल, आबकारी (excise), स्टैम्प्स (stamps), आय-कर व केन्द्रीय आबकारी में भाग, बिक्री कर, मनोरंजन कर आदि।

व्यय के मद—खेती, उद्योग, सड़कें, शिक्षा, सार्वजनिक स्वास्थ्य, पुलिस, नागरिक शासन, सिंचाई आदि)।

Or

What are the principal sources of revenue and heads of expenditure of a modern state ? (बम्बई १९५४)

(आय के स्रोत—आय कर, आयात निर्यात कर, आबकारी, रेलवे, डाक व तार, मृत्यु-कर आदि।)

व्यय के मद—सुरक्षा, यातायात व संचार, शिक्षा, चिकित्सा, सिंचाई, सामाजिक बीमा, राष्ट्रीय ऋण, नागरिक शासन।)

3 What is Public Finance ? Is there any essential difference between public and private finance ?

(पंजाब विश्वविद्यालय, १९४३ ; आगरा, १९३७)

देखिए विभाग १, ४

4 What do you understand by public works ? Why are they undertaken by public bodies rather than by individuals ?

[सड़कें, पुल, अस्पताल आदि। ये व्यक्तिगत प्रयास के लिए बहुत बड़े हैं और सबके लिए समान हित के हैं।]

5 What is a tax ? Distinguish it from (i) a fee, (ii) a penalty, and (iii) a price

देखिए विभाग ५

6. Explain in brief the canons of taxation

(पंजाब विश्वविद्यालय, १९४६ सप्लीमेंटरी)

7. Lay down a few principles of public expenditure.

देखिए विभाग ११

8 Differentiate 'protective' from revenue duties What are the motives kept in mind by the authority while levying a tax ?

[संरक्षण शुल्क (protective duties) गृह उद्योग को संरक्षण देने के लिए लगाया जाता है जबकि राजस्व कर (revenue duties) का प्रधान उद्देश्य राजस्व की प्राप्ति है। पहला शुल्क दूसरे की अपेक्षा अधिक दिन तक चलता है। देखिए विभाग ६।]

9 Take up two of the well known taxes in our country and discuss how far they satisfy the well known principles of taxation

देखिए भाग २ करारोपण पर अध्याय

10 Write a short note on the doctrine of maximum social advantage as the aim of Public Finance

देखिए विभाग ३

11 Discuss the theory of maximum utility in public expenditure (कलकत्ता विश्वविद्यालय बी० कॉम १९३६)

[खर्चे का उद्देश्य सामाजिक कल्याण की वृद्धि होना चाहिए इससे नागरिकों की आय का बहुत बड़ा भाग नहीं चला जाना चाहिए। इसलिए यह लोचदार हो और फालतू बरबादी न हो।

12 Define Tax Distinguish between—

(a) Income Tax Excess Profits Tax and Super Tax

(पंजाब विश्वविद्यालय १९४१ ४१)

(b) Progressive Tax and Proportional Tax

(c) Specific Duty and Ad Valorem Duty

(पंजाब विश्वविद्यालय १९४४)

(क) आय कर (Income Tax) आमदनी पर लगाया जाता है। अधिक मुनाफा कर (Excess profits tax) युद्ध काल में अपनी योग्यता के कारण नहीं वरन् असामान्य दशाओं के कारण प्राप्त लोगों की अतिरिक्त आय पर लगाया गया था।

सुपर कर (Super tax) बहुत ऊँची आय पर लगाया जाता है।

(ख) उत्तरोत्तर कर (Progressive tax) का मतलब है ऊंचा आय पर ऊँची दर से कर लगाना। आनुपातिक कर (Proportional tax) में कर की दर हर आय पर एक ही रहेगी।

(ग) निश्चित शुल्क (Specific duty) वस्तु के भार के अनुसार लगाई जाती और मूल्यानुसार शुल्क (Ad Valorem) वस्तु के मूल्य के अनुपात से]

13 What are the characteristics of a good tax system ?

(बम्बई १९५२)

देखिए विभाग ६

14 Discuss the principles of taxation What are the dangers of ignoring these principles ? (पंजाब विश्वविद्यालय १९५१)

देखिए विभाग ६

कर (TAXES)

ऐसी चुटकी काटो कि रोए नहीं

(Pluck the goose without its squealing)

१ **कर का बोझ** (Burden of a Tax)—कराधान के प्रयोजन पर चर्चा कर लेने के बाद अब हमारे सामने करो के बोझ के वितरण की समस्या है। पुराने जमाने में राजा कर वसूल करते वक्त यह विचार नही करते थे कि इसकी वसूली मे किसे और क्या तकलीफ होगी। लेकिन आज हालत और है। कर लगाने से पहले उनके तात्कालिक (immediate) और कालान्तर में (long range) प्रभाव समझ लिये जाते है। विभिन्न वर्गों पर उनके बोझ का हिसाब लगाया जाता है और उनका वर्गीकरण किया जाता है। यह जानने की कोशिश की जाती है कि कौन तुरन्त कर देगा और किस पर आखिर मे जाकर यह पडेगा। केवल इसी तरह से कर का वास्तविक भार पता लगता है। और विभिन्न वर्गों के अनुकूल समायोजित किया जाता है।

२ **करो की किस्मे** (Kinds of Taxes)—कर (i) आनुपातिक (ii) उत्तरोत्तर (iii) प्रतिगामी और (iv) ह्रासमान होते है।

(i) **आनुपातिक कर** (Proportional Tax) वह है जो हर एक व्यक्ति की जेब से आय का बिल्कुल उतना ही प्रतिशत ले। जैसे सभी बडी या छोटी आमदनी पर मान लीजिये ५ प्रतिशत की समान दर (flat rate) आनुपातिक कर कहलाएगी। ऐसा कर बडा सादा होता है और धन के वितरण के स्तर में कोई परिवर्तन नहीं करता। किन्तु यह स्पष्ट है कि इस प्रणाली मे गरीब लोग जिनके छोटे साधन होते है कष्ट पाते है इसलिए आधुनिक कराधान में आनुपातिक करो के स्थान पर उत्तरोत्तर कर प्रणाली प्रयुक्त होती है।

(ii) **उत्तरोत्तर कर** (Progressive Tax) बोझ को अधिक न्यायपुक्त रूप से बाटने की चेष्टा करता है। बडी आय वालो से अधिक दर ली जाती है। क्योंकि द्रव्य की सीमान्त उपयोगिता उसकी वृद्धि के साथ गिरती है। इसलिये रईस आदमियो मे कर देने की क्षमता अधिक होती है। इसके अलावा उत्तरोत्तर कर किसी हद तक धन की असमानता कम करता है। गरीबो की सहायता के लिए अमीरों को ज्यादा से ज्यादा कर देने पडते हैं। क्योकि उत्तरोत्तर करधान की प्रणाली मे कुल त्याग (total sacrifice) कम होता है, इसलिए भारत और अधिकतर राज्यो ने इसे ही अपना लिया है।

उत्तरोत्तर कराधान सिद्धान्त की दृष्टि से ठीक है। किन्तु व्यवहार मे वृद्धि की ऐसी दर नियत करना जिसमे त्याग की मात्रा सब के लिए समान हो, कठिन है। आम तौर पर यह करते है कि दर बढ़ाते चले जाते है जब तक कि करदाता चीखने न लगे। यह भी याद रखना चाहिए कि करो की बहुत ऊँची दर से उत्पादन और पूँजी लगाने (investment) मे बाधा पडती है। सही दर बडे प्रयोगो के बाद पता लगा पाते है। भारत ने आय पर करो मे काफी ऊँची वृद्धि की दर (progressive rate) लागू कर रखा है। इस तरह से ऊँची आय वाले रुपए मे आठ आने आय कर मे देते है।

(iii) ह्रासमान (Regressive Tax) वह है जिसमे गरीबो को अमीरो की अपेक्षा ऊँची दर देनी पडती है। यह अन्यायी अनुचित है। इसमे केवल एक ही बात है कि गरीबो की संख्या चूँकि ज्यादा है इसलिए ऐसा कर अधिक राजस्व लाता है। किन्तु ऐसे कर सिद्धान्त मे ही गलत है और जहाँ तक सम्भव हो न लगाने चाहिएँ। भारत मे लगान की इसी आधार पर आलोचना हुई है। इससे बडी छोटी आय वाले किसान पर मुसीबत पडती है जिसके पास कभी कभी खाने तक को नही रहता, किन्तु जिसे बडे से बडे जमीदार के बराबर ही किराया देना पडता है।

(iv) प्रतिगामी कर (Degressive Tax) आय के साथ-साथ बढता है किन्तु दर आय के अनुपात मे नही बढती। यानी यह समझ लीजिए कि यह उत्तरोत्तर कर का दूसरा रूप है जिसमे बडी आय वालो को अपेक्षाकृत छोटी आय के मुकाबले कम त्याग करना पडता है।

सभी परिस्थितियों मे अच्छी तरह से सोचकर नियत किया गया उत्तरोत्तर कराधान ही सर्वोत्तम है। भारत धीरे धीरे कराधान की अच्छी प्रणाली विकसित कर रहा है। सिवाय भूमि कर (land tax) के जो अब भी त्रुटिपूर्ण है, हमारी कराधान प्रणाली काफी वैज्ञानिक है जो अन्य देशो की तुलना मे अच्छी ही गिनी जायगी।

३ प्रत्यक्ष और परोक्ष कर (Direct and Indirect Tax)—दूसरा भेद जो कम महत्वपूर्ण नही है प्रत्यक्ष और परोक्ष कर मे है। आम तौर पर आय पर कर प्रत्यक्ष है और माल पर परोक्ष। प्रत्यक्ष कर वह है जो उसी व्यक्ति द्वारा अदा किया जाता है जिस पर कानूनन लगाया जाता है। परोक्ष कर वह है जो आरोपित तो एक व्यक्ति पर किया जाता है किन्तु उसकी पूरी या आंशिक अदायगी कोई दूसरा करता है। (डाल्टन)।

भार, सरकना और प्रभाव (Impact, Shifting and Incidence)—मान लीजिए एक कर मकान मालिको पर लगाया जाता है। क्योंकि यह अनिवार्य है, इसलिए वे इसे अदा करेगे। या ठीक ठीक यह कहे कि कर का भार (impact) उन पर होगा। यह स्वाभाविक है कि मकान मालिक चुपचाप नही दे देंगे। इसे कम कराने की कोशिश के अलावा, वे किराए बढाने की कोशिश करेगे। किराएदार उनसे बचना चाहेंगे किन्तु क्योकि उन्हे दूसरी जगह नही मिल सकती इसलिए उन्हे किराए मे

वृद्धि सहन करनी पड़ेगी। इस तरह मकान-मालिकों ने अपना भार किराएदारों पर रख दिया (shifted)। किन्तु यह रखाना (shifting) और आगे भी जा सकता है। मान लीजिए कुछ किराएदार दफ्तरों में नौकर है और सुसंगठित है। वे मकान किराया भत्ता (house rent allowance) या तनख्वाहों में बढ़ती मांगते है। यदि वे सफल हो गए तो भार नियोजकों पर पड़ गया। नियोजक अपनी उपज की कीमत बढ़ा देते हैं और अपने ग्राहकों से कर वसूल कर लेते हैं। यह हटाना कहीं तक भी जा सकता है। किन्तु कहीं न कहीं यह रुकेगा भी। वास्तविक भार तब उन लोगों पर होगा जो इसे किसी दूसरे के सर नहीं डाल सकते। इस तरह कर का वास्तविक प्रभाव (incidence) उन पर पड़ेगा। तो हटाना (shifting) भार (impact) से शुरू होता है और वास्तविक प्रभाव (incidence) पर खत्म होता है। इस तरह कर का भार एक वर्ग के लोगों पर हो किन्तु उसका वास्तविक प्रभाव बिल्कुल दूसरे वर्ग पर हो सकता है।

अब एक प्रत्यक्ष कर वह है जिसका भार तथा वास्तविक प्रभाव (impact and incidence) एक ही व्यक्ति पर होता है। यानी कर देने वाला (tax payer) ही कर सहन करने वाला (tax bearer) है। परोक्ष कर वह है जिसके भार और प्रभाव अलग-अलग व्यक्तियों पर पड़ता है। यानी जिसमें कर हटाकर दूसरे पर डाला जा सकता है। मिल (Mill) ने परिभाषा की है कि प्रत्यक्ष कर वह है जो उसी व्यक्ति पर लगाया जाता है जिससे उसे वसूल करना होता है, जैसे आय-कर या मरण-शुल्क। परोक्ष कर उसका उल्टा है। यह वह कर है जो लगाया तो एक व्यक्ति पर जाता है किन्तु यह आशा की जाती है और इरादा होता है कि वह किसी अन्य व्यक्ति पर टल जाय, जैसे चीनी, तम्बाकू इस्पात जैसे माल पर।

४ प्रत्यक्ष कर के लाभ (Advantages of Direct Taxes)—प्रत्यक्ष कर के निम्नलिखित लाभ हैं।

(१) न्याययुक्त (Equitable) कर का भार हटाया नहीं जा सकता। इसलिए उत्तरोत्तर वृद्धि से त्याग की समानता की जा सकती है। सबसे नीची आय के लोगों को छूट दी जा सकती है। यह वस्तुओं पर टैक्स लगाकर नहीं किया जा सकता जो गरीब अमीर सब के काम आती है और कर सब पर पड़ता है।

(२) किफायती (Economical) कर वसूली का खर्च कम होता है। ये आमतौर पर उद्गम (source) पर ही वसूल किये जाते है। जैसे एक अफसर का आय-कर उसकी तनख्वाह में से हर महीने कट जाता है। इससे खर्च कम होता है।

(३) निश्चित (Certain)—प्रत्यक्ष कर में देने वाले जानते हैं कि उन्हें कितना और कब देना है, जब कि अधिकारी यह जानते है कि कितना राजस्व उन्हें कब मिलेगा।

(४) लोचदार (Elastic)—यदि राज्य को पैसे की ज्यादा जरूरत पड़े तो प्रत्यक्ष कर से प्राप्त हो सकता है। आय-कर या मरण-शुल्क बढ़ाकर उनसे प्राप्ति बढ़ाई जा सकती है। लोग मरण कर के डर से मरना बन्द नहीं कर सकते।

(५) उत्पादक (Productive)—प्रत्यक्ष कर बड़े उत्पादक होते हैं। जैसे जैसे

समुदाय की सख्या और समृद्धि मे वृद्धि होती है, प्रत्यक्ष कर से प्राप्ति भी स्वय बढ़ती जाती है।

(६) सामाजिक चेतना विकसित करने का साधन (A Means of Developing Social Sense)—जब एक व्यक्ति यह जानता है कि वह कर दे रहा है तो वह अपने अधिकारो के प्रति भी जागरूक हो जाता है। वह यह जानना चाहता है कि सरकार अपना पैसा कैसे खर्च करती है और उसका अनुमोदन या आलोचना करता है। नागरिक चेतना का विकास होता है।

५ प्रत्यक्ष कर की हानियां (Disadvantages of Direct Taxes)—

(१) असुविधा (Inconvenient)—प्रत्यक्ष कर की सबसे बड़ी कमी यह है कि यह देने वाले को चुभता है। जब उसकी जेब मे नकद रकम जाती है तो वह चीखता है।

(२) चोरी से बच निकलने की गुंजायश (Evadable)—आय के गलत आंकड़े देने से कर से बचा जा सकता है। इसलिए प्रत्यक्ष कर "ईमानदारी पर कर" (tax on honesty) है।

(३) मनमाना (Arbitrary)—यदि कर उत्तरोत्तर है तो वृद्धि की दर मनमाने ढग से निश्चित की जाती है। और यदि कर आनुपातिक हो तो उसका भार गरीबो पर ज्यादा पड़ता है। दोनो बातें बुरी है।

(४) यदि कर बहुत भारी हो तो उससे बचत और पूजी का लगाना (investment) निरुत्साहित होते हैं। उस हालत मे देश की आर्थिक हानि होती है।

निष्कर्ष—कुल मिलाकर प्रत्यक्ष कर के लाभ उसकी हानियो से कही अधिक है।

६ परोक्ष कर के लाभ (Advantages of Indirect Taxes)—परोक्ष करो के भी अपने लाभ है। सक्षेप मे,

(१) ये गरीबों तक पहुंचने का एक मात्र उपाय है। यह ठीक सिद्धान्त है कि हर एक को कुछ न कुछ देना चाहिए, चाहे जितना भी कम-ज्यादा हो। गरीबो को प्रत्यक्ष करो से हमेशा छूट रहती है। उन तक परोक्ष करो से ही पहुँचा जा सकता है।

(२) ये राज्य और करदाता दोनों को सुविधाजनक है। करदाता उनका भार अधिक महसूस नही करता। कुछ तो इसलिए कि परोक्ष कर छोटी राशि मे दिए जाते हैं। दूसरे इसलिए कि खरीदारी करते वक्त अदा किए जाते है। किन्तु सुविधा इसलिए और ज्यादा है कि कर पर कीमतो का मुलम्मा चढ़ा रहता है। जैसे चीनी में लिपटी हुई कुनैन। जैसे तम्बाकू पर टैक्स महसूस नही होता क्योंकि वह हर सिगरेट के दाम मे शामिल है। यह राज्य के लिए सुलभ है क्योकि राज्य इसे बन्दरगाह या कारखाने पर ही वसूल कर सकता है।

(३) परोक्ष कर बडे क्षेत्र पर विस्तृत हो सकते है। बहुत भारी कर एक ही बिन्दु पर लगाने से देश के आर्थिक या सामाजिक जीवन पर बुरे असर पड़ सकते

हैं। क्योंकि परोक्ष कर विस्तृत रूप से वितरित किए जा सकते हैं, इसलिए वे अधिक हितकारी हैं।

(४) उनकी वसूली सरल है।

(५) उनसे बचा नहीं जा सकता क्योंकि वे कीमत का अंग हैं। उनसे बचने का एक ही उपाय है कि कर लगी हुई वस्तु का उपयोग ही न किया जाय।

(६) उनसे होने वाली प्राप्ति बड़ी लोचदार है यदि वे जीवन की आवश्यकताओं पर लगाए जाएँ जिनकी माँग बेलोच है।

(७) यदि अमीरों के उपभोग की वस्तुओं पर या विलासिताओं पर लगाए जाएँ तो न्यायानुसार हैं।

(८) वे हानिकारिक वस्तुओं का उपभोग रोकते हैं।

७ हानियाँ (Disadvantages)—परोक्ष करों की हानियाँ भी हैं जो निम्न-लिखित हैं—

(१) यह ह्रासमान (Regressive) है। उनसे समानता प्राप्त नहीं हो सकती। उदाहरण के लिए सेल्स टैक्स या बिक्री कर अमीरों की अपेक्षा गरीबों पर अधिक पड़ता है क्योंकि एक ही दर सब को देनी पड़ती है।

(२) उनसे प्राप्त राजस्व अनिश्चित है—जब तक कि उन्हें आवश्यकताओं पर न लगाया जाय। लोचदार माँग वाले माल के बारे में कर से शायद अधिक राजस्व न आए और फल निराशाजनक होगा।

(३) उनके कारण किसी वस्तु की कीमत लगाए गए कर से ज्यादा बढ़ती है। द्रव्य इकाई के अंश की गणना नहीं हो सकती इसलिए हर मध्यस्थ (middle-man) टैक्स से ज्यादा वसूल कर लेता है।

(४) वे किफायती नहीं हैं—वसूली का खर्च काफी ज्यादा है। उत्पादन के हर स्रोत की निगरानी करनी पड़ती है।

(५) वे नागरिक चेतना को विकसित नहीं करते—क्योंकि अक्सर नागरिक को मालूम भी नहीं रहता है कि वह कर दे रहा है।

(६) वे उद्योगों को निरुत्साहित करते हैं, यदि कच्चे माल पर कर लगाया जाए तो।

इस प्रश्न के उत्तर में कि प्रत्यक्ष या परोक्ष कौनसा कर बेहतर है यही कहा जा सकता है कि दोनों ओर काफी गुण अवगुण हैं। किन्तु यह कहना ठीक है कि कोई देश भी एक ही प्रकार का कर लगाकर काम नहीं चला सकता। अमीरों से प्रत्यक्ष कर लगाकर पैसा ज्यादा मिल सकता है पर गरीबों तक पहुँच परोक्ष कर से ही हो सकती है।

वर्तमान काल में जबकि राजकीय भाग का महत्त्व बढ़ता जा रहा है, उसके अनेकागी कार्यों को चलाने के लिए पर्याप्त राशि चाहिए। न अकेले प्रत्यक्ष कर ही इतनी राशि दे सकते हैं और न अकेले परोक्ष कर ही। दोनों की आवश्यकता है। उनका परस्पर महत्त्व कुछ बातों पर निर्भर है जैसे—आय का बँटवारा, अर्थतन्त्र का प्रकार, आर्थिक विकास की सीढ़ी आदि।

८ अच्छी कर-प्रणाली (A Good Tax System)—अच्छी कर-प्रणाली वह है जो कराधान के मुख्य सिद्धान्तो के अनुसार हो । कर समान और न्याययुक्त होने चाहिएँ, अर्थात् कर-दाता की सामर्थ्य के अनुसार, वे किफायती होने चाहिएँ जिससे उनकी वसूली का खर्च कम हो । फिर कर लेने वाले और देने वाले दोनो को पता होना चाहिए कि कितनी रकम अदा करनी है । फिर कर लोचदार, समझने मे सरल और काफी राजस्व प्राप्त करने वाला होना चाहिए ।

न सिर्फ कर-प्रणाली कराधान के सिद्धान्तो के अनुसार होनी चाहिए बल्कि उसमे आवश्यकताओ (necessaries) और विलासिताओं (luxuries) दोनो पर प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनो प्रकार के कर सम्मिलित होने चाहिएँ । कर-प्रणाली का आधार व्यापक होना चाहिए । करो मे विभिन्नता विषमताएँ कम करती है । एक कर के दोष दूसरो के गुणो से दूर हो जाते है । "कर अधिक बिन्दुओ पर हलका और किसी बिन्दु पर भी भारी न होना चाहिए ।"[1]

यह भी जरूरी है कि कर ऐसे हो कि जिनसे आसानी से बचा न जा सके । उनका कार्यक्षम प्रशासन (efficient administration) सम्भव होना चाहिए ।

अन्त मे कर-प्रणाली विभिन्न प्रकार के असम्बद्ध (uncoordinated) करो का समूह न हो । यह एक ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए जिसमे हर कर फिट बैठ जाय । कर विभिन्न दिशाओ मे खीचने वाले न होने चाहिएँ । जैसे एक माल पर सरक्षण शुल्क (protective duty) और उसी माल पर उत्पादन-कर (excise duty) लगाना मूर्खता होगी । क्योकि उससे साधारणतया सरक्षण शुल्क का प्रयोजन नष्ट हो जाएगा ।

किसी कर-प्रणाली पर निर्णय देने के लिए सारी व्यवस्था को एक समझ कर उसकी आलोचना करनी चाहिए न कि किसी एक कर को छाँटकर उसको बुरा-भला बताना ।

९ आपत्तिकाल में और पूँजीगत व्यय के लिए वित्त (Finance in Emergencies and for Capital Expenditure)—यानी युद्ध या विकास योजनाओ आदि के लिए वित्त । युद्ध या आपत्तिकाल मे परिस्थिति असामान्य होती है । सरकार की वित्तीय नीति इस आपत्तिकाल का मुकाबला करने के लिए बदलनी पड़ती है ।

युद्ध-काल मे द्रव्य के कार्य गौण महत्त्व के हो जाते है । जो प्रश्न राष्ट्र के सम्मुख रहता है वह यह नही है कि क्या हम इतना सहन कर सकते है ? क्या हमारे साधन पर्याप्त है ? वरन् यह है कि क्या यह सम्भव है ? द्रव्य तो पीछे-पीछे चलने वाला अनुचर रह जाता है ।

युद्ध काल मे राष्ट्र के तमाम स्रोत और जन शक्ति भी राज्य की सेवा मे रहती है । राज्य कराधान से रुपया उगाहकर अपनी अपेक्षित वस्तुएँ और सेवाएँ खरीदता है । किन्तु आवश्यकताएँ इतनी अधिक होती हैं कि कर अकेले उन्हें पूरा

1 "A tax should bear lightly on many points and heavily on none."

नहीं कर सकते। सरकार को जबरदस्ती, श्रम-नियन्त्रण, भरती, राशनिंग आदि से काम चलाना पड़ता है।

यह तमाम रुपया कहीं से तो आता ही है। युद्ध-काल में आय के कुछ मुख्य स्रोत निम्नलिखित होते हैं—

(१) **अधिक कराधान**—अच्छी नीति यह है कि करों की दर बढ़ाकर उस हद तक ले जाई जाय जहाँ तक कि करदाता सहन कर सके। अधिक भारी कराधान असन्तोष उत्पन्न करेगा।

(२) **अपनी सम्पत्ति से आय**—हर सरकार अपनी भूमि, सरकारी कारखानों और विभिन्न समाज-बीमा विधियों से कुछ आय प्राप्त करती है।

(३) **वैदेशिक उधार**—जैसा कि ब्रिटिश सरकार ने पिछली लड़ाई में अमेरिका और कनाडा से लिया था।

(४) **घरेलू उधार**—सरकार हर प्रकार के प्रचार से लोगों को वार बॉण्ड, डिफेन्स सर्टिफिकेट आदि में रुपया लगाने के लिए प्रोत्साहन देती है।

(५) **द्रव्य का सृजन**—यदि उपर्युक्त उपाय आवश्यक कोष ला सकने में असमर्थ हुए तो आखिर में सरकार नोट छाप देता है।

आपने इस अध्याय से क्या सीखा ?

कर का भार—कभी कभी कर सरका दिए जाते हैं। भार उस व्यक्ति पर पड़ता है जो अन्त में अदायगी करता है।

अपने रूप और भार की दृष्टि से कर दो प्रकार से वर्गीकृत किए जाते हैं। पहले तो कोई कर हो सकता है—

(१) आनुपातिक, यानी हर आय पर एक ही दर से। इससे गरीबों को नुकसान रहता है।

(२) उत्तरोत्तर, यानी कर की दर आय के अनुसार बढ़ती है। यह प्रणाली त्याग को समान बनाने की चेष्टा करती है। निम्नतम आय को छूट दे दी जाती है। कठिनाई उचित वृद्धि तय करने में है।

(३) Regressive, जिसकी दर गरीबों पर ज्यादा हो। यह बड़ी गलत प्रणाली है।

(४) Degressive का अर्थ है घटती हुई वृद्धि। यह भी इतना अच्छा नहीं है।

टैक्स प्रत्यक्ष हो या परोक्ष। प्रत्यक्ष तब है जब इसका वास्तविक भार उसी पर हो जिस पर लगाया जाए। कुछ करों में भार दूसरे पर हटाया जा सकता है। तब कर परोक्ष हो जाता है। कहने के लिए जो भार होता है वह impact कहलाता है। वास्तविक भार incidence है।

प्रत्यक्ष कर के लाभ—

(१) समान—बढ़ती हुई आय पर उत्तरोत्तर वृद्धि करके समानता लाई जा सकती है।

(२) किफायत—क्योंकि उद्गम पर ही वसूल कर लिया जाता है इसलिए खर्च कम आता है।

(३) निश्चित—कर लगाने और देने वाले दोनों कर की रकम जानते हैं।

(४) उत्पादक—प्रत्यक्ष कर से प्राप्ति जनसंख्या और समृद्धि के साथ बढ़ती है।

(५) नागरिकों में सामाजिक चेतना विकसित होती है।

प्रत्यक्ष कर के दोष—

(१) असुविधा—देने वाले को नकद देना पड़ता है।

(२) बचाव—गलत हिसाब बना कर इससे बचा जा सकता है।

(३) मनमाने—वृद्धि की दर मनमाने ढंग से तय की जाती है।

(४) बहुत ऊँचे कर से बचत और पूँजी लगाना निरुत्साहित होते हैं।

निष्कर्ष—फिर भी प्रत्यक्ष कर में गुण ज्यादा हैं, दोष कम।

परोक्ष करों के लाभ —

(१) गरीबों तक पहुँचने का एक मात्र उपाय है।

(२) चुकाने में आसान है। वे उचित समय पर दिए जाते हैं और कीमतों में छिपे रहते हैं।

(३) उनको बड़े क्षेत्र पर फैलाया जा सकता है।

(४) सरल और किफायती वसूली हो सकती है।

(५) नाजायज तरीके से इनसे बचा नहीं जा सकता।

(६) जब आवश्यकताओं पर कर लगाते हैं तो उनसे प्राप्ति काफी लोचदार (elastic) हो जाती है।

(७) अफीम जैसी हानिकारक वस्तुओं का उपयोग रोकने में सहायक होते हैं।

दोष—

(१) (Regressive) वही दर हर आदमी अमीर गरीब देता है।

(२) आवश्यकताओं के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं पर कर अनिश्चित होते हैं।

(३) वस्तुओं की कीमतें अनुचित रूप से बढ़ जाती हैं और बिचौलिए ज्यादा खा जाते हैं।

(४) दीर्घसिकापनी—उनकी जाँच करना खर्चीला काम है।

(५) वे नागरिक चेतना को विकसित नहीं करते क्योंकि वे कीमतों में छिपे रहते हैं।

(६) अगर कच्चे माल पर कर लगाया जाय तो उनसे उद्योग निरुत्साहित होता है।

करारोपण की अच्छी प्रणाली वह है जो प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों प्रकार के कर लगाये। उपर्युक्त करारोपण के विभिन्न सिद्धान्तों का अनुकरण करना चाहिए।

अच्छी कर प्रणाली—अच्छी कर प्रणाली करारोपण के विभिन्न सिद्धान्तों के अनुकूल होनी चाहिए। यह मिली जुली होनी चाहिए। इसका आधार विस्तृत होना चाहिए। बच निकलना कठिन होना चाहिए। व्यवस्था संयोजित (coordinated) होनी चाहिए जिससे किन्हीं दो प्रकार के करों में टकराव न हो।

क्या आप निम्न प्रश्नों का उत्तर दे सकते हैं ?

1. How would you classify public expenditure ? What are the principal items of the public expenditure of Indian Union ?

(पंजाब १९५५)

Or

What is Progressive Taxation ? (पंजाब विश्वविद्यालय, १९३०)

On what grounds do you justify Progression ?

देखिए विभाग २

[यह न्याय और समानता के सिद्धान्त पर ही अच्छी कही जा सकती है। यह घटती हुई उपयोगिता के सिद्धान्त पर आश्रित है।]

2 Explain the meaning of 'incidence' of a tax. Distinguish it from the effect of the tax.

[देखिए विभाग १, २। प्रभाव कर के 'भार' से भिन्न है। प्रभाव तो यह हो सकता है कि किसी कर के वास्तविक भार के कारण लोग किसी वस्तु का उपयोग बन्द कर दें।]

3 Distinguish between Direct and Indirect taxes.

(पंजाब विश्वविद्यालय, १९३६, ३८,४०, बम्बई, १९५२)

Mention their advantages and disadvantages Which of them do you consider better ? Why ?

देखिए विभाग ३ से ७ तक

Give three instances of Direct and three of Indirect taxes in our country (जम्मू-काश्मीर १९५५)

4 Explain —

(i) Shifting

(ii) Impact

(iii) Incidence

(iv) Proportional tax

(i) (ii) (iii) देखिए विभाग १ से ३ तक

(iv) देखिए विभाग २

5 Discuss with Indian examples the merits and demerits of Direct and Indirect taxation (पंजाब १९५५)

6 Distinguish between progressive and proportional taxation and consider their advantages and limitations

(कलकत्ता विश्वविद्यालय बी काम १९४१ कलकत्ता विश्वविद्यालय १९३४ आगरा १९३६, ढाका १९४२ बनारस १९३० मद्रास १९३७ पंजाब १९३८)

देखिए विभाग २

7 Discuss the main considerations which usually underlie the system of taxation in a country (कलकत्ता विश्वविद्यालय १९४१)

देखिए विभाग ८

सामाजिक हिसाब-किताब
(SOCIAL ACCOUNTING)

१ **विषय-प्रवेश**—चिरकाल से किसी भी व्यक्ति के लिए यह बुद्धिमत्तापूर्ण और किसी भी व्यावसायिक धन्धे के लिए यह अत्यावश्यक माना गया है कि इनके आय-व्यय का पूरा-पूरा तथा सही सही हिसाब रखा जाए। अब इस बात का अधिकाधिक अनुभव किया जा रहा है कि इसी प्रकार का हिसाब-किताब प्रत्येक देश की सारी राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था (national economy) के लिए समूचे रूप में भी और इसके उन सब भागों के लिए भी जिनमें कि इसे सुविधा तथा स्पष्टता के लिए बाँटा जा सकता है, रखा जाए। ऐसे हिसाब-किताब को 'सामाजिक हिसाब किताब' (Social Accounting) कहा जाता है। आओ, अब हम इसकी उन बुनियादी बातों की जिनका कि सम्बन्ध किसी देश की आर्थिकता के साथ है संक्षिप्त व्याख्या करें।

२ **राष्ट्रीय आय और इससे सम्बन्धित धारणाएँ (National Income and Related Concepts)—(१) प्रचलित मूल्यों पर सम्पूर्ण राष्ट्रीय उत्पाद (Gross National Product at Market Prices)**—किसी देश में जितना माल तथा सेवाएँ एक वर्ष में प्रस्तुत की जाती हैं, उनके प्रचलित मूल्यों पर के जोड़ (total) को उस देश का 'सम्पूर्ण राष्ट्रीय उत्पाद' कहा जाता है। इस जोड़ में से न ही 'घिसाई' (depreciation) की ओर न ही 'लुप्त प्रयोग हो जाने से जो मूल्य में कमी हो जाती है' (obsolescence) के कारण कोई कटौती की जाती है। यही कारण है कि इस पारिभाषिक शब्द (term) में 'सम्पूर्ण' शब्द ('gross') रखा गया है। परन्तु आगे चलने से पूर्व हमें 'घिसाई' और 'लुप्त' प्रयोग होने से मूल्य में कमी आ जाने' का अर्थ भली भाँति समझ लेना चाहिए। किसी भी देश की स्थिर पूंजी (fixed capital), जैसे मकान, यन्त्र-तन्त्र हैं, में प्रयोग में आने के कारण जो घिसाई और इसी कारण मूल्य-ह्रास होता है उसे 'घिसाई' (depreciation) कहा जाता है। इसी प्रकार नए तरीकों तथा आविष्कारों के हो जाने से भी पुरानी प्रकार की मशीनें आदि अप्रचलित obsolete) हो जाती हैं, और उनके स्थान पर नई प्रकार की मशीनें आदि प्रयोग करनी पड़ती है, जिससे भी मूल्य हानि होती है। ऐसे मूल्य-ह्रास को 'लुप्त-प्रयोग मूल्य ह्रास' (loss of value on account of obsolescence) कहा जाता है।

'प्रचलित मूल्यों पर सम्पूर्ण राष्ट्रीय उत्पाद' (Gross national product at market prices) मालूम करने के लिए निम्नलिखित चार भिन्न राशियों को जोड़ा जाता है—(१) जो कुछ अपने उपभोग पर लोग खर्च करते है, अर्थात् '**लोगों का निजी उपभोग व्यय**' (Personal Consumption Expenditure)। (२) जो गैर-सरकारी व्यवसाय-धन्धे नये विनियोजन (new investment) और पुरानी पूंजी

को बदलने तथा उसके नवीकरण (renewal) पर खर्च करते हैं, अर्थात् 'सम्पूर्ण घरेलू विनियोग' (Gross Domestic Private Investment)। यहाँ 'निजी' से हमारा अभिप्राय 'गैर-सरकारी' है। (३) जितना माल या सेवाएँ कोई एक देश अन्य देशों को बेचे उनके मूल्य के जोड़ से जो कुछ भी वह देश अन्य देशों से खरीदता है निकालकर जो शेष (balance) बचे, अर्थात् निर्यात् आधिक्य अथवा 'शुद्ध विदेशी विनियोग' (Export-Surplus or Net Foreign Investment), और (४) जो कुछ सरकार माल-सेवाएँ खरीदने पर खर्च करती है, अर्थात् 'सरकारी खरीदें' (Government purchases)।

दूसरे शब्दों में, 'प्रचलित मूल्यों पर सम्पूर्ण राष्ट्रीय उत्पाद' यह मापता है कि एक वर्ष में किसी भी देश में उसके समूचे उत्पादन पर कुल कितनी रकम खर्च की जाती है। अथवा उसके कुल उत्पादन के लिए समूची कारगर माँग (aggregate effective demand) कितनी है।

शुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद-प्रचलित मूल्यों पर (Net National Product at Market Prices)—जब हम 'प्रचलित मूल्य पर सम्पूर्ण राष्ट्रीय उत्पादन' में से घिसाई (*depreciation*) तथा 'लुप्त प्रयोग मूल्य-ह्रास' (*obsolescence*) के कारण हुई मूल्य की कमी को निकाल डालें तो हमारे पास 'प्रचलित मूल्य पर शुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद' बच रहता है, अर्थात् मानो उस देश का पूंजी संग्रह ज्यों का त्यों रहता है।

शुद्ध राष्ट्रीय आय साधन लागत अनुसार (Net National Income at Factor Cost)—यह उत्पादन साधनों को मिली समस्त आय का जोड़ है। यह स्पष्ट है कि 'प्रचलित मूल्य पर शुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद' (Net National Product at Market Prices) और 'साधन लागत अनुसार शुद्ध राष्ट्रीय आय' (Net National Income at Factor Cost) में अवश्य अन्तर होगा, क्योंकि परोक्ष करों (Indirect taxes) तथा 'राज्य से दी हुई वित्तीय सहायता' (subsidies) के कारण राष्ट्रीय उत्पाद का बाजार भाव (market price) साधन-आयों (factor incomes) से भिन्न होगा। उदाहरणतया, यदि कपड़े का भाव दो रुपया प्रति गज हो, परन्तु इस भाव में प्रति गज २५ नये पैसे उत्पादन-शुल्क (excise duty) तथा विक्रय-कर (sales tax) के शामिल हों, तो इसका अर्थ यह हुआ कि इस कपड़े के उत्पादन में जिन साधनों का प्रयोग हुआ है उनकी आय १ रु० ७५ नये पैसे प्रति गज होगी। कपड़े के बाजार भाव से इस पर लगे परोक्ष-कर निकाल दें तो वह इसकी 'साधन-लागत अनुसार कीमत' (price at factor cost) होगी। और यदि कहीं कपड़े पर सरकार वित्तीय सहायता (subsidy) देती हो तो इसका बाजार भाव इसकी 'साधन-लागत अनुसार कीमत' से कम होगा। उदाहरण के तौर पर, यदि खादी के कपड़े पर सरकार २० नये पैसे वित्तीय सहायता देती हो और खरीदनेवाला ८० नये पैसे प्रति गज कीमत चुकाता हो तो इस कपड़े के उत्पादन तथा वितरण में संलग्न साधनों को १ रु० प्रति गज आय प्राप्त होगी। दूसरे शब्दों में, खादी के कपड़े का साधन-लागत मूल्य इसके बाजार भाव तथा सरकारी वित्तीय सहायता के जोड़ के बराबर होगा।

तो, हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि 'प्रचलित मूल्य पर के राष्ट्रीय उत्पाद'

में से परोक्ष कर निकाल दें और सरकार से दी हुई वित्तीय सहायता जोड़ दें तो वह बराबर हो जायेगा साधन-लागत अनुसार शुद्ध राष्ट्रीय आय के। अर्थात्,

साधन-लागत अनुसार शुद्ध राष्ट्रीय आय = प्रचलित मूल्य पर का राष्ट्रीय उत्पाद + (plus) राज्यप्रदत्त वित्तीय सहायता — (minus) परोक्ष कर।

साधन-लागत अनुसार शुद्ध घरेलू उत्पाद (Net Domestic Product at Factor Cost)—किसी भी देश में आय कितने ही उत्पादन साधन ऐसे होते है जो विदेशी निवासियों की सम्पत्ति होते हैं। जब भी हम किसी देश की साधन-लागत के अनुसार राष्ट्रीय आय का अनुमान लगाते है तो इसमें इन विदेशी साधनों की आय भी सम्मिलित होती है। इसी प्रकार उस देश के अपने नागरिकों की विदेशों में कुछ सम्पत्ति होती है जिससे उन्हें विदेशों से आमदनी आती है। किसी देश के अपने साधनों को विदेशों में हुई आय में से यदि हम उस देश में विदेशी साधनों द्वारा कमाई गई आये निकाल दें तो वह उस देश की 'शुद्ध विदेशी आय' (Net Income from Abroad) होगी। यदि किसी देश को साधन लागत के अनुसार राष्ट्रीय आय में से उस देश की शुद्ध विदेशी आय निकाल दें तो उस देश का साधन-लागत अनुसार शुद्ध घरेलू उत्पाद बच रहता है।

समीकरण रूप में (in the form of an equation)

साधन-लागत अनुसार घरेलू उत्पाद = साधन लागत अनुसार शुद्ध राष्ट्रीय आय — (minus) शुद्ध विदेशी आय।

ऊपर दी हुई राष्ट्रीय आय सम्बन्धी धारणाओं के पारस्परिक सम्बन्ध को दर्शाने के लिये उदाहरण रूप में नीचे हम संयुक्त राज्य अमरीका के १९५५ के राष्ट्रीय हिसाब-किताब के आंकड़ो का उल्लेख करते हैं।

	अरब डालर ($ billion)
(१) निजी उपभोग व्यय (Personal consumption expenditures)	२५२ ४
(२) सम्पूर्ण गैरसरकारी घरेलू विनियोग (Gross private domestic investment)	५९ ४
(३) शुद्ध विदेशी विनियोग (Net foreign investment)	० ३
(४) सरकार से खरीदी गई माल सेवाएँ (Govt purchases of goods and services)	७५ ६
(५) प्रचलित मूल्य पर सम्पूर्ण राष्ट्रीय उत्पाद अर्थात् १ से ४ तक का जोड़ (G N P at market prices)	३८७ ४
(६) ५ में से घटाएँ घिसाई तथा लुप्त प्रयोग मूल्यह्रास	३२ ३
(७) बराबर है प्रचलित मूल्य पर शुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद (Net National Product at market prices)	३५५ १
(८) घटाएँ परोक्ष-कर-(minus) सरकारी वित्तीय सहायता	३२ ६

(६) बराबर है : साधन-लागत पर शुद्ध राष्ट्रीय आय ३२२·२
(Net National income at factor cost)

३ राष्ट्रीय आय के मापने के तरीके (Methods of Measuring National Income)—क्योंकि साधन-आयें पदार्थों तथा सेवाओं के उत्पादन से होती हैं, और यह आयें उत्पादित पदार्थों तथा सेवाओं पर खर्च की जाती हैं, अतः राष्ट्रीय आय निम्नलिखित तीन भिन्न तरीको से मापी जा सकती है।

(क) उत्पाद प्रणाली (The Product Method)—इस प्रणाली में किसी भी उद्योग के सब उत्पादकों (Producers) के सम्पूर्ण उत्पादों को जोड लिया जाता है। 'सम्पूर्ण उत्पादों' से हमारा अभिप्राय उनका बिक्री किया हुआ माल तथा सेवाएँ, उनसे स्वयं प्रयोग किया हुआ माल तथा सेवाएँ तथा उनके भडार (& stock) में हुई वृद्धि इन सब का कुल जोड है। इस समस्त जोड में से एक तो उन सब माल सेवाओं का मूल्य घटा दिया जाता है जो वे उत्पादक अन्य उत्पादकों से खरीदते हैं अर्थात् सब माध्यमिक सामग्री (intermediate products) पर किया गया खर्च निकाल दिया जाता है। उत्पादन-प्रक्रिया में मशीनों आदि की जो घिसाई (Depreciation) होती है, फिर वह भी उस समस्त जोड से घटा दी जाती है। इस प्रकार कुल राष्ट्रीय उत्पाद के शुद्ध मूल्य में जो प्रदान (Contribution) इन सब उत्पादकों का होता है वह मालूम कर लिया जाता है। प्रत्येक उद्योग के विषय में इस प्रकार का शुद्ध (net) अनुमान (estimate) लगा लिया जाता है और उन सबको जोड लिया जाता है। इस प्रकार हमें औद्योगिक उद्गम अनुसार (by industrial origin) सारे साधन लागत पर शुद्ध घरेलू उत्पाद' का अनुमान मालूम हो जाता है। इसमें शुद्ध विदेशी आय जमा कर ले तो हमे साधन लागत पर शुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद या आय मिल जायगी।

(ख) आय प्रणाली (The Income Method)—इस तरीके मे देश निवासियों से प्रस्तुत किये उत्पादन साधनो की आयों को जोड लिया जाता है। इस प्रकार हमें भिन्न भिन्न उत्पादन साधनों के भागो मे वर्गीकृत (classified according to distributive shares) राष्ट्रीय आय का अनुमान उपलब्ध होता है।

(ग) व्यय प्रणाली (The Expenditure Method)—इस प्रणाली मे निम्नलिखित खर्चों का जोड करके प्रचलित मूल्य पर सम्पूर्ण 'राष्ट्रीय आय' मालूम की जाती है। वे खर्च है—निजी उपभोग व्यय (personal consumption expenditures) सम्पूर्ण गैर सरकारी घरेलू विनियोग (gross private domestic investment) शुद्ध विदेशी विनियोग (net foreign investment) तथा सरकार द्वारा खरीदी गई माल-सेवाएँ (government purchases of goods and services)। फिर इस प्रकार मालूम की गई प्रचलित मूल्य पर सम्पूर्ण राष्ट्रीय आय मे उचित कमी वृद्धि करने से हमे 'साधन-लागत अनुसार शुद्ध राष्ट्रीय आय' मिल जाती है।

उदाहरण—संयुक्त राज्य अमरीका की १९५२ ई० की राष्ट्रीय आय का जो विवरण नीचे दिया गया है उससे पाठकगण देख सकते हैं कि तीनो प्रणालियों से रा[illegible] का एक ही परिणाम निकलता है।

पहली प्रणाली : संयुक्त राज्य अमेरिका की राष्ट्रीय आय—औद्योगिक उद्गम के अनुसार १९५२ ई० (National Income of the U.S A. by Industrial Origin, 1952)

	(करोड डालर)
(१) कृषि, वन तथा मछली पकडने का उद्योग ...	१९२९ ६
(२) खनिज पदार्थ निकालने का उद्योग (Mining) ...	५९६ ४
(३) ठेके पर निर्माण (Contract Construction) ..	१४८१ २
(४) कारखानो का उत्पादन (Manufacturing) .	९०६४ ७
(५) थोक तथा परचून व्यापार (Wholesale and retail trade)	५०७७ १
(६) वित्त, बीमा तथा जायदाद (Finance, insurance and real estate) .	२४९७ ७
(७) परिवहन (Transportation)	१५५२ ५
(८) सचार तथा सार्वजनिक सुविधाएँ (Communication and public utilities) .. .	८६३ ७
(९) सेवाएँ (Services) . ..	२६०३ ८
(१०) सरकार तथा सरकारी उपक्रम ..	३४०३ ३
(११) शुद्ध घरेलू उत्पादन (Net domestic product) अर्थात् १ से १० तक का जोड	२९१०७ ०
इसमे जोडे	
(१२) शुद्ध विदेशी आय	६० ९
(१३) शुद्ध राष्ट्रीय आय (Net National Income) अर्थात्, ११ + १२ ...	२९१५२ ९

दूसरी प्रणाली सयुक्त-राज्य अमरीका की राष्ट्रीय आय—विभिन्न आय प्रकारो मे विभक्त, १९५२ (U S National Income by Distributive Shares, 1952)

	(करोड डालर)
(१) कर्मचारियो के वेतनादि ..	१९३२२ ८
(२) सयुक्त पूंजी वाले काम धन्धो की आय (Income of Unincorporated enterprises)	४१११ ५
(३) किरायो की आय (व्यक्तिगत) Rental income of persons) ...	१००३ ९
(४) सयुक्त-पूंजी कम्पनियो के लाभ (Corporate profits)	४०२२ ०
(५) शुद्ध सूद (Net interest) ...	७०२ ७
(६) शुद्ध राष्ट्रीय आय (Net National Income) अर्थात् १ से ५ तक का जोड ...	२९१६२ ९

तीसरी प्रणाली—संयुक्त राज्य अमरीका की राष्ट्रीय आय १९५२—विभिन्न प्रकार के खर्चों के अनुसार (U. S. National Income by Types of Expenditure, 1952)

	करोड़ डालर
(१) निजी उपभोग खर्च ...	२१८१३ ०
(२) सम्पूर्ण निजी घरेलू विनियोग ...	५०५४ ४
(३) शुद्ध विदेशी विनियोग ...	२३ ५
(४) माल-सेवाओं की सरकारी खरीदें ..	७७५१ ७
(५) १ से ४ तक का जोड़ सम्पूर्ण राष्ट्रीय उत्पाद प्रचलित मूल्य पर ...	३४७९५ ६
(६) घटाएँ घिसाई तथा लुप्त प्रयोग मूल्य-ह्रास ...	२६६९ १
(७) बराबर है प्रचलित मूल्य पर शुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद ...	३२०९९ ६
(८) घटाएँ परोक्ष कर—(minus) सरकारी वित्तीय सहायता	२९३६ ६
(९) बराबर है शुद्ध राष्ट्रीय आय (Net National Income) ...	२९१६२ ९

४ राष्ट्रीय आय का उपभोग तथा बचत में विभाजन (Allocation of National Income between Consumption and Saving)—जहाँ तक राष्ट्रीय आय समाज के वर्तमान जीवन को बनाए रखने के लिए खर्च होती है उसे उपभोग का भाग कहा जायगा, और शेष राष्ट्रीय आय को देश की बचत। उदाहरणतया, संयुक्तराज्य अमरीका मे, जहाँ सरकार से की गई सब खरीदों को उपभोग व्यय गिना जाता है, सन् १९५५ ई० में राष्ट्रीय आय का उपभोग और बचत में विभाजन यों था।

(अरब डालरों में) ($ billion)।

	सम्पूर्ण आय	उपभोग	सम्पूर्ण बचत	घिसाई	शुद्ध बचत
व्यक्ति (persons)	२६९ २	२५२ ४	१६ ८	...	१६ ८
धन्धे (Business)	४० ६	..	४० ६	३२ ३	८ ६
सरकार (Govt)	७७ १	७५ ९	१ २	.	१ २
	३८७ २	३२८ ३	५८ ६	३२ ३	२६ ६

५ राष्ट्रीय व्यय का उपभोग तथा विनियोग में विभाजन (Allocation of National Expenditure between Consumption and Investment)—राष्ट्रीय व्यय में दो प्रकार के खर्च सम्मिलित हैं। एक तो, जैसा कि पहले कहा गया है वह है जो समाज के वर्तमान जीवन को बनाये रखने के लिए किया जाता है, और दूसरा वह जिससे या तो घरेलू तथा विदेशी पूंजी की वृद्धि की जाती है या जिससे विदेशी दायित्वों या ऋण में कमी की जाती है। उदाहरण के लिये हम नीचे संयुक्त राज्य अमेरिका में सन् १९५५ ई० में किए गए राष्ट्रीय व्यय का विवरण देते हैं—

	अरब डालर ($ billion)
(१) स्थिर पूंजी में सम्पूर्ण निजी घरेलू विनियोग (Gross private domestic investment in fixed capital) ...	५६ १
(२) भंडार या सूचियों में विनियोग (Investment in stocks or inventories)	३'१
(३) शुद्ध विदेशी विनियोग	—०'३
(४) १ से ३ नक का जोड, अर्थात् सम्पूर्ण विनियोग (Gross investment)	५८ ९
(५) ४ में से घटाएँ घिसाई	३२ ३
(६) ४—(minus) ५, अर्थात् शुद्ध विनियोग (Net investment)	२६ ६

बचत और विनियोग की समानता (Equality between Saving and Investment)—संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रीय आय के उपभोग तथा बचत में विभाजन के जो आंकड़े ऊपर दिये गये है उनको यदि हम उस देश के राष्ट्रीय व्यय के उपभोग तथा विनियोग में विभाजन के आंकड़ो के साथ तुलना करें तो हमे एक अतीव महत्त्वपूर्ण तथ्य का पता लगता है। वह यह है कि **बचत और विनियोग एक दूसरे के बराबर होते है** (Saving is equal to investment)। कोई एक राष्ट्र जितना विनियोजन करता है उतनी उसके बचत भी होती है। यहाँ जो हमने 'विनियोजन' शब्द का प्रयोग किया है उसमें देश के अन्दर तथा देश के बाहर किये गये दोनो प्रकार के विनियोग सम्मिलित है।

६ **भारत में राष्ट्रीय आय के अनुमान** (National Accountancy in India)—**राष्ट्रीय आय का अनुमान लगाने में कठिनाइयें**—भारत मे जैसा कि किसी भी आर्थिक दृष्टि से पिछड़े देश मे होता है, राष्ट्रीय आय के अनुमान लगाने में कई प्रकार की कठिनाइएँ हमारे सम्मुख आती है। उनमे महत्त्वपूर्ण कठिनाइयां ये है—

(१) उत्पादन के अधिकतर भाग के उत्पादक अपने बनाये माल को या तो स्वय उपभोग कर लेते है या उसका आपस मे अन्य चीजे या सेवाएँ प्राप्त करने के लिए अदल-बदल (वस्तु-विनिमय barter) कर लेते है। सो इस प्रकार के उत्पादन भाग का मुद्रा में मूल्य लगाना एक बहुत कठिन समस्या बन जाता है।

(२) राष्ट्रीय उत्पादन, विशेषतया ऐसा जो कि आधुनिक बड़े पैमाने के उद्योगों को छोड़कर होता है, अधिकतर निजी तौर या छोटी कम्पनियो द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। और प्राय, जैसा कि कृषि तथा लघु और कुटीर उद्योगो मे होता है, या तो हिसाब किताब बिल्कुल रखा ही नही जाता या ऐसे ढग से नही रखा जाता कि जिससे उत्पादित पदार्थो का मूल्य आसानी से मालूम हो सके।

(३) जितनी सूचनाएँ और आंकड़े आदि हमें उपलब्ध है, वे इतने ठीक, अद्यतन (up-to date) या पूर्ण नही होते कि उनकी सहायता से राष्ट्रीय आय का सर्वथा ठीक अनुमान लगाया जा सके।

(४) क्योंकि भारत तथा ऐसे अपूर्ण रूप से विकसित देशों (under-developed countries) में भिन्न उत्पादन साधनों के कृत्यों का विशेषीकरण (specialization of functions) या तो है ही नहीं या अधूरा है, सो हमारे लिए राष्ट्रीय आय का औद्योगिक उद्गम के अनुसार वर्गीकरण (Classification according to industrial origin) या उत्पादन-साधनों के अनुसार विभाजन (allocation into distributive shares असम्भव-सा हो जाता है।

७ राष्ट्रीय आय समिति (National Income Committee)—भारत में बहुत समय तक तो राष्ट्रीय आय के अनुमान लगाने में जो कुछ भी प्रयास किए गए वे उन थोड़े से महानुभावों के व्यक्तिगत प्रयत्नों तक सीमित थे जिन्हें इस विषय में विशेष रुचि थी। इस प्रकार जो भी अनुमान लगाए गए वे एक दूसरे से न केवल कई प्रकार से भिन्न थे बल्कि उन्हें यदि हम तुक्के मात्र (rough guesses) कहें तो अत्युक्ति न होगी। व्यवस्थित रूप से भारत की राष्ट्रीय आय का अनुमान पहले-पहले डाक्टर वी० के० आर० वी० राव ने १९३१-३२ के सम्बन्ध में लगाया। इसके पश्चात् इस दिशा में बहुत बड़ा पग सरकारी तौर पर भारत सरकार ने जुलाई १९४९ में उठाया। सामाजिक हिसाब-किताब (social accounting) के महत्त्व को भली प्रकार समझते हुए केन्द्रीय सरकार ने अपने वित्त मन्त्रालय के अन्तर्गत एक राष्ट्रीय आय-विभाग (National Income Unit) की स्थापना की। उससे अगले मास राष्ट्रीय आय समिति की नियुक्ति की गई। इस समिति को कहा गया कि वह राष्ट्रीय आय तथा इससे सम्बन्धित अनुमानों के विषय में रिपोर्ट तैयार करे, उपलब्ध सूचना सामग्री को अधिक विश्वसनीय बनाने और अन्य आवश्यक आँकड़ों का संग्रह करने के लिए उचित सुझाव दे, और राष्ट्रीय आय क्षेत्रों में अनुसंधान को प्रोत्साहन कैसे दिया जाए इस विषय पर सिफारिशें करे। इस समिति ने अपनी पहली रिपोर्ट अप्रैल १९५१ में दी और अन्तिम रिपोर्ट १९५४ में प्रस्तुत की। तब से लेकर हर साल भारत सरकार का केन्द्रीय परिगणन संगठन (Central Statistical Organization) राष्ट्रीय आय के वार्षिक अनुमान प्रकाशित करता है।

राष्ट्रीय आय समिति द्वारा प्रयुक्त विधि-प्रणाली (Methodology adopted by the Committee)—हमने पीछे राष्ट्रीय आय को मापने की तीन प्रणालियों का उल्लेख किया। इस समिति ने कई प्रकार की कठिनाइयों के कारण उनमें से तीसरी प्रणाली का प्रयोग असम्भव-सा समझा और उसने अन्य दोनों प्रणालियों के मिश्रण का प्रयोग किया। सबसे पहिले देश के सम्पूर्ण कार्यकर्ता समुदाय (total working force) तथा इसके व्यावसायिक वितरण (occupational distribution) का अनुमान लगा लिया गया। सब अर्थ-व्यवस्था (economy) के जिन-जिन खण्डों (sectors) में उत्पादन-प्रणाली का प्रयोग हो सकता था किया गया, और शेष खण्डों के लिए आय-प्रणाली बरती गई। कुछेक व्यवसायों के लिए, उदाहरणतया छोटे-छोटे धन्धों के लिए, उनमें कमाई गई शुद्ध आय (net income) का अनुमान लगाया गया। इनके लिए उत्पाद-प्रणाली तथा आय-प्रणाली दोनों का इस्तेमाल किया गया, परन्तु आय-प्रणाली से जो परिणाम प्राप्त हुए वे अधिक सतोषजनक थे, और इसलिए उन्हें ले लिया

गया। अर्थ-व्यवस्था के सब खण्डों के अपने-अपने अंशदानों (Contributions) को जोड़ लेने के साधन-लागत अनुसार शुद्ध घरेलू उत्पाद (net domestic product at factor cost) मालूम हो गया। फिर देश की शुद्ध विदेशी आय को इस जोड़ में मिला लिया गया और इस तरह राष्ट्रीय आय का अनुमान प्राप्त कर लिया गया।

८ भारत की राष्ट्रीय आय (India's National Income)—भारत में सामाजिक हिसाब-किताब की सम्पूर्ण व्यवस्था प्रस्तुत करना अभी सम्भव नहीं। राष्ट्रीय आय के अनुमान जिन तीन प्रकार से प्रस्तुत किये जाने चाहिएँ उनमें से केवल एक ही प्रकार (औद्योगिक उद्गम के अनुसार) ऐसा है जिसके अनुसार भारत की राष्ट्रीय आय के अनुमान प्रस्तुत किए जा सके हैं। इस समय (अप्रैल १९५८) सबसे ताजे अनुमान जो उपलब्ध हैं वे १९५५-५६ के हैं।[1] उन्हें नीचे दिया जाता है:

भारत की राष्ट्रीय आय, उद्गम अनुसार, १९५५-५६ ई०

(India's National Income by Origin, 1955-56)

		(अरब रुपये)	कुल राष्ट्रीय आय का प्रतिशत
(क) कृषि—			
(१) कृषि, पशु-पालन और अन्य सम्बन्धित काम-धन्धे	...	४४ १	४४ २
(२) वन	...	० ७	० ७
(३) मछली पकड़ने का उद्योग	...	० ५	० ५
(४) १ से ३ तक का जोड़ अर्थात् कुल कृषि ...	...	४५ ३	४५ ४
(ख) खनिज पदार्थ निकालना, कारखाना और दस्तकारियें—			
(५) खनिज पदार्थ निकालना	..	१ ०	१ ०
(६) फैक्टरियाँ	...	७ ८	७ ८
(७) छोटे उपक्रम		९ ७	९ ७
(८) ५ से ७ तक का जोड़, अर्थात् कुल ख		१८ ५	१८ ५
(ग) व्यापार, परिवहन और संचार— (Commerce, Transport and Communication)			
(९) संचार (डाक, तार, टेलीफोन)	...	० ५	० ५
(१०) रेलें	...	२ ५	२ ५
(११) संगठित बैंक तथा बीमा	...	० ९	०·९

[1] देखो, Government of India, Central Statistical Organisation, Estimates of National Income, 1948-49 to 1956 57, March 1958 इसमें १९५६-५७ के अनुमान भी दिये हुए हैं, परन्तु वे कच्चे अनुमान हैं। इसलिए उन्हें यहाँ इस अध्याय में नहीं दिया गया।

(१२) अन्य व्यापार तथा परिवहन	१४६	१४६
(१३) ६ से १२ तक का जोड़, अर्थात् कुल ग	१८८	१८८
(घ) अन्य सेवाएँ—		
(१४) पेशे तथा कलाएँ	५६	५६
(१५) सरकारी सेवाएँ (प्रशासन)	५७	५७
(१६) घरेलू नौकरी	१४	१४
(१७) मकानों की जायदाद	४६	४६
(१८) १४ से १७ तक का जोड़, अर्थात् कुल घ	१७३	१७३
(१९) साधनलागत पर शुद्ध घरेलू उत्पाद, अर्थात् क, ख, ग, घ का जोड़ (Net domestic product at factor cost)	६६	६१००·०
(२०) शुद्ध विदेशी आय (Net earned income from abroad)	० ०	० ०
(२१) साधन-लागत पर शुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद = राष्ट्रीय आय [अर्थात्, (१९) + (२०)] (Net national output at factor cost = national income)	९९९	१०००

भारत की राष्ट्रीय आय पर संक्षिप्त टिप्पणी (Brief Comments on India's National Income)—यदि किसी देश की राष्ट्रीय आय को उसकी जन-संख्या पर बांटा जाए तो हमें उस देश की प्रति व्यक्ति आय (per capita income) का पता चलता है। १९५५-५६ में भारत में प्रति व्यक्ति आय २६० ८ रु० थी। जरा इसका तुलना कुछेक अन्य देशों की प्रति व्यक्ति आय के साथ करें तो हमें झट ही पता लगता है कि हम अत्यन्त निर्धन लोग हैं। उदाहरणतया हम निम्नलिखित देशों की प्रति व्यक्ति आय का उल्लेख करते हैं—संयुक्त राज्य अमरीका ८,७८४ रु०; कैनेडा ६,०५६ रु०, आस्ट्रेलिया ४,४६० रु०, इंगलिस्तान ४,०५७ रु०, जापान ९९२ रु०; श्रीलंका ५४१ रु०। इसमें सन्देह नहीं कि पहिली तथा दूसरी पचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत हुई आर्थिक तरक्की के कारण हमारी प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय प्रति वर्ष बढ़ रही है। १९४८-४९ में हमारी प्रति व्यक्ति आय २४६·९ थी जो बढ़ते-बढ़ते १९५५-५६ में २६० ८ रु० हो गई। परन्तु बढ़ने की गति अभी बहुत धीमी है, और इस रफ्तार पर हम अन्य समृद्ध देशों के साथ सैंकड़ों वर्ष तक मिल सकेंगे।

ऊपर दिये राष्ट्रीय आय के आंकड़ों से स्पष्ट है कि पिछले कई वर्षों में हुई औद्योगिक उन्नति के होने भी भारत अभी कृषिप्रधान देश है। कृषि से ही सम्पूर्ण राष्ट्रीय आय का लगभग आधा (४५·४ प्रतिशत) भाग मिलता है। इसकी तुलना में फैक्टरियों के उत्पादन का भाग केवल ७ ८ प्रतिशत है। उद्योगों में लघुस्तर के उद्योग बड़े पैमाने के उद्योगों से अधिक अंशदान करते हैं। औद्योगिक प्रगति प्राप्त देशों में

कृषि का राष्ट्रीय आय मे भाग उद्योगों तथा व्यापार, परिवहन आदि के भागो से कही थोडा होता है।

भारत की राष्ट्रीय आय सम्बन्धी ऊपर दिये तथ्यो से यह स्पष्ट है कि भारत की सबसे भारी समस्या इसके लोगो की गरीबी है। इसका उपचार इस बात मे है कि आर्थिक योजनाओ द्वारा देश की राष्ट्रीय आय तीव्र गति से बढाई जाये। भारत की आर्थिक व्यवस्था मे कृषि की प्रधानता को ध्यान मे रखते हुए हम इस परिणाम पर पहुँचते है कि कृषि उत्पादन को शीघ्रतम तथा अधिक से अधिक बढाया जाय। साथ ही आर्थिक उन्नति के लिए अत्यावश्यक है कि देश मे भरसक औद्योगिक विकास किया जाय। इस पुस्तक के दूसरे भाग मे भारत की इन सब समस्याओ की विवेचना की गई है।

इस अध्याय मे आपने क्या सीखा ?

प्रचलित मूल्य पर सम्पूर्ण राष्ट्रीय उत्पाद (Gross National Product at Market Prices) इसका अर्थ है किसी देश की आर्थिक व्यवस्था द्वारा उत्पादित माल सेवाओं का बाजार भावों पर मूल्य, जिसमें से घिसाई और नुक्त प्रयोग पूंजी माल के कारण काट कटौती न की गई हो। इसकी गणना करने के लिये निम्नलिखित राशियों का जोड लिया जाता है: निजी उपभोग व्यय, घरेलू गैरसरकारी विनियोग, शुद्ध विदेशी विनियोग और सरकार मे खरीदे गए माल सेवाए।

प्रचलित मूल्य पर शुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद (Net National Product at Market Price)—इसे मालूम करने के लिए प्रचलित मूल्य पर सम्पूर्ण राष्ट्रीय उत्पाद में से घिसाई घटाई जाती है।

साधन लागत अनुसार शुद्ध राष्ट्रीय आय (Net National Income at Factor Cost)—यह सब उत्पादन-साधनों का प्राप्त आयों का जोड है। यह बराबर है प्रचलित मूल्य पर शुद्ध राष्ट्रीय आय+सरकारी वित्तीय सहायता—परोक्ष कर।

साधन लागत अनुसार शुद्ध घरेलू उत्पाद (**Net Domestic Product at Factor Cost**)—इसका अर्थ है किसी देश के अन्दर उत्पन्न की गई उत्पादन साधनों की शुद्ध आय। यह बराबर है साधन लागत अनुसार शुद्ध राष्ट्रीय आय—(minus) शुद्ध विदेशी आय।

राष्ट्रीय आय को मापने की विधियाँ—ये तीन है। पहली **उत्पाद प्रणाली** है जिसके अनुसार भिन्न उद्योगो द्वारा जो मूल्य वृद्धि की गई होती है उसका जोड मालूम कर लिया जाता है। यह जोड है साधन लागत अनुसार शुद्ध घरेलू उत्पाद। इसमें शुद्ध विदेशी आय जोड लेने पर हमें कुल राष्ट्रीय आय मालूम हो जाती है।

दूसरी **आय प्रणाली** है जिसमें देश के साधारणतया निवासियों की आयों का जोड लिया जाता है।

तीसरी **व्यय प्रणाली** है। इसमें निम्नलिखित चार प्रकार के खर्चों को जोडकर प्रचलित मूल्य पर राष्ट्रीय उत्पाद मालूम कर लिया जाता है। ये चार खर्च ये हैं—निजी उपभोग व्यय, सम्पूर्ण गैरसरकारी घरेलू विनियोग, शुद्ध विदेशी विनियोग और सरकार द्वारा माल सेवाएँ खरीदने मे किया गया खर्च। इन सब खर्चों के जोड में से यदि परोक्ष कर निकाल दें और सरकारी वित्तीय सहायता जमा कर दें तो साधन-लागत पर शुद्ध राष्ट्रीय आय निकल आएगी।

राष्ट्रीय आय तथा व्यय का भिन्न अंशो मे विभाजित—राष्ट्रीय आय का जो भाग समाज के वर्तमान जीवन को बनाए रखने के लिए खर्च किया जाता है उसे 'उपभोग' कहा जाता है। शेष जो बच रहता है वह देश की 'बचत' होती है।

राष्ट्रीय व्यय दो प्रकार का है—**उपभोग व्यय और विनियोग व्यय**। पहला प्रकार का

व्यय समाज के वर्तमान जीवन को कायम रखने के लिए किया जाता है और दूसरी प्रकार का व्यय घरेलू और विदेशी पूँजी को बढ़ाने या विदेशी दायित्वों को कम करने के लिए किया जाता है।

जब देश की आर्थिक व्यवस्था को समूचे रूप में देखा जाय तो बचत और विनियोग एक दूसरे के बराबर होते हैं।

भारत में राष्ट्रीय आय के अनुमान लगाने में कठिनाइयाँ ये हैं—

(क) राष्ट्रीय उत्पाद का बहुत बड़ा भाग रुपये पैसे के साथ खरीदा बेचा नहीं जाता।

(ख) अधिकतर उत्पादन संयुक्त पूँजी वाले व्यवसायों द्वारा किया जाता है।

(ग) जो आकड़े उपलब्ध हैं वे अधूरे हैं और पूरे तौर पर ठीक और अद्यतन (up to-date) नहीं है।

(घ) भारतीय अर्थ व्यवस्था में कृत्यों का विशेषीकरण (Specialization of function) बहुत कम पाया जाता है।

भारत की राष्ट्रीय आय मापने के लिये राष्ट्रीय आय समिति ने उत्पाद प्रणाली और आय प्रणाली दोनों के मिश्रण का प्रयोग किया है। १९५५ ५६ में भारत की कुल राष्ट्रीय आय ९९ ९ अरब रुपये थी, जिसमें कृषि आदि के अंश यों थे—कृषि ४५ ४ प्रतिशत, खनिज पदार्थ, कारखाने और दस्तकारियाँ १८ ५ प्रतिशत, व्यापार, परिवहन और संचार १८ ८ प्रतिशत, अन्य सेवाएँ १७ ३ प्रतिशत।

क्या आप निम्नलिखित प्रश्नों का उत्तर दे सकते हैं ?

1 What do you understand from the following ?

(a) Gross National Product at Market Prices,

(b) Net National Product at Market Prices

(c) Net Domestic Product at Factor Cost, and

(d) Net National Income at Factor Cost

देखें विभाग २

2. Define National Income How can it be measured ?

(P U. 1958)

देखें विभाग २ तथा ३

3 How are national income and national expenditure allocated ?

(देखें विभाग ४ तथा ५)

4 What are the usual difficulties that are faced while measuring national income in an underdeveloped country like India ?

देखें विभाग ६

5 Write a brief note on the national income estimates of India especially indicating the relative shares in them of the main parts of the Indian economy

देखें विभाग ८

Panjab University Intermediate, 1957 Annual

Economics—Paper A

Note —1 Attempt any five questions

2 Special credit will be given for diagrammatic representation of Economic concepts

3 Answers should be illustrated with reference to Indian conditions

I 'Scarcity of means and multiplicity of wants are the two foundation stones on which the structure of Economics rests ' Explain

II State and explain, 'Engel s Law of family Expenditure" and indicate its application to India

III What are the factors on which the efficiency of labour depend ? How does improved efficiency of labour benefit the consumer, the capitalist and the nation as a whole ?

IV Give an idea of the different types of business organization in the present day world

V Distinguish between market price and normal price Explain with the help of a diagram how market price is determined

VI Explain the Term, "Value of Money" Why does the value of a rupee vary from time to time ? How can we measure changes in the value of money

VII What is a Bank ? Enumerate the different types of Banks and briefly describe the type of work they specialize in

VIII Distinguish between nominal and real wages and explain the points which should be borne in mind in getting at the real wages of an occupation

IX Explain in brief the principles of taxation

X Write short explanatory notes on any three of the following

(*a*) Consumer s Surplus

(*b*) Law of increasing returns

(*c*) Law of comparative costs

(*d*) Gross and Net interest

(*e*) Discriminating Protection

Panjab University Intermediate, 1957 Supplementary
Economics—Paper A

I Why is economics called a social science ? Discuss its relation to History, Politics and Ethics

II Discuss the main characteristics of human wants and explain their importance in the theory of consumption

III Discuss with reference to India the main advantages and disadvantages of the use of machinery

IV What are the functions of an entrepreneur in modern society ?

V Distinguish between Perfect and Imperfect markets What are the factors that determine the size of a market ? Give illustrations

VI Draw diagrams to illustrate the following

(a) Law of maximum satisfaction

(b) Effect of an increase in supply on price, demand remaining the same (short period)

(c) Effect of a fall in demand on the price of a commodity in the long period

VII What do you understand by 'Credit' ? Name and describe the various instruments of Credit in use in our country

VIII What is rent ? How is it determined ? Explain the relation between economic rent and price

IX Distinguish between direct and indirect taxes and give their relative merits and demerits

X Write short explanatory notes on *any three* of the following —

(a) Quasi rent

(b) Principles of Public expenditure

(c) Market price and Normal price

(d) Engel's Law of family expenditure

(e) Prime and Supplementary Costs

Panjab University Intermediate, 1958 Annual
Economics—Paper A

I Define National income How can it be measured ?

II Explain an illustrate the Law of equi marginal utility

Draw diagram Examine the scope of its application

III Explain with the help of diagrams the concept of [illegible]city of demand What is its importance in economic analysis ?

IV State and explain the law of Diminishing Returns Why is it called the law of increasing costs ?

V What is a 'market' ? Discuss the factors which determine the size of a market for different commodities

State giving reasons what would you expect to be the size of a market for bricks wheat fresh vegetables, precious metals, milk, Kashmir Apples and shares of the Reserve Bank

VI What do you understand by the phrase, value of money ? Enumerate the factors which govern changes in the value of money

VII What is the basis of international trade ? What are its advantages and disadvantages ?

VIII Enumerate the different types of banks and briefly indicate the functions undertaken by them

IX Distinguish between gross and net interest Explain how the rate of interest is determind

X Write short explanatory notes on any *three* of the following :—

(a) Trade Unions

(b) Index numbers

(c) Joint Stock Company

(d) Canons of taxation

(e) Mobility of labour

(f) Social security